ख़ाली कुर्सी की आत्मा

लक्ष्मीकान्त वर्मा

१९५८

किताब महल इलाहाबाद दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९५८

प्रकाशक—किताब महल ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—जीवन कल्याण प्रेस, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद।

श्री

वाचस्पति पाठक

को

खाली कुर्सी
को
आत्मा

"···आदमी आज अपने केन्द्र-स्थल से विस्थापित हो चुका है—उसके दिमाग़ में तरह-तरह के कीड़े पैदा हो गये हैं जो उसे चैन से बैठने नहीं देते—केकड़े की तरह तीखी चुभनेवाली टाँगें लेकर जब ये कीड़े अपनी सारी भूख उसके पिलपिले भेजे में चुभा देते हैं तो फिर आदमी आदमी नहीं रहता। मनुष्य घृणा करना चाहता है...हिंसा-प्रतिहिंसा का समर्थक बन जाता है। लेकिन घृणा करना भी आसान नहीं है...वह घृणा भी नहीं कर पाता। घृणा, प्रेम, हिंसा, प्रतिहिंसा प्रत्येक का आडम्बर कर पाता है.. काश कहीं ये दिमाग़ी कीड़े उसे ईमानदार रहने देते...लेकिन विडम्बना तो यह है कि जो जितना बड़ा न्यूराटिक होता है, दुनिया भी उसे उतना अधिक सम्मानित करती है..........."

'इस दुनिया में हर चीज नीलाम हो सकती है !' जिस लेखक के पास मैं थी, उस लेखक ने मेरे नीलाम होने के पहले ही इस बात की घोषणा कर दी थी और अपने सभी लेखों और कृतियों में उसने कई बार चीख़-चीख़ कर यह एलान किया था कि दुनिया में हर चीज नीलाम होती है—दीन, धर्म, ईमान, सच-झूठ, कलम, कागज, यहाँ तक कि आवाज भी नीलाम हो सकती है। मेरी छाती पर बैठा हुआ जब वह सनकी, खूसट और अर्द्ध-विक्षिप्त लेखक यह लिखा करता था तो मुझे बड़ी उलझन होती। मैं समझती थी यह महज इसका वहम है। दुनिया में बहुत-सी ऐसी चीजें हैं जिनका नीलाम नहीं किया जा सकता लेकिन उसने अपने उपन्यासों में, कहानियों में, नाटकों में और कविताओं में, प्रेम, श्रद्धा, सहानुभूति, दया, धर्म सब का नीलाम कराया था...सबको बेचा था, सबकी क़ीमत लगाई थी और एक दिन जब मेरी चौथी टाँग उसकी लापरवाही से टूट गई, मेरा दायाँ हाथ एक सनकी पात्र के रचनावेश में, लेखक की एक मुट्ठी में चटख गया तब मुझे यह विश्वास हो गया कि यह मुझे भी नीलाम की आवाज पर चढ़ा देगा और एक दिन उसने यही किया। मेरी टूटी हुई टाँगें जोड़ दीं और न जाने किस चीज से मेरा उखड़ा हुआ दाँया हाथ बाँह से चिपका दिया। दो पैसे का गेरुआ रंग मँगवाया, मिट्टी के तेल में वारनिश भिगो कर उसने मेरा रंग-रूप सँवारा। कम्बख्त को यह भी नहीं सूझा कि कहीं रंग-रूप पर रोगन चिपकाने से पुराना रूप लौटता है, लेकिन उसने यही किया और एक दिन मैं नीलाम की बोली पर चढ़ा दी गई।

प्राचीन काल में लोग आसन जगाते थे। सिद्धि के लिये यह आवश्यक समझते थे लेकिन आज के युग में किसी भी लेखक का कोई भी आसन नहीं। सब झण्डे और पताके की सिद्धि की चिल्ल पों मचाये हुये हैं। हर लेखक की तसवीर चाक-गरेबाँ, मुट्ठी ताने, दाँत बाये, चिल्लाने वाले उखमज की तसवीर है। दंगली जवान महा-

बीरी लगाकर, लाल लँगोटी कसे, अखाड़े में जै-जै की ध्वनि से आस्मान गुँजा रहे हैं...शक्ति दिखलाने की अपेक्षा पहलवानी में विश्वास करते हैं...लगता है इनके नारों में...जै-जै की ध्वनि में एक खरीदी हुई लाउडस्पीकर की आवाज है जिसका अर्थ है—'तुम सुनो चाहे न सुनो लेकिन मैं तुम्हारे कानों में यह गर्म सलाखें डालूँगा...इस पिघले हुए तपते फौलाद को तुम्हारे कानों में डालने का मेरा अधिकार है, फिर ऐसे युग में आसन की क्या कद्र...कुर्सी की क्या कीमत...आबाद रहें फर्नीचर मार्केट वाले जो हर रोज कल की नई दुल्हन को आज की नई डिज़ाइन के सामने साठ साल की बुढ़िया साबित कर सकते हैं। फिर मुझे तो एक ज़माना हुआ—ज़माना इसलिये कि इस बीच में मैंने कई दुनियाओं को बिगड़ते हुए देखा है—आदमी की अजीब-अजीब शक्ल, अजीब-अजीब तस्वीरों को देखा और परखा है—आदमी जिसकी एक शक्ल उस हवलदार में थी जो प्रेम और सद्भावना रखते हुए भी तमाम जिन्दगी जेल में और जेल के बाहर रहा...वह ज्योतिषी जो तमाम जिन्दगी ग्रहों के चक्र, शनि और शुक्र के चक्रों में आम विश्वास खो चुका था...वह शराबी शायर जो शराब के नशे में आदमी से भी बढ़कर एक बड़ा शायर बनना ज्यादा पसन्द करता था...वह ड्राइवर ज्वाला प्रसाद और उसकी गायिका प्रेमिका जो जीवन के यथार्थ को स्वीकार करते हुए भी आकाश की बातें करती थी और फिर भी अपने को अपने चारों ओर के बिखरे संदर्भ को समझने में असमर्थ थी। वह मवेशी डाक्टर, जो जिन्दगी को महज एक घड़ी की डायल में बाँध कर रखना चाहता था जिसके सामने न तो भावनाओं का मूल्य था और न आस्थाओं का। वह वैज्ञानिक जो चूहों के खून में आदमी का खून मिलाकर किसी बड़े अनुसन्धान को जिन्दगी से भी बड़ा समझ बैठा था...वह कमजोर लेखक जो अपनी कमजोरी को छिपाने के लिये असंगत सूत्रों में बात करता था...वह रेलवे गार्ड जो एक ही कापी में राम-नाम बैंक के लिए राम-नाम लिखता था और उसी में अपनी रिश्वत की कमाई का हिसाब भी जोड़ता-घटाता था—यह शक्लें, यह तरतीबें और इनका अनुभव आज मुझे यह शक्ति देता है कि मैं निर्जीव, जड़, अचेतन, पंगु और कठोर होकर भी इन सबसे अच्छी हूँ...इन सब की अतिवादी विकृतियों से दूर हूँ—साधारण हूँ।

जो हवलदार मेरे कन्धों पर बन्दूक रखकर उसमें ग्रीस और पालिश लगाया करता था, ज्योतिषी पण्डित मेरे हाथ पर गुड़ का चूरा रखकर हवन किया करता था जिसके कारण आज भी मेरी दायीं हथेली पर एक गहरा काला घाव है या वह शराबी शायर जो लाल परी शराब ढाल कर उर्दू में गजलें लिखता और गतिशील, प्रगतिशील, दुर्गतिशील साहित्य, संस्कृति, कला, सेक्स, रोमान्स और गालियों की बकवास सुनाया करता था—मुझे लगता है ये सब मेरी अपनी जिन्दगी से छोटे हैं।

इस जिन्दा मजाक की चरम परिणति भी अजीब हुई। मैं एक ऐसे दार्शनिक वैज्ञानिक के पास पहुँची जो सीधे ढंग से बात कहने के बजाय उलट कर कहता था। मिसाल के लिए वह जब भूखा होता तो बजाय इसके कि भूख लगी है, वह कहता—'आत्मा और शरीर का गहरा सम्बन्ध है और शरीर के तन्तु स्नायुओं को क्रियाशील बनाने के लिये कुछ रसायनों की आवश्यकता होती है, इसलिये शरीर और आत्मा के समन्वय को स्थापित रखने के लिये कुछ रस-प्रधान स्थूल शाक की आवश्यकता है, यहाँ तक कि वह अपनी प्रणय की सेक्स-प्रधान भावना को भी आत्म-मिलन, सूक्ष्म, असीम, अभेद, अखण्ड, मूलाधार, कुण्डली-चक्र कहकर, जाने क्या-क्या डण्ड-बैठक कराया करता था। काले, दुबले, पतले, पिचके, चिमटे और हर पाँचवें मिनट पर एक कविता लिखने की आदत वाले, हर दूसरे रोज एक कहानी और हर महीने एक उपन्यास को जन्म देने वाले उस लेखक का अनुभव भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह महाशय भी अजीब थे जो लिख-लिख कर ट्रंकों में रखने के सिवा कुछ नहीं जानते थे। लेखक भी इत्तफ़ाक़न हो गये थे। वैसे होने जा रहे थे एक मनोवैज्ञानिक लेकिन एक अधूरी थीसिस के लिखने में जो फिसले तो फिर लेखक हो गये। लेखक भी ऐसे जो लिखते थे दीमकों को सौगात देने के लिये, कलम घिसते थे महज हाथों की खुजली मिटाने के लिये, यों उन्हें फुर्सत ही कम मिलती थी लेकिन चौबीस घण्टे में अगर एक घण्टा भी मेरी छाती पर सवार होते तो, उफ मेरी कचूमर निकाल कर रख देते थे। जनाब वह थपेड़े सहने पड़ते कि होश फाख्ता हो जाते थे और इसी स्थिति में यानी अपने दो पात्रों की रचना करने में उन्होने मेरी एक टाँग और मेरा एक हाथ तोड़ डाला था और अन्त में टूटी हुई बेकार समझ कर मुझे नीलाम की आवाज पर चढ़ा दिया था।

लेकिन इस नीलाम के बाद भी मुझे एक नीलाम और देखना था। लेखक के यहाँ से मुझे एक गार्ड खरीद ले गया। तीन रुपये बारह आने की कीमत में जब मैं लेखक के यहाँ से उठाई गई तो एक क्षण के लिये मेरी आस्था आदमी से उठ गई। आदमी भी कितना जल्दबाज है, ऊपरी मुलम्मे पर कीमत लगाता है, खरीदता है, बिकता और बेचता है। न तो असलियत जानने की उसके पास अवकाश है और न वह कोशिश ही करता है। ऊपर की चमक में दुनियाँ आ ही जाती है, गार्ड भी आ गया और जब वह मेरे ऊपर अपनी फ़र्शी चढ़ाकर पीने बैठा तो मेरी चौथी टाँग जो पहले ही से टूटी थी निकल गई। हाय-हाय कर के बिचारे ने अपना हाथ मेरे हाथ पर रखा, लेकिन इसी खींचातानी में मेरा टूटा हुआ हाथ भी जाता रहा और बेचारा मुँह के बल जमीन पर जा गिरा। नाक, ठुडढी और गाँठें एक ओर छिल गईं, दूसरी ओर उनके सिर पर चिलम औंधी गिर पड़ी। गुस्सा शान्त होने पर उन्होंने लेखक को जी खोलकर गाली दी और

दूसरे रोज़ रेलवे नोटिस बोर्ड पर चाक से यह लिखा हुआ पाया गया कि—

'एक अदद कुर्सी जिसका बाँया हाथ और चौथी टाँग टूट गई है कल नीलाम होगी—जिन.साहब को लेना हो नोलाम की बोली बोल कर ले जायँ...

और दूसरे रोज मेरा खुला नीलाम हुआ। पैसे दो पैसे से बोली शुरू हुई। मेरी खस्ता हालत, पस्त कदामत को देखकर लोग यह अन्दाज नहीं लगा सके कि मेरी असली क़ीमत क्या है। क़ीमत जब रुपयों में तुलने लगी तो मुझे भी संतोष हुआ। पहले जितने लोगों ने क़ीमत लगाई वह महज आनों तक ही पहुँच कर रह गई। मवेशी अस्पताल के कम्पाउण्डर ने ही सबसे पहले मेरी कीमत एक रुपए तक पहुँचाई, लेकिन फिर भी अपनी लागत निकालने के लिए गार्ड साहब गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे थे—

'एक रुपया...एक रुपया एक...एक रुपया दो...बोलिए साहब कुछ तो बढ़िए जनाब...जरा ग़ौर करिए इसे मैंने बड़ी मेहनत से ढूँढा है...बड़े काम की चीज है... यह टूटी टाँग, ये टूटे हाथ, यह तो पुख़्तगी और सिन-रसीदा होने के सबूत हैं... हिम्मत करिए...आगे बढ़िए।'

और तब उन पन्द्रह-बीस आदमियों की टोली में से एक ने एक रुपये चार आने कीमत लगाई। एक बनिये ने एक रुपये पाँच आने कीमत लगाई...एक 'कोकशास्त्र' नामक पत्रिका के सम्पादक पण्डित नरहरि मिसिर ने एक रुपये बारह आने लगाये और अपने पास वाले एक मित्र से बोले—

'अरे भाई इसमें कम से कम इतने की तो लकड़ी लगी है...शुद्ध शीशम लगती है...मैं तो हड्डी की कीमत लगाता हूँ रूप-रंग की नहीं"—लेकिन वह भी आगे नहीं बढ़ सके। बीच-बीच में पादरी, मुल्ला, जुआड़ी, टिकट-कलेक्टर और जाने किस-किस ने कीमत लगाई और अन्त में तीन रुपये बारह आने छ पाई पर गार्ड साहब ने मुझे एक नेता के हाथ बेच दिया। बोली बोलने के बाद कीमत की चौथाई देकर उसने मेरा निरीक्षण शुरू किया। चारों ओर से देखभाल कर बोला—'किसी डिकेडेण्ट बुर्जुआ की कुर्सी मालूम पड़ती है...कमबख्त ने इसकी टाँग और इसके हाथ जुड़वाये भी तो सरेस से—अरे इनकी छाती के बीच जब तक फौलाद की ढाली हुई कीलियाँ न कसी जायँगी जब तक मजबूती नहीं आयेगी—देखिये तो सही इस पर चाकलेट कलर का रंग करवाया है...लगता है सस्ते किस्म का रोमान्सवादी है...मैं तो इसे लाल रंग में रँगवाऊँगा बिलकुल लाल रंग में।'...

और जब नीलाम की बोली खत्म हुई तो नेता महोदय ने मजदूरों से चंदा किया। तीन रुपये बारह आने छः पाई गार्ड साहब को दिये और कुर्सी को वेटिंग रूम में रखवा दिया। एक नवजवान पैटमैन को—जिसकी बुद्धिहीनता से नेता जी विशेष

रूप से प्रभावित थे—यह भी आदेश दिया कि मौके से उसे पार्टी दफ्तर में पहुँचवा दिया जाय ताकि मीटिंग में चेयरमैन को बैठने की सुविधा हो सके।

इस तरह पिछले कई दिनों से में इसी वेटिंग रूम मैं पड़ी हूँ। काल. की तो सीमा नहीं है, भाग्य की भी क्या बात कहूँ।...इसी बीच मुझे क्या-क्या अनुभव हुए, कितने उतार-चढ़ाव और संघर्षों को मैंने देखा, यह बात भी मुझे स्मरण रहेगी। वस्तुतः मैं एक व्यंग्य के रूप में वेटिंग रूम में पड़ी हुई हूँ। कोई मुझ पर बैठने का साहस नहीं करता, और जो बैठता है ऐसा गिरता है कि फिर उठने का नाम नहीं लेता...सब ने सब कुछ खरीदा लेकिन कोई यह नहीं समझ पाया कि मेरी आत्मा स्वतन्त्र थी, स्वतन्त्र है और भविष्य में भी स्वतन्त्र रहेगी। मेरे शरीर पर चाहे जितनी फौलाद की कीलें कसी जायँ, चाहे जितना लाल रंग पोता जाय लेकिन एक बात तय है और वह यह कि कोई उखड़ी हुई चीज साबित नहीं कहलाती, इसलिये मेरे शरीर पर लगाया हुआ प्रत्येक जोड़ मेरे टूटे हुए जीवन को ही व्यक्त करेगा और मेरी आत्मा बन्धनों से मुक्त ही रहेगी।

यों तो वैयाकरणों के मतानुसार मेरी आत्मा पुल्लिग है लेकिन चूँकि जनता ने आत्मा को स्त्रीलिंग बना कर छोड़ दिया है इसलिए मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती हूँ, कि मैं केवल न्यूट्रल हूँ, फिर भी मैं जनता का विरोध नहीं करना चाहती... जनमत के सामने में सदैव नतमस्तक हूँ, इसलिये निरपेक्ष, स्वतन्त्र, और निर्भीक होते हुए भी मैं जनरुचि के अनुरूप ही बोलूँगी। यद्यपि मेरा आकार नीलाम किया जा चुका है लेकिन मेरी हड्डी जो शीशम की बनी है और मेरी आत्मा जो स्वतन्त्र है, मुक्त है, वह न तो कोई नीलाम कर सकता है और न वह बिक सकती है...

अभी-अभी इस वेटिंग रूम में एक अपाहिज डाक्टर मेरी छाती पर पैर फैलाये बैठा था। देख के तरस आती थी लेकिन न जाने क्या बात थी वह बड़ा ही शान्त था। उसके चेहरे पर किसी किस्म की घबराहट नहीं थी। वह केवल गम्भीर मुद्रा में सारी वस्तुओं को देख रहा था। डाक्टर भी अजीब था। उसका दाँया पैर कटा हुआ था और बाँया हाथ टखनों से गायब था। उसके पास एक आला, एक हमियोपैथिक के दवाओं का बक्स और एक मोटी किताब थी। उसके साथ एक स्त्री थी, जिसकी आवाज इतनी सख्त और कर्कश थी कि जब वह बोलती तो सारा वेटिग रूम झन-झना उठता था। लेकिन वैसे उसके चेहरे से एक अजीब सरलता टपकती थी। वह बात-बात में अपाहिज डाक्टर को डाँट जरूर देती थी लेकिन फिर दूसरे ही क्षण उसके प्रति स्नेह भी प्रदर्शित करने लगती थी। उसे समझाने की कोशिश करती, हर प्रकार उसको सन्तोष देने की चेष्टा करती। लेकिन डाक्टर उसके डाँटने पर कहता—

'डू नाट टीज़ योर नर्व्ज़। आई विल बिहेव अकार्डिंग टु योर विल!'

और फिर वह खामोश हो जाता। उसके साथ एक अफ़ग़ान भी था जो बार-बार डाक्टर से कहता—'शाब, थोड़ा आराम कर लो...अभी बहुत देर है।' लेकिन अपाहिज डाक्टर अपनी किताब कभी भी नहीं बन्द करता। पढ़ते-पढ़ते अफ़ग़ान से कहता—'पठान हर मर्ज को थोड़ा अग्रेवेट कर दो, देखो तो वह समूल न नष्ट हो जाय तो मैं दवा करना बन्द कर दू ...मैं हर मर्ज को उसकी हद तक पहुँचाता हूँ और फायदा भी होता है...समझे...,और दूसरे ही क्षण जब वह कुर्सी पर बैठते-बैठते गिर पड़ा था और उसको उठाने के लिये उसके पास कुछ लोग गये तो अपनी बैसाखी टेक कर खड़े होते हुए उसने कहा—'मेरे लिए गिरने का अब कोई मतलब नहीं है ...तुम लोग फजूल परीशान होते हो... अपना काम करो, अपना काम'...

और वह काँपते हुए उठा था...इस्टेथिस्कोप गले में लटका कर फिर गिरी हुई कुर्सी पर इतमीनान से बैठ गया। विस्मय की बात तो यह थी कि वह इस हालत में भी पन्ने के पन्ने उलट कर पढ़े जा रहा था। कभी-कभी वह अपने ही बड़बड़ाता और कहता—'दुनिया की खराबियाँ और सारी बीमारियाँ दिमाग़ से होती हैं, अगर दिमाग़ दुरुस्त हो तो सब ठीक हो सकता है—आज के ज़माने का सबसे बड़ा मर्ज न्यूरासिस है—आदमी आज अपने केन्द्र स्थल से विस्थापित हो चुका है—उसके दिमाग़ में तरह-तरह के कीड़े पैदा हो गए हैं जो उसे चैन से बैठने नहीं देता—केकड़े की तरह तीखी चुभने वाली टाँगें लेकर जब ये कीड़े अपनी सारी भूख उसके पिलपिले भेजे में चुभा देते हैं तो फिर आदमी-आदमी नहीं रहता। मनुष्य घृणा करना चाहता है...हिंसा-प्रतिहिंसा का समर्थक बन जाता है। लेकिन घृणा करना भी आसान नहीं है...वह घृणा भी नहीं कर पाता। घृणा, प्रेम, हिंसा, प्रतिहिंसा प्रत्येक का आडम्बर कर पाता है...काश कि कहीं ये दिमाग़ी कीड़े उसे ईमानदार रहने देते...लेकिन विडम्बना तो यह है कि जो जितना बड़ा न्यूराटिक होता है दुनिया भी उसे उतना अधिक सम्मानित करती है..

शायद वह आगे कुछ और सोचता लेकिन उसके साथ आई हुई महिला ने उसकी चिन्ता को बिखेर दिया। पास आकर बोली—'खाने का समय हो गया है...कुर्सी आ गई है... बाहर चल कर बैठ जाइये...

और जब वह वहाँ से उठकर डिनर के लिए जाने लगा तो उसने अपनी बैसाखी, चेस्टर और एक पैर का जूता वहीं छोड़ दिया। चलते समय उसने पठान से कहा—'इस टूटी हुई कुर्सी को ठीक कर दो...शायद कोई इस पर बैठ जाय और उसे चोट लग जाय...

चार कुलियों के कन्धों पर एक कुर्सी पर बैठा वह प्लेटफार्म से डाइनिंग कार

में जा रहा था। प्लेटफार्म के सभी आने-जाने वाले उसे घूर-घूर कर देख रहे थे—
'आदमी, वह आदमी जो अपाहिज है लेकिन फिर भी जिन्दा है...'

लेकिन डाक्टर की मेरे प्रति प्रकट की गई सहानुभूति मुझे पसन्द नहीं आई क्योंकि जब वह स्वयं मर्ज को, ऐग्रेवेशन को दवा मानता है, तो उसे चाहिए था कि वह मेरी बाकी टाँगों को तोड़ कर मुक्त कर देता...इस अधमरे शरीर से तो यह पूर्ण मुक्ति कहीं अच्छी होती लेकिन डाक्टर भी तो बुद्धिजीवी था, वह अपनी टूटी-फूटी सभ्यता के अनुसार मुझे भी जीवित रखना चाहता था क्योंकि वह खुद भी टूट चुकने के बाद जिन्दा था क्योंकि प्रत्येक बौद्धिक, बौद्धिक मौत को ही मौत मानता है...वह समझता है कि जब तक उसकी बुद्धि जिन्दा है तब तक वह भी जिन्दा रहेगा।

इस दूर के सूने पहाड़ी स्टेशन पर भीड़भाड़ शायद ही कभी होती हो। लगता है बाबा आदम के जमाने से ही शैतान यहाँ नहीं पहुँच सका है। हैरत है जनाब ! जहाँ आदमी रहते हों वहाँ शैतान न पहुँचे और फिर चन्दनपुर जैसे स्टेशन पर ? लेकिन दुनियाँ में बहुत-सी अनहोनी घटनाएँ होती हैं उनमें से यह भी एक है। भूलते-भटकते रेलगाड़ी की एक लाइन ही यहाँ तक पहुँच सकी है। लेकिन दुनिया की अजीबो-गरीब बातें देखना हर किसी की क़िस्मत में नहीं होता, मेरी ही क़िस्मत है कि मैं देखती हूँ और सुनती हूँ और इस क्षण जो कुछ देख रही हूँ सुन रही हूँ वह भी अजीब है। डाक्टर की लाल मोटी मैटेरिया मेडिका में से एक दीमक निकलकर मेरी बाँह पर आ गया है...बार-बार वह मेरी हड्डी पर दाँत गड़ाने की कोशिश कर रहा है लेकिन जनाब यह हड्डी ही का असर है कि उसकी दाल नहीं गल रही है लेकिन मैं कहाँ कच्ची हूँ यह मैं खूब जानतीं हूँ और मुझे भय है कि कहीं यह बाँह से सरककर मेरे हृदय की ओर न बढ़े ओर अगर यह बढ़ा तो खून तो खटमलों ने चूस ही लिया है दिल भी खत्म हो जायगा। इसका यह मतलब नहीं कि मैं मौत से डरती हूँ लेकिन इसका यह मतलब जरूर है कि मैं किसी भूखे के चूल्हे में चिता बन कर जलना चाहती हूँ, यों ही पड़ी हुई सड़ कर मरना नहीं चाहती। मगर वाह री किस्मत...दीमक को मेरी हथेली पर देख करके एक खटमल भी यहाँ पहुँच गया है। मैं काफी देर से अब इनकी बातें सुन रही हूँ। यह भी जमाने की ही खूबी है साहब कि इन्सान के बारे में खटमल और दीमक आपस में बहस मुबाहिसा करें

लेकिन इसे रोक भी कौन सकता है। मिलते ही दोनों ने एक दूसरे को पहचाना लेकिन अनजान बन कर एक ने पूछा—

'अबे ओ बुद्धिवादी किताबी कीड़े, इस कुर्सी पर कहाँ चढ़ा जा रहा है... तेरी जगह यह तो नहीं है...जा न उन मोटी किताबों के बीच जिसकी गन्ध को तू सर्वथा स्वर्ग की देन मानता था और जिनके भँवर में पड़ कर तेरा यह शरीर पीला, रुग्ण और बिना दम का मालूम होता है'

दूसरा थोड़ी देर चुप रहा लेकिन इस असम्भावित वक्तव्य की आशा उसे नहीं थी। तीक्ष्ण बुद्धि के कारण वह इस उजड्ड को कोई जवाब तत्काल ही देने में असमर्थ था। यों तो वह एमर्सन, कार्लाइल, दान्ते, कान्ट, हेगेल, मार्क्स सब को पी चुका था। लेकिन इस अवसर पर वह इस उलझन में पड़ गया कि वह किस के मतानुसार जवाब दे। लेकिन पहला खामोश नहीं रहा। उसने इसी बीच फिर दोहराया—

'तुम को इन्सान का भेजा पसन्द है...इन मोटी किताबों में पिलपिले मांसल भेजे के सूक्ष्म रूप की तुम प्रतिक्रिया हो...आज इस ठोस धरातल पर तुम कैसे उतर आये ?'

क्रोधावेश में दीमक के दिमाग में कई तर्क आये लेकिन आवेश को सन्तुलित करने के प्रयास में वह सब कुछ भूल गया और अन्त में उसे अनुभव हुआ कि उसके दिमाग़ में एक चक्कर-सा चल रहा है और वह उस शून्य स्थिति को पहुँच गया है जहाँ न उसे खटमल दीख रहा है, न कुर्सी, न उसकी आत्मा ! लेकिन इसी बीच उस लाल रेंगते हुए जीव ने आगन्तुक की स्थिति को भाँप लिया और बोला—

'तुम हताश हो गये...शायद तुम्हें नहीं मालूम कि मैंने तुम्हें सर्वप्रथम उस दार्शनिक के यहाँ देखा था जो यूनिवर्सिटी में अध्यापक था। उस समय मैं इसी कुर्सी में था। इसी के ऊपर बैठ कर उसने बड़ी से बड़ी भयंकर किताबें पढ़कर खत्म की थीं...लेकिन उस समय तुम में बड़ा गर्व था...बड़ा घमण्ड था, तुम बात-बात में मुझ से उपेक्षा की भावना रखते थे...लेकिन आज इतने रुग्ण...पीड़ित...फीके-फीके से क्यों हो जी...?

'जिन्दगी उन किताबों के पन्नों में मर सी गई है...पहले मैं इस कुर्सी के साथ था...वह कबाड़ी जिसने हीरपुर का जंगल खरीदा था उसके यहाँ काफी पुरानी लकड़ियाँ भी रहती थीं लेकिन एक जमाना आया जब उसके पास आवश्यकता से अधिक पैसा हो गया और उसने कबाड़ी पेशा छोड़ कर नई लकड़ियों का फर्नीचर मार्ट बनवाया। इस स्थिति में मैंने उस कुर्सी में शरण ली जो तत्काल ही किसी फौजी आफिस में जाने वाली थी। फिर उस फौजी जिन्दगी से, हवलदार की वर्दी-पेटी से लेकर ज्योतिषी, शायर, कवि, डाक्टर जाने किस-किस के यहाँ भटकता रहा।

खटमल खामोश हो गया। कुछ देर सोचने के बाद बोला...'लेकिन यार इसके माने तुमने काफी लम्बी चौड़ी जिन्दगी देखी है। बड़े उतार-चढ़ाव देखे हैं'...

'नहीं जी...जब मैं शायर के यहाँ पहुँचा तभी से मुझे किताबों का चस्का लग गया। रहता था कुर्सी में लेकिन मेरी आत्मा को मेरे शरीर को सुख मिलता था शायर के पुराने खस्ता दीवानों में। आशिक के कलेजे, गुर्दे, जिगर, दिल, खून...क्या-क्या नहीं था उसमें। और जब मैं उस के यहाँ से दार्शनिक के यहाँ आया तो फिर क्या कहना...वहाँ तो कुछ दिनों बड़े-बड़े शिकार मिले...लेकिन तब तक मैंने कुर्सी में रहना छोड़ दिया था...कभी मार्क्स के कैपिटल में रहता, कभी कांट में, कभी किसी कविता की पुस्तक में जाता, कभी किसी शास्त्र के पन्नों में उलझा रहता, और तब धीरे-धीरे मैं उन सब की आत्माओं का रस लेने लगा, उनको चाट-चाट कर स्वस्थ होने की कल्पना करने लगा, जिन्होंने आदमी का दिमाग सातवें आस्मान पर चढ़ा दिया था और आज वह हमें-तुम्हें, इन्हें-उन्हें और स्वयम् अपने ही जाति के लोगों को विभिन्न वर्गों और सीमाओं में बाँट कर देख रहा है।'

दोनों थोड़ी देर तक मौन होकर उसी मेरे हाथ पर अपने पंजे सिकोड़े बैठे रहे, निस्तब्ध, मौन, किसी चिन्ता में डूबे से। लेकिन इसी बीच एक अजीब शोर हुआ। स्टेशन पर साइरेन की आवाज गूँज उठी। इतनी तेज आवाज कि कान के परदे फटने लगे। स्टेशन के प्लेटफार्म पर चहल-पहल मचने लगी। अन्धेरी रात में चारों ओर सिगनेल लैन्टर्न ले लेकर रेलवे कर्मचारी दौड़-धूप करने लगे। और अन्त में पता यह चला कि पहाड़पुर स्टेशन पर दो गाड़ियाँ एक दूसरे से टकरा गई हैं और काफी आदमी घायल होकर मर गये हैं। कोई कह रहा था लाइन धँस गई है...कोई कह रहा था पुलिया टूट गई है...कोई कुछ कह रहा था और कोई कुछ। लेकिन मेरे हाथ पर बैठे हुए ये दो प्राणी केवल सुन रहे थे और जब सुन चुके तो एक ने कहा—'अब तुम यहाँ से कैसे जाओगे...गाड़ी तो आगे जाने से रही...और अगर यहाँ रहोगे तो इस खुले मैदान मे, सरसब्ज जमीन में तुम बीमार पड़ जाओगे...और अगर यहाँ अस्वस्थ हो जाओगे तो तुम्हारे कई मकसद कई अरमान रह जायेंगे'...

'ठीक है जी, मैंने सब किताबों का स्वाद लिया था केवल डाक्टरी किताबें बाकी थीं...यही सोच कर मैं दार्शनिक की किताबों से और उसकी लाइब्रेरी में पड़े हुए अपने परिवार से अवकाश लेकर इस मँगनी की किताब में जा घुसा था। जितने दिन भी रहना पड़े। यह मोटी किताब मेरे लिये काफी होगी। खतरा महज इस डाक्टर से है जो एक मिनट के लिये इस किताब को छुट्टी नहीं देता हमेशा अपने सीने से ही लगाये रहता है'...

'डाक्टर ?...क्या तुम्हारा मतलब इस अपाहिज से है ?'

खटमल खामोश हो गया। कुछ देर सोचने के बाद बोला...'लेकिन यार इसके माने तुमने काफी लम्बी चौड़ी जिन्दगी देखी है। बड़े उतार-चढ़ाव देखे हैं'...

'नहीं जी...जब मैं शायर के यहाँ पहुँचा तभी से मुझे किताबों का चस्का लग गया। रहता था कुर्सी में लेकिन मेरी आत्मा को मेरे शरीर को सुख मिलता था शायर के पुराने खस्ता दीवानों में। आशिक के कलेजे, गुर्दे, जिगर, दिल, खून...क्या-क्या नहीं था उसमें। और जब मैं उस के यहाँ से दार्शनिक के यहाँ आया तो फिर क्या कहना...वहाँ तो कुछ दिनों बड़े-बड़े शिकार मिले...लेकिन तब तक मैंने कुर्सी में रहना छोड़ दिया था...कभी मार्क्स के कैपिटल में रहता, कभी कांट में, कभी किसी कविता की पुस्तक में जाता, कभी किसी शास्त्र के पन्नों में उलझा रहता, और तब धीरे-धीरे मैं उन सब की आत्माओं का रस लेने लगा, उनको चाट-चाट कर स्वस्थ होने की कल्पना करने लगा, जिन्होंने आदमी का दिमाग सातवें आस्मान पर चढ़ा दिया था और आज वह हमें-तुम्हें, इन्हें-उन्हें और स्वयम अपने ही जाति के लोगों को विभिन्न वर्गों और सीमाओं में बाँट कर देख रहा है

दोनों थोड़ी देर तक मौन होकर उसी मेरे हाथ पर अपने पंजे सिकोड़े बैठे रहे, निस्तब्ध, मौन, किसी चिन्ता में डूबे से। लेकिन इसी बीच एक अजीब शोर हुआ। स्टेशन पर साइरेन की आवाज गूँज उठी। इतनी तेज आवाज कि कान के परदे फटने लगे। स्टेशन के प्लेटफार्म पर चहल-पहल मचने लगी। अन्धेरी रात में चारों ओर सिगनेल लैण्टर्न ले लेकर रेलवे कर्मचारी दौड़-धूप करने लगे। और अन्त में पता यह चला कि पहाड़पुर स्टेशन पर दो गाड़ियाँ एक दूसरे से टकरा गई हैं और काफी आदमी घायल होकर मर गये हैं। कोई कह रहा था लाइन धँस गई है...कोई कह रहा था पुलिया टूट गई है...कोई कुछ कह रहा था और कोई कुछ। लेकिन मेरे हाथ पर बैठे हुए ये दो प्राणी केवल सुन रहे थे और जब सुन चुके तो एक ने कहा—'अब तुम यहाँ से कैसे जाओगे...गाड़ी तो आगे जाने से रही...और अगर यहाँ रहोगे तो इस खुले मैदान में, सरसब्ज जमीन में तुम बीमार पड़ जाओगे...और अगर यहाँ अस्वस्थ हो जाओगे तो तुम्हारे कई मकसद कई अरमान रह जायेंगे'...

'ठीक है जी, मैंने सब किताबो का स्वाद लिया था केवल डाक्टरी किताबें बाकी थीं...यही सोच कर मैं दार्शनिक की किताबों से और उसकी लाइब्रेरी में पड़े हुए अपने परिवार से अवकाश लेकर इस मँगनी की किताब में जा घुसा था। जितने दिन भी रहना पड़े। यह मोटी किताब मेरे लिये काफी होगी। खतरा महज इस डाक्टर से है जो एक मिनट के लिये इस किताब को छुट्टी नहीं देता हमेशा अपने सीने से ही लगाये रहता है'...

'डाक्टर ?...क्या तुम्हारा मतलब इस अपाहिज से है

'हाँ...हाँ यही डाक्टर मेजर नवाब...आप इन्हें क्या समझते हैं जनाब... इनकी एक टाँग टूट गई है और इनका हाथ लगातार लिखते रहने से विकृत हो गया था जिसे इन्होंने महज इसलिए कटवा दिया है; ताकि यह चीजों को महज लिखें ही नहीं हजम भी कर सकें, सोच-समझ भी सकें...और अब इनकी जिन्दगी क्या है, एक मजाक है जो जीने और मरने से भी रही...'

और फिर एक जोर का शोर हुआ...प्लेटफार्म पर भीड़ लग गई...स्टेशन से काफी लोग एक स्पेशल ट्रेन में घटना-स्थल की ओर जाने लगे। थोड़ी देर में प्लेटफार्म पर मौत का-सा सन्नाटा छा गया। हर दिशा से हर तरफ से केवल खामोशी ही साँय-साँय करने लगी और जब मरीजों की कुर्सी पर लेटा हुआ अपाहिज डाक्टर कमरे में आया तब तक केवल एक खटके के कारण दीमक मोटी किताब में और खटमल उसी मेज की दराज में चले गए। मैं अकेली रह गई...केवल अकेली। मेरे मन में भी इन दोनों की बातें सुन-सुन कर अनेक भावनाएँ उठने लगी थीं।

मेरे दिमाग में तो पास वाली पुलिया की दुर्घटना गूँज रही थी। अनगिन आदमियों की जिन्दगी महज तीन अंगुल पटरी से सरक कर आज समाप्तप्राय हो चुकी थी...कितने ही मौत के घेरे में चित्त पड़े होंगे और वह जो बचे होंगे वह भी मौत के घेरे के बाहर औंधे पड़े अपनी साँसें गिन रहे होंगे। कितना कम फासला जिन्दगी और मौत के बीच है...देखिये न, मैं इस बीच जाने क्या-क्या सोच गई, जाने क्या-क्या मैंने कह डाला लेकिन मेरी हराम हुई नींद ने जिन्दगी की एक बात भी ठिकाने से नहीं सोची। सहसा मेरी नजर वेटिंग रूम के बाहर जा पड़ी...इस घाव घुप्प अँधियारी रात में दो पैटमैन आपस में कुछ बातें कर रहे थे...उनकी आवाजें कान में पड़ीं—

'सुना चौदह अप से बारात आने वाली थी...

'तो क्या हुआ, मौत—शादी, बारात, खुशी, गमी का—इंतजार नहीं करती।'

'तब तो सारे बाराती परीशान और तबाह हो गये होंगे...'

'सारे के सारे क्यों तबाह होंगे...जितने आदमियों की जिन्दगी मौत को लेनी होगी उसने ले लिया होगा...बाकी तो बचे होंगे...'

'तुम्हारा मतलब जिन्दगी और मौत का कोई नियम नहीं है...बस होना होता है इसलिए हो जाता है...'

दूसरा पैटमैन जो वृद्ध था चिलम की एक लम्बी कश खींचते हुए बोला—

'जूये की कौड़ी की तरह आदमी की जिन्दगी और मौत का भी सवाल है... मेरे बच्चे, अपनी मुट्ठी में होते हुए भी, खुद ही उनको संचालित करने पर भी तुम निश्चय नहीं कह सकते कि कौन कौड़ी चित्त पड़ेगी और कौन पट...!"

नौजवान व्यक्ति यह स्वीकार करते हुए भी जैसे आपत्ति की मुद्रा में बोला—'मौत के झटके तो जिन्दगी हर साँस पर झेलती है...यह तो जिन्दगी पर है जब चाहती है मौत के हवाले कर देती है...जिन्दगी तो हर साँस मौत की मुट्ठी में है... मौत की मुट्ठी में...'

'जो जिन्दगी मौत की मुट्ठी में होती है उसे मौत कभी नहीं पूछती, मेरे बच्चे, बिल्कुल नहीं पूछती...बिल्कुल...'

और इसी समय रेस्ट शेड से किसी शख़्स के चीखने की आवाज आई। दोनों चौंक पड़े। शन्टिंग के लिये ख़ामोश मालगाड़ी के डिब्बे प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे। शटल रेस्ट हाउस से चल पड़ा था। बूढ़े ने उस कटकटाती हुई सर्दी में अपनी लैण्टर्न उठायी, शटल की ओर हरा सिगनल दिखलाता हुआ प्लेटफ़ार्म की ओर बढ़ गया। नवजवान ने पटरी बदलने के लिये फ़ौलादी सीखचों को खींचा...लाईन-किलयर दिया और बड़े ही सहज और स्वाभाविक ढंग से शटल रेल की पटरियों पर दौड़ने लगा—नवजवान ने सोचा—'इस शटल में भी तो जिन्दगी है, शक्ति है, किन्तु इसकी स्थिति इसकी दिशा मेरी मुट्ठी में है...जब चाहूँ जिधर मोड़ दूँ, जब चाहूँ मौत का ठहराव दे दूँ...'

लेकिन प्लेटफ़ार्म के दूसरे छोर पर वृद्ध पैटमैन केवल एक बात जानता था कि इंजिन की गति के लिये केवल एक टूटी रोशनी की जरूरत है...उसे विस्तृत पथ से, रेल से, लाइन से कोई मतलब नहीं...उसको कभी इनकी चिंता ही नहीं हो सकती, वह केवल एक बात जानता है—और वह है—हर रेस्ट के बाद चलना है...और हर लाल रोशनी गतिरोध है।

मालगाड़ी के डिब्बों को एक झटका लगा...दिशा-दिशा में डिब्बों के टकराने की आवाज गूँज गई।...शटल एक बार फिर चीख़ा और गति के साथ-साथ 'छिक...

छिक...छिक' की ध्वनि के अवतरणों और विरामों में समस्त स्टेशन की खामोशी जैसे गतिशील हो गई। सिगनल विराम के माथे की भाँति झुके हुए थे...और शटल अन्धेरे की ठोस दीवार को चीरता हुआ आगे बढ़ता जाता था। ऐसा लग रहा था जैसे सारा—सब कुछ, हर विराम, हर सिगनल के परे भी घटित हो रहा है...इन सब का अपना कुछ नहीं है...सब पूर्व निश्चय नियमित सा है...और तभी पैटमैन ने कहा—'सिगनल की हरी बत्ती दो...क़ायदा है...सिर्फ हरी बत्ती सलामती का सूचक है और नही तो सिर्फ...लाल...लाल रोशनी...जो ठहराव है...खामोशी है...आतंक है...' और यह बात करते-करते दोनों की छायाएँ उसी अंधकार में विलीन हो गईं।

लोहे के खिलौने और काठ की बन्दूकें

"······आदमी की तस्वीर उस काग़ज के पुतले के समान है जो आतशबाजों द्वारा आसमान में टाँग दिया जाता है, लेकिन जिसके पैर में बारूद भरी चर्खी और माथे पर ठोस जस्ते की गोलियाँ रहती हैं...। कोई आतशबाज नीचे पैर मे आग लगा देता है और दिमाग़ की गोलियाँ निकलने लगती हैं लेकिन उन्हीं के बीच जो गल नहीं पाता, जल नहीं पाता वह ठोस कारतूस की गोली है और वही ज़िन्दगी है......"

जिस हवल्दार के यहाँ से मेरे जीवन का संघर्ष प्रारम्भ हुआ है वह कहा करता था कि "आदमी की तस्वीर उस कागज के पुतले के समान है जो आतशबाजों द्वारा आसमान में टाँग दिया जाता है लेकिन जिस के पैर में बारूद भरी चर्खी और माथे पर ठोस जस्ते की गोलियाँ रहती हैं...। कोई आतशबाज नीचे पैर में आग लगा देता है और दिमाग की गोलियाँ निकलने लगती हैं लेकिन उन्हीं के बीच जो गल नहीं पाता, जल नहीं पाता वह ठोस कारतूस की गोली है और वही जिन्दगी है।"

हीरपुर फर्नीचर मार्ट का व्यवस्थापक सदैव थोकफरोशी का काम करता था। सन् चौदह की लड़ाई के ज़माने में मैं उन नमूने की कुर्सियों में से थी जिसे फौज वालों ने यह कह कर वापस कर दिया था कि इनकी हमें क़तई जरूरत नहीं है। इन में न कसाव है, न उभार, न तो कोई आकर्षण है, न सौन्दर्य। अंग्रेज कप्तान हैवलाक जो उन दिनों हीरपुर की छावनी का सब से बड़ा अफसर था उसने मुझे देख कर व्यंग्य में कहा था—"कण्ट्रैक्टर...तुम तो कमाल के आदमी है...यह लकड़ियाँ तो कच्ची हैं...और यह कैम्प फौज का है...यहाँ कच्ची टक्साली चीज नहीं चाहिये, तुम यह कुर्सी ले जाओ, यह सब कुर्सियाँ ले जाओ..." लेकिन उसका हवल्दार बड़ा ही अच्छा था। उसने उस कण्ट्रैक्टर की बड़ी मदद की और उसकी मदद से वह सारी नापसन्द की हुई कुर्सियाँ खरीद ली गईं। मैं शुकराने में हवल्दार के सिपुर्द कर दी गई। कैम्प में मैं हवल्दार के सिरहाने रखी रहती थी। मेरी छाती हर लोहे के हैट, बन्दूकें, क्रीच वगैरह रखी रहती थीं। उन दिनों मेरी उमर ही क्या थी लेकिन उस कुँआरेपन में भी जब मैं कुछ भी रंगीन सपने देखने की चेष्टा करती तो उन हथियारों की नोक गड़ जाती...एक चोट लग जाती...एक झटका लगता...और फिर ख़ामोश घुटन के साथ जीवन व्यतीत करना पड़ता।

हवल्दार दिल का बड़ा ही सरल व्यक्ति था लेकिन इस सरलता का सब से

बड़ा व्यंग्य यह था कि वह बड़ा ही कुरूप, मोटा और भद्दा था। अधेड़ उमर का था। उसके बाल पक रहे थे लेकिन वह हमेशा अपने बालों में खिज़ाब लगाये रखता था। जब कभी भी वह मेजर हैवलाक के पास जाता तो अकड़ कर दस-पाँच कदम के पहले ही बूट लड़ाकर तड़ाक से सैल्यूट देता और फिर उस सैल्यूट के बाद मेजर उसे अपने निकट बैठा कर अपनी व्यक्तिगत बातों का ढेर लगा देता। मेजर हैवलाक हवल्दार को कई कारणों से मानता था। पहला तो यह कि हवल्दार उसकी कुतियों को इतना प्यार करता था...इतना चूमता-चाटता था कि उसकी बीबी उससे बड़ी प्रसन्न रहती थी और मेजर हैवलाक से उसकी प्रशंसा किया करती थीं। एक दूसरा भी कारण था। बेटालियन नं० ९ के ब्रिगेडियर हापकिन्स की पत्नी पर मेजर हैवलाक बुरी तरह आसक्त था और उस बात को केवल हवल्दार ही जानता था। घटना यों हुई थी कि एक दिन कैप्टेन हैवलाक शाम को अपने क्वार्टर से निकल कर घूमने जा रहा था और ब्रिगेडियर हापकिन्स की पत्नी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार कैप्टेन हैवलाक के साथ किसी जगह जाने को तैयार प्रतीक्षा कर रही थी। कैप्टेन हैवलाक के जाने के बाद उसकी पत्नी ने हवल्दार को ब्रिगेडियर के यहाँ यह पता लगाने के लिये भेजा कि कैप्टेन हवलाक तो वहाँ नहीं गया है। ब्रिगेडियर के यहाँ जाकर हवल्दार ने जो कुछ देखा उसका वर्णन करना वह पाप समझता है लेकिन जो कुछ सुना उससे उसने यह अनुमान अवश्य लगाया कि उन दोनों में कुछ ऐसी बातें हो रही थीं जिसे उसने उपन्यासों में ही पढ़ा था। जब हैवलाक को यह स्पष्ट हो गया कि उसका छिपा रोमान्स हवल्दार को मालूम हो गया है तो उसने हवल्दार को बुला कर काफी समझाया। एक गिलास गर्म दूध पिलाया एक सेर बादाम खरीदने का पैसा निकाल कर दिया और बोला—"हवल्दार इस बात को किसी से कहना नहीं...जब कभी भी मन में ऐसी कमज़ोरी आ जाय तो दो-चार डण्ड-बैठक मार लाना, देखी हुई बात को पचा लेना और अगर इस पर भी जी व्याकुल हो तो फिर मुझ से मिलना। मैं सब का उपचार बता दूँगा"। हवल्दार को एक गिलास दूध मिला, डकारता हुआ वापस लौट आया और मिसेज हैवलाक से उसने बतलाया कि साहब छाउनी से शहर की ओर चला गया है और ब्रिगेडियर के घर में कोई नहीं है। कप्तान की बीबी न जाने क्यों प्रसन्न थी। उसने अपने मेज पर से तीन लोहे के खिलौनों को हवल्दार को देते हुए कहा—"वह लो हवल्दार...अब की जब देस जाना तो अपनी घरवाली को दे देना।" उन खिलौनों को लेकर जब हवल्दार चलने लगा तो आधी दूर से उसे फिर वापस लौटना पड़ा और अब की बार उसने मेम साहब से पूछा कि उसके न तो कोई बीवी है और न कोई बच्चा, रही देस की बात तो वहाँ उसके सगे-सम्बन्धी प्लेग में मर गये हैं फिर इन खिलौनों को ले जाकर वह क्या करेगा? और तब मेम साहब ने कहा

था—"कैसा आदमी है हवल्दार...तेरी बीवी भाग गई तो क्या तू दूसरी बीबी नहीं करेगा..." हवल्दार की आँखों में आँसू आ गये। उसने कहा, "नहीं मेम साहब अब हम क्या शादी करेंगे...अब तो बस...नौकरी खत्म कर के किसी तीरथ में रहेंगे... बस..."। लेकिन यह बात मेम साहब की समझ में नहीं आई और मेम साहब ने कहा —"तो मैं यह खिलौने लेकर क्या करूँगी तुम जिसे चाहो उसे दे देना..." थोड़ी देर तक हवल्दार खामोश रहा, उसने कुछ सोचने की कोशिश की और बड़े ही भोले ढंग से बोला—"तो मेम साहब मैं इन खिलौनों को आप ही को देता हूँ। मेम साहब को हवल्दार की अप्रत्याशित बात ने चौंका दिया लेकिन फिर उसने कहा— "मुझे देता है हवल्दार ?"

"हाँ मेम साब।"

"सोच समझ लिया है न..."

"हाँ मेम साब...आप के सिवा अब यहाँ मेरा कौन है।"

"अच्छा ला..." और उसने हवल्दार के हाथ से उन खिलौनों को वापस ले लिया और हवल्दार मेम साहब की काली कुतिया को अपने गोद में उठा कर खिला-लगा। और जब मेम साहब ने उसे ऐसा करते देखा तो वह बड़ी प्रसन्न हो गईं और अपने आप बाहर जाकर कहने लगीं... "क्या करता है हवल्दार...तुमको कुतिया से इतना प्रेम क्यों है...।" हवल्दार पहले खामोश रहा लेकिन फिर बोला—"इसलिये मेम साहब कि यह जिसे प्यार करती हैं तो फिर उसे धोखा नहीं देतीं..." मेम साहब उसकी बात सुन कर हँस पड़ीं। अपने फ्राक के जेबों में हाथ डाल कर बोली— "तो तुझे कुतिया ही प्यार करने के लिए मिली।" कुतिया को अपनी बाहों से उतारते हुए हवल्दार ने कहा—"हाँ मेम साहब आदमी तो सौदा करना जानता है प्यार करना नहीं।"

छाउनी का बिगुल बज चुका था। एक घण्टे बाद उसे पहरे पर जाना था, इसलिये वह चला गया। मेम साहब बड़ी देर तक कुछ सोचती रहीं, फिर उन्होंने अपने से कहा—"बेवकूफ़ है... और अपने बगीचे के फूलों को अपने हाथ से सहलाने लगीं।"

शाम को जब हवल्दार महावीरजी के मन्दिर के सामने कुछ प्रार्थना के स्वर में विनती कर रहा था कि उसे अगम पण्डित मिल गये। पंडित जी ने हवल्दार को देखकर पूछा—'आज तुम इतने घबराये से क्यों हो जी ?' हवलदार को इस एक बात से आज शाम की घटना याद हो आई। उसके जी में आया वह पण्डित जी से सारी बातें कह दे और बस वह पण्डित जी को बुला कर अपनी छाउनी में ले गया। खाली कुर्सी पर पर बैठा कर वह सारी बातें कह सुनाई कि कैसे कैपटेन हैवलाक और मिसेज हापकिंस बातचीत कर रहे थे...कैसी-कैसी उनकी मुद्रायें बन रही थीं...कैसे-कैसे उसने उस

तमाम हुस्न और इश्क़ की बातों को दीवार से चिपक कर सुना, यहाँ तक कि उसे कैसे और किन परिस्थितियों में एक गिलास दूध और एक सेर बादाम मिला। फिर किन परिस्थितियों में मेम साहब ने उसे तीन लोहे के खिलौने दिये और उसने क्या कह कर वापस कर दिया। ज्योतिषी पण्डित ने यह सारी बातें बड़े धीरज से सुनी। उतनी ही धीरज से जितनी धीरज से वह अपने श्रोताओं को सुनाता था। फिर बोला—"हवल्दार...मैं बहुत पहले से तुम से कह रहा हूँ...जरा एक बार अपनी जन्म-पत्री तो दिखलाओ...इन ग्रहों का बड़ा प्रभाव होता है...फिर राजदरबार में और राजमहल में दोनों स्थान पर सम्मान पाना बड़े भाग्य की बात है...और भाई मैं तो रूढ़िवादी तो हूँ नहीं...जो शास्त्र कहते हैं, मत कहता है उसी के अनुसार करता हूँ...तुम एक अनुष्ठान करवा डाले...रही-सही बाधाएँ भी समाप्त हो जायेंगी। हवल्दार पण्डितजी की बात पर हँस पड़ा, फिर बोला—"अरे पण्डित जी जो तुमने मेरा महामृत्युंजय का जाप किया था न...उसके बाद ही से यह सब गुल खिलने लगे हैं...ठीक है मैं तुम्हें अपनी जनम पत्तरी भी दे दूँगा...अनुष्ठान भी करवा दूँगा..." और वह फिर चुपचाप पैर में एक मोजा डालते हुए बोला—लेकिन पण्डितजी मैं बीस आने का अनुष्ठान नहीं करवाऊँगा...हाँ...फिर जी खोल के होगा...कौन यहाँ आगे-पीछे रोने वाला बैठा है—" और पण्डितजी पुलकित होकर चले गये।

रात को जब हवल्दार पहरा दे रहा था तभी उसके जी में आया कि वह ड्यूटी से हट कर सामने की लान में जाकर बैठ रहे। रजनी-गन्धा की सुगन्धित वायु-मण्डल में बैठ कर अपने भारी जूते, मोजे, और पसीने से तर-बतर वर्दी उतार दे। नंगे बदन घास पर लेट जाय और रात भर आकाश के तारे गिने। अपने दोनों घुटने समेट कर अपने बाहों में कस ले...हरी दूब को नोच कर अपने दाँतों के नीचे दबा ले और टूँग-टूँग कर कुतर डाले...क्षण भर कर लिये कन्धे की बन्दूक को उतार कर फेंक दे...लेकिन तभी उसे लगा उसके कन्धों पर कोई हाथ रखे कह रहा है..."अरे हवल्दार...यार तू कितना मूरख है...मेम साहब ने तुझे जो खिलौने दिये थे उसे तुझे वापस नहीं करना था...जा...जा उसे वापस ले आ...उसे अपनी सिरहाने वाली कुर्सी पर रख दे..." और जब वह चौंक कर उठा तो उसने देखा कोई नहीं बन्दूक का घोड़ा उसके कन्धों में गड़ रहा था। भीगी हुई ओस में बन्दूक सर्द हो रही थी और लकड़ी का मोटा कुन्दा जिसे उसने अपनी हथेली में दबा रखा था पसीज गया था। उसने फिर घूम-घूम करके पहरा देना शुरू कर दिया। रात लम्बी...और लम्बी और लम्बी होती गई...

सवेरे जब वह अपने कमरे में पहुँचा तो उसने देखा कागज में कड़े बादाम कुर्सी पर रखे हुये थे। पत्थर की जैसी आँखों से वे उसे घूर रहे थे...उसने सोचा कैप्टेन हैवलाक जब अपनी जिन्दा पत्नी के प्रति ईमानदार नहीं रह सकता तो वह परित्यक्ता के लिए इतनी चिन्ता क्यों करे? लेकिन फिर वह आगे नहीं सोच सका। उसने भारी बन्दूक मेरी बाहों पर लाद दी। थोड़ी देर तक बिल्कुल खामोश रहा, फिर अपने जूते, मोजे उतारने लगा। अन्त में उसने अपनी वर्दी उतारी, भीगे हुये बादाम को सिल-बट्टे पर पीसा। एक टिकिया मक्खन में लपेट कर उसने एक गोला बनाया। डण्ड-बैठक की...नहाया-धोया और बादाम के गोले को खा गया। खा चुकने के बाद उसे लगा जैसे मन की सारी बात पच रही है...पची जा रही है...और वह सो गया। इस घटना के बाद से मेजर हैवलाक की पत्नी जब कभी भी हवल्दार को देखती तो अपनी हँसी नहीं रोक पाती।

हवल्दार के पास अनुष्ठान के लिये उपयुक्त पैसों के कमी भी थी। पण्डित जी को जन्म-पत्री दिये अभी कुछ दिन हुये थे। बड़ा अशुभ हो गया था देते समय। वह सब चीजों की भाँति जन्म-पत्री को भी कुर्सी पर रख कर बूट में पालिश करने लगा था कि एक बन्दर उसे उठा ले गया। काफी चने और मूँगफली फेंकने के बाद बन्दर जन्म-पत्री फेंक कर चना खाने लगा और तब हवल्दार को जन्म-पत्री मिली। मिलते ही वह धूप में तीन मील की यात्रा पार करके उसे पण्डितजी के घर दे आया और यही कारण था कि जब मेम साहब उसे देख कर हँस देतीं तो उसकी घिग्घी बन्ध जाती और काँपते हुये स्वरों में हवल्दार कहता—मेम साहब...मैं...मैं...मेम...सा...ह...ब" और मेम साहब कहती—"क्या है हवल्दार—" और जब वह अपने दाँत निकाल कर हँसने लगता तब मेम साहब गम्भीर बन कर उससे केवल यह पूछतीं—"कि रामायण में वह कौन-सी कहानी एक रोज बता रहा था जिसमें किसी आदमी को जब शादी की बड़ी इच्छा हुई थी और भगवान के पास उसका स्वरूप माँगने गया तब उन्होंने उसे बन्दर का रूप दे दिया था"—और हवल्दार बड़ा नम्र होकर अपना मोटे शरीर थोड़ा लचका कर बड़े नाज़ से कहता—"हुजूर वह तो ना...ना...नारद जी थे" और तब मेम साहब हँस कर चली जातीं। और जब वह हँसने लगतीं तब हवल्दार कहता—"लेकिन मेम साब वह तो देवताओं की बात है, आदमी तो केवल सौदा करना जनता है सिर्फ सौदा करना बस..."

लेकिन आज मेम साहब ने उसको अपने पास बिठाया। एक कन्धारी खट्टा अनार उसके हाथ में दे दिया और बोलीं—"हवल्दार तू क्यों बार-बार यह कहता है कि आदमी सौदा करता है, सिर्फ सौदा" और बहुत विक्षिप्त हो कर हवल्दार ने कहा—जाने दीजिये मेम साब वह एक कहानी है क्या करेंगी उसे पूछ कर। हवल्दार

की बात सुनाकर मेम साहब ने कहा—"वह कैसी कहानी है हवल्दार मुझे नहीं बतायेगा क्या।" हवल्दार मेम साहब की बात से कुछ घबरा गया लेकिन सोचा ठीक ही तो है, शायद मेम साहब मेरी ईमानदारी और नेकनीयती देख कर प्रसन्न हो जायँ और इसलिये उसने अपने हाथ के खट्टे अनार को तोड़ा और उसके सुर्ख दानों की एक फंकी लगाई और कहना शुरू किया। अभी कुछ बोला ही था कि उसकी नज़र सामने के तीन खिलौनों पर पड़ी जिसे उसने मेम साहब को लौटा दिया था। उन तीनों खिलौनों में से एक-एक उसे घूर-घूर कर देखते से प्रतीत हुए। बन्दर की मुखाकृति उसे चिढ़ाती हुई-सी प्रतीत हुई और भालू का खिलौना देखकर उसे लगा जैसे वह बेवकूफ है जो अपने राज की बात इस तरह कहने जा रहा है, लेकिन लोमड़ी का खिलौना कह रहा था—"कहा जाओ, सारी दास्तान कह जाओ—जिस तरह वह प्रसन्न हो प्रसन्न कर लो मौका भी अच्छा है" और इस बीच वह अनार के दानों की दूसरी फंकी भी लगा चुका था। मेम साहब सोच रही थीं, और कितने प्रकार के आदमी हो सकते है और कितने प्रकार के हवल्दार हो सकते हैं और कितनी प्रकार की मेम साहबें हो सकतीं हैं। कि उसने कहा—

"आप तो जानती हैं मेम साहब इश्क बुरी चीज होती है। दिल की लगी आदमी से क्या कुछ नही करवा देती। और सो वही हुआ जो भगवान ने रच रखा था। मेरा भी किसी से इश्क हो गया। परेम तो परेम ही है, मेम साहब, वह ऊँच-नीच नहीं जानता, जिससे होनी होती है उससे लग जाता है और इस तरह मेरा भी परेम लग गया था एक औरत से। उन दिनों मेम साहब मैं लाहौर में सिपाही था, और कप्तान साहब के यहाँ ड्यूटी करता था। और कप्तान साहब के यहाँ एक बावरची था जिसकी लड़की बड़ी ही अच्छी, रूप-रंग की पक्की, नख-सिख की सुन्दर और मैं भी था सिपाही।"

इतना कहने के बाद हवल्दार को ऐसा लगा जैसे उसने कोई गुनाह किया हो, जैसे कहानी के इतने भाग को सुना कर ही वह मेम साहब की नजर में गिर गया हो। लेकिन उसे विश्वास था कि उसका कुछ नहीं होगा क्योंकि पण्डित जी ने उसकी जनम-पत्री देखकर यह बतला दिया था कि राज-दरबार में उसका मान वैसा ही बना रहेगा। राजमहल में दिनों दिन उसका सम्मान बढ़ेगा उसे महारानी के बगल में सिंहासन मिलेगा, शयन, छप्पन प्रकार के व्यंजन, भोग, विलास क्या कुछ नहीं मिलेगा उसे...। और फिर वह एक अनुष्ठान भी करा रहा है...आधा अनुष्ठान हो चुका है...पूरा समाप्त होते-होते वह राजमहल में जिस ऊँची चोटी पर होगा उसका क्या ठिकाना...। और तब वह उन तीनों खिलौनों की अवहेलना कर के, अपने मन की अवहेलना कर के, कहानी कहने लगा। बोला—"मेम साब...औरत जात बड़ी

अजीब होती है। वह एक ऐसी जादूगरनी है जो खेल-तमाशे करती है। और मेम साब वह बावरची की लड़की भी जादूगरनी थी...जादू जानती थी, जादू...मेम साब उसने मेरी मति हर ली...मैं जितना कमाता उसी को दे देता...और वह मुझ से पाई-पाई ले लेती...मेरा सब कुछ दीन, धर्म, ईमान, भगवान लेकर भी वह मुझे बुद्धू कहती मेम साहब...खुद कलकतिया चप्पल...संगी का लहँगा और साटन का डुपट्टा ओढ़ कर चलती, और बकरी की तरह पान चबाती...दिन-रात पिच्च-पिच्च लगाये रहती और यह सब वह मेरे ही पैसों के बूते पर करती और उल्टे वह मुझे बुद्धू भी कहती थी, मेम साब ! और मैं समझता वह यह सब परेम में कहती थी...मैं तो यही समझता था लेकिन वह सचमुच मुझे बुद्धू समझती थी...सचमुच...लेकिन उसके पास रूप था...साँवली थी तो क्या हुआ मेम साब वह बड़ी ही सलोनी थी...आम की फाँक की तरह उसकी आँखें थीं...पतले तराशे हुए परवल की फाँकों की तरह उसके ओठ थे...बिल्कुल कातूस की तरह नाक और..."

और उसे फिर होश आया कि उसने जो कुछ कहा है...वह गलत है क्योंकि पण्डितजी कह रहे थे वेद-शास्त्रों में कहा है कि रूप कुछ नहीं होता...सब कुछ आत्मा है। मन है। अगर किसी का मन अच्छा है तो सब कुछ अच्छा है और अगर मन खराब है तो सारा रूप, सारी सुन्दरता कुछ नहीं है, सब गोबर है...सब फीका है, किसी में कुछ सार नहीं है...सब कुछ सारहीन है...। पण्डितजी यह भी कह रहे थे कि आदमी का मन पहचानना चाहिये। तन की सुन्दरता क्या है? काग़ज की पुड़िया है...बून्द पड़े गल जाता है...लेकिन आत्मा का क्या आत्मा का मिलन धरती पर न सही आकाश पर तो होगा ही। होता ही है...।

"और मेम साब उसका मन ख़राब था...कुछ दिनों बाद एक और चपरासी उसके पास आने-जाने लगा। सरकारी चपरासी था। मैं सिपाही ठहरा। मेरी आमदनी क्या? बस तन्खाह ही तनखाह थी। लेकिन उस चपरासी की आमदनी ज्यादा थी...और मेम साहब उसने मेरी कुल-मर्यादा की भी परवाह नहीं की...कहाँ मैं ठाकुर राजपूत कहाँ वह चपरासी...और फिर वही हुआ। मैं उस चपरासी की बराबर उसकी देखभाल नहीं कर सका...उसकी भी नजर फिर गई...मैंने एक दिन उससे कहा—" क्यों रे...यह कौन सा तेरा स्वरूप निकला...क्या तुझे कुछ भी लोक-लाज नहीं बस मेरी इतनी सी बात सुनकर वह बिगड़ गई बोली—"अरे ओ सिपाही के बच्चे... देख मैं न तो तेरी ब्याही हूँ और न रखेल। फिर तू मुझ से क्या इगिर-दिगिर करता है। यह तो मेरी मरज़ी है, मैं जिसके साथ चाहूँ रहूँ।"—और तब मुझे ऐसा लगा जैसे किसी ने मेरे कल्ले पर दो तमाचे लगा दिये हों...मेरी मोछो को जड़ से उखाड़

लिया हो और मैं क्रोध और शरम दोनों से गड़ गया, मन में अपने को धिक्कारने लगा, अपने ही से कहने लगा—"देख ठाकुर...तू सिपाही है...सिपाही। यहाँ कहाँ अपने को दफ़ना रहा है...यह दुनिया की वह हद है जवान, जहाँ आदमी की क़द्र नहीं होती। सिर्फ़ रुपये की पूछ है रुपये की। और देख ले ठाकुर! आदमी सौदा करता है...महज़ सौदा...यह परेम-वरेम तो ढकोसला है, ढकोसला..."

और इस बार जब उसने सिर उठाया तो खट्टे क़न्धारी अनार के दाने मुँह में नहीं फाँके...न ही उसने मेम साहब की ओर देखा...लेकिन उन दोनों से बचा कर जब उसने मेज पर नजर डाली तो देखा उस पर वही तीनों खिलौने रखे हुए थे। उसे लगा गम्भीर मुद्रा में बन्दर का खिलौना उसके ऊपर लानत भेज रहा है और बार-बार कह रहा है—"और हवल्दार तूने यह क्या किया...कहीं कोई वेवफ़ाई की बात करता है।" वह कुछ सँभलने वाला था कि रीछ की मुखाकृति एक भोंडे और भद्दे मज़ाक के रूप में लगने लगी। लेकिन लोमड़ी की भाव मुद्रा उसे बड़ी ही स्वाभाविक मालूम पड़ी जैसे वह कह रही हो..."ठीक किया हवल्दार...तुम ने बिल्कुल ठीक किया...इश्क में कोई राज़, राज बन कर नहीं रह सकता, फिर तुम इस इमान्दारी के साथ आगे बढ़ रहे हो भगवान् तुम्हारी रक्षा करेगा। अवश्य करेगा, देख लेना एक दिन तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी...पूरी होकर रहेगी हवल्दार और तभी बात काट कर मेम साहब ने पूछा, "और फिर क्या हुआ हवल्दार।"

"होता क्या मेम साहब मैं समझ गया...हमारे वेद-शास्त्रों में ठीक लिखा है..."स्त्री चरित्रम् पुरुषस्य भाग्यः दैवो न जानाम कितो मनुष्यः"...और मेम साहब औरत मोह और अन्धकार की जाल है...माया है...और ब्रह्म को भटका देती है... हमारे धर्म में कहा है "बिनु भय होय न प्रीति" मेम साहब—बिना भय के परेम नहीं होता। और परेम तो करने के लिये शूपनखा भी राम के पास गई थी लेकिन उस परेम से बचने का बस एक ही उपाय है और वह उपाय श्री लक्ष्मण जी ने किया था। उन्होंने तो उसकी नाक-कान ही काट डाली थी। और फिर त्रिया चरित्तर ने क्या नहीं किया स्वयम् भगवान को जंगल में भटकना पड़ा। बन्दरों से भालुओं से दोस्ती करनी पड़ी लंका जीतना पड़ा...यह सब औरत के कारन होता है मेम साहब। मैं तो अब औरतों से घृणा करने लगा हूँ...घृणा।"—और यह सब कहते-कहते उसका जी धक-धक कर रहा था। वह जानता था कि मेम साहब को यह सब पसन्द न आयेगा लेकिन फिर प्रेम में कपट करना तो पाप होता है, इसलिये वह सब कुछ कहे जा रहा था।

अभी मेम साहब और हवल्दार की बातचीत चल ही रही थी कि कैप्टेन हैवलाक उधर आ निकला। दोनों को इस प्रकार घुल-मिल कर बातें करते हुए देख कर

वह भयभीत हो गया। उसे लगा कहीं इसने भेद तो नहीं बता दिया। उसने हवल्दार को अकेले में बुलाया और बुलाते हुए पूछा—

"हवल्दार...तुमने दूध पिया था न ?"

"जी सरकार।"

"और तुम्हें एक सेर बादाम भी दिया था न ?"

"जी हाँ हुजूर उसे तो मैंने खा भी लिया..."

"खाया था कि पचाया था..."

"थोड़ा ही पचा हुजूर...लेकिन मैंने डण्ड-कसरत तो खूब कर लिया था।"

कैप्टेन थोड़ी देर तक मौन धारण किये रहा, फिर बोला अच्छा यह लो... एक सेर दूध और बदामों का दाम...इसे खाना और पचाना।" और यह कहते-कहते उसने अपनी बन्दूक उठा ली थी और कहा..."भाग जा यहाँ से हवल्दार...यहाँ तूफान आने वाला है, जलजला आने वाला है...भाग...भाग...भाग।"

हवल्दार वहाँ से लौट कर घर वापस आया। रास्ते में उसने बादाम और दूध दोनों ही खरीद लिया था। कैम्प में पहुँचते ही उसने बादाम को चारपाई पर रख दिया दूध जँगले पर छोड़ दिया और उसने बन्दूक उठाई। खाली कुर्सी पर बैठ गया। बन्दूक को लम्बा-लम्बा मेरी बाहो पर रक्खा और बारह बजे रात को सफाई करने लगा और जितने दिनों तक की जंग उसमें लगी थी उसने उस सब को निकाल दिया। पालिश की रगड़ के साथ-साथ उसके दिमाग की पर्तों में दबी हुई न जाने कौन-कौन सी बातें उभड़ने लगीं। पहले उसने सोचा साहब को मेम साहब के साथ उसका बात करना पसन्द नहीं आया। फिर उसने सोचा मेम साहब को उसकी आप बीती कहानी अच्छी नहीं लगी होगी। अपनी मूर्खता पर खींझने लगा। उसने सोचा मैंने औरतों की बड़ी बुराई कर दी है। मेम साहब भी औरत ही हैं, उनका चित्त उसकी ओर से हट गया होगा। फिर उसने सोचा उसमें उसका क्या दोष... उसका स्वभाव है कभी अपनों से वह कोई दुराव नहीं रखता और फिर मेम साहब से वह क्या दुराव रखता। और तब वह बारह बजे रात को बन्दूक माँज कर उठा और छाउनी से बाहर चौरस्ते के हनुमानजी के मन्दिर के पास गया वहाँ बड़ी देर तक चिरौरी-मिन्ती करता रहा। हनुमान चालीसा पढ़ चुकने के बाद उसने प्रार्थना की—"हे पवनसुत संकट मोचन...तुम जानते हो मैंने मेम साहब से सारा सब कुछ निष्कपट भाव से कहा है। जो कुछ मेरी आत्मा में था वही कहा है...जो कछू बिगड़ी हो तो तुम्हीं सुधारो...हे भक्त बच्छल हमारे नयन उघारों, इस नर्क के समान हृदय में पधारो...हे महा प्रभू...हे...हे...हे..."

और जब वह मन्दिर से लौटने लगा तो उसे अनुभव हुआ कि उसमें कुछ

शक्ति आ गई है। उसका मन किसी भार से मुक्त हो गया है और वह अधिक प्रसन्न और उदार चित्त होकर लौटा है।

दूसरे दिन सुबह ही उसे एक परवाना मिला जिसमें कैप्टेन हैवलाक ने उसे पन्द्रह दिन के दलेल की सज़ा दी थी। परवाना पाते ही हवल्दार के होश उड़ गये। इस उमर तक अब तक उसको किसी अफसर ने देलेल की सज़ा नहीं दी थी। वह हाय मार कर मेरी छाती पर बैठ गया। बड़ी देर तक ठण्ढी साँसे भरता रहा। उस दिन न तो उसने दूध पिया और न ही बादाम खाया। बड़ी देर तक चिन्ता में डूबा रहा। कई बार उसने बड़ी सर्द आहें भरीं और फिर कई अँगड़ाइयाँ लीं। माथे पर बहते हुए पसीने को पोंछा। भगवान् का नाम लिया, हे राम...हे भगवान्... हे प्रभो का उच्चारण किया और फिर उठा। वर्दी पहनी। हाथ में बन्दूक ली और दलेल के मैदान के लिए रवाना हो गया। यह ख़बर और सिपाहियों को भी लगी। कई ने जाकर सहानुभूति प्रकट की। कइयों ने कैप्टेन को गालियाँ दीं...कइयों ने व्यंग्य किये...लेकिन वह चुपचाप सुनता रहा और जब धूप में कन्धे पर बन्दूक लादे वह परेड कर रहा था तब सोच रहा था—"क्या हरज है हवल्दार अगर मन में कोई विकार रहा हो तो उसे इसी जनम में इसी शरीर से भोग लेना क्या बुरा है। यम की मार से यह दण्ड तो कहीं आसान है और फिर परेम में तो यह सब भोगना ही पड़ता है...मजनूँ को जंगल की खाक छाननी पड़ी थी...अपने कलेजे का एक कटोरा खून लैला को देना पड़ा था।" तोता-मैना में भी पढ़ा था...कितना कष्ट भोगना पड़ा था उस राजकुमार को जो अपनी प्रेमिका को व्याह कर सिंहल द्वीप वापस जा रहा था और बीच में ही तूफान आ जाने से उसका जहाज डूब गया था और फिर उसकी व्याहता पत्नी ने उसे त्याग कर के दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया था। फिर हवल्दार के लिये यह कौन सी नयी बात थी वह तो सारा कष्ट यों ही भूल जायगा। और इस तरह सोचते-सोचते जब उसके पैर जरूरत से ज्यादा दुखने लगते उसके कन्धे बन्दूक की बोझ से फटने लगते तब वह मन ही मन मेम साहब को गाली देता। सोचता अगर मेम साहब ने उसे ब्रिगेडियर हापकिन्स के यहाँ न भेजा होता तो न तो वह सब कुछ देखता जो उसके लिये किसी को बताना या कहना पाप है और न ही उसे एक सेर दूध और एक सेर बादाम का पैसा मिलता और न पचने-पचाने का सवाल ही उठता और न कप्तान साहब के जी में उसके लिये कोई सन्देह अथवा विश्वासघात की बात की भावना उठती है, लेकिन यह सब होता है। स्वयम् कप्तान भी यह सब जान कर क्या कर सकता है।

अब वह दलेल के बाद कप्तान के यहाँ नहीं जाता था। सीधे छाउनी में लौट आता। शाम को हनुमानजी के मन्दिर में जाकर न तो पूजा-पाठ करता न वरदान

माँगता, बल्कि मेरी छाती पर सवार हो जाता, बन्दूक, क्रीच और अन्य हथियारों को साफ़ करता और फिर दूसरे दिन दलेल के लिये रवाना हो जाता। कप्तान के पैसे का जो दूध हवल्दार लाया था उसे उसने जनम-पत्री लेकर भाग जाने वाले बन्दर को पिला दिया लेकिन सख्त छिल्के वाले बादामों को वह वहीं पर रखे रहा। रोज़ देखता लेकिन न तो उसका मन चलता और न कुछ खाने को जी ही कहता। सीधी-सादी रोटी-दाल खा कर चुपचाप सो जाता। पहले वह हनुमान चालीसा का पाठ नित्य किया करता था लेकिन जब से उनसे प्रार्थना करने के बाद भी उसको दलेल करनी पड़ रही है तब से उसकी श्रद्धा भी घट गई है। इन दिनों उसे बार-बार इस बात का भी ध्यान आता कि इन पत्थर की मूर्तियों में कुछ नहीं। यह महज़ हम लोगों की मूर्खता है जो इन्हें पूजते हैं। वैसे भगवान एक है, सर्वव्यापी है, उसकी ही पूजा करनी चाहिये। रहे हनुमानजी वह तो सेवक मात्र हैं। जब मालिक को मालकिन तक नहीं सँभाल पाती तो नौकर की क्या बात वह तो एक डाँट से अपनी सिट्टी-पिट्टी भुला देगा और यह सब सोच कर उसने हनुमानजी की पूजा को अपनी लिस्ट में से हटा दिया और भगवान् की पूजा करने लगा। लेकिन भगवान पर भी उसका ईमान जमता नहीं था। वह अक्सर आँख बन्द करने के बाद मेम साहब की बात सोचने लगता। कभी उनकी दुनिया याद आती। कभी बगीचे के वह फूल जिन्हें तोड़ कर वह मेम साहब के गुल्दस्ते को सजाया करता था। कभी वह लाल कन्धारी अनार याद आते जिन्हें मेम साहब रोज़ उसे खिलाती थीं और कभी वह तीन खिलौने याद आते जिन्हें उसने मेम साहब को लौटा दिया था।

पाँच-छः दिन बाद जब अगम पण्डित उसके यहाँ पधारे तो वह बड़ा खिन्न मन था। पहले तो उनसे कुछ बोला ही नहीं, लेकिन जब पण्डित जी ने मित्र की हैसियत से सब कुछ पूछ लेना चाहा तो फिर उसके पेट में भी बात नहीं पची और उसने सारी कथा आदि से अन्त तक सुना दी। और हवल्दार ने बड़ी अश्रद्धा से कहा—"पण्डितजी भाग की बात कभी नहीं टलती और न उसे कोई मिटा सकता है, लाख, पूजा-पाठ कीजिये, लाख अनुष्ठान कीजिये कुछ नहीं होगा...।" और तब पण्डितजी ने बड़े दृढ़ स्वर में कहा—"नहीं हवल्दार बात यह थी कि तुम्हारि जन्मपत्री में गुरु के सम्मुख थोड़ा सनीचर पड़ता था और यह सनीचर का प्रभाव है जो थोड़े से तुम विक्षिप्त और परीशान हो, लेकिन सनीचर कुछ हानि नहीं करता। उसका स्थान केवल चरणों में है सो वह तुम्हें नचा रहा है। अगली पूर्णमासी को वह अपना स्थान बदलेगा और तब गुरु का साक्षात् फल तुम्हें देखने को मिलेगा।" हवल्दार कुछ देर तक पण्डितजी की बात सुनता रहा, फिर बोला, "पण्डितजी आप तो कहते थे कि राजदरबार में मुझे बड़ा सम्मान मिलेगा...राजमहल में मुझे सिंहासन और शैन

मिलेगा...लेकिन उसमें से कुछ भी तो नहीं हुआ, पण्डित"। और तब पण्डितजी थोड़ी देर तक चिन्ता में पड़ गये, फिर बोले—"ऐसी कोई बात नहीं है हवल्दार... तुमने खुद बड़ी ग़लती की है...तुम को राजदरबार में थोड़ा कष्ट बदा था। राजमहल के भोग में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता तुम स्वयम् ही वहाँ नहीं जा रहे हो नहीं तो अब तक तुम्हें सिंहासन अवश्य मिल गया होता। रही भोग और शयन की बात सो तो अटल है, हवल्दार अटल...रही अनुष्ठान की बात सो तो मैं कर रहा हूँ। करूँगा। हाँ एक काम तुम कर डालो थोड़ी उर्द की दाल, थोड़ा तेल और काला कपड़ा शनि को दान कर दिया करो।" पण्डितजी की बात सुनकर हवल्दार को बड़ा धीरज बँध गया। उसकी श्रद्धा एक बार फिर हनुमानजी में जाग गई। एक बार उसे फिर बड़ी आत्मग्लानि हुई और उसके जी में आया अगर कहीं यह सनीचर उसके हाथ में आ जाय तो वह पीट-पीट कर उसकी कचूमर निकाल दे। कमबख़्त ने उसे फ़जूल ही इतना परेशान किया नहीं तो वह अब तक हनुमानजी को भी मना लेता और उसके भीतर जो नास्तिकता जाग उठी थी उसे भी सँभाल लेता। उसका विश्वास और भी दृढ़ हो गया जब आधी रात को कैप्टेन हैवलाक का अर्दली उसके पास आया और उसने कहा कि मेम साहब ने उसे अभी फौरन बुलाया है। यह सन्देश सुनकर हवल्दार का धीरज छूट गया उसने जल्दी-जल्दी कपड़ा पहनना शुरू किया। दिन भर की पैरेड में धूल से सने जूते को झाड़ा-पोंछा। पसीने से तरबतर सफेद हुई वर्दी को एक बार सूंघा। यह सोच कर कि दूसरी वर्दी उसके पास नहीं है वही पहन कर जल्दी-जल्दी कप्तान के बँगले की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसे अपने साथी गुरुबचन सिंह की बातें याद आ रही थीं जो कहा करता था कि "माशूक तो सिफारिश से नहीं क़ाबू में आता धौंस से आता है। जरा सा ढील देकर फिर तानने से पतंग की तरह कड़ा होकर उँगलियों के इशारे पर नाचने लगता है लेकिन उसकी बेवफाई का कोई ठिकाना नहीं, नाचते-नाचते कन्ने से कट सकता है चाहे जितना मंझा, चाहे जितनी मशीन लगाइये। साहब, यह तो पेंच की बात है अगर रक़ीबों की पेंच सच्ची पड़ी तो पतंग कन्ने से कटती है।" और फिर उसे पण्डितजी की याद आई। उन्होंने कहा था अब सनीचर का प्रभाव घट रहा है सो उसे लगा कि घटता ही जा रहा है। सिंहासन की बात, वैभव की बात, भोग की बात, शैन की बात सब कुछ उसे याद आने लगी और अनुष्ठान, व्रत, तीर्थ, जाने क्या-क्या वह सोच गया और सोचते-सोचते साहब के बँगले पर भी पहुँच गया।

साहब के यहाँ पहुँचा ही था कि उसने देखा बरामदे में टहलती हुई मेमसाहब उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं और जब वह वहाँ पहुँचा तो मेम साहब ने कहा, "हवल्दार तू इतने दिनों तक कहाँ रहा।" यह सुनते ही हवल्दार की बाछें खिल गईं। उसकी

घनी मोंछ के नीचे एक हँसी आकर फिर फिसल गई। बड़े संकोच के साथ बोला—"अरे मेम साहब कुछ सनीचर का प्रभाव था...पैर का चक्कर उतार रहा था" और इतना कह कर खिलखिला कर हँस पड़ा। उसका मोटा पोला शरीर गद्-गद् हो उठा। मेम साहब ने कहा—"यह चक्कर क्या होता है हवल्दार चक्कर क्या है ?"

"चक्कर चक्कर होता है......होता है......मेम साहब—जैसे साइकिल का पहिया...मोटर का टायर..."

मेम साहब ने ऐसा अनुभव किया जैसे वह सब समझ गई हों और तब बोलीं, "हवल्दार तेरे न आने से जानता है क्या हुआ ?"—हवल्दार विस्मयमिश्रित कौतूहल-से मेम साहब की ओर देखने लगा जैसे उसका रोम-रोम पूछ रहा हो—"क्या हुआ मेम साहब...मेरे न आने से क्या हुआ"—और तब मेम साहब ने बताया कि किस तरह से इस बीच "टामी"-"लूसी" में लड़ाई हो गई थी। कैसे उस कंजी बिल्ली को देख कर लूसी उसे काटने दौड़ी और टामी ने उसकी रक्षा करने में किस तरह लूसी को छप्पर से गिरा दिया और अब लूसी की बाँयी टाँग टूट गई है और बेहोश होकर वह वहाँ पड़ी है। लेकिन हवल्दार ने सब कुछ सुनने के बाद पूछा—"और कुछ मेम साहब..." मेम साहब ने कहा—"हाँ...और यह है कि लूसी के पास कोई सोने वाला नहीं है...रात को उसे कुत्ते परीशान न करे इसलिये आज रात से तुम वहीं सो जाया करो...रही वह चक्कर वाली बात सो तुम सुबह से शाम तक में उतार आया करना ?"

हवल्दार का चेहरा कुछ फीका पड़ गया लेकिन फिर बोला—"कोई बात नहीं मेम साहब कोई बात नहीं...मैं जरूर लूसी ही के पास रहूँगा...लूसी ही के पास रहूँगा मेम साहब..."

कुछ हकलाते हुए स्वर में मेम साहब ने कहा—"वहाँ तुम्हारा पलंग लगवा दिया है, एक कुर्सी भी मिल जायगी...खाना भी मिल जायेगा...और पान, बीड़ी, सिग्रेट सब कुछ मँगवा दूँगी...तुम आराम से रहना।"

और जब हवल्दार लूसी के पास सोने गया तो उसने देखा एक काली लोहे की चारपाई नंगी ही पड़ी हुई है। उस पर कुछ बिछाने को भी नहीं है। पास में एक टूटी हुई कुर्सी पड़ी है। एक थाली में माली कुछ तेल के पराठे और अचार रख गया है। एक बीड़ी का बण्डल और कागज में लिपटा हुआ दो बीड़ा पान भी है। नंगी लोहे की खाट पर वह बैठ गया और जब बैठा तो उसका ठण्डा लोहा उसके बदन में बर्फ़ की तरह छू गया। पहले तो वह कुछ चौंक सा पड़ा फिर बड़े इत्मीनान से बैठ गया। उसने कुर्सी खींची और तेल के बने हुये पराठे खाने शुरू किये। खाते

समय उसे पण्डित की बातें एक-एक करके याद आने लगीं। पण्डित कह रहा था—"हवल्दार जो है सो मैं बहुत पहले से कह रहा हूँ। ज़रा एक बार अपनी जनम-पत्री दिखाओ...इन ग्रहों का बड़ा प्रभाव होता है...फिर राजदरबार में और राजमहल में दोनों स्थान पर सम्मान पाना बड़े भाग्य की बात है। देख लेना हवल्दार...तेरा सम्मान राजदरबार से अधिक राजमहल में होगा। तुझे महारानी के बगल में सिंहासन मिलेगा। शयन करेगा। छप्पनों प्रकार के व्यंजन...भोग...विलास...क्या कुछ नहीं मिलेगा। तेरे भाग्य बड़े हैं हवल्दार...एक अनुष्ठान और करवा डाल..."

और तभी उसकी उँगलियों में रूखे पराठे गड़ने से लगे...नंगे घुटनों में लोहे की नंगी चारपाई छन से लग कर रह गई...तरकारी की कच्ची हल्दी और तेज नमक ने जीभ ऐंठ दी। अचार की तीखी कड़वाहट और सड़ाँध ने उसका जी खराब कर दिया। और जब उसने लूसी की ओर देखा...तो वह अपनी टूटी टाँग लिये बिजली की रोशनी में एक चौकी पर गद्दी बिछाये, लिहाफ ओढ़े, उसे टुकुर-टुकुर देख रही थी। खाना खाने के बाद वह उसी नंगी चारपाई पर सो गया। रात भर वह भालुओं, बन्दरों और रीछों का सपना देखता रहा। सुबह होते ही वह मेम साहब के पास गया और बोला, 'अब मैं जा सकता हूँ मेम साहब।' मेम साहब उस समय अपनी स्लीपिंग गाउन में बैठी अखबार पढ़ रही थी। एक...हिन्दुस्तानी फौजी अफसर बैठा हुआ ताश के पत्ते सँजो रहा था...हवलदार को देख कर वह चौंका, बोला—"तुम यहाँ क्या कर रहे हो जो...आज दलेल पर नहीं गये..."

"जा रहा हूँ सरकार", सैल्यूट करते हुये हवल्दार ने जवाब दिया।

"इसे मैंने ही बोलाया था", मेम साहब ने जवाब दिया...और हँस कर हवल्दार की ओर देखते हुये कहा—"ठीक है हवल्दार...सब ठीक है...तुम्हें चक्कर उतारने जाना है न, जा सकते हो...जाओ...आज रात को फिर यहीं सोना...यहीं।"

और हवल्दार ने पाँच गज पीछे हट कर हिन्दुस्तानी कप्तान जसवंतसिंह को सलाम किया और अपनी ड्यूटी के लिये चल पड़ा। रास्ते भर वह जाने क्या-क्या सोचता गया और बीच-बीच में जब उसके बदन में रात की नंगी चारपाई की कीलें गड़ने लगतीं, इनके दाग़ दुखने लगते तो वह अपनी कमर पर हाथ रख कर एक बार फिर सीधा हो जाता। थोड़ी देर तक किसी पेड़ के नीचे आराम करने लगता और तभी पहरे के घण्टे बजने लगते। वह उठ कर फिर चलने लगता। वही दलेल...वही लम्बी बन्दूक...ठण्ढी बन्दूक...भारी बन्दूक और वजनी जूते...उनके सख़्त चमड़े...उधड़ी हुई सीवन...धूलखोर काला रंग...पसीने की चाशनी से तर हुआ पैण्ट...क़मीज़...शिथिल थके हाथ...भारी माथा और तेज़ गति का तक़ाजा...खट...खट...खट...खट...

शाम को भारी मन लेकर हवल्दार फिर अपनी छाउनी में लौटा। ख़ाली कुर्सी की बाहों पर लम्बी-लम्बी बन्दूक उसने डाल दी। नल के नीचे खड़े होकर नहाया। धुली-धुलाई धोती पहनी। और टायर वाली चप्पल पहन कर फिर हनुमान जी के मन्दिर के ओर चल पड़ा। रास्ते में जिस मालिन से उसने हार लिया उसके घूँघट और चूड़ियों की खनक को देख सुन कर उसने कई बार अपने को धिक्कारा... और राम-राम जपता हनुमान जी के मन्दिर पर पहुँचा। अपने हृदय की अशान्ति और घबराहट को वह किस से व्यक्त करता। अंजनीपुत्र हनुमानजी की ही शरण में जाकर उसने उद्धार की बात सोची और सवा पाँच आने के बेसन के लड्डू लेकर वह ज्यों ही मन्दिर में प्रवेश कर रहा था कि चौखट पर ठोकर खाकर गिर पड़ा। हाथ के लड्डू बिखर गये, माला टूट गई और वह भी मुँह के बल ऐसा गिरा कि दस मिनट तक होश तक नहीं आया। जब मन्दिर के पुजारी ने उसे उठाया तो उसने देखा उसके माथे पर एक गहरा घाव है और हाथ की कुहनियाँ छिल गई हैं। बड़ी देर तक वह वहीं पड़ा रहा। हनुमानजी की प्रार्थना करता रहा, जनम-पत्री, पंडितजी और शनि-चक्र, भाग्य-चक्र, की चिन्तना करने के बाद जब प्रार्थना ख़त्म हुई तो वह कप्तान साहब के बँगले पहुँचा। एक गहरा उदास मन लेकर वह विक्षिप्त-सा बरामदे में पहुँच कर बैठ गया। न तो उसमें साहस था न हिम्मत और इसी कारण वह बिना किसी शोर व गुल के बड़ी इत्मीनान से चुपचाप लेट गया। रात काफ़ी हो चुकी थी...कमरे के भीतर कुछ बातचीत हो रही थी चाहे अनचाहे ढंग से वह सारी बातें छन-छन कर उसके कानों में पड़ती थीं। पहले तो उसने कान में उँगली डाल ली, फिर...दोनों घुटनों से कान बन्द कर न सुनने की चेष्टा करता रहा लेकिन फिर दीवार के भी कान होते हैं। और बातें हवा में फैलती हैं, इसलिये हवल्दार भी उनको सुनने से अपने को नहीं रोक पाया और सुनता गया...सुनता गया। उसने पहली बार यह अनुभव किया कि मेम साहब पत्थर नहीं है...पिघलती हैं। हल्की-सी आँच से नहीं जरा तेज और तीखी आँच से। उसमें सुन्दरता के साथ-साथ हाव-भाव भी हैं। रहन-सहन में सादगी के साथ-साथ विलास, प्रमाद और तेजी भी है। वह हिन्दुस्तानी आफ़िसर भी वहीं बैठा हुआ कुछ बातें कर रहा था। किसी बात पर बहस हो रही थी...मेम साहब कह रही थीं...

"तुम हिन्दुस्तानी लोग भी कैसा है...पत्थर तो पूजता है लेकिन औरत को जू जू समझता है जूजू" और फिर इसके बाद आफ़िसर ने कहा था—"नहीं मिसेज हैवलाक...हम लोग औरत को निहायत ही कमजोर समझते हैं...बड़ी आसानी से झुक जाने वाली...बड़ी तेजी से बदलने वाली...बिजली की तरह कौंध जाने वाली, चमक कर मिट जाने वाली..."

और फिर थोड़ी देर तक वातावरण मौन रहा। कुछ खिसकने की-सी आवाज़ आई। हवल्दार को लगा जैसे उसका भारी जूता ठण्डे फर्श पर खिसक रहा है। वह चौंक पड़ा लेकिन आँख खुलने पर कान से उँगलियों को निकालने पर और घुटनों को कान के पर्दों से हटाने पर उसे लगा वह जम गया है। उसमें कोई हरकत...कोई गति नाम मात्र की भी नहीं रह गई है और उसे फिर सुनाई पड़ा। मेम साहब कह रही थीं।

"तुम कैसे हो जी...तुम्हारा जिस्म जलता क्यों है...तुम्हारे जिस्म से खौलते मांस की बू क्यों आती है...तुम काँपता क्यों है कैप्टेन..."

"कैप्टेन ने अंग्रेजी में कुछ कहा लेकिन फिर हिन्दुस्तानी में बोला—"

"नहीं-नहीं मिसेज हैवलाक..." तुमने ज़्यादा पी ली है...

अब हवल्दार ने फिर अपने कानों में उँगली ठूँस ली...आँखे मीच लीं...घुटनों के बीच अपनी कनपटी दबा ली और इस बात की व्यर्थ चेष्टा करने लगा कि अब कुछ न सुने...कुछ न देखे; लेकिन उसे लग रहा था कि उसके शरीर का सारा ताप ठण्डा हुआ जा रहा है। नीचे की पत्थर की चौकियाँ ठण्डी पड़ी जा रही हैं...चारों तरफ़ उबले हुये गोश्त की-सी बू बिखरी पड़ रही है। गन्ध बढ़ती जा रही है। बढ़ती जा रही है। वह एक व्यंगात्मक रूप से सुन रहा है, मेम साहब हिन्दुस्तानी कप्तान से कह रही हैं—"तुम लोग पत्थर हो पत्थर...कुछ नहीं समझते...जरा सी देर में बर्फ़ से जमकर चट्टान हो जाते हो और फिर पानी-पानी होकर पसीजना जानते हो..."

और यह सारी बातें अनसुनी करके वह उठा धीरे-धीरे बरामदे की दूसरी ओर जाने लगा। अभी कुछ ही दूर पहुँचा था कि कैप्टेन हैवलाक हाथ में बन्दूक़ लिये उधर से आ रहा था। शिकारी कपड़े में उसका थका शरीर और भी सुन्दर लग रहा था। उसके पीछे एक मजदूर था जो शिकार की मारी हुई हिरनी को अपने कन्धों पर लादे था। हिरनी की लटकती हुई गर्दन में दो गहरी नीली आँखें पथरा-सी गई थीं...उसका ठण्डा गोश्त लाचार मजबूरी में डूबा हुआ सा लग रहा था। बरामदे में प्रवेश करते ही कैप्टेन हैवलाक ने पूछा—

"कहाँ जाता है हवल्दार...मेम साहब आराम से तो थीं..."

"जी...जी सरकार"—एक सैलूट लगाते हुये उसने उत्तर दिया। सैलूट करते वक़्, जूते से जूते लड़ाते वक़्; उसकी जख्मी कुहनियाँ और फटी टाँगों में और ज़्यादा दर्द होने लगा और तभी कप्तान ने उसके मुँह पर एक थप्पड़ लगाते हुये कहा—"मैं पूंछता हूँ मेम साहब को कोई तकलीफ तो नहीं हुई..."

"जी नहीं सरकार"—अपना गाल सहलाते हुए उसने उत्तर दिया और फिर अपनी खाट की ओर चलने लगा तभी कप्तान ने डाँट कर पूँछा—"जाता कहाँ है।"

"यहीं सरकार", उसने जवाब दिया।

"बादाम खाया था", हँसते हुए हैवलाक ने पूछा।

"दूध भी पी लिया था", सूचनार्थ उसने पूछा।

"जी सरकार, पचा भी लिया था"...हवल्दार ने जवाब दिया।

—और कप्तान चला गया। सहसा एक धमाके की आवाज सुनाई पड़ी। कप्तान हैवलाक ने भी यह आवाज सुनी। टार्च लिये-लिये वह लान पार करता चहार-दीवारी के पास पहुँचा। उसने बत्ती जलाई लेकिन उसे कुछ नहीं दिखाई पड़ा। हवल्दार अपनी नंगी लोहे की खाट पर बैठा... वहीं तेल के पराठे और तरकारियाँ खाने लगा...लूसी चौकी पर लिहाफ ओढ़े गद्दे पर सोई हुई थी। कुछ अन्धेरे और कुछ प्रकाश में उसकी आँखें चमक रही थीं। खाट की लोहे की कीलें हवल्दार के बदन में चुभ रही थीं। उसका नंगा शरीर लोहे की खाट को छूकर छनछना उठता था। कुहनियों के जख्म में अधिक दर्द बढ़ गया था। घुटने के जख्मों में सूखा रक्त जम गया था...माथे के जख्म में टीस थी... कप्तान ने जो थप्पड़ लगाया था वह कल्ला रहा था। वह दर्द शायद उससे सहा नहीं जा रहा था। लेकिन वह हिन्दुस्तानी कैप्टेन जो चहार दीवारी कूद कर बैटरी की रोशनी की सीमा के बाहर जा चुका था उसकी मुखाकृति उसके सामने नाच रही थी।

और इसी तरह हवल्दार अपने पैर का चक्कर उतारता रहा। गुरु के सम्मुख शनि विराजमान रहा। जसवंत को मेम साहब ठण्डा हिन्दुस्तानी कहकर झिड़कती रहीं, साहब शिकार करता रहा। लूसी की टाँग टूटी रही। हवल्दार नंगी चारपाई पर लेटता रहा...तेल के पराठे, सड़े हुये लसोढ़े के अचार और अधकचरी तरकारियाँ खाता रहा। पण्डितजी अनुष्ठान करते रहे और जिन्दगी चलती रही...उसे शयन, सिंहासन...भोग...विलास...राजमहल में सम्मान...क्या कुछ नहीं मिला...यहाँ तक कि अब उसका जिस्म लोहे की ठण्डी चारपाई पर सोने का आदी हो चुका था—

कुछ समय बाद एक दिन बँगले में बड़ा जशन था। तरह-तरह के मेहमान आ-जा रहे थे और तब हवल्दार को पता चला कि मेम साहब के आज सुबह बच्चा हुआ है...वह बाग़ के फूलों में पानी देते हुए सोच रहा था...जिन्दगी भी एक चक्कर है...पता नहीं किस योनि से भटक-भटका कर एक और इन्सान पैदा हुआ है लेकिन शायद जिन्दगी इतनी सख़्त है जितनी कि लोहे की भारी बन्दूक। और तभी उसका कन्धा दुखने लगा और वह बाल्टी रख कर बैठ गया...उसके मन में सहसा एक ख़्याल आया...साहब के बच्चे को वह भी कोई चीज दे। क्या दे...

यही सोचते-सोचते वह वहीं थक कर सो गया। धूप सर पर चढ़ आई तब भी नहीं उठा। लेकिन जब एक जंगली ख़रगोश उसके सीने पर छलाँग मारता हुआ पार निकल गया तब उसकी तन्द्रा टूट-सी गई और वह फिर काम में व्यस्त हो गया।

और मेम साहब जब अस्पताल से घर आईं तो वह एक दिन शाम को मेम साहब से मिलने गया। दिन में सारा बाजार उसने छान डाला था और बड़ी मुश्किल से उसे दो काठ की बन्दूकें मिली थीं...हल्की...नन्हीं...छोटी...और सुन्दर...। वह उन दोनों को ख़रीद कर जब अपनी छावनी पर आया और खाली कुर्सी पर उसने उसे रख दिया तो मेरे लिये (खाली कुर्सी) यह समझना और भी आसान हो गया कि हवल्दार को जिन्दगी भारी मालूम हो रही है। हवल्दार को अपनी वजनी फ़ौलाद की बन्दूक में और छोटे बच्चे की जिन्दगी में कुछ भी असंगत नहीं लगा। जिन्दगी का भारीपन यह बन्दूक है। लेकिन वह शुद्ध ठाकुर है। बिना बन्दूक़ के उसकी जिन्दगी भी क्या? घुनघुने, गुब्बारे, यह सब बच्चों को देना उनका विकास रोकना है, उनको दबा देना है...और उसने अनुभव किया कि आज के बच्चों को हनुमान सरीखा होना चाहिये...बिल्कुल हनुमान...।

और जब वह बँगले के भीतर गया तो उसका हाथ काँप रहा था...होंठ फड़क रहे थे... गला बँधा जा रहा था और उसे काठ की हल्की बन्दूक लोहे वाली बन्दूक से भी वजनी और भारी मालूम हो रही थी। उसने देखा सामने एक बेंत की कुर्सी पर बैठी हुई मेम साहब कुछ बुन रही हैं। बगल में कैप्टेन हैवलाक बैठा हुआ सिग्रेट पी रहा है और हिन्दुस्तानी आफिसर जसवंत भी वहीं बैठा हुआ अपने हाथ का डण्डा नचा रहा है। उसने बरामदे के एक कोने से झाँका और फिर छुप गया। एक ठण्ढी साँस ली, क़मीज की सिकुड़ी कालर को ठीक किया...अपने ख़िजाब लगे हुए बालों को देखा और फिर एक बार झाँकने की कोशिश की और इस मर्तबा कैप्टेन हैवलाक ने उसे देख लिया। देखते ही बोलाया—

"क्या है हवल्दार...क्या है..."—और हवल्दार ने वहीं से साहब को सलाम किया। मेम साहब ने भी मुड़ कर देखा...लैफ्ट-राईट करता हुआ हवल्दार चला आ रहा था। उसके कन्धों पर दो काठ की बन्दूकें थीं और निकट आ कर वह झुका। झुक कर खड़ा हुआ फिर तन कर बोला—

"हुजूर छोटे साहब के लिए..."

"छोटा साहब...छोटा साहब कौन?" कप्तान हैवलाक ने पूछा।

"हुजूर नन्हें साहब...मुन्ना साहब...साहब...सा ह ब..."

"तुम्हारा मतलब मास्टर हैवलाक...साहब का बच्चा ऊँ...हिन्दुस्तानी लेफ्टिनेण्ट ने पूछा...

"जी...जी...जी...सरकार..."

"और फिर हिन्दुस्तानी लेफ़्टिनेण्ट ने कप्तान हैवलाक को बतलाया कि हवल्दार मास्टर हैवलाक को यह खिलौने देना चाहता है।" मेम साहब ने कुछ शरारत भरी नजर से उसकी ओर देखा जिसे हवल्दार तो समझ गया लेकिन कैप्टेन हैवलाक नहीं समझ सका। मेम साहब ने हैवलाक की ओर देखा। हैवलाक काठ की बन्दूकों को हाथ में लेकर देख रहा था...एक हाथ से मुँह के पास लगे हुए काग को खींच रहा था...और बोला...

"तो इसमें गोली नहीं लगती हवल्दार..."

"नहीं सरकार..."

"कार्क लगता है...कार्क..."

"जी सरकार..."

अभी बात ख़त्म नहीं हुई थी कि बच्चे को पैरेम्बूलेटर में लिये हुये आया वहीं आई और पहुँच कर बोली..."बेबी खाना माँगता है मेम साहब"—और जब उधर मुड़कर हवल्दार ने देखा तो ठक रह गया। कुछ बोलते-बोलते जैसे रह गया। उसके हाथ से बन्दूक नीचे गिर कर टूट गई...साहब के हाथ से छूट कर कार्क हवल्दार के लटकते हुए हाथ की बीच वाली उँगली में जा लगा और वह सन्न रह गया। मेम साहब ने बेबी को हाथ में लेते हुए कहा—"हवल्दार...यह है बेबी...क्या लाया है...बन्दूक..." और हँस पड़ी "अभी से यह बन्दूक चलायेगा...हवल्दार...तुम्हें अक़्ल कब आयेगी...तुम बुद्धू है बुद्धू..."—और बड़े अदब से हवल्दार ने बूट से बूट मार कर सलाम किया, टूटी हुई बन्दूक अपने हाथ में ले ली...और वापस चला गया। जब वह जा रहा था तो सब हँस रहे थे...आया भी हँस रही थी। जसवंत भी हँस रहा था...कप्तान हैवालाक् भी हंस रहा था और कह रहा था—"

"He is not only simple but simpleton...Jaswant...It si really tragic...

लेकिन छाउनी पर पहुँच कर भी हवल्दार को चैन नहीं आ रही थी। उसने टूटी हुई बन्दूक़ को मेरी छाती पर पटक दिया और ख़ुद अपनी चरपाई पर लेट गया और कुछ सोचने लगा। वह जो कुछ सोच रहा था वह केवल बुद्धू शब्द ही था... वह अपने उस सब से घृणा करता था जितना "बुद्धू" था। लेकिन उसके सामने एक दूसरा सत्य था और वह था। बेला का सत्य...आज दस साल बाद वह फिर दिखलाई पड़ी थी, लेकिन वह लाहौर से हीरपुर छाउनी में कब आई...कैसे आई...क्यों आई... उसने अब पान खाना छोड़ दिया है क्योंकि उसके मुँह में अब पान की लाली नहीं थी।

संगी का लहँगा फट चुका था। साटन का डुपट्टा समाप्त हो चुका था। वह साड़ी पहने हुए थी। अधिक काली हो गई थी, चेहरे पर झाइयाँ पड़ी हुई थीं और वह फिर यहाँ...

हवल्दार उठकर कमरे में टहलने लगा। वह बार-बार अपने दोनों हाथ मल रहा था...बाँह की नसें तोड़ रहा था...उँगलियाँ चटखा रहा था...और उसी धुन में जँगले पर रक्खी हुई तेल की शीशी जमीन पर गिर पड़ी थी...जूते में रखा हुआ मोजा तेल से तरबतर हो गया था...आँखों के सामने अन्धेरा छा गया था...चारों तरफ़ गहरा नीला रंग पुता हुआ दिखलाई दे रहा था...और उसी धुन में उसने अपने जूते की पालिश की, मेरी बाँहों पर लम्बी बन्दूक रख कर उसे खोला, उसे साफ किया उसके पुरजे दुरुस्त किये और खाली बन्दूक पर घोड़े चला...कट...कट... कट...किट...किट...किट...कट की ध्वनि में डूबकर अपने मन में कहता जाता था—

"और यह परेम-वरेम सब धोखा है...कौन किसको परेम करता है...न तो मेम साहब से परेम करती हैं और न साहब हापकीन्स साहब की मेम से परेम करता है...न हिन्दुस्तानी कैप्टेन जसवंत मेम साहब को परेम करता है और न मेम साहब लूसी को परेम करती हैं और न लूसी टामी को परेम करती है और न टामी...कंजी बिल्ली से परेम करती है...सब धोखा है...सब धोखा है...।"

और इसी बीच उसकी उँगली घोड़े के बीच दब गई। हवल्दार चिल्ला पड़ा...छटपटाने लगा और जितना ही अधिक वह अपने को उस चिमटे से, उस दबाव से छुड़ाने की कोशिश करने लगा उतना ही चमड़ा और टिसने लगा। हथेली का मांस निकल गया और जब उसने ग़ौर से देखा तो जिसे हृदय की रेखा कह कर पण्डित-जी ने जाने क्या-क्या सम्भावनाएँ बताई थीं वह रेखा हाथ से गायब थी और उतनी दूरी का चमड़ा बन्दूक के घोड़े में लटक रहा था और उसके हृदय की रेखा सिकुड़ी हुई झूल रही थी...खून से तरबतर...टप...टप...टप।

उसने जल्दी से अपना लाल साफ़ा फाड़ा हाथ में पट्टी बाँधी और फिर चारपाई पर अर्द्धमूर्च्छित-सा लेट गया। थोड़ी देर बाद पण्डितजी आये और उन्होंने हवल्दार के हाथ पर फूल रखते हुये कहा—"क्या बात है हवल्दार आज फिर क्यों मौन हो, सुस्त हो" और तब हवल्दार ने आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और बोला—"पण्डितजी यह परेम होता बहुत बुरा है...हमेशा खून ही में इसका अंत होता है...चाहे मन का खून हो, चाहे शरीर का...चाहे जीवन का।"

सारी बात सुनने के बाद पण्डितजी ने कहा प्रेम का तो रंग ही लाल होता है हवल्दार और सच मानों शनि के अन्तिम चरण में बहुधा प्रेम अपना रूप प्रकट करता है और जो बुद्धिमान होते हैं वह इस शुभ अवसर को कभी भी अपने हाथ से नहीं जाने देते। वह सदैव इसका लाभ उठाते हैं और हवल्दार को भी इसका लाभ

उठाना चाहिये। उसने यह भी बताया कि जन्मपत्री के और सभी योग ठीक हैं। अब उसके जीवन सहयोगी के पैर में हवल्दार का बचा-खुचा सनीचर चला जायगा और इस कारण थोड़ा बहुत कष्ट होगा लेकिन स्थान बदल देने से यह सारा दोष मिट जायगा...रहा सवाल राजमहल के सम्मान का...सिंहासन मिलने का, भोग विलास का सो उसका योग तो अभी पूरा हुआ है और एक लघु अनुष्ठान कराने के बाद उसकी भी सिद्धि हो जावेगी, और यह लघु अनुष्ठान कामदेव को प्रसन्न करने के लिये होगा। पण्डितजी ने चलते समय यह भी कहा था कि इस अनुष्ठान को वह स्वयं कर देंगे क्योंकि किसी शायर के लिए वह एक अनुष्ठान कर रहे हैं और उसमें उनका भी संकल्प मिला देंगे। और बात ख़त्म यहाँ हुई कि बीस आने पैसे का संकल्प हवल्दार ने भी किया और पण्डितजी चले गये।

कुछ दिनों बाद हवल्दार और बेला का दबा प्रेम उभर आया और एक रात... जब रात...आधी से ज्यादा बीत गई थी। चारों ओर घोर सन्नाटा था। किसी के आने-जाने की कोई आशंका न थी। कैण्टोन्मेण्ट के पहरेदार घूमने के बजाय हाँक ही लगा रहे थे। लान में लेटा हुआ हवल्दार एक नई साड़ी का बण्डल और कुछ मोटी चूड़ियों लिये बेला की प्रतीक्षा कर रहा था, साथ ही साथ अपने को धिक्कारता भी जाता था और अपने से कहता था—"कहो ठाकुर...आखिर आये उसी दुनियाँ के पिटे-पिटाये रास्ते पर...बड़ी गालियाँ बिचारे प्रेम को दी थीं लेकिन उसकी भी सहनशक्ति। प्रेम ख़ामोश रहा, सब कुछ सुनता-समझता रहा और मौक़ा पड़ने पर ऐसा पटका कि ठाकुर बस अब तो चित्त हो गये हो चित्त...लेकिन उसने फिर सोचा कि आखिर वह करता भी क्या बेला का परेम मामूली प्रेम भी तो नहीं है...उसने जो कुछ किया उसके लिये दुःखी है...बिचारी आठ-आठ आँसू रोती है और कहती है, "सच मानों हवल्दार यह तो दुनियाँ है ऐश करके सब चले गये ..ख़ाली हाड़-मांस की गठरी तो बिरले ही पूजते हैं...। और हमारा तुम्हारा तो हाड़-मांस का सम्बन्ध है। भूल किस से नहीं होती...चूक कौन नहीं करता...और फिर माफ़ करने वाले माफ़ भी करते हैं—" बस हवल्दार से आगे कुछ न सुना गया। वह भूल गया कि औरत जादूगरनी होती है, औरत के कारण रावण को मरना पड़ा, राम को बन का कष्ट भोगना पड़ा। वह यह भी भूल गया कि स्त्री के चरित्र को भगवान् भी नहीं जान सकता फिर हवल्दार की क्या बात...और वह पसीज गया...उसकी आँखों में आँसू आ गये और वह पिघल गया और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि वह आधी-आधी रात को कैण्टनमेण्ट के पार्क में उसकी प्रतीक्षा करने लगा...

सहसा फेन्सिग के पत्ते खड़के और हवल्दार ने देखा एक ओर से बेला चली आ रही थी। दोनों पास-पास बैठ गये। घण्टों बात करते रहे। उस बीच में बेला

ने अपनी कई स्मृतियाँ बताईं। उसने बताया कि किस तरह वह उसका साथ छोड़ कर जब चपरासी के साथ रहने लगी थी तो वह दारू पीकर उसे पीटता था। फिर किस तरह से वह जुआ खेलने लगा था...और फिर किस तरीके से उसका पान-खाना छूटा...उसके संगी के लहँगों में पेवन्द लगने लगे और साटन की ओढ़नी फटने लगी, किस प्रकार उसको उसने घर से निकाला और वह भटकती हुई अपने बाप के पास लौट आई और बाप भी मर गया...और उसने गिट्टी तोड़ने से अपनी ज़िन्दगी शुरू की और आज भटकते-भटकते इस शहर में आ गई...

अब तक हवल्दार को क्रोध आ गया था। आवेश में बोला—"कहाँ है साला चपरासी का बच्चा अगर मिल जाय तो मैं जान से मार डालूँ...जान से।"

हवल्दार की आवाज तेज़ हो गई थी और वह क्रोध से हाँफ रहा था। इसलिये आवाज केवल पार्क तक सीमित नहीं रही उसकी चहारदीवारियों के बाहर भी पहुँची...पहरे पर के सिपाहियों ने सुना दौड़े हुए पार्क में आये और इस स्थिति में बेला और हवल्दार को देखकर उन्हें हवालात में डाल दिया। साड़ी, चोटी और चूड़ियाँ शनाख्त और सबूत के लिये सुरक्षित रख दिये गये और फिर हवल्दार का कोर्ट मार्शल हुआ। उसका मोकदमा कैप्टेन हैवलाक् के सामने पेश हुआ और अपने बयान में हवल्दार ने कहा—

"परेम और इश्क़ में तो हुजूर यह सब होता है। हम फौजी लोग भी क्या करें, परेम हम से भी हो जाता है...लेकिन हम लोग मुर्दा प्रेमी भी तो नहीं हो सकते। ज़्यादा पढ़े-लिखे भी नहीं हैं हुजूर, जो लच्छेदार बोली में बोल सकें। फिर अपनी जानी-पहचानी आवाज में अगर हम अपना दुःख-दर्द कह लेते हैं तो क्या बुरा है। आख़िर हम ने क्या गुनाह किया है हुजूर, खुले आसमान के नीचे जमीन के ऊपर हम लोगों ने अपना परेम दोहराया था। आख़िर हमें इसकी सजा क्यों दी जाय हुजूर...और हुजूर तो जानते हैं...लम्बी दुनिया देखी है हुजूर ने...हुजूर ने भी परेम किया होगा...नहीं, हुजूर मैं जानता हूँ आपने किया है। फिर आप ही बताइये हम लोगों ने क्या जुर्म किया है...यह दुनियाँ तो ऐसी है कि यहाँ बिना परेम के ही लोगों का सब काम चल जाता है। लेकिन मैं तो परेम का भूखा हूँ और हुजूर मैंने बादाम भी खाया था, दूध भी पिया था, बात पचाना भी जानता था लेकिन क्या करें आवाज ही तो जरा तेज हो गई...और..."

अभी हवल्दार कुछ आगे भी कहने वाला था लेकिन कैप्टेन हैवलाक् ने उसे डाँट दिया और कोर्ट मार्शल में उन्होंने फैसला सुनाते वक्त हवल्दार को नौकरी से अलग कर दिया और इस तरह हवल्दार के पैर का सनीचर उसके सहयोगी के पैर में जा लगा और हवल्दार सिर्फ हवल्दार ही बन कर न रह सका, वह बेला का पति भी बन

गया। छूटने पर उसने बेला से शादी कर ली। वर्दी-पेटी उसकी छीन ली गई और जब वह विदा लेने के लिये मेम साहब के पास गया तो मेम साहब ने उसे उसके तीनों खिलौने वापस दे दिये और बोली—

"हवल्दार इस शादी के मौके पर हमें तुम्हें तुम्हारे तीनों लोहे के खिलौने फिर वापस किये दे रही हूँ।"

और अब हवल्दार ने उन खिलौनों को ले लिया था और शाम को जब वह पण्डितजी से मिला तो उसने अपनी सारी कथा उनसे कह सुनाई और फिर अन्त में बोला—

"मैं जानता हूँ पण्डितजी अभी तक तो मैं अपने पैर से अपने सनीचर का दण्ड भोग रहा था लेकिन अब तो दूसरे का भी भोगना पड़ेगा कौन जाने इसी बहाने किसी राजदरबार और राजमहल में सम्मान मिले...राजमहल में सिहासन मिले, भोग-विलास शयन बदा हो..."

यह सब सुन कर अन्त तक पण्डितजी चुप रहे। लेकिन हवल्दार ने फिर पण्डित जी से पूजा-पाठ का हिसाब पूछा और जब बात केवल "लोह और काष्ठ" दान तक ही सीमित रही तो पण्डितजी ने बड़ी सहानुभूति के स्वर में कहा—"हवल्दार सनीचर कर ग्रह लोह-दान से मिटता है और काष्ठ दान से दाम्पत्य जीवन में घुन नहीं लगता, इसलिये यह दोनों मैं तुम्हारे लिये आवश्यक समझता हूँ"—तब पण्डितजी की बात सुनकर हवल्दार ने एक बार ख़ाली कुर्सी की ओर देखा और मेरे बाहों पर रखे हुये तीनों लोहे के खिलौनों को देखा...बन्दर की मुखाकृति, भालू की भाव-मुद्रा, लोमड़ी की घनी पूँछ—यही सब दिखलाई दिया और उसने बेला को बुला कर, एक काला कपड़ा, थोड़ी उर्द की दाल, एक शीशी तेल और वह तीनों लोहे के खिलौने सनीचर के नाम पर दान कर दिये और मुझे उसने अपने दाम्पत्य-जीवन को घुनों और दीमकों से बचाने के लिये, पण्डितजी को दे दिया और इस प्रकार मैं इस बार दाम्पत्य जीवन के नाम पर नीलाम हुई और जब पण्डितजी मुझे लेकर चले तो उन्हें आधे रास्ते से बुलवा कर हवल्दार ने वह टूटी हुई बन्दूक भी वापस दे दी जिसे वह कभी राजमहल का सपना देखते-देखते किसी राजकुमार के लिए खरीद लाया था और जब उनके इस दान से इन्द्रासन कम्पायमान हो गया था तो इन्द्र महाराज ने बेला नाम की अप्सरा को हवल्दार का व्रत भंग करने के लिए भेजा था और वह बन्दूक हवल्दार के हाथ से छूट कर गिर पड़ी थी और टूट गई थी।

और अन्त में इस प्रकार मेरा स्थान-परिवर्तन हुआ। बन्दूक चाहे लकड़ी की हो चाहे लोहे की, चाहे आदमी के कन्धों पर हो चाहे खाली कुर्सी पर, चाहे वह

बर्फ-सी ठण्ढी हो, चाहे आग उगलने वाली ज्वालामुखी हो, मैं यह अनुभव करती हूँ कि यह इन्सान से कुछ छीन लेती है...कुछ बुद्धि में कमी ला देती है, भावनाओं पर मुर्दा-लाश-सी जम कर बैठ जाती है...एक गतिरोध पैदा कर देती है...आदमी आदमी की तरह सोच नहीं पाता, समझ नहीं पाता, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास के मर्म को आँक नहीं पाता। वह एक मखौल बन जाता है...एक जिन्दा मजाक और यह सनीचर का चक्कर केवल उसके पैर को ही नहीं जकड़ता उसके हृदय को, मस्तिष्क को, साँस को भी जकड़ लेता है...उसका दम फूलने लगता है, वह अपने खोये अंश को ढूँढ़ने लगता है, विक्षिप्त होकर ढूँढ़ता है और फिर उसे कुछ भी नहीं मिल पाता। वह सब कुछ गलत समझता है, परछाईं को मनुष्य मानने लगता है और मनुष्य को जाने क्या-क्या...शायद एक बत्तख, एक चींटी, एक जानवर, एक कृत्रिम व्यक्ति और बस !

अगम पण्डित धर्म साध्य व्यक्ति थे, इसलिये उनके यहाँ मेरा उपयोग केवल इतना था कि मेरे हाथ पर आग रखकर वह हवन किया करते थे। साथ में वे तीन लोहे के खिलौने भी थे जो उन्हें शनि के दान में मिले थे। जलते हुए शरीर की विक्षिप्त अवस्था में मैं दार्शनिक हो गई थी सोच रही थी—

जीवन की अविराम गति सदैव एक ही विधि से नहीं चलती, परिवर्तन कभी-कभी सुखदायी भी होता है और कभी-कभी दुखदायी भी। जाने कितनी चिन्ताएँ सहनी हैं अभी जाने कितनी यातनाओं को संवरण करना है लेकिन इसी बीच मेरे सुना हथेली पर बैठे शनिग्रह के रूप में दान किये गये खिलौने उस लौह पुरुष की बात कर रहे थे जो उनके साथ सैम्पसन स्टील फैक्टरी में बना था और जिसका फैला हुआ मुख, बौनी आकृति, बढ़ा हुआ भेजा, मुड़ा हुआ हाथ, निकली हुई आँखें, कटा हुआ धड़ केवल एक आतंक के रूप में उन पर छा गया था। उनके कथानुसार सारी फैक्टरी में केवल एक ही प्रकार के मनुष्य बनाये जाते थे और बाकी रंग-विरंगे खिलौने और शेष कुछ कील और पेंच। लेकिन उस फैक्टरी का मालिक कहा करता

था कि इन लोहे के आदमियों को बेच कर मुझे जितना लाभ होता है उतना इस फैक्टरी के किसी भी और खिलौने को बेचने से नहीं होता। अपने नीलाम के सम्बन्ध में बात करते हुए उन खिलौने ने और कई बातें बताई थीं। गीदड़ ने कहा था—

"हमारे निर्माता ने जो आदमी की भोंडी शकल बनाई थी वह बुरा नहीं किया था—आखिर देखो न इन दिमाग़ के दिवालियों को इस अच्छी नाजुक कुर्सी पर यह आग रख कर गुड़ के चूर का हवन करता है...कितना मूर्ख है यार..."

रीछ ने खीझ कर कहा—"वाह-वाह...भगवत् भजन में लीन भक्त कुर्सी के हाथ पर आग रखकर न हवन करे तो क्या अपने हाथ पर हवन करें...भक्ति भावना बिना दूसरे के हाथ पर आग रखे सफल नहीं होती मियाँ...हाँ तुम भी ठीक कहते हो।

"आदमी के पास हाथ है ही कहाँ...तुम ने देखा नहीं था हमारे निर्माता ने जो आदमी की शकल बनाई थी उसमें तीन-चार बातें खास तौर पर ध्यान देने योग्य थीं...अगर तुमने उन पर ध्यान दिया होता तो यह सन्देह ही नहीं उठता—

"धूर्त...लोमड़ी तो लोमड़ी...यह क्या जाने। आदमी फिर भी आदमी है मियाँ उसका मज़ाक तुम नहीं उड़ा सकते...रीछ ने कहा। बन्दर इस विरोध को सहने में असमर्थ था। आवेश में आकर बोला—

"अमा आदमी की सच्ची शकल यही है, धड़ के नीचे का हिस्सा गायब... एक हाथ कटा हुआ और दूसरा टूटा हुआ, पेट इतना बड़ा जैसे कोई गुम्बद और मुँह इतना फैला हुआ कि बस अपने हाथ से अपने मुँह में थप्पड़ मारने में उसे तनिक भी कष्ट न हो...सिर इतना चिपटा कि भेजा समा न सके..."

और इसी प्रकार की न जाने कौन-कौन सी बातें वह कर रहे थे। मेरा तो अंग-अंग एक असह्य वेदना और जलन से उत्पीड़ित था। उन सब के व्यंग्य और मज़ाक मुझे तीर से लग रहे थे लेकिन उनमें से लोमड़ी जितनी भी बातें आदमी के बारे में कह रही थी न जाने क्यों वह सब सच्ची मालूम हो रही थी और सबसे आश्चर्यजनक बात जिसको सुनकर मैं ठक रह गई थी, यह थी कि वह तीनों एक मत से कह रहे थे...मेम साहब के यहाँ हमें बड़ा आराम था चौबीस घण्टे प्रेम की रोमांस की बातें सुनने को मिलती थीं। और वह नौजवान कप्तान जसवंत जिसे मेम साहब ने ठण्डा पत्थर का नाम दिया था उसका मजाक उड़ाते-उड़ाते वह कहते..."यार आदमी की बड़ी चर्चा सुनते थे लेकिन उसकी नंगी तस्वीर जो हम लोगों ने पिछले दिनों देखी हैं, वह तो तनिक भी नहीं रुची और फिर वह सब के सब संवेत स्वर में कहते..."काश हम लोगो के साथ का बना हुआ और सैम्पसन फैक्टरी

के साँचे में ढला हुआ लौह पुरुष मिलता तो उसमे हम लोग भी जी खोल कर कहते—"अरे सुनो महाराज...हमने तुम्हारी ज्ञात-बिरादरी के लोग देख लिये हैं... खूब देखे हैं जी...तुम्हारी सारी डींगों की कलई तो अब खुलीहै...अब ज्यादा डींग मत हाँकना...बस...बस...हो चुका।"

और एक दिन ऐसा ही हुआ। मैंने देखा पण्डितजी ने मेरे बाहों पर एक अजीब शकल का इन्सान लाकर रख दिया...बौना...ठिगना...मुँह बाये...आधा धड़ गायब, एक हाथ नदारद और एक टूटा हुआ हाथ झुका हुआ, बढ़े हुये पेट के ऊपर फैला हुआ...परीशान ख़स्ता...और जब वह भी लाकर उन तीन खिलौनों के साथ रख दिया गया तो एक खलबली-सी मच गई। बौने को देखकर सभी लोगों ने पूछा..."अरे लौह पुरुष...तुम भी आ गये...कहाँ रहे इतने दिनों तक...इतने परीशान से क्यों लगते हो और बन्दर ने कहा—"

"अमाँ लौह पुरुष और परीशानी! क्या बात करते हो?...कोई चाल सोच रहा होगा यार।"

"तुम मियाँ हमेशा दूसरों की बुराई ही देखते हो। बड़े परसन्तापी हो यार" दुःखित होकर रीछ ने जवाब दिया। लेकिन इसी बीच लोमड़ी ने कहा—"राम... राम...कैसी बात करते हो...अरे कुछ नहीं भई...इनकी सारी परीशानी तो यह होगी कि यह जहाँ से चले थे, ऊपर उठे थे, आगे बढ़े थे फिर वहीं चक्कर काट कर आ गये...क्यों भाई यही है न...सारा विकास ही उलट गया।"

और तब लौह पुरुष से न रहा गया। उसकी ख़ाली उदास आँखों मे आँसू भर आये। सारे चेहरे पर बेचारगी-सी छा गई और उसने बहुत-सी बातें बताईं। अपना सारा जीवन-वृत्तान्त कह सुनाया। "मैं सैम्पसन फैक्टरी से थोक मे ख़रीद कर बाजार ले जाया गया। फिर वहाँ खुले बाज़ार फुटकर के भाव बेचा गया। कितने ही लोगों ने मुझे छाँट कर खराब कह कर बाहर फेंक दिया। लगता था मैं यों ही जनम गया हूँ। मेरा कोई उपयोग नहीं है लेकिन अन्त में एक गरीब आदमी ने अपनी गरीबी के कारण पाँच सड़े हुये नोट के बदले मुझे दुकान से खरीदा और अपने घर ले गया...सारे शरीर में कालिख पोती...माथे को लाल रंग से रँगा और एक चूरन से भरे हुये खूमचे के थाल में रख कर गन्दी गलियों, उजाड़ घरों, मैदानों, मेलों-ठेलों में ले गया। वहाँ तरह-तरह के लटकों और गानों को गाकर वह खटमिट्ठे, खारे, नमकीन, केवल मीठे, कड़वे और जाने कैसे-कैसे चूरन बेचा करता था। हर बार चूरन वाला छोटे-छोटे बच्चों से पैसा लेकर मेरे हाथ पर रख देता था, फिर मेरा कान उमेठता था और मुझे पैसे को निगल जाना पड़ता था। महज मेरे पैसे की भूख को देखने के लिए बड़े-बड़े सेठ और महाजनों के लड़के अपने घर से निकल कर आते। एक-एक करके चार छः

पैसों का चूरन खरीदते और मैं फटाफट-फटाफट अपने मुँह में तमाचा मार कर पैसों को निगल लेता, और अन्त में इन पैसों की मार से परीशान होकर जब मैं अपनी बेचारगी की शकल बनाकर अपाहिज-सा दाँत निकाले उन बच्चों के सामने मौन खड़ा हो जाता तब वे सब एक सामूहिक हँसी हँसते और चले जाते। चूरन खा-पीकर फिर वे तरह-तरह से मुँह चिढ़ाते, क्या-क्या भाव बताते, फ़िक़रे कसते और अन्त में कुछ ढीठ लड़के मेरे गंजे माथे पर तड़ी लगा कर अपने बल परिश्रम का भी अभ्यास करते। यह रोज का कर्म था। शिकायत की गुंजायश नहीं थी क्योंकि रोज वही नाटक, वही उपक्रम, वही तरीका, वही क़ीमत चलता रहता...न मेरी भूख शान्त होती, न खोमचे वाले की हवस कम होती और न पैसे देने वालों का व्यंग्य कम होता। धीरे-धीरे चूरन बेचने वाला पैसे वाला सेठ हो गया। उसने बड़ी लम्बी-चौड़ी दूकान खोल ली। शनिग्रह के उपचार में मैं दान रूप में पण्डितजी के हवाले कर दिया गया हूँ। अब भविष्य में क्या होगा नहीं जानता। तुम सब भी उसी फैक्टरी के हो। सोचता हूँ सुख-दुख जो भी हो तुम लोगों के साथ ही कट जायगा।"

लौह पुरुष जब अपनी यह दास्तान सुना रहा था बन्दर को लगा उसकी असावधानी के कारण लौह पुरुष की अन्तरवेदना को ठेस लगी है और वह बड़ा दुःखित होकर पश्चात्ताप करने लगा। रीछ ने आँखों में आँसू भर कर कहा...मेरे मित्र लौह पुरुष...यह दुनियाँ है। जन्म लेते ही मनुष्य को पेट का भाड़ झोंकना पड़ता है। ग़नीमत थी कि इतना दुःख सहन करने के बाद तुम्हें वहाँ भोजन तो मिल जाता था। पेट बड़ा चाण्डाल होता है बन्धु...इसका कष्ट तो तुम्हें वहाँ नहीं था। लेकिन यहाँ देखो। मेरी नाक में एक सुराख किया गया है जिसमें अगर बत्ती रख कर जलाया जाता है। पण्डित जब पोथी पढ़ता है तो पोथी के पन्नों को उड़ने से रोकने के लिये बन्दर मियाँ को उस पर रख देता है और लोमड़ी...लोमड़ी की तो जो दुर्गति हो रही है वह वही जानी है। उसकी दुम से वह गुड़ के बड़े-बड़े ढेले फोड़ता है और फिर बिखरी हुई आग को सँजोने के काम में उसका उपयोग करता है। और तुम भी ऐसे दुष्ट के हाथ में पड़े हो कि क्या होगा कुछ कहा नहीं जा सकता।"

और हुआ यही। पण्डितजी ने एक लोहे का बकस खरीदा और उसको बीच से कटवा दिया। उस कटे हुए स्थान पर लौह पुरुष को जड़ दिया गया। और जब जलते हुए जस्ते से लोहे की सन्दूकची और लौह पुरुष से नाता जोड़ा जा रहा था तब उसे बड़ा कष्ट हुआ था लेकिन फिर उसे ध्यान आया कि वह सम्बन्ध नैसर्गिक होते हैं...इनमें पहले कष्ट सह लेने से आगे का पथ बड़ा ही प्रशस्त और उदार हो जाता है। इसलिये वह खामोश रहा। अब पण्डित दिन भर में जितना दान पाते वह उस लौह पुरुष के हाथ पर रख देते और दायाँ कान उमेठते और वह फ़ौरन अपने

मुँह पर थप्पड़ मार कर पैसा निगल जाता और फिर जब निकालना होता तो वह सन्दूकची में चाभी लगा कर निकाल लेता। इस प्रकार उन चारों का जीवन-क्रम चलने लगा।

और वह क्रम भी क्या होगा? लौह पुरुष नामधारी जीव को सन्तोष कभी नहीं मिलेगा क्योकि उसकी भूख तन की है और वह सनीचर का चक्कर जो हवल्दार के पैर में था, चूरन बेचने वाले के पैर में था, वह इस लौह पुरुष के पेट में समा गया है और यह पेट, यह भूख, यह टूटे हुए हाथ यह सब यों ही रहेंगे क्योंकि ठोसपन नाम की चीज बाहर से नहीं आती वह भीतर की वस्तु है...अन्तःमन की वस्तु है...वह न तो सैम्पसन स्टील फैक्टरी में ढलती है न किसी खिलौना बनाने वाले के यहाँ...वह अपने मन से, अपनी बुद्धि से, अपनी जागरूकता से विकसित होती है और वहीं उसका विकास होता है, ढलता है...

और वह लोहे के लोग जब तक फौलाद का आडम्बर बनाये रखेंगे...जब तक वह फौलाद मन में नहीं लायेंगे तब तक उनकी भूख, उनकी प्यास, उनकी हिंसा...उनकी प्रतिहिंसा...यों ही रहेगी...यों ही बनी रहेगी...

लेकिन इस अतीत की क्या चिन्ता? इन खिलौनों की क्या बात...आज तो आदमी स्वयम् इसी प्रकार घुट रहा है...पिस रहा है...चारों ओर शनीचर का चक्र है...बड़े-बड़े लौह पुरुष तक डिगे जाते हैं...पैसा है...टूटा हुआ हाथ है। फैला हुआ मुँह है ख़ाली पेट है...ख़ाली-ख़ाली मन है...प्यासा-प्यासा-सा जीवन है।

ज्योति चक्र
और
नंगी तलवा

······हे लौह पुरुष मै तुम्हारे चरणो की वन्दना करती हूँ क्योंकि तुम विधाता के निश्चय की भाँति अटल हो, तुम्हारी स्थिति उस जिद्दी बौखलाये हुये सनकी नेता की भाँति है जो अपनी स्थिति में मग्न रहता है, जिसे अपनी सत्ता के सामने किसी और की सत्ता नही पसन्द आयी और देखो विधि का लिखा जिस फैक्टरी मे तुम और यह तन लोहे के खिलौने ढाले गये हों उसी फैक्टरी की बनी हुई कीलें मेरे अन्दर भी ठुकी हैं और मैं एक मसीहा की लाश सी तुम्हारे सामने पड़ी हूँ लेकिन मै परिवर्तन से घबड़ाती नहीं बल्कि आज इस स्थान को छोड़ते समय मुझे प्रसन्नता है क्योंकि मै सदैव नये अनुभवों को ग्रहण करना एक स्थान पर जीवन व्यतीत करने से अधिक श्रेयस्कर समझती हूँ। लेकिन हे स्थितिप्रज्ञ, कर्मवीर, दृढ़-निष्ठ लौह पुरुष तुम्हारी इस अडिगता को शत्-शत् प्रणाम......शत् प्रणाम...तुम इसी प्रकार मुँह बाये दयनीय दशा में अपनी सन्दूकची से लगे रहो...अपने हाथ अपने मुँह में थप्पड़ मारा करो...और अपना खोखला पेट भरा करो। हे आकाशवृत्ति विश्वासी तुमको प्रणाम...शत्-शत् प्रणाम······।

अगम पण्डित कहा करते थे, "यह जीवन उस रथ के पहिये के समान है जिस को सदैव पिसना पड़ता है...इस को संचालित करने वाला वह घोड़ा है जो आगे जुता है और शक्ति देने वाली वह गाय है जो रथ के पीछे-पीछे चली आ रही है लेकिन देखने से घोड़ा तो दिखलाई पड़ेगा गाय नहीं दिखलाई पड़ेगी।"

पण्डित ज्योतिषी का नाम लम्बोदर पण्डित था। लम्बोदर नाम भी उनके पिता ने राशि के योग और कुण्डली के अनुसार रखा था। वैसे पण्डित जी इतने मोटे-तगड़े जीव नहीं थे लेकिन उनकी बुद्धि में कहीं कोई ऐसा स्थान था, कहीं कोई कीटाणु इस प्रकार के थे कि उनको लम्बोदर कहा जा सकता था। लम्बोदर पण्डित के पिता जन्म के कुछ ही दिन बाद मर गये थे। मूल में पैदा होने के नाते यह कहा जाता है कि जन्म के एक साल के अन्दर ही उन्होंने पिता को खा लिया और जब पिता नहीं रहे तो उनकी माँ को किसी ने बताया कि लम्बोदर पण्डित को गोबर के भाव बेच दो और तब उनके मृत-पिता की आत्मा को मुक्ति मिलेगी नहीं तो वह स्वर्ग और नरक के बीच त्रिशंकु की भाँति लटके रहेंगे। यह बात सुनकर उनकी माँ ने लम्बोदर पण्डित को नहला-धुला कर एक दिन तराजू के एक पलड़े पर रक्खा, दूसरे पर इन्होंने गोबर रखा और गोबर को अपने पास रख सवा घड़ी के लिए उनको एक डोम के हाथ बेच दिया। फिर उस डोम से बीस आने पैसे देकर खरीद भी लिया। उसके बाद से उनका दूसरा नाम गोबर्धन पड़ा। और तब से कुछ लोग इन्हें गोबरधन भी कहने लगे थे। लेकिन जब यह सवा साल के हुए तो किसी दूसरे पण्डित के कहने पर इनकी माँ ने गोबरधन को एक बाँस के डलरे पर लिटा कर गंगा को चढ़ा दिया और तब घटना कुछ ऐसी बीहड़ हुई कि डलरा उलट गया और गोबरधन पण्डित गंगा जो में उलट गये। डूबते-डूबते किसी मल्लाह ने उन्हें बचा लिया

और तब से इनकी माता इन्हें "गंगा दिहेल" भी कहती थी। इसके बाद भी उन्हें जीना था और पाँच साल की उमर में किसी दरगाह के मेले में जाकर चूजों के जान के बदले एक बहेलिये के हाथ बिकना था...बिक गये, फिर उनकी माँ ने सवा पाँच आने पैसे बहेलिये को दिये तब जाकर जान बची और तब से बाले मियाँ के रोजे के नाम पर उनका नाम बालेदीन भी पड़ गया था। लेकिन परम्परागत् शास्त्र के अनुकूल जब पण्डित जी ने ज्योतिषाचार्य की परीक्षा पास की तब ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-भास्कर, ज्योतिष-केसरी, ज्योतिष-मार्तण्ड पण्डित लम्बोदर मनि त्रिपाठी उनका नाम हुआ। लेकिन उनकी माँ के लिए यह नाम सुगम नहीं पड़ता था और जब उन्होंने अपने माता को इतना लम्बा-चौड़ा नाम रटाने का प्रयास किया और माँ की जड़ प्रकृति को नहीं सुलझा पाये तो खीझ कर बोले..."तू कैसी है माँ जो इतना सुगम नाम भी नहीं याद रख पाती" और तब उनकी माता को कुछ तो याद नहीं रह गया केवल सुगम के स्थान पर अगम ही उन्हें याद रहा। उन्होंने सुगम को अगम ही नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ किया और तब से वह अगम पण्डित के नाम से ही मशहूर हुए और उनका नाम अगम ही प्रतिष्ठित माना गया। स्वयम् लम्बोदर पण्डित ने अगम नाम धारण किया और अगम ही रह गये।

अगम नाम धारण करने के बाद बड़ी प्रार्थना से उन्होंने माँ से अपनी जन्म-पत्री माँगी और उसका योग और फल देखने लगे। देखते-देखते उन्होंने अपने दाँतों तले उँगली दबाई। जल्दी-जल्दी सारे योग जोड़ डाले। हस्तलिखित भृगुसंहिता के तमाम लग्न और जन्म-कुण्डलियाँ देख डालीं, लेकिन प्रत्येक दशा में यही सत्य निकलता था, "उक्त जन्म-कुण्डली वाला व्यक्ति जारज होगा।" फिर उन्होंने अपने बारे में सोचा और अनुमान लगाया कि यदि मैं जारज हूँ तो मेरे वास्तविक पिता को मरना चाहिये था, फिर यह मूल का प्रकोप उनके नकली पिता पर कैसे आ पड़ा लेकिन अन्त तक वह इस गुत्थी को नहीं सुलझा सके तब उन्होंने आगे जोड़ना-घटाना शुरू किया। जोड़ते-घटाते वह यह मालूम करके और हतप्रभ हुए कि इसी वर्ष उनका मातृहंता योग और विवाह का योग दोनों ही बनते हैं। तीस साल के लम्बोदर, गोबरधन, गंगादेहल, बालेदीन, अगम पण्डित बड़ी चिन्ता में पड़ गये और उन्होंने निश्चय किया कि चाहे जो हो वह माता के साथ न तो कहीं जायेंगे और न आयेंगे घर ही में रहेंगे। लेकिन विवाह के योग के सम्बन्ध में जब उन्होंने भावी पत्नी की प्रकृति और उसके मूल स्वभाव को आँका तब उसमें यह भी योग मिला कि उनकी पत्नी साल भर के भीतर ही उनको वियोग दे जायगी। अब उन्होंने दूसरा निर्णय भी किया कि वह न तो किसी स्त्री की ओर देखेंगे और न अपना विवाह ही करेंगे। कितने-कितने कुलीन ब्राम्हण आये। बड़ी-बड़ी जगह से शादी की बात आई लेकिन उन्होंने

सब इन्कार कर दिया और चट्टान की तरह दृढ़ आत्मा लेकर वह इन समस्त दुर्घटनाओं से बचने के लिये घर में ही रहने लगे।

लेकिन जैसा कहा गया है कि मनुष्य का सोचा-विचारा कुछ नहीं होता, सब कुछ ईश्वर के मन के ऊपर है, जब वह जैसा चाहता है वैसी बुद्धि भी वह दे देता है, सो वैसा ही हुआ। उनकी माता जी को अगले चन्द्रग्रहण के मौके पर काशी जाने की जो धुन सवार हुई तो उन्होंने अगम ज्योतिषी का उठना-बैठना बन्द कर दिया। अगम पण्डित में सब कुछ होते हुए माता के आदर का बड़ा मोह था, परिणामस्वरूप वह माँ को लेकर काशी गये। भीड़ बहुत थी, इसलिये दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर जब उनकी माँ नहा रही थीं तभी वह सारा योग और वह सारी साइत आ पहुँची, जिसकी आशंका थी। उनकी माँ का पैर सीढ़ियों पर से खिसक गया। वह अथाह जल में अन्तर्ध्यान हो गईं। अगम पण्डित ने बड़ी कोशिश की, बड़े मल्लाह छुड़वाये लेकिन फिर भी उनका पता न लगा। वह डेरे पर आये जिसके घर ठहरे थे, वहीं मन मार के लेट गये और जैसा कि भाग्य में लिखा-बदा जन्मपत्री में था वह सब हुआ। गौरांग, गौरी कन्या, कुमारी, पूर्ण अक्षत उस दशा में प्रकट हुई। अगम पण्डित के पूर्व परिचित पण्डित सदल मिश्र ने अपनी अविवाहिता छोटी साली को अगम पण्डित के भोजन इत्यादि की देखभाल के लिये आदेश दे दिया और फिर वह उनकी सेवा करने लगी। एक ओर अगम पण्डित का पहाड़ ऐसा निश्चय था और दूसरी ओर उस गौरी कन्या की सरल, कच्चे धान की बाल-सी कोमल कमनीय-कांति छवि छटा। एक ओर कामदेव के पुष्प-बाण थे और दूसरी ओर उनका समाधिस्थ मन, उनका विराग, उनकी चिन्ता, उनका स्वारोपित मोह। उन दोनों स्थितियों में संघर्ष चलने लगा। गौरी ने कई बार अगम पण्डित के मन की व्याकुलता का कारण जानना चाहा लेकिन वह कुछ भी नहीं बोले। सारी आकुलता-व्याकुलता वह अपनी माँ के स्वर्गवास होने पर ही आधारित कर देते। वह कहती इतने ज्ञानी हो कर भी तुम चिन्ता करते हो...आखिर यह शरीर और इसका क्या ठिकाना...और अधिक दिन जीतीं तो तुम्हारी माता को कष्ट ही होता। यह तो भगवान् की बड़ी कृपा हुई कि जो वह शुभ साइत से गंगा के गोद में समा गईं...उनको तो मरना ही था। पण्डित ! अब उनकी चिन्ता से क्या...उठो...अपना भविष्य देखो...

और जब वह भविष्य की बात करती तो पण्डित का दुःख और भी बढ़ जाता...वह और उदास हो जाते। उनको अपने जन्म-पत्री के चक्र याद आने लगते, ग्रहों के स्थान, उनका प्रभाव सब कुछ दिखलाई पड़ने लगता—"जारज" होने की बात, "मातृहंता योग" और फिर "गृहणी भाग" दोष याद आता। उन्हें यह भी याद आता कि अमुक श्लोक के अनुसार ही स्वर्गीया माता किसी ऊँची पहाड़ी जंगली

जगह पर गाय की योनि में पैदा हुई होंगी और पिता किसी सिपाही के घुड़सवारी में घोड़े की योनि में होंगे और तब उनका मन अधिक खिन्न हो उठता। वह गौरी को कोई भी उत्तर नहीं देते केवल मौन रूप से सुनते रहते और फिर उठ कर दशाश्वमेध घाट पर टहलने निकल जाते।

एक दिन टहलते-टहलते उन्हें अपने पूर्वजन्म की बात याद आने लगीं। उन्होंने एक बार गणित द्वारा यह पता लगाया था कि पिछले जनम में वह मनुष्य ही थे लेकिन बणिक होने के नाते वह बाहर ही व्यापार के सम्बन्ध में रहते थे और वहाँ उनका सम्बन्ध किसी वणिक् पुत्री से हो गया था लेकिन वह उसे छोड़कर अपने घर चले आये थे। वह इनके वियोग में तड़प-तड़प कर मर गई थी। कर्मानुसार वही अब इस जनम में इनकी पत्नी होगी और फिर वह इनसे प्रेम करेगी और फिर इनको छोड़कर—वियोग में छोड़कर भाग जायगी और जब भाग जायगी तब यह वियोग में पागल-से हो जायेंगे इत्यादि...

जब अगम पण्डित घर लौट कर आये तब उन्होंने गौरी को देखा। उसमें अपनी पत्नी होने की सम्भावनाएँ देखीं, भविष्य की आशंकाओं की झलक देखी, विकास, वियोग विक्षिप्तता, बदनामी और पागलपन की बात देखी तो वह घबरा गये... व्याकुल मन से पूछने लगे, "आखिर तुम क्या चाहती हो गौरी !...तुम मेरे साथ सुखी नहीं रहोगी। कभी नहीं।" और तब गौरी गम्भीर हो गई उसने अगम पण्डित का कोई भी उत्तर नहीं दिया। वह घर के भीतर चली गई। गौरी की पूजा करने लगी। उसने सोचा गौरी की पूजा करके सीताजी ने मनचाहा वर ले लिया था। राम को पति रूप में पा गई थी। तब वह और धीरज से गौरी की पूजा करने लगी।

और फिर वह गौरी के सामने आँखें बन्द करके जाने क्या-क्या बड़बड़ाती, अपने विश्वास की देख-रेख में अपनी भावनाओं को विचलित होने से बचाती। दिनों दिन उसे लगता अब "खसी माल मूरत मुस्कानी" और अब वाटिका-विहार में कोई आकर कहेगा "देखन राजकुँवर दाऊ आये"—"गिरा अनयन नयन बिनु बानी" और उसे आँख बन्द की दशा में वह भव्य सुन्दर वाटिका को देखती, मन्दिर देखती, मन्दिर की सीढ़ियाँ देखती सर और तड़ाग देखती...लता ओट से अगम पण्डित को मुस्कराते हुए निकलते देखती और अन्त में जब आत्म-विभोर होकर आँख खोलती तो अपने को काशी की तंग गलियों के एक छोटे से मकान में पाती। चीड़ के बक्स पर बाबा के दिये हुए मोटे शंकर जटाधारी, बैल पर सवार, हाथ में त्रिशूल, सर्प लपेटे मुण्डमाल पहने दिखलाई पड़ते...लम्बी पार्वतीजी नाक में बुलाक पहने पास ही खड़ी दीखतीं छत पर जमी काली कालिख, फटे टाट के पर्दे, उसकी मोटी साड़ी यह सब

दिखलाई पड़ता और तभी मकान के नीचे नाली में बहते हुए कचरे की गन्ध उसके नाक में घुस जाती और वह एक गहरी साँस लेकर उठ पड़ती है।

अन्त में अगम पण्डित से न रहा गया। वह वहाँ से फिर चन्दनपुर लौटने की तैयारी करने लगे। जब यह खबर गौरी को मिली तो वह हताश और निराश हो कर बाहर के बैठके में आयी और चुपचाप खड़ी हो गई। वह देखती रही कि बिना धनुष-यज्ञ हुए और परशुराम के आये ही अगम पण्डित अपना बोरिया-बिस्तर बाँधे चले जा रहे थे। पहले वह कुछ नहीं बोली, फिर बड़े करुण स्वर में कहने लगी—"तो पण्डित क्या तुम सचमुच जा रहे हो" और तब अगम पण्डित ने लड़खड़ाते हुए स्वर में कहा—"हूँ", उसने फिर पूछा—"अरे पण्डित आखिर तुम्हें यहाँ क्या कष्ट है... जो भूल हुई हो क्षमा करो।" "भू...भू...भू...भूल क्या हो...होती देवीजी, मैं तो बड़ा अनुग्रहीत हूँ। आप ने मुझे संकट के समय सहायता की। मैं क्या मेरे वंश में जो कोई भी होगा वह आप का आभारी रहेगा"—बात मुँह से निकल गई थी वापस तो हो नहीं सकती थी लेकिन उन्होंने सोचा उनके वंश का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह शादी-विवाह के बिना भी जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर चुके हैं तो फिर सुधार करते हुए बोले—"हाँ...हाँ देवी जी मैं बिल्कुल सत्य कहता हूँ... लेकिन मेरे वंश का तो प्रश्न नहीं उठता। मेरा मतलब मैं इस सेवा को जन्म भर नहीं भूलूँगा...मैं बड़ा अनुग्रहीत हूँ देवी..."

गौरी की समझ में यह सब कुछ नहीं आया। उसने पण्डित से कहा—"पण्डित क्या तुम्हारी इच्छा में कहीं पर तनिक भी कोमल स्थान नहीं है...कहीं कोई भी सहानुभूति नहीं है"—और तब अगम पण्डित थोड़ा पसीज गये अपने को टटोलने लगे, अपने हृदय को टटोलने लगे और तब फिर हकलाते हुये स्वर में काँपते हुए, अपनी पलकें नीची किये बोले—"मैं तो कोमल ही कोमल हूँ देवि...मेरे में तो कहीं कुछ भी कठोर नहीं है...लेकिन यहाँ रहने में मुझे आन्तरिक संघर्ष करना पड़ रहा है...मैं...मैं यहाँ अधिक नहीं रहूँगा...मैं यहाँ नहीं रहना चाहता..."

अगम पण्डित की मर्मस्पर्शी बात सुन कर गौरी हँस पड़ी लेकिन फिर अपने को सँभालते हुए विनम्र स्वर में, गम्भीर उदास मुद्रा बना कर वह बोली—"यह आन्तरिक संघर्ष क्या है पण्डित, इसे तुम क्या कहते हो...यह क्या होता है..." और वह यह पूछ कर दरवाजे की पालिश अपने नाखून से खरोंचने लगी। कनखियों से वह अगम पण्डित की ओर देखती रही, उनकी भाव मुद्राओं में मन की अटूट भावनाओं की शृंखला निरखती रही और अन्त में जब अगम पण्डित शास्त्रीय साहित्यिक विधि के अनुसार नायिका भेद के विभिन्न वर्गीकरणों के अनुसार एक नायक के रूप में कहने लगे—"कैसे बताऊँ देवि...यों समझो कि तुम एक नायिका हो। मैं एक नायक

हूँ...नायक नायिका को अटूट प्रेम करता है, उसके हृदय कमल में वह स्नेहसंचित पराग की भाँति बसी है लेकिन नायक के मन में कई दुविधाएँ हैं...वह अपने को देखता है, भविष्य को देखता है और उसे लगता है कि किसी दैविक कारण से नायिका परकीया निकल जायगी तो...तो...तो...तो फिर...तुम्हीं बताओ देवि...मैं क्या कर सकता हूँ..."

समझने को गौरी यह संकेत समझ गई और समझ कर उसे और अधिक क्रोध आ गया। पहले तो उसके जी में आया कि वह अगम पण्डित का बोरिया-बिस्तर स्वयम् उठा कर फेंक दे लेकिन फिर अपने आवेश को सँभालते हुए बोली—"वाह पण्डित...तुमने मेरी सेवाओं का तो बड़ा बढ़िया पुरस्कार दिया...तुम समझते हो दुनिया की सारी बातें तुम्हीं समझते हो, मैं नहीं समझती...जानते हो पण्डित अगर कोई नायक नायिका से ऐसी बात करे तो उसे क्या दंड मिलेगा..." थोड़ी देर तक चुप लगाने के बाद वह स्वयम् बोली—"नहीं जानते न...ऐसे नायक को "जारज" कहते हैं और जारज नायक को ऐसी नायिकायें कान पकड़ कर निकाल देती हैं... उनके मुँह में कालिख पोत देती हैं और..." और वह आगे कुछ नहीं कह सकी। लेकिन "जारज" का नाम सुनते ही अगम पण्डित चौंक गये। उन्होंने समझा गौरी केवल स्त्री ही नहीं है, वह विदुषी भी है और अब उनको यह चिन्ता हुई कि आखिर इसे यह कैसे पता चला कि "मैं" जारज हूँ...और इसी चिन्ता में अपने बिस्तर पर वहीं बैठ गये, गाल पर हाथ धर कर चिन्तामग्न हो गए। गौरी एक झटके के साथ भीतर गई। उबलती हुई दाल के नीचे आँच ज्यादा थी। एक लोटा पानी झोंकती हुई वह चारपाई पर बैठ कर कुछ सोचने लगी। मन का विषाद कुछ ढीला पड़ा और उसने सोचा यहाँ तो उसकी तपस्या ही नष्ट हुई जा रही है और अगम पण्डित विवाह के पहले उसके ऊपर यह आरोप लगाते हैं तो क्या आश्चर्य है भारत में तो ऐसे भी नायक हुए हैं जिन्होंने विवाह के बाद यह आरोप लगाया है और तब वह अपने को कोसने लगी। दौड़ी हुई चौके में गई। बुझी हुई लकड़ियाँ फिर से सुलगाई और दौड़ी ही दरवाजा झाँक गई। अगम पण्डित अब भी वैसे ही चिन्तामग्न बैठे हुए थे और उनको बैठा देख कर उसने भगवान को कोटिशः धन्यवाद दिया और खाना बनाने में लग गई। भोजन तैयार करने पर उसने विधिपूर्वक चौका लगाया और अगम पण्डित को बोला ले गई, उन्हें भोजन कराया और जब वह जाने लगे तो उसने कहा—"जाओ पण्डित...यदि मुझमें कुछ भी सत्य होगा तो तुम पछताओगे...जरूर पछताओगे।" और अगम पण्डित वहाँ से चले गये।

अक्षत गौरी का श्राप अगम पण्डित को लग गया और उन्हें पछताना पड़ा। छः महीने के बाद वह स्वयम् काशी आये। सदल मिश्र से मिले। अपने मन की

सारी व्यथा कह सुनाई और सदल मिश्र ने उनकी सहायता की। अगहन मास में ही अगम पण्डित विवाह करना चाहते थे लेकिन सदल मिश्र ने उन्हें बहुत रोका, समझाया कि राम का भी ब्याह अगहन ही में हुआ था और अगहन में ब्याह करने से पत्नी किसी दुष्ट द्वारा हर ली जाती है लेकिन अगम पण्डित ने एक भी बात नहीं मानी और कहने लगे कि यह सब कुछ नहीं होता मैं अपना विवाह ऐसे लग्न में कराऊँगा कि उसका दोष मिट जायगा और उसी वर्ष अगहन में अगम पण्डित का गौरी से विवाह हो गया। और जब उनकी शादी हो गई तब उन्होंने अपना व्यवसाय और जोर से प्रारम्भ किया। साथ-साथ कर्म-कांड और पुरोहिती भी वह करने लगे और उनकी व्यवस्था बड़ी तेजी से सफलतापूर्वक जम निकली। इसी बीच उनकी मित्रता हवल्दार से बढ़ी थी क्योंकि उनका यह विश्वास था कि उनके पिता मर कर घोड़ा ही हुए होंगे और इसलिए बहुत सम्भव है कि वह यहीं कहीं किसी फौज के छाउनी में हों और यही कारण था कि वह प्रत्येक हफ्ते किसी न किसी बहाने घुड़साल का चक्कर लगा लेते और सब घोड़ों के पास जा कर खड़े हो जाते और 'न जाने किस रूप में नारायण मिल जायँ' की सम्भावना से उन्होंने छः सात गायें भी पाल रखी थीं क्योंकि उनको अब भी यह विश्वास था कि उनकी माँ मर कर कहीं न कहीं गऊ ही हुई होंगी। इस बीच हवल्दार के ऊपर ज्योतिषी पण्डित का जो कुछ प्रभाव पड़ा वह घोड़े और गाय के रूप में माता-पिता से सम्बन्धित मोह का परिणाम था।

विवाह के बाद अगम पण्डित अपने व्यवसाय में दिनों-दिन फँसते गए और जब काम बहुत बढ़ गया तब उन्होंने एक शिष्य भी रख लिया। यह शिष्य भी बड़ा ही उदार-चेता, सहज-सुलभ और सुन्दर मनोवृत्ति का था। उनका नाम भी उतना ही सुगम था क्योंकि गनपत नाम के पण्डित योग्य होने के साथ-साथ गुरु की हर प्रकार की सेवा करने में दक्ष थे। जब से गनपत का पदार्पण हुआ तब से पण्डितजी ने अपने व्यवसाय के क्षेत्र को केवल जन्म-पत्री ही तक सीमित नहीं रखा वरन् उन्होने "पुत्र यज्ञ", "वशीकरण मन्त्र" रक्षा, तावीज देना भी प्रारम्भ कर दिया। प्रत्येक अंग्रेजी अखबार में अपना विज्ञापन भी छपवाने लगे, राजा महाराजाओं के दरबार में भी पहुँचने लगे और इस प्रकार वह "कामरू-कमच्छा" के देश से लेकर कश्मीर,

उज्जैन, आन्ध्र, कन्नड़ देश के पर्यटन से लेकर स्त्रियों के सौंदर्य और उनके रस-भोग सम्बन्धी समस्त ज्ञान का भण्डार भी अपने पास रखने लगे। एक मासिक पत्रिका भी उन्होंने निकालना प्रारम्भ किया और ज्योतिष के क्षेत्र में "नरहरि" की उपाधि लेकर विराजमान हुए। उन्हें यथोचित यश और कीर्ति भी मिली, धन भी मिला, ऐश्वर्य और समस्त भोग-विलास भी चलता रहा। बड़े-बड़े जज, बैरिस्टर, सेठ, महाजन, हाकिम-हुक्काम भी आने-जाने लगे और इस प्रकार वह सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करने लगे। लौह पुरुष के हाथों पर वह हजारों रुपये रख देते और वह निगल जाता और अपने भाग्य को सराहता उस भगवान को दाँत बाये आँख निकाले कोटि-कोटि कण्ठों से धन्यवाद देता कि जिसने उस चूरन वाले से मुक्ति दिला कर इस प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित के यहाँ भेजा जिसकी अनुकम्पा से वह अपने दयनीय जीवन से एक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगा। लोहे के अन्य खिलौने इस समय पराजित थे क्योंकि उनकी भविष्य वाणी गलत निकली और लौह पुरुष का सिक्का जम गया। यही नहीं इस प्रकार उसके पेट का चक्र भी अधिक तीव्र गति से चलने लगा लेकिन रीछ की नाक पर अगर की बत्तियाँ जलती रहीं,बन्दर पोथी के पन्नों पर पेपर-वेट के रूप में नाचता रहा। लोमड़ी की दुम से गुड़ का चूर, मिश्री की डलियाँ वैसी ही तोड़ी जाती रहीं...अन्तर केवल इतना था कि कुछ दिनों पहले पण्डित स्वयम् तोड़ता था लेकिन कुछ दिनों बाद गनपत तोड़ने लगा।

और इसी बीच कुडंली के ग्रहों ने जोर किया, घटनायें तेज गति से चलने लगीं। नव विवाहिता गौरी अगम पण्डित को अधिक कार्य में व्यास्त देखकर अपने भाग्य को कोसने लगी। उसने सोचा यह भी क्या दाम्पत्य जीवन है कि पण्डित को मुझसे बात करने का, बोलने-चालने का कोई अवसर ही नहीं मिलता। आखिर इतना रुपया पैसा जमा करके क्या होगा...अभी तो खेलने खाने का दिन है...साल डेढ़ साल गये कहीं गोद भरने की आशा नहीं दीखती...चार दिन बाद मरना है, फिर मिट्टी कौन स्वारथ करेगा, पिण्ड दान कौन करेगा, गया हाड़ कौन ले जायग। लेकिन उधर पण्डित थे कि जब भी गौरी मुस्करा कर बोलती तो कहते..."देखो गौरी अभी जज साहब की कुण्डली का योग देख रहा हूँ...गणित का मामला है एक शून्य की भूल में जाने क्या से क्या हो जायगा... जब तक मैं इसे पूरा करता हूँ तब तक तुम रामायण का पाठ करो" और गौरी चली जाती। पण्डित वहीं गद्दी पर गणित लगाते-लगाते सो जाते...रात भर पड़े रहते...जब भोर को नींद खुलती तो उठते। चारों ओर देखते...दिन चढ़ आता...और फिर वह हाथ-मुँह धो कर अपने काम में लग जाते...बाहर चले जाते...राजदरबार से बुलाहट आने पर वहाँ चले जाते और फिर मौन होकर गम्भीर मन से कभी-कभी गनपत से कहते—

"गनपत अगर तुम न मिले होते तो सारी गृहस्थी चोपट हो जाती और मेरा बसा हुआ घर उजड़ जाता...लेकिन ईश्वर तुमको सत्-बुद्धि दे...तुमने हमारे घर को कायम रक्खा"—और फिर आशीर्वाद के लहजे में कहते—"भगवान चाहेगा तो तुम्हे कोई भी कष्ट नहीं होगा। तुम सदैव इस संसार रूपी उपवन में फूलोगे...और तुम्हें ऐसी कीर्ति और ऐसा ऐश्वर्य मिलेगा कि तुम्हारा जीवन बदल जायगा...यह काल थोड़ा परिश्रम का है, परिश्रम किये जाना श्रम चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक सब समान हैं वत्स श्रम किये जाओ...श्रम...

सत्-बुद्धि, कीर्ति, ऐश्वर्य की लालसा किसे नहीं होती। इसके लिए इच्छुक व्यक्ति कब श्रम से जी चुराता है और उस पर गनपत वह भला गुरु की आज्ञा की अवहेलना कैसे करता। वह घर की व्यवस्था और काम-काज में अधिक दिलचस्पी लेने लगा। उसका अधिकांश समय गुरु के घरेलू काम-काज उद्योग में लगने लगा। यह सब करते हुए उसको बड़े-बड़े अनुभव भी हुए। उसे लगा यह लौह पुरुष के नीचे की थाली काफी भारी हो गई है। गौरांग गौरी पाण्डु रोग की ग्रास बनती जा रही है। घर फीका-फीका है। सारे वातावरण में कोई भयंकर अभाव है जो दिनोदिन घर को खाये जा रहा है। कहीं कोई शून्यता है जो धीरे-धीरे समस्त घर में एक कोने से दूसरे कोने तक फैलती जा रही है। और इन सब का सही अनुमान उसे उस समय लगा जब उसने देखा गौरी की खीझ बढ़ती जा रही है। उसे कहीं कोई रस नहीं मिलता। सब रिक्तता का ग्रास है। अभावमय है। शून्यग्रस्त और सारहीन है। ऐसी ही स्थिति में अब गौरी तोता-मैना का किस्सा और इस प्रकार की अन्य पुस्तकें पढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसने यह भी कहना शुरू किया—"पुरुषों से अधिक क्रूर कोई और नहीं होता" और इसकी चरम परिणति उस दिन हुई जब खड़ी आँगन में गिर पड़ी थी और मूर्च्छित हो गई थी। बिचारे गनपत शास्त्री पहले तो वेद-शास्त्र के मत-मतान्तों के अनुसार ऐसी स्थिति में क्या किया जाय यही सोच रहे थे। खड़े-खड़े उसके मुँह पर पानी का छीटा दे-देकर होश में लाने का प्रयत्न करते रहे। जब इससे भी होश नहीं आया तब उसको अपने बाहों में उठा कर पलँग पर लिटा देते। माघ महीने में उनको पंखा झलने लगते और जब आधी रात को गौरी की नींद खुलती तब अपने सिरहाने पंखा झलते हुए गनपत शास्त्री को देख कर अपना वस्त्र सँभालती धीमी आवाज में पूछती—"मैं कहाँ हूँ...तुम कहाँ हो... पण्डित जी कहाँ हैं", गनपत शास्त्री विवरणात्मक ढंग से बता जाते कि वह गनपत शास्त्री है, और वह गौरी है जो बेहोश आँगन में गिर पड़ी थी और जिसे गनपत उठा कर कमरे में ले गया था और पण्डित रामनगर रियासत में एक महीने के लिए गये हैं...और...और

और फिर तब से जब कभी भी गौरी को बेहोशी आई, वह आँगन में, बरामदे

में, कमरे में कहीं भी बेहोश हो कर गिरी तो गनपत शास्त्री की सेवा से वह प्रसन्न मन रहने लगी...लेकिन अभी वह गनपत को बड़ा सीधा-सादा समझती थी। कहती भी थी—"गनपत तू...मुझे क्यों उठा कर ले जाता है...मुझे वहीं पड़ा क्यों नहीं रहने देता...तुझे मालूम नहीं...मैं अपने जीवन से ऊब गई हूँ...मैं अब अधिक दिन तक जिन्दा नहीं रहना चाहती"—और तब गनपत उन्हें समझाता संस्कृत के श्लोक सुनाता और इस प्रकार दिन कटते जाते...समय बीतता जाता। गनपत और गौरी के बीच आग्रह और दुराग्रह का संघर्ष चलता रहता...न गौरी का बेहोश होना बन्द होता न गनपत की सेवा मे कमी आती।

लेकिन साहब तेज आँच में फौलाद भी गल जाता है...फिर आदमी की क्या हस्ती...अन्तर इतना है कि तेज आँच में आदमी पहले खूब पक जाता है...खरा हो जाता है और तब अपने तपन के ताप-क्रम से गलता है...गलता जाता है और जब गलता है तो गन्दे पानी की तरह कीचड़ ही में मिलता है शास्त्रानुकूल गनपत शास्त्री गल गये, उनका आग्रह भी समाप्त हो गया और अब न गौरी बेहोश होती न पण्डित को कोई बोझ उठाना पड़ता, काम भी बड़ा हल्का हो गया और यश भी काफी मिला। पण्डित रामनगर में किसी अनुष्ठान के सिलसिले में दो महीने और रह गये, गौरी ने गनपत से कह कर उन्हे लिखवा दिया कि चन्दनपुर में सब ठीक है, पण्डित को चिन्ता करने की जरूरत नही वह अनुष्ठान समाप्त करके ही आ सकते हैं और पण्डित ने रामनगर में ऐसा ही योग निकाला, दो महीने का अनुष्ठान और संकल्प करा लिया और वह वहीं रहने लगे।

इधर जब पण्डित के आने के दिन निकट आने लगे तो गनपत की आत्मा में बड़ा संघर्ष चलने लगा। उसे वेद-शास्त्र की उक्तियाँ याद आने लगीं, गरुड़पुराण में लिखी मौत के बाद जीव की दुर्दशा की बातें सूझने लगीं, और उसका आन्तरिक संघर्ष बढ़ने लगा। उसने गौरी से अपने मन की सारी बातें कहीं, विक्षिप्त और उद्विग्न मन होकर चिन्ता प्रकट की और तब गौरी ने कहा—"गनपत शास्त्री तुम व्यर्थ में चिन्तित होते हो, उठो चिन्ता छोड़ो...चलो काशी हो आयें, वहाँ हमारा घर है...हमारे

जीजा जी रहते हैं...और फिर तीर्थस्थान पतित पावनी गंगा हैं...हम घर पर रहेंगे तुम गंगा नहाना और तुम्हारे मन का सारा क्षोभ, सारा कष्ट मिट जायगा।" पहले तो गनपत पण्डित को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगा उसने इनकार किया और इनकार करता रहा। लेकिन गौरी गनपत के इनकार को सकारने में निपुण थी। अन्त में उसने सकार ही लिया और एक शाम को दोनों ने उस लौह पुरुष का कान उमेठा, सन्दूकची में जितना कुछ था सब ले लिया और काशी में प्रायश्चित करने के लिए निकल पड़े। घर में ताला पड़ गया।

मैं—खाली कुर्सी अगम पण्डित के कमरे में पड़ी यह सब देखती रही और उस घड़ी जब मैं अकेली अगम पण्डित के घर में पड़ी अँधेरे में बन्द थी तब मुझे वह कारावास भयंकर और दुस्तर मालूम होता था...लौह पुरुष के दाँत निकाले टूटे हुए हाथ और खाली अन्तरात्मा को देख कर उस पर तरस आ रही थी और सब से बड़ा व्यंग्य तो यह था कि इस काली कोठरी में दिन के प्रकाश से बचने के लिए आज रात एक उल्लू और एक चमगीदड़ भी न जाने कहाँ से आ निकले थे...पर फड़फड़ते हुए इस अन्धकार में टँगे हुये थे। इसके पहले वह उल्लू लौह पुरुष के मस्तक पर बैठा अपना मुँह धो रहा था... चमगीदड़ ने अपने पर की फड़फड़ाहट से लोहे के रीछ को भू-लुण्ठित कर दिया था...बन्दर मेरे हाथ से गिर कर पैर के नीचे पड़ा था, लोमड़ी जीभ निकाले पोथी के ऊपर औंधी बैठी थी...पलंग नंगी-सी पड़ी हुई थी: उल्लू को देखकर मैं स्वयम् लज्जित हो जाती थी... भविष्य में क्या होगा...अगम पण्डित जब रामनगर से लौटेंगे और अपने घर की हालत देखेंगे तो उनके मन का क्या हाल होगा। उनके जीवन की क्या स्थिति होगी यह सब सोच कर मेरा मन उदास हुआ जा रहा था, यह सब सोच कर मेरी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी।

ग्रहों की क्रम गति चल रही थी और उसी के अनुसार सब कुछ हो रहा था। ठीक दो महीने बाद निश्चित समय पर पण्डितजी रामनगर से घर पर आये। इस बार वहाँ से विदाई में उन्हें एक नंगी पीठ का हाथी, दो घोड़े और दो गायें मिली थीं जिसमें से एक के बारे में वह निश्चित धारणा बना चुके थे कि एक उनका पिता होगा और एक माता...और इस संयोग से वह उत्फुल्ल मन हो कर दरवाजे पर पालकी से उतरे। महावत से कहा हाथी खड़ा कर दो...पच कल्यानी घोड़ा—जिसे वह अपना पिता समझते थे—उसका पैर छुआ, कबरी गाय जिसे वह अपनी माता समझते थे, उसे प्रणाम किया और घर में प्रवेश किया। पहले गनपत शास्त्री को दो-चार आवाज लगाई जब कोई नहीं निकला तो खुद घर के बरामदे में गये और दरवाजे पर ताला लटकते देख उनके प्राण सन्न हो गये। ग्रहों का चक्र, लग्न कुण्डलियाँ, योग फल, वर्ष-

फल सब उनके आँखों के सामने नाचने लगे। वह वहीं माथे पर हाथ रख कर पतंजलि के योग सूत्र याद आने लगे और उनके आँखों के सामने ऐसा धुधलका छा गया। काफी सोचने-विचारने के बाद उन्होंने घर छोड़ देने का निश्चय किया। बरामदे से उठकर अगम पण्डित बाहर टहलने लगे। थोड़ी देर बाद भीतर गये। लौह पुरुष के कान उमेठकर बचा-खुचा द्रव्य निकाला और आधा अपने साथ के नौकर को देते हुए बोले..."तुम इन जीवों की रक्षा करना...हाथी-घोड़ा और गाय के खाने-पीने का प्रबन्ध करना, मैं कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहा हूँ"—और पण्डित चले गये। घर में वैसा ही अन्धकार छाया रहा छत पर चमगीदड़ लटकते रहे। लौह पुरुष के मस्तक पर लक्ष्मीवाहन बैठता रहा लोहे के खिलौने यह सोचते रहे, "यह लक्ष्मी-वाहन भी कैसा है जब लक्ष्मी चली गई तब इस घर में आया है कितना मूर्ख है।" लेकिन मैं सोचती...लक्ष्मी के जाने से क्या हुआ, जब तक लक्ष्मी यहाँ रहेंगी तब तक यह ऐसा ही चलता रहेगा...लक्ष्मी न सही उनके रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए उनका वाहन तो है ही और अगर वाहन है तो लक्ष्मी आ ही जायँगी। किन्तु सब से अधिक दयनीय दृश्य तब देखने में आता जब लौह पुरुष के गंजे मस्तक पर लक्ष्मी वाहन अपना चोंच घिसता और इस हरकत से लौह पुरुष अपने मुँह में तमाचा मारने लगता।

गनपत शास्त्री के साथ गौरी ने काशी, हरिद्वार और कलकत्ता इत्यादि की तीर्थ यात्रा की। जब घर पहुँची तो देखा सारा घर उदास था लेकिन घर के सामने एक नंगी पीठ वाला हाथी मस्ती से चारा खा रहा था, दो घोड़ खड़े थे...गाँयों की संख्या में वृद्धि हो गई थी और जब उन्होंने महावत से, सईसों से और नौकरों से पूछा तो पता चला कि अगम पण्डित को रामनगर से लौटे एक महीने हुए और यहाँ पहुँचते ही नौकरों को खर्चा देकर वह स्वयम् कहीं चले गये। गौरी को निश्चय हो गया कि अगम पण्डित घर से निकल गये लेकिन अब वह करती भी क्या। उसने चुपचाप दरवाजा खोला घर में गई और अपने भविष्य के बारे में सोचने लगी क्योंकि गनपत शास्त्री का स्वभाव न जाने क्यों चिड़चिड़ा हो गया था और वह बात-बात पर गौरी के ऊपर क्रोध जताने लगा था। धीरे-धीरे गौरी को भी गनपत के व्यवहार के प्रति बड़ा क्रोध और क्षोभ आने लगा। लेकिन वह यह सारी खीझ प्रदर्शित करके करती भी क्या...अब तो गनपत शास्त्री ही सब कुछ थे, इसलिए वह उनका सारा क्रोध सारा आवेश सहन कर लेती। फूहड़ गाली भी दे देता लेकिन गौरी सब कुछ सहन कर लेती और फिर गनपत शास्त्री की मनौती करती उन्हें प्रसन्न करने के प्रयास में चेष्टा करती। रोज गनपत शास्त्री बिगड़ जाते, नाराज हो जाते और बार-बार गौरी उनसे छलछलाये नेत्रों से क्षमा माँगती।

और इसी प्रकार दिन बिताते गये, समय बीतता गया और छः महीने का काल

पलक करते बीत गया। हाथी-घोड़े अब बँधकर खाने के बजाय जंगल में चराये जाते, गायें निश्चित रूप से चरागाहों में चरने जातीं और उनकी चरही और नाँद खाली पड़ी रहती...उनमें न एक तिनका घास पड़ता और न भूसा और यह सब देख कर गौरी अपने किये पर पछताती और अकेले में अगम पण्डित को याद करके रोती।

उधर अगम पण्डित सन्यास लेने के लिए जब काशी में अपने गुरु के पास पहुँचे तो उनके गुरु ने युवावस्था में सन्यास लेने की सलाह नहीं दी। मगर उचटे हुए मन को गुरु की विवेकपूर्ण शिक्षा भाती नहीं थी, वह चुपचाप सारी बातें सुनकर भी मौन रह जाते और फिर दशाश्वमेध घाट की ओर निकल पड़ते। नहाते-धोते, स्नान-ध्यान करते, विश्वनाथ के मन्दिर में थोड़ी देर रमते और फिर आश्रम में आकर सो जाते। एक दिन जब वह विश्वनाथ के मन्दिर में ध्यान-मग्न थे तो वहीं सदल मिश्र मिल गये। उन्होंने अगम पण्डित का ध्यान भंग करते हुए उनके घर का सारा हाल पूछा और जब बहुत दुःखी होकर अगम पण्डित ने उनसे उनकी साली की सारी कथा कह सुनाई तो सदल मिश्र ने अगम पण्डित को बहुत धिक्कारा और कहने लगे, "न जाने कैसे मर्द हो जी...वह भी कोई मर्द है जो अपनी स्त्री को न वश में रक्खे... तुम जानते नहीं...स्त्रियों में कई गुण और दोष होते हैं...जहाँ वह अधिकार, सत्ता और प्रेम की भूखी होती हैं, वहीं उन्हें कठोर नियंत्रण की भी आवश्यकता होती है... और फिर अपने वाक्य के समर्थन में उन्होने यथासम्भव समस्त वेद-शास्त्रों के प्रमाण प्रदर्शित किये और अन्त में कहा, "सुनो अगम पण्डित अब भी कुछ नहीं बिग्ड़ा है..." बहुत कुछ सुधार हो सकता है बात अब भी बस में है...सब ठीक हो जायगा...घर जावो, अपना घर-बार देखो...गृहस्थी सँभालो"...इसी तरह की अनेक और शिक्षाएँ देकर वह अपने घर चला गया और जब अगम पण्डित आश्रम में लौटकर आये तो एक दिन एक रात इस गहन समस्या पर सोच-विचार करते रहे और अन्त में गुरु से आज्ञा लेकर चन्दनपुर की ओर चल पड़े। घर पहुँचते ही उन्होंने गनपत शास्त्री को घर से निकाल दिया और जब गनपत जाने लगा तो गौरी ने एक टोक भी अगम पण्डित से नहीं कहा और न गनपत की ओर मुड़कर देखा ही...गनपत चला गया। घर में केवल अगम पण्डित और गौरी ही रह गये। अगम पण्डित ने राज-दरबारों में जाना छोड़ दिया केवल घर ही से मन्त्र, पूजा, जाप इत्यादि करवाना शुरू किया। आमदनी कम हो गई। थोड़ा-बहुत ठाठ-बाट में भी हल्कापन आ गया। लौह पुरुष का हाथ कई दिनों तक खाली रहने लगा और साथ से बँधी सन्दूकची के नीचे जंग और सीड़ लगने लगी...घोड़ा और गाय तो जंगल से वापस आ गये लेकिन हाथी जंगल ही में खाने-पीने लगा। इस प्रकार अगम पण्डित का जीवन असाधारण से साधारण, साधारणतर की ओर अग्रसर होने लगा। थोड़े दिनों तक तो अगम पण्डित

और गौरी के बीच मौन व्यवहार रहा फिर उसके बाद बोल-चाल शुरू हुई तो बात-बात में अगम पण्डित व्यंग्य बोलने लगे। गौरी भी व्यंग्य को काफी दिनों तक सहन करती रही लेकिन फिर न जाने क्यों व्यंग्य में वह भी उत्तर देने लगी। वाद-विवाद भी होने लगा और उस बहस-मुबाहिसे में गनपत का भी जिक्र आता और तब गौरी डाँट कर कहती—"तुमसे तो पण्डित संसार में सभी अच्छे है...और खबरदार अब जो गनपत को लगाकर कुछ कहा तो ठीक न होगा...जो कहना हो मुझे कहो...और अगर गनपत और सदल मिसिर को कुछ कहोगे तो मैं बस अपनी जान दे दूँगी...नतीजा कुछ न आयेगा, बँधे-बँधे फिरोगे...मारे-मारे दरवाजे की ठोकर खाओगे, जेल और काला पानी तक हो जायगा..."

—और तब अगम पण्डित चुप हो जाते, मौन हो जाते और फिर ख़ाली कुर्सी पर बैठकर गणित और फलित ज्योतिष का अनुमान लगाने लगते। एक दिन ऐसे ही बहस के बाद वह कुछ गणित-फलित ज्योतिष का हिसाब लगा रहे थे कि किसी ने बाहर से आवाज दी...जब वह बाहर निकलकर आये तो उन्होंने देखा बहुत दिनों बाद "जनाब बरबाद दरियाबादी" वहाँ बैठे हुए थे और पण्डित को देखकर आवेश में बोले—"अमां तुम कैसे पण्डित हो...दो साल पहले तुमने मुझसे पैसे लेकर अनुष्ठान करवाया था, कहा था, साल भर के भीतर मैं एशिया के सबसे बड़े शायरों में गिना जाने लगूँगा लेकिन वाह रे तुम्हारा ज्योतिप आज तक कुछ नहीं हुआ...सारी दुनियां आगे बढ़ रही है और मैं जूँ का तूँ, जहाँ का तहाँ बैठा हूँ...मैं पूछता हूँ पण्डित कहाँ गया ज्तुम्हारा योतिष और उसका हिसाब-किताब।

अगम पण्डित को तुरन्त ही याद आया। आज से कई साल पहले उन्होंने हवल्दार के अनुष्ठान के साथ ही शायर का अनुष्ठान किया था। शायर ने उनसे कहा था कि उसे शायरी से इश्क़ है उसके हुस्न और जमाल के सामने वह किसी भी जिस्मानी हुस्न को हेय समझता है क्योंकि शायरी वह इश्क़ हक़ीक़ी है जिसके तसउफ़ और तखियुल में, जिसके बहर और रदीफों में, काफिया आराई और बन्दिश में, तशबीह और इस्ताअरों के इस्तेमाल में जबान के उतार-चढ़ाव में वह सब मजे आ जाते हैं...वह सब हिद्दतें और शिद्दतें, वह बातें और अलामतें आ जाती हैं जो इश्क मजाजी के कैफ़ वो सुरूर में हासिल होती है", और तब अगम पण्डित मुँह बाये, दाँत निकाले यह सारा भाषण सुन रहे थे। और तब शायर ने पूछा था—"क्या समझे ...कुछ समझे"—तब हकबकाते हुए अगम पण्डित ने कहा था—"हाँ ...आपको चाहे जिससे प्रेम हो...चाहे जिसके प्रति आसक्ति हो...चाहे जो आपत्ति हो...हमारे ज्योतिष में उस सब का नियोग और उपचार है..." और यह सब सुनकर शायर ने डाँटते हुए कहा था—"यह नियोग...उपचार...अचार क्या बला है...मैं यह सब कुछ नहीं

जानता, कान खोल के सुन लो मैं संसार का...एशिया का सबसे बड़ा शायर बनना चाहता हूँ...हर तरह से मैं इसी कोशिश में हूँ...अब तुम बताओ...तुम अपने ज्योतिष से कुछ योग लगा सकते हो...कुछ हिकमत कर सकते हो...।"

और तब पण्डित ने अपना पत्रा खोला, कुछ गुणा-भाग किया और एक अनुष्ठान का नुस्ख़ा बताते हुये यह आश्वासन दिलाया कि साल भर में वह आस्मान पर चढ़ जायगा। एशिया का शायर बन जायगा। किन्तु आज जब वह शराब पीकर बुरी हालत में उनके यहाँ पहुँचा था तो उनको वह सारी बातें तेज़ी से एक बिजली की चाबुक-सी लग कर रह गई थीं।

कुछ दिनों बाद एक बार फिर सौभाग्यवश वही शायर अगम पण्डित के यहाँ आ गया था और उनसे यह जवाब तलब कर रहा था और कह रहा था—

"कल मैं तुम्हारे उस चेले से मिला हूँ व...वही—वही गनपत-धनपत, क्या नाम है उस मरदूद का जो नीम के नीचे बैठकर राहगीरों का हाथ देखता फिरता है? मैंने उससे पूछा था कि हमारे बारे में तुम्हारा पण्डित क्या कर रहा है तो उसने कहा, 'वह अगम पण्डित तो ठग है। उसे ज्योतिष-पोतिष कुछ नहीं आती बरबाद जी, वह तो समाप्त हो चुका है, समाप्त।' "सुना तुमने? तुम समाप्त हो चुके हो पण्डित...तुम्हारी विद्या समाप्त हो चुकी है यानी तुम और तुम्हारा इल्म दोनों ही मुर्दा हो चुके हैं..."

घर में गौरी कुछ क्रुद्ध बैठी थी। पण्डित को देखकर बोली—"देखो पण्डित मैं अब तक तुम्हारी हर बात बर्दाश्त करती आई हूँ लेकिन यह जो तुमने शराबियों का साथ किया है न, वह बड़ा भयानक है। मुझे यह पसन्द नहीं है...तुम्हें इसे बन्द करना होगा।"

"कैसा शराबी...मैं किस शराबी का साथ करता हूँ...यह तो मेरा जजमान था। चाहे यह शराब पिये या भाड़ में जाय, मुझसे इससे क्या..." पण्डित ने कुछ आवेश में कहा।

"रहने दो...रहने दो पण्डित यह पाठ किसी और को पढ़ाना...मैं कहे देती हूँ अगर यह कलमुँहा यहाँ फिर आया तो बस ठीक नहीं होगा..."

बे बात की बात को बढ़ते हुये देख कर पण्डित गौरी की बात अनसुनी कर के चले गये और जब अपने कमरे में पहुँचे तो देखा कि देवगढ़ से सम्मान में मिली हुई तलवार की ख़ोल पर ज़ंग लग गई है। उन्होंने ख़ोल से तलवार निकाली और उसका मुर्चा साफ करने लगे। कपड़े से पोंछ-पाँछ कर उन्होंने तलवार को चमका दिया और वहीं कुर्सी पर...(मेरे ऊपर) रख कर कुछ सोचने लगे। इतने ही में गौरी ने उन्हें खाने पर बुलाया और तलवार वहीं छोड़ वह चौके में चले गये।

भोजन करते समय अगम पण्डित चुप थे लेकिन गौरी बोलती जाती थी।

कभी पण्डित के विषय में, कभी उनकी आमदनी के विषय में, कभी गायों की दुर्दशा पर कभी हाथी के चारे के सम्बन्ध में। पण्डित ने इन में से एक बात पर भी ध्यान नहीं दिया लेकिन वह बात फिर शायर पर आ टिकी और गौरी ने फिर कहा—"यह शराबी आख़िर यहाँ आया क्यों था? मेरे घर उसका क्या धरा है..."

"मैं कहता हूँ अगर वह आया ही था तो इसमें बिगड़ने की क्या बात है?"

"तुम भी तो उसके साथ गये थे..."

"हाँ गया तो था...तू भी तो गनपत के साथ गई थी...कभी मैंने कुछ कहा..."

"मैं कहती हूँ गनपत का नाम मत लो..."

"क्यों? वह तुम्हें बहुत प्यारा है क्या..."

और बस अब गौरी ख़ामोश हो गई। पण्डित के जी में जो भी बाँध बँधा पड़ा था आज टूट गया। उसके जी में जो जो आया उसने कह डाला। गौरी ज़हर के घूँट पीती रही और जब बात बहुत बढ़ गई तो वह उठ कर कमरे में चली गई। उसके हृदय में अब भी कहीं गनपत के लिए कोई स्थान था, कहीं कोई सहानुभूति थी और इसलिए वह उसके ख़िलाफ़ कोई बात भी नहीं सुनना चाहती थी और जो उसके ख़िलाफ़ कहता उसके विरुद्ध हो जाती थी, उसको घृणा करने लग जाती थी। फिर आज तीन साल का समय बीत गया था : पण्डित ने उस दबी हुई आग को ज़बर्दस्ती कुरेद कर रखा था और गौरी विक्षिप्त हो गई थी।...उसका मन और आवेश उसके क़ाबू में नहीं था। स्त्री को सब कुछ सह्य हो जाता है केवल उसको अपनी दुर्बलता का नग्न सत्य ही बुरा लगता है। उससे वह डरती है। विक्षिप्त हो जाती है, पागल हो जाती है। और यही हुआ।... वह आवेश में तलवार लेकर चौके में आ खड़ी हुई। इस अस्वाभाविक आवेश से पण्डित की मुद्रा बदल गई। सहसा खाने पर से ध्यान उठ गया और ज्योंही उन्होंने अपना सर उठाया गौरी ने तलवार का एक भारी वार कर दिया। यह सब घटना कुछ सेकण्डों में हो गई। तलवार भी पण्डित के गले पर न लग कर उनके नाक और गाल पर जा पड़ी और दायीं आँख की बरौनी से बाँये गाल तक एक लकीर-सी खिंच गई। पण्डित वहीं गिर पड़े और बेहोश हो गये। गौरी का आवेश उतर गया। नौकरों ने पण्डित को आकर उठाया और कमरे में लिटा दिया। बात गुम-सुम हो कर रह गई और पण्डित रात भर बेहोश पड़े रहे!

दूसरे दिन उन्हें होश आया। नौकर को बुलवा कर उन्होंने मुझे खिलौनों और अपनी सारी पुस्तकों के साथ, शराबी शायर के यहाँ भिजवा दिया और जब वह लौह पुरुष और सन्दूक़ची को ढूंढ़ने लगा तब गौरी ने कहला दिया कि वह पण्डित को

नहीं मिलेगा और इस पर अगम पण्डित ने कोई आपत्ति भी नहीं की। वह किसी तरह से अपनी चारपाई पर से उठे और घर से चले गये।

और फिर शास्त्रोचित ही हुआ। काव्य शास्त्र के अनुसार परित्यक्ता परकीया नायिका ने संभारी अभिसारी नायक को फिर घर में बोलवा लिया और इस बार जब वह घर आया तो वह अधिक उदार था, मानसिक रोगों से मुक्त था। अब वह गाली-गलौज भी नहीं करता था। नायिका के कथनानुसार और मनोनुकूल ही रहता था। उसने सर्व प्रथम उनके यजमानो के यहाँ सहसा पण्डित के घर छोड़ जाने की सूचना भेज दी और जब उसको इस सन्देह का अंश मात्र भी न रहा कि पण्डित किसी राज्य में आश्रय ग्रहण कर रहा होगा तब उसने अपने को उनका उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और तीन वर्ष तक जो कार्य अव्यवस्थित रूप से चल रहा था उसको फिर से सँभाला और इस प्रकार उसने अगम पण्डित की परम्परा को आगे बढ़ाया।

लोगों का कहना है कि गनपत शास्त्री ने जंगल में स्वतन्त्र विचरते हाथी को बेच दिया और उससे जो पैसा मिला उससे उसने एक पागलखाना बनवाने की योजना बनाई और उस पागलखाना का नामकरण अगम पण्डित के नाम पर करवाया और समस्त रियासतों के राजाओं-महाराजाओं से उस योजना को सफल बनवाने के लिए उचित सहयोग भी मिला। कहते हैं जब उस पागलखाने की नींव पड़ रही थी तब गौरी ने अगम पण्डित को याद करके बड़ा करुण विलाप किया था।...नौकर कहते थे कि दो दिन गौरी ने भोजन नहीं किया और इस से गनमत बड़ा प्रभावित हुआ था।...

लेकिन एक दूसरा मत भी है। लोगों का कहना है कि उस दिन गनपत शास्त्री और गौरी में थोड़ी सख्त-सुस्त बात हो गई थी क्योंकि गौरी अगम पण्डित के नाम एक विधवाश्रम बनवाना चाहती थी और गनपत पण्डित एक गोशाला; लेकिन गोशाला से गौरी को विशेष चिढ़ थी। इसलिए सम्मिलित रूप से गौरी को प्रसन्न करने के लिए गनपत पण्डित ने पागलखाना का सुझाव रखा जिसे कुछ थोड़ी आपत्ति के बाद गौरी ने स्वीकार कर लिया और उसकी नींव डालने के लिए नगर के एक बड़े ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक और दार्शनिक डाक्टर सन्तोषी बुलाये गये जिन्होंने पागलो के सम्बन्ध में इंगलैण्ड और अमरीका जाकर विशेष अध्ययन किया था और जो यह कहा करते थे कि भारतवर्ष के अधिकांश पागल वास्तव में पागल नहीं हैं वरन् वे अर्द्धविक्षिप्त वैयक्तिक कुण्ठाओं के शिकार हैं और वे स्वयं इन सब के इतने बड़े शिकार थे कि कदम-कदम पर, साँस-साँस में वह उसी घुटन में घुटा करते थे।

जिस दिन उद्‌घाटन किया गया उसी दिन अगम पण्डित की एक बड़ी भारी तस्वीर उस जगह टाँगी गई। उस पर काफी फूल-माला चढ़ी, गनपत शास्त्री ने

अपने गुरु के सम्बन्ध में बड़ा लम्बा-चौड़ा भाषण भी दिया। और इस प्रकार चन्दनपुर में एक पागलखाने की भी नींव पड़ गई।

अगम पण्डित कहाँ गये और वह क्या हो गये जो इतना शोर शराबा के बाद भी वापस नहीं आये, इसका क्रम मेरी आत्मकहानी के अन्तर्गत नहीं आता फिर भी अगर इस छोटे से जीवन में वह मुझे कहीं भी मिलते तो मैं उनसे इस विषय में पूछती और उसके आधार पर अगम पण्डित की वर्तमान स्थिति के बारे में भी कुछ बता सकती। लेकिन जीवन की पगडण्डी उस पहाड़ी रास्ते के समान पेच-दार और घुमाव वाली है जो अत्यन्त निकट समाप्तप्राय-सी मालूम पड़ती है लेकिन उसकी क्रम-श्रृङ्खला रहस्य के पर्तों की भाँति एक-एक करके उचटती चलती है। इस-लिये मैं निराश भी नहीं हूँ। कौन जाने किस रूप में और किस दशा मे अगम पण्डित कब और कहाँ मिल जायँ और अगर न भी मिलें तो हमको जितना मालूम है उससे अधिक जानने की आवश्यकता भी नहीं है और न होना ही अच्छा है। शास्त्रों में हमारे प्राचीन ऋषियों ने कहा है—वेद अगम और निगम हैं, ब्रह्म अनादि और अनन्त है, फिर पूर्ण मनुष्य भी तो उसी पूर्ण में से निकाला गया पूर्ण है अगर हम रक्तमांसधारी जीव माया-मोह में लोलुप होते हुए अपने को और अपने जैसे समस्त मानवात्मा को जान लेंगे तो फिर पूर्ण में और हम में भेद भी क्या रह जायगा, इसलिए जितना ज्ञात हो सका है हमें उसी पर सन्तोष कर लेना चाहिये।

किंतु हे लौह पुरुष मैं तुम्हारे चरणों की वंदना करती हूँ क्योंकि तुम विधाता के निश्चय की भाँति अटल हो, तुम्हारी स्थिति उस ज़िद्दी बौखलाये हुये सनकी नेता की भाँति है जो अपनी स्थिति में मग्न रहता है, जिसे अपनी सत्ता के सामने किसी और की सत्ता नहीं पसन्द आती और देखो विधि का लिखा कि जिस फैक्टरी में तुम और यह तीन लोहे के खिलौने ढाले गये हों उसकी कीलें मेरे अन्दर भी ठुकी हैं और मैं एक मसीहा की लाश-सी तुम्हारे सामने पड़ी हूँ लेकिन मैं परिवर्तन से घबड़ाती नहीं बल्कि आज इस स्थान को छोड़ते समय मुझे प्रसन्नता है क्योंकि मैं सदैव नये अनु-भवों को ग्रहण करना एक स्थान पर स्थिर जीवन व्यतीत करने से अधिक श्रेयस्कर समझती हूँ। लेकिन हे स्थितिप्रज्ञ, कर्मवीर, दृढ़निष्ठ लौह पुरुष तुम्हारी इस अडिगता को शत्-शत् प्रणाम...शत प्रणाम...तुम इसी प्रकार मुँह बाये दयनीय दशा में अपनी सन्दूकची से लगे रहो...अपने हाथ से अपने मुँह में थप्पड़ मारा करो...और अपना खोखला पेट भरा करो। हे आकाशवृत्ति विश्वासी! तुमको प्रणाम...शत्-शत् प्रणाम।

मेरा अनुमान है कि जिस दिन गौरी ने अगम पण्डित के ऊपर तलवार का वार किया होगा उस दिन उनके मृत माता-पिता की आत्मा को बड़ा कष्ट हुआ होगा और अगर अगम पण्डित के गणित ज्योतिष के अनुकूल उनके पिता "अश्व" और माता "गऊ" हुई होंगी और वह उनके घोड़साल और गोशाले में बँधी होंगी तो उस रात उन दोनों के मन में जो पीड़ा हुई होगी, जो उनकी मानसिक स्थिति हुई होगी वह कुछ इस प्रकार की रही होगी—लेकिन उसको लिखने के पहले मैं क्षमा याचना चाहती हूँ क्योंकि मैं जो कुछ अनुमान से बताने जा रही हूँ वह अगम पण्डित के निर्धारित सत्यों के आधार पर ही है, इसलिये उस में मेरा कुछ नहीं है और अगर उनके स्वर्गीय माता-पिता कहीं भी मानव योनि में ही इस अनुमान को पढ़ें वह मुझे क्षमा करेंगे क्योंकि यह मैं नहीं बोल रही हूँ, बल्कि उस केन्द्र-विन्दु का विस्तार बोल रहा है जिस पर अगम पण्डित ने अपना जीवन-चक्र स्थापित किया था। उसके बाद अब मैं अनुमान से उनके मानसिक संघर्ष की कहानी कहती हूँ—

गोशाले में एक खलबली थी। अगम पण्डित की कबरी गाय बार-बार उठ-बैठ रही थी। उसकी चिन्ता अधिक बढ़ गई थी और आँखों से आँसू बह रहे थे। वैसे भी अगम पण्डित के नौकर-चाकर उस कबरी गाय से कुछ विशेष प्रसन्न नहीं थे। वे कहा करते थे कि यह तो ठूँठ है, लेकिन अगम पण्डित को यह न जाने क्यों इतनी पसन्द थी कि वह सदैव उसी के बारे में पूछते और अगर इसको चारा-पानी देने में देर होती तो बस बिगड़ जाते—और उस रात जब वह उठ-बैठ रही थी तब उनका बूढ़ा नौकर लाल्टेन लेकर गोशाले में गया। गाय के चारों ओर उसने देखा-भाला, फिर कण्डी लाकर उसने आग सुलगाई और मन में यह

सोच कर खूब धुआँ किया कि शायद गाय को मच्छड़ काट रहे हैं और धुएँ से उसे शान्ति मिल जायगी। लेकिन इस धुएँ से उसकी घुटन और भी बढ़ गई और वह सोचने लगी—

"मैंने कितना बड़ा अपराध किया था जो मेरे जीवन की एक भूल अगम के सारे जीवन को विषाक्त बनाये है। लेकिन भूल तो सबसे होती है और भगवान सब को क्षमा कर देता है, फिर उसने मुझे क्यों नहीं क्षमा किया। उसके बाद तो मैंने सारा जीवन भगवत् भजन और भगवान की उपासना में ही बिताया और अब इस योनि में जन्मने के बाद भी में सन्तुष्ट हूँ क्योंकि आशा करती हूँ कि इस जन्म के बाद मुझे पापों से मुक्ति मिल जायगी; लेकिन अगम के कष्ट को देख कर सहा नहीं जाता...हे भगवान् उसका सारा कष्ट मुझे दे दो और उसे क्षमा करो...अपराध मेरा है, उसका नहीं..."

और गद्-गद् कण्ठ से जब वह यह प्रार्थना कर रही थी तभी भगवत्-ध्यान से उसका ध्यान उचट गया और अपने जीवन-काल की वह घटना याद आई जब माघ मेले में स्नान कर अगम पण्डित की विधवा माँ एक पण्डितजी के यहाँ कथा सुन रही थीं और उसमें यह प्रसंग आया था कि इस प्रकार की स्त्रियों को यमराज के यहाँ क्या-क्या दण्ड मिलेगा और उसी सिलसिले में जिन्दा जला देने से लेकर तेल की कहाड़ी, घी की कड़ाही में तलने और अजगर, साँप, बिच्छुओं के बीच असंख्य डंकों और आघातों के सहने की बात आई थी और पण्डित ने कहा था... "देवियो! इसलिये सदैव अपने धर्म पर रहो, अपना धर्म निबाहो और अपना दूसरा जीवन भी सुखकर करो—" और तभी साल भर के अगम पण्डित जो उस समय तक केवल लम्बोदर, गंगादिहेल और गोबरधन मात्र थे, चिल्ला पड़े। श्रोताओं का ध्यान टूट गया और वह उठ कर चली आई। रात भर मेले की छाउनी में पड़ी-पड़ी उसे वही स्वप्न दिखलाई पड़े, वही यमराज, वही दण्ड, वही अजगर, बिच्छू, साँप। और जब प्रयाग से लौट कर वह चन्दनपुर आई तो उसने सोचा जीवन का जितना बिगड़ चुका वह तो बन नहीं सकता, अब आगे की चिन्ता करनी चाहिये और तब से उसने अपने जीवन को साधना-प्रधान बना लिया। और उनकी साधना में उस समय तक कोई भंग नहीं पड़ा जब तक वह काशी में सीढ़ियों से खिसक कर अन्तर्ध्यान नहीं हो गई। और उस दिन जब जारज पुत्र अगम को तलवार की चोट लगी थी तब उसके यह सब घाव उभर गये थे...और वह रो पड़ी थी...उसके अगम...अगम चिल्लाने से चौकीदार की नींद खराब हो गई थी। वह गालियाँ देते आया था और उसने

दो हण्टर लगाये थे। जिसके बाद वह मन मार कर बैठ गई थी। चारों ओर से धुआँ भर गया था। घुटन का वातावरण था, आँखों से आँसू बह रहे थे लेकिन वह लाचार थी, मजबूर थी। सोच रही थी काश वह ज़िन्दा होती तो गौरी को बता देती कि सास क्या बला होती है...और उसे बहू बनकर रहना पड़ता नहीं तो दर-बदर की ठोकरें खानी पड़तीं।

उसी रात एक और घटना हुई।

घोड़साल में पँचकल्यानी घोड़ा अपना हाथ-पैर पटक रहा था और जब सईस उसे चुमकारने के लिए गया तो उसने एक लात उसकी नाक पर ऐसी जमाई कि वह वहीं औंधा गिर पड़ा। लेकिन फिर भी वह उठा और उठ कर उसने उसके मुँह में कटीली लगाम लगा दी। इस कटीली लगाम का लगना था कि उसकी जीभ छिलने लगी, मुँह से खून मिला हुआ गाज निकलने लगा। नथुने फूलने लगे। कन्पटी से बन्धी हुई चमड़ी चिपकने लगी और थोड़ी देर छटपटाने के बाद वह शान्त हो गया। उसकी आँखें झँप गईं और वह अपने ऊपर क्षोभ-सा प्रकट करने लगा। उसने सोचा—"मैं भी क्या था, आँख का अन्धा, ज़बान का कमजोर ठीक, वही खूब आदत लम्बोदर में भी आई है। मैंने तो किसी तरह अपना जीवन व्यतीत कर दिया; लेकिन इसका जीवन तो भार बन गया है। काश इस समय मैं होता तो अपनी आदत की अवहेलना करके मैं इस गनपत को इतना पीटता कि इसके होश ठिकाने आ जाते। इस दुष्ट ने तो मेरा कुल ही नष्ट कर दिया। कौन मेरे यहाँ पानी पियेगा? वर्णसंकर संतानों का भविष्य क्या होगा...मैं कितना अभागा हूँ जो इस मजबूरी और लाचारी में यहाँ पड़ा हूँ। लेकिन भगवान ने मुझे दण्ड दिया है। मैंने अपने जीवन भर अपनी शक्ति का उपयोग ही नहीं किया, नहीं तो न तो लम्बोदर जारज होता न उसकी माता इस प्रकार स्वतन्त्र होती। लेकिन मुझे तो कुल की लाज रखनी थी। मैं सब जहर पी गया लेकिन आज तो मेरे सामने ही कुल की मर्यादा नष्ट हो रही है। मैं सब कुछ देख रहा हूँ और कुछ भी नहीं कर पा रहा हूँ।" और यह सोच-सोच कर वह रोने लगा और उस रोने में उसकी हिनहिनाहट की आवाज से सईस जग गया। जब वह घोड़-साल में गया तो उसने देखा कि घोड़े की जबान ऐंठी जा रही थी...और मुँह से झाग निकल रहा था। सईस को देख कर उसने अपनी टाँगें फैला दीं और आवाज़ बन्द

कर ली साँसें साध लीं। सईस को लगा घोड़े को कोई बीमारी हो गई है। उसने कटीली लगाम मुँह से निकाल ली और दौड़ा-दौड़ा अपने घर गया। उसने समझा घोड़े के पेट में दर्द हो रहा है, इसलिए बाँस का चोंगा ले आया और उसमें कड़ुआ तेल भर के उसे पिलाना शुरू किया। पहले तो उसने आनाकानी की लेकिन फिर जब दो-चार चाबुक पड़े तो फिर उसने बुत हो कर सब पी लिया। जब वह यह कड़वे घूँट पी रहा था तब उसे न तो अगम की याद आ रही थी और न और किसी की...। उसे केवल कड़वाहट याद आ रही थी। वह कड़वाहट जो उसके जख्मी जीभ पर लग रही थी, जो उसके आँखों में छाई थी और जिससे उसका भेजा तक भन्ना उठा था। जब यह सब हो चुका तो वह उठ कर खड़ा हुआ। खड़ा होते ही उसे कई बार खाँसी आई। कई बार छींक आई। खट्टी डकारें आईं। सईस ने समझा इसका पेट ठीक हो गया लेकिन घोड़े को इतना फ़ायदा हुआ कि उसके दिमाग़ में जो तूफ़ान और बवण्डर उठ रहे थे वह शान्त हो गये। उसे अपनी स्थिति और परिस्थिति भी मालूम हो गई। वह रात भर अपना हरा मिजाज़ लिए खड़ा रहा, बार-बार अँगड़ाता रहा और सईस यह सब देख कर उसे स्वस्थ समझता रहा।

और यह धुआँ, यह कड़वे तेल की कड़वाहट और झाग यह सब वर्तमान सत्य थे। इसको लाँघना उन दोनों के लिए असम्भव था...ज़िन्दगी के चारों ओर हमेशा धुआँ सा फैला ही रहता है। जो निपुण हैं वह जान-बूझ कर इस धुयें को और इस कड़वाहट को अपने समीप नहीं आने देते लेकिन जो केवल चिन्ता करना जानता है वह इस कड़वाहट और धुएँ को अपने समीप बुला लेते हैं और फिर इसी की घुटन में घुट-घुट कर अपना प्राण दे देते हैं।

गेस्ट रूम के लोग और टूटी जिन्दगियाँ

"......सारी जिन्दगी एक ज़ंग लगी हुई निब-सी मालूम पड़ती है। लगता है बरसात की सील ने एक लाल खूनी पर्त निब पर चढ़ा दिया है और यह पर्त जम कर इतनी सख्त हो गई है कि स्याही में लाखो बार डुबोने पर भी उसकी गति और तीव्रता में कोई अन्तर नही आ रहा है। मन में तूफ़ान है—एक भयानक तूफ़ान जो उमड कर सब बन्धनों को तोड़ कर निकल जाना चाहता है—लेकिन इनमें भी मजबूरियाँ हैं—खून की प्यास की—ज़िन्दगी की—और जिन्दगी के ऊपर चढ़ी हुई उस मोटी खाल की जो शायद इतनी मोटी है कि उस पर अब किसी का प्रभाव नहीं पड़ता—तूफ़ान आकर थोड़ी-बहुत गर्द ही जमा जाते हैं बस लेकिन निब की कुण्ठित ज़बान मन को कुण्ठित नही कर सकती—फीकी स्याही सही—अधजला मन ही सही...पसन्द नापसन्द को मै नहीं जानती...मै खोल को चीर कर उसके भीतर जाना चाहती हूँ...काश कि ऐसा हो पाता...उस समस्त तूफ़ान को बटोर कर मैं एक रूप दे पाती...काश......"

सारी ज़िन्दगी एक ज़ंग लगी हुई निब-सी मालूम पड़ती है। लगता है बरसात की सील ने एक लाल खूनी पर्त निब पर चढ़ा दिया है और यह पर्त जम कर इतनी सख़्त हो गई है कि स्याही में लाखों बार डुबोने पर भी उसकी गति और तीव्रता में कोई अन्तर नहीं आ रहा है। मन में तूफ़ान है—एक भयानक तूफ़ान जो उमड़ कर सब बन्धनों को तोड़ कर निकल जाना चाहता है—लेकिन इनमें भी मजबूरियाँ हैं—खून की प्यास की—ज़िन्दगी की—और ज़िन्दगी के ऊपर चढ़ी हुई उस मोटी खाल की जो शायद इतनी मोटी है कि उस पर अब किसी का प्रभाव नहीं पड़ता—तूफ़ान आकर थोड़ी-बहुत गर्द ही जमा जाते हैं बस लेकिन निब की कुण्ठित ज़बान मन को कुण्ठित नहीं कर सकती—फीकी स्याही सही—अधजन्मा मन ही सही...पसन्द नापसन्द को मैं नहीं जानती...मैं खोल को चीर कर उसके भीतर जाना चाहती हूँ...काश कि ऐसा हो पाता...उस समस्त तूफ़ान को बटोर कर मैं एक रूप दे पाती...काश...

इस समय मैं फ़र्स्ट क्लास वेटिंग रूम से हटा कर बगल वाले कमरे में डाल दी गई हूँ। यह कमरा रेलवे के टिकट कलेक्टरों का कमरा है। फ़र्श पर चार-पाँच बेजान टिकट पड़े हुए सारे वातावरण को घूर रहे हैं। इन टिकटों का समय बीत चुका है। यह ज़िन्दा लाशें हैं जो अपना जीवन जी चुकने के बाद तिथियों की थाती अपनी छाती पर लिये अब भी उस भयानक मुर्दे के समान ज़िन्दा है...जो रौंदने और कुचले जाने के बाद भी मिटना नहीं जानते—शायद मिट नही पाते...

बाहर एक लकड़ी का मुर्दार प्लेट लटक रहा है जिस पर "फ़र्स्ट क्लास वेटिंग रूम" ठण्ढे बर्फ़ के अक्षरों में लिखा है। भीतर फ़र्स्ट क्लास के अनुकूल कोई साज़ वो सामान नहीं है। एक काले रंग की बेंच कमरे की दीवाल से लगी हुई पड़ी है, बीच में एक गोल मेज है। कोने में एक आरामकुर्सी (मैं) हूँ जिसकी तीसरी टाँग और

सामने का आर्म टूटा हुआ है। कुर्सी पर एक ऊनी चेस्टर और बैसाखी रखी हुई है। दीवाल से लगे हुए चारों ओर होल्डाल और बकस पड़े हैं। गोल मेज़ की चारों ओर चार कुर्सियाँ हैं जिन पर चार विशिष्ट व्यक्ति बैठे हुए हैं। चारों के पैर मेज़ पर टँगे हैं। वेटिंग रूम में प्रवेश करते ही नज़र मेज़ पर पड़ती है, और मेज़ पर नंगी-नंगी टाँगों के मस्तक पर जूतों और चप्पलों के ताज के सिवा कुछ नहीं दिखाई पड़ता। नागरा...लाँग शू...मिलेट्री बूट...और चप्पल चारो जूतों को देख कर व्यक्तियों के व्यक्तित्व का भी अनुमान लगाया जा सकता है। आजकल ज़माना भी कुछ इसी तरह का हो गया है। जूते के रंग-रूप, चमक-दमक में व्यक्तित्व की झाँकियाँ मिल जाती हैं। दरअसल आज की ज़िन्दगी उस जूते के समान है जो वर्षों तक इस्तेमाल के बाद कूड़े में फेंक दिया जाता है लेकिन जिसके भाग्य में यह लिखा है कि इस तिरस्कृत हालत में भी वह किसी अन्य पिसे हुए 'सोल' से चिपक कर उसकी ज़िन्दगी को थोड़े ही दिन के लिए सही, लेकिन मज़बूत बना दे।

नागरा जूता पहन कर बैठा हुआ व्यक्ति भावुक है। उसका सौन्दर्य बोध, उसकी मान्यताएँ, उसकी कल्पनाएँ सभी कुछ उसके मन की कोमलता से भी अधिक सूक्ष्म है सारा शरीर देखने से लगता है जैसे एक फ़ौलाद की आल्पीन को जबर्दस्ती झुकाकर टेढ़ा कर दिया गया है और मस्तक का सारा भार खुद अपनी कल्पनाओं के बोझ से झुका जा रहा है। उसकी डूबी हुई आत्मा, नशीली, आँखें, बिखरे हुए बाल, माथे पर उलझी हुई रेखाओं की बेतरतीब मिलावट, आदत से लापरवाही, ख्यालों में कुछ मस्ती मगर कुछ-अजीब अहम वाली प्रवृति, न जाने क्यों कमरे में प्रवेश करते ही सबसे पहले आकर्षित कर लेता है...जैसे उसकी इस ठंढी विशृङ्खल अस्तव्यस्त भावना में एक व्यापक अपनत्व हो जो आदमी को बाँध लेता हो और जिसके सम्मुख मुक्ति की सम्भावना निरर्थक सिद्ध होती है।

लाँग शू वाला व्यक्ति बैठा अखबार पढ़ रहा है। लगता है उसे अनावश्यक बातों को जानने की बड़ी उत्सुकता हैं...जैसे मसूरी का आज का टेम्परेचर क्या है? क्वीन एलिज़बेथ के कारोनेशन में हिन्दुस्तानो राजदूत ने शेरवानी पहनी थी कि अँग्रेजी पोशाक, कोरिया की लड़ाई में कितने आदमी मरे, तिब्बत के लामा ने क्या सन्देश दिया है, आगा खाँ का घोड़ा बीमार है, किन मच्छरों के काटने से मलेरिया होता है, और किनके काटने से फाईलेरिया, इत्यादि...इत्यादि...। यह भी सत्य ही है कि उसके हाव-भाव में बाह्य आडम्बर अधिक और वास्तविक श्रद्धा अथवा जिज्ञासा कम। उसके प्रौढ़ और दृढ़ जबड़ों वाले फ्लैट चेहरे पर आर्सेनिक की इन्जेक्शन-ट्यूब की भाँति लेटी हुई नाक और उसके ऊपर एक चौड़े फ्रेम का काला चश्मा, मख़मली कार्टराय का पैन्ट, पिंक रंग की कमीज, कलाई पर

लेटेस्ट माडेल की घड़ी, इन सब का एक सामूहिक प्रभाव पड़ता है जो उत्सुकता और दोनों की मिलित भावना को व्यक्त करता है। शान्ति को समीप लाकर बैठा देता है।

उसके बग़ल में घुटी चाँद और तमतमाते हुये तपे काँसई रंग वाला फौजी अफ़सर है जिसके जूते की पालिश में रोशनी की हल्की-फुल्की फुलझड़ियों के हिलने से न जाने कितनी परछाइयाँ नाच जाती हैं। पिटे हुये काँसे पर काष्ठ प्रतिमा के आकार की भाँति उसके फैले हुये जबड़े उसकी भयानकता और बढ़ा देती है। चाँदी और आबनूस के सूत्र जैसी आँखों में उसकी भावनाहीनता स्पष्ट झलकती है और नाखे की लम्बी फाँक जैसी बेडौल नाक, उसके नीरस और गन्धहीन जीवन की विज्ञप्ति-सी लगती है। ख़ाकी वर्दी है, जिस पर कई स्टार्स लगे हैं और जेब पर एक लम्बी सतरंगी पट्टी लगी है। अधखुले नंगे हाथों पर बड़े घने काले बाल, जिनको दबा कर एक गोल्डेन रिस्ट वाच की सफ़ेद स्ट्राइप कलाई के चारों ओर लिपटी है। भौं पर के बड़े-बड़े बाल बेतरतीब ढंग से खड़े हुये हैं। क्लीन शेव होने के नाते भौंडी नाक की आकृति और सुदृढ़ता से उभर कर अभिव्यक्त हो रही है। सारा वातावरण ख़ामोश है लेकिन उस खामोशी में वह बैठा-बैठा अपने डायरी के पन्ने उलट रहा है। देखने से उसकी मुखाकृति एक शून्य वृत की भाँति लगती थी जिस पर न कोई भावना उभर पाती थी न कोई संवेदना अभिव्यक्त हो पाती थी।

ज़ोला की "नाना" नामक पुस्तक की एक प्रति और कार्नेगी की दूसरी प्रति लिये जो व्यक्ति तन्मयता से फ़ौजी अफसर और लाँग बूट वाले के सामने बैठा है, ऐसा लगता है वह इन तीन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के मिलावट से बना है। अकेले में वह भावुक नागरा वाले की भाँति रहना चाहता होगा, पढ़े-लिखे लोगों के बीच वह अपनी सारी सूचनायें उगल देना चाहता होगा, मौक़ा पड़ने पर फौजी अफसर के जीवन को भी पसंद कर लेता होगा। लेकिन स्वयम् आदर्श, यथार्थ, भावना और सत्य की चोट सहते-सहते अब वह केवल मध्य वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि, समझौता और विद्रोह दोनों के बीच की एक ऐसी स्थिति का शिकार है जहाँ से न तो वह विद्रोह ही कर सकता है न समझौता। स्वस्थ किन्तु अनावश्यक सभ्यता का भार जैसे कन्धों को चपेटे जा रहा है, और शायद इसी भार के कारण उसके सीने का भरा-पुरा ढाँचा उभरने की जगह अन्तर्मुखी-सा हो गया है। छोटे-छोटे बालों के बीच एक पतली माँग, एक पिक रंग का बुश शर्ट और मामूली-सा पैन्ट, पैर में साधारण जूते, मोंछें आधी कटी, में आधी बनी, कालर पर तेल की एक हल्की लकीर और सारा शरीर ऐसा जैसे दो पंक्तियों के बीच एक विराम...जैसे जूते और चप्पल के बीच एक सेंडिल जिसमें जालियाँ अधिक ठोस चमड़ा कम हो।

सभी इस मेज़ के चारों ओर लगी हुई ऑफिस चेयर पर बैठे-बैठे अकड़ गये

हैं। प्रायः उनमें से प्रत्येक कोने पर पड़ी हुई आर्म-चेयर पर बैठना चाहता है लेकिन सब के दिमाग़ में न जाने क्यों यह वहम है कि उस पर कोई बैठा है, इसलिये वह सब के सब चाहते हुये भी उस पर नहीं बैठते, लेकिन जब इधर नजर गड़ा कर देखते हैं तो कुर्सी खाली ही नज़र आती है। उसको देखकर वह यह अनुभव करते हैं कि जैसे उस पर कोई बैठा था जो उठकर चला गया है और कुर्सी ख़ाली-ख़ाली रह गई है। इस रिक्तता को भरने के लिये समझ लीजिये कोई बैठा है। मेरी आत्मा ही बैठी है...जिसने ज़िन्दगी भर सिवा भटकने के और कुछ नहीं किया है। वह जब जहाँ भी जी में आया चली गई, जिनके मन में चाहा बैठ कर उसकी बातें जानने लगी और जिसको चाहा एक पात्र बना कर जाली सिक्के की भाँति चला दिया? किसी को मोम का पुतला बना कर चिराग़ के सामने रख दिया, भरी-पुरी प्रतिमा को किसी काग़ज की पुड़िया बना कर पानी में डाल दिया। लेकिन मैं कोई जादूगर नहीं हूँ। न मेरे ऊपर कोई काला चोग़ा ही है...हाँ एक अनुभूति है, एक संवेदना हैं...एक भावना है, जिज्ञासा है, एक दर्द है...कुछ ऐसा है जो मैं समझती हूँ लेकिन व्यक्त नहीं कर पाती।

मेरे निकट ही एक व्यक्ति और बैठा है। मामूली कुर्ता-पैजामा में सारा शरीर श्वेत रंग-सा ढका है। पैरों में एक सादी चप्पल जो कई बार मोची से सिलवाने के बाद भी उखड़े हुए नशे की भाँति फटफटाया करती है, सिर के रूखे बाल...बेलौस रिश्तेदारों की तरह बहुत नज़दीक मगर बहुत दूर, चिपके गाल उस योजना के शिलान्यास की भाँति जो ऊबड़-खाबड़ दीवारों की सन्धि में टिका हुआ है लेकिन जो आर्थिक कमी के कारण अधूरा ही पड़ा है। आँखों पर एक मामूली चश्मा जो बूढ़े की लकड़ी की भाँति सदैव उसकी उँगलियों के बीच नाचा करता है...

बगल वाले वेटिंग रूम में घायलों की कराहती हुई आवाज़ें छन-छन कर आ रही हैं। औज़ारों की खनक से सारा वातावरण झनझना रहा है...कोई कहता है :

"जनार्दन गार्ड की क्या हालत है नर्स..." और वातावरण शान्त हो जाता है।

"डाक्टर वनडोले...इसे मार्फिया...इसे ग्रेस्टोन...ग्लूकोज का इन्जेक्शन... कैसे आदमी हैं साहब...इतने मोटे-मोटे औजार? जानवरों की हड्डियाँ नहीं तराशनी हैं, ये बेचारे इन्सान हैं इन्सान...।" और फिर वातावरण शान्त हो गया।

"डाक्टर नवाब...आपकी क्या राय है..." असमंजस, द्विविधा जैसे बढ़ती जा रही है।

"आरनीका टू थाउजेन्ड...विल डू...अभी जब तक आपरेशन का सामान नहीं है आप यह दवा तो दीजिए..." जैसे किसी अपाहिज की आवाज़।

और लड़खड़ाती साँस की तरह यह शब्द...

"यह चीखता हुआ बच्चा किसका है? क्यों रो रहा है?" यह प्रश्न जैसे वातावरण पर भारी बन कर छा गया।

"मरीज़ नंबर १० का नाम क्या है?" जैसे किसी ने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी को महज़ एक झटके में अपने से दूर करना चाहा हो।

"नाम बताओ, नम्बर नहीं..."

"नाम महिम है...महिम चौधरी.

इतनी ही नहीं और भी आवाजें छन-छन कर आ रही हैं...लेकिन इस कोलाहल में सभी अज्ञेय हैं और अर्थहीन ध्वनियों-सी केवल गति का बोध कराती हैं अर्थ का नहीं...

एक खटका...

सब की निगाहें बाथ-रूम के दरवाज़े की ओर जाने लगीं। शर्बती आँखें और कपूरी रंग में घुली हुई एक अर्द्धनग्न स्त्री ने कमरे में प्रवेश किया। एक बार बैठे हुए लोगों की ओर देख कर उसने अपने भीगे हुए शरीर को वस्त्रों से ढकना चाहा। उसकी पलकें झपक गईं लेकिन दूसरे ही क्षण वह बड़ी तेज़ी से अपने बक्स के पास आकर खड़ी हो गई। ख़ामोशी से उसने अपना बक्स खोला...एक चाँदी की डिबिया, एक कंघा, एक शीशा और कई शीशियाँ लेकर वह फिर बाथ-रूम में चली गई। जाते समय उसने फ़ौजी अफ़सर की ओर देखा और एक स्निग्ध मुद्रा में उसने अपने ओठ काट लिये। फिर बाथ-रूम में चली गई। बन्द किये गये बक्स पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था..."

"मिसेज़ सन्तोषी, लखनऊ।"

जसवन्त—फ़ौजी अफ़सर—कुर्सी पर से उठ पड़ा और अपनी एटेची से एक शेविंग सेट निकाल कर गोल मेज़ पर आकर बैठ गया। सुराही से एक गिलास पानी निकालते हुए उसने अपनी घड़ी की ओर देखा, फिर सेट से चार-छः ब्लेड निकाल कर मेज़ पर फैलाने लगा। कई ब्लेडों को उसने अपने चुटकी में लेकर धार आज़माने

का उपक्रम किया। तेज़ धार को अँगूठे से छूकर वह एक-एक करके ब्लेडों को अलग रखता जाता। अन्तिम ब्लेड को आज़माने में उसका अँगूठा कट गया। खून निकलते देख कर सब 'च'...'च' करने लगे लेकिन उसने बहते हुए खून को अपने मोटे ओंठों के बीच दबा दिया और ज्बान लगा कर पी गया। फिर निश्चिन्त होकर अपनी दाढ़ी भिगोने लगा। हाथ की अनियन्त्रित तेज़ी के कारण दो-चार छींटें बग़ल में बैठे हुए लाँग शू वाले के पक कमीज के कालर पर जा पड़ा। फ़ौज़ी आफिसर ने स्वाभाविक ढंग से कहा...।

"माफ़ कीजियेगा...।"

"जी कोई बात नहीं..." लाँग शू वाले ने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया और उठ कर कमरे के बाहर चला गया। बाक़ी सभी लोग एक-एक करके कमरे के बाहर चले गये। कमरे में केवल फ़ौजी आफ़िसर ही रह गया। मेरे दिमाग़ में इन सब घटनाओं का खास करके अँगूठा कटने और रक्त चूसने की घटना का बड़ा आतंकजन्य प्रभाव पड़ा। उसकी छोटी-छोटी भिंची-सी आँखें, भौंडी नाक, मोटे-मोटे रक्त पिपासित होंठ जैसे इन सबसे एक मांसल गन्ध आ रही थी। लगा जैसे दुनिया की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना उसके लिए तिनके के समान है जिसे वह यों ही अपने ऊपर से बहा देना चाहता है। वह न तो उन घटनाओं को अपनी मुट्ठी में कसकर रखना ही चाहता है और न उस में डूबना ही चाहता है। यहाँ तक कि पास वाले कमरे के शोरगुल का भी प्रभाव उसके ऊपर नहीं के बराबर पड़ रहा था। शेव कर चुकने के बाद उसने अपनी बन्दूक उठाई। पेटी से कार्तूस निकालकर वह उसमें भरने लगा। जब कार्तूसों से बन्दूक की नली भर जाती तो वह बन्दूक को तोड़ देता और फिर भरी हुई कार्तूसों को नली से निकाल कर मेज़ पर रख देता, घोड़े को बार-बार उठाता-गिराता। एक टिक-टिक की भद्दी आवाज कमरे में गूँज जाती और फिर वातावरण शान्त हो जाता।

सहसा फिर बाथ-रूम का दरवाज़ा खुला। प्रतिभा मेकप करके बाहर आई इस बार वह अव्यवस्थित नहीं थी। पहले से अधिक व्यवस्थित दीख रही थी। आँखो में एक हल्की काजल की लकीर, माथे पर बिन्दी और माँग में सिन्दूर की लाल डोरी दौड़ चुकी थी। बिखरे हुए बाल थे। इस समय उसकी गम्भीरता एक विशेष प्रकार की शोख़ी में डूबी हुई थी। कार्तूस की एक गोली को अपनी मुट्ठियों में दबाते हुए फ़ौजी अफ़सर ने कहा—"तो तुम तैयार हो गई।"

"सो तो मैं कभी की हो चुकी थी...सिर्फ मेकअप की देरी थी।"

"मेकअप करने की या सिन्दूर लगाने की..." कहते-कहते उसने कार्तूस की गोली अपने दाँत के नीचे दबा ली और उसका काग़जी खोल निकालकर फेंक दिया।

अब उसकी मुट्ठियों में केवल ताँबे का एक ठंडा जिस्म था जिसका आकार उसकी मुट्ठियों में दबा-दबा उभरने की चेष्टा कर रहा था। सहसा महिला ने कहा—"जी सिन्दूर भी मेकअप ही है...जिसे मैं केवल इसलिये लगाती हूँ ताकि लोग मुझे वह न समझें जो मैं हूँ...और मैं वही रहूँ जो कि तुम चाहते हो...चाहते आ रहे हो...।

"लेकिन यह नाटक कब तक चलेगा..."

"जीवन भर...शायद अन्त तक..."

इस पर फ़ौजी जसवन्त बड़े ज़ोर का ठहाका मार कर हँसा। उसकी बँधी मुट्ठियाँ खुल गईं। हाथ से कार्तूस की नंगी गोली छूटकर ज़मीन पर गिर पड़ी। उसे लगा वह सारा ठण्डा जिस्म जो अभी तक उसकी मुट्ठियों में था गर्म हो चुका है और उसके हाथ की रेखाएँ पसीज उठी हैं। उसने बड़ी भावुकता से महिला की कलाई पकड़ ली और एक झटके के साथ उसे अपनी ओर खींच लिया। इस सबसे उसका सारा शरीर उसकी गोद में जा गिरा। बाल जिसे उसने कंघी करके खुला ही छोड़ दिया था बिखर गये और उसके पैर ठण्डे कार्तूस के जिस्म को रौंदते हुए लड़खड़ा गया। अन्यमनस्क ढंग से आपत्ति प्रकट करते हुए उसने कहा—

"आख़िर यह क्या है? उस कुर्सी पर कोई बैठा है..."

"कुछ भी तो नहीं है...केवल एक टूटी हुई ख़ाली कुर्सी ही तो है बस..." और इस बार जब प्रतिभा ने गौर से उधर देखा तो कुर्सी सचमुच ही ख़ाली थी, लेकिन कुछ विस्मित होकर उसने कहा—

"लेकिन ऐसा क्यों लगता है जसवन्त...जब से मैं इस वेटिंग-रूम में आई हूँ तब से उस कुर्सी को देखकर न जाने क्यों भय लगती है..."

"तुम और ख़ाली कुर्सी से डरो...क्या बात करती हो प्रीति...औरतें किसी चीज़ से नहीं डरतीं...वह सिर्फ़ अपनी परछाईं से डरती हैं...परछाईं से..."

और यह कहते हुए वह मेरे निकट तक आया। कुछ भी नहीं था। महज़ एक ऊनी चेस्टर जिसकी एक बाँह ग़ायब थी, एक लकड़ी की बैसाखी जो आर्म चेयर पर पड़े हुए विजिटिंग कार्ड पर रखी थी। उसने उसे उठाकर पढ़ना चाहा। एक साँस में बुद-बुद करके पढ़ गया और पढ़ते-पढ़ते उसकी नाक-भौं चढ़ गई।...कुछ त्योरियाँ बदल गईं। कुछ ताप जैसे बढ़ गया, और जब प्रतिभा ने झुककर देखा तो उस पर 'मेजर नवाब' का नाम पढ़कर वह भी विस्मित हो गई। उसने एक बार जसवन्त की ओर देखा और फिर कार्ड की ओर, जसवन्त के आवेश और निरीह विजिटिंग कार्ड के अस्तित्व को समझने में वह असमर्थ-सी थी। प्रतिभा ने जसवन्त के कन्धे पर अपना हाथ रखकर उस कार्ड को अपने हाथ में ले लेना चाहा लेकिन तब तक जसवन्त कार्ड

को अपनी मुट्ठियों में रखकर मोड़ने लग गया था। जैसे वह चौकोर काग़ज उसकी मुट्ठियों में कई कोर बन कर गड़ रहा था। उसे अनुभव हुआ जैसे वह नाम और विजिटिंग कार्ड महज काग़ज का एक टुकड़ा नहीं है, न ही वह कार्तूस की एक खोल है जिसे वह जब चाहे दाँत के नीचे दबाकर फाड़ डाले। वह ठण्ढी कार्तूस भी नहीं है जिसे वह यों ही मुट्ठियों में दबाकर ठण्ढी लाश की व्यापकता को महसूस करके छोड़ दे। उसे लगा जैसे वह उस नाम से जितना ही दूर हटना चाहता है वह उतना ही उसके निकटतम है। वास्तव मे बाहर से वह जितना ही उस नाम को हल्का समझने की चेष्टा कर रहा था वह उतना ही भारी बनकर उसको मुद्राओं पर छाये जा रहा था और तब धीरे-धीरे वह उस ख़ाली कुर्सी के समीप से हटकर गोल मेज की ओर बढ़ने लगा। मेज के पास पहुँचकर उसने विजिटिंग कार्ड को वेस्ट पेपर बास्केट में फेंक दिया लेकिन वह उस टोकरी से अलग जमीन पर जा गिरा और छितुरी हुई पर्तें ठण्ढी फ़र्श पर फैलने लगीं। मरोड़ा हुआ काग़ज चौकोर हो गया। जसवन्त उसको गौर से देखता रहा...जैसे वह कुछ आतंकित हो...कहीं भयभीत हो...आत्म-प्रताड़ित हो...तभी उस मौत जैसी ख़ामोशी को तोड़ते हुए प्रतिभा ने कहा—

"तुम भी तो ज़रा-ज़रा-सी बात में परीशान हो जाते हो...आख़िर क्या है इस कार्ड में ?"

"हूँ, इस कार्ड में कायरता है...बुजदिली और निकम्मापन है...

"लेकिन यह तो हर मर्द मे किसी न किसी रूप में होती है...इसमें डरने की क्या बात है ?"

प्रतिभा के इस वाक्य ने जैसे किसी गहरे मर्म पर चोट किया था। जसवन्त की भौहें चढ़ी हुई थीं। उसने आवेश में अपना होठ काट लिया जिसके कारण रक्त की छोटी-छोटी धमनियाँ दाँतों के नीचे कट-पिस गई थीं। ख़ून की हल्की डोरी होठों पर जम-सी गई थी और वह उद्विग्न-सा कमरे में टहल रहा था।

बग़ल वाले कमरे से इस समय छोटे बच्चे की चीख़भरी आवाजें सारे कमरे में गूँज रही थीं। उस चीख़ और निरीह आवाज़ में जैसे सबको समेट लेने की, डुबो लेने की क्षमता थी। जसवन्त भी जैसे उसी में डूब गया था। जसवन्त मन ही मन सोच रहा था—"वस्तुतः इन चीख़ों में बेबस ही खींच लेने की, अपने मन को डुबो लेने की न जाने कैसी शक्ति होती है...जो जीवन की कठोर से कठोर गाँठों को तोड़ देती

है। चाहे जितना रस हो...चाहे जितनी शक्ति हो...चाहे जितनी ही सहने की क्षमता हो, सब की सब बर्बस ही समाप्त हो जाती है। यहाँ तक कि जसवन्त भी इस प्रकार की चीख़ से सहम गया था। न जाने क्यों उसके जी में आया कि वह वेटिंग-रूम में जाकर उस बच्चे को गोद में उठा ले। उसको थपकियाँ देकर फुसला ले। उसके आँसुओं से भरे कपोलों को चूम ले। लेकिन...लेकिन उसे लगता था उसके ऊपर भी कार्तूस की काग़जी पर्त एक ख़ोल की भाँति चढ़ी है...वह उससे उबर नहीं सकता, उस खोल को फाड़कर फेंक नहीं सकता। जैसे बगल में बैठी हुई प्रतिभा और सामने मेज पर पड़ा हुआ विजिटिंग कार्ड दोनो ही उसे रोक रहे हों। और वह दो में से एक को भी तिरस्कृत करने में असमर्थ हो रहा हो। जसवन्त को सारे कमरे का वातावरण घुटा-घुटा-सा लग रहा था। वह उठकर बाहर चला गया। प्रतिभा भी उसके पीछे प्लेटफ़ार्म पर टहल रही थी।

रात का अन्धकार सिमिटकर वेटिंग-रूम के चारों ओर आ पड़ा था। वेटिंग-रूम में खाली कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। होल्डाल और बिस्तरों से फर्श भरा था। बच्चे की चीख़-पुकार वैसी ही चल रही थी...मरीज़ दर्द के मारे कराह रहे थे और सारा का सारा वातावरण मौत जैसी ख़ामोशी में डूबा था। अब तक ख़ान और नीरू कमरे में आ चुके थे। दोनों में बड़े धीमे स्वर में बातें हो रही थीं...

"देख नीरू...मुझसे अब यह नाटक और नहीं चल सकता...न जाने क्यों मुझे अब घबराहट लगती है...लगता है यह सारा स्वाँग व्यर्थ है...झूठा है...

"ख़ामोश रहो ख़ान...यह वक्त इन सब बातों का नहीं है...बिल्कुल नहीं।"

"लेकिन..."

"लेकिन क्या ? मैं अभी कुछ नहीं बता सकती...अभी तो कहीं भी चलना नामुमकिन है।"

ख़ान चुप हो गया। जैसे यह सारी बातें उसे बहुत बुरी लग रही थीं। इसलिएवह अधिक गम्भीर हो गया। नीरू भी चुप थी, लेकिन उसका संघर्ष स्पष्ट नहीं हो रहा था। वह चुपचाप फ़र्श पर बैठी-बैठी दवाओं के बक्स पर लिखे हुए मेजर नवाब के नाम को अपने नाखूनों से खरौंच रही थी और ख़ान वहीं टाँग फैलाये लेटा था। कभी-कभी वह बोल उठता। नीरू कुछ उत्तर देती और फिर दोनो खामोश हो जाते। खान कह रहा था...

"तुम चाहे जो कुछ कहो नवाब आदमी ख़तरनाक है...वह केवल अपने स्वार्थ की उपासना करता है...उसे न मैं अच्छा लगता हूँ और न तुम !"

"हूँ..."

"और सुनो...बदला तुम्हे भी लेना है...और मुझे भी...तुम्हारा तरीक़ा जो हो लेकिन मै तो सिर्फ़ एक बात जानती हूँ, बदला, बदला होता है...चाहे जिस शकल में हो...चाहे जब हो...चाहे जिस स्थिति मे हो...

नीरू इन वाक्यों को सुनकर ख़ामोश ही थी। फ़र्श पर पड़े हुए कार्तूस की ख़ोल को ग़ौर से देख रही थी। लगता था जैसे कोई लाल चिड़िया फ़र्श पर पड़ी-पड़ी सारी बातें सुन रही थी और इस सुनने से उसका मन कुछ भारी-सा होता जाता था। ख़ान अपनी तेज चाकू की चमकती धार को होल्डाल के चमड़े पर साफ कर रहा था और कहता जाता था...

"फैक्टरी में हड़ताल शुरू हो गई है...कालीनों का बुनना भी बन्द हो चुका है और मैं यहाँ पर पड़ा-पड़ा तुम्हारी बेवकूफ़ियों में उलझा हूँ...आख़िर तुम्हारा मंशा क्या है।"

"कुछ नहीं...अभी मेरी मंशा कुछ नहीं है..."

"मैं कहता हूँ...मौका अच्छा है...भाग चलो...नहीं तो इस अपाहिज डाक्टर की सनक में तुम भी पागल हो जाओगी...पागल...

"और नीरू सुनती जा रही थी...उसे लग रहा था यह ख़ान बड़ा जल्दबाज़ हैं...औरों की तरह यह भी स्वार्थी है...इसमें कुछ भी साहस नहीं है, सहन-शक्ति नहीं है...हर काम को तेज़ी से कर गुजरना चाहता है...चाहता है समय पीछे रह जाय और वह समय के आगे-आगे चले...लेकिन क्यों...आख़िर क्यों...?"

रँगरूट सिपाही भी कहा करता था—

"देख नीरू जिन्दगी का क्या ठिकाना...फिर मैं...मुझे क्या मैं इस घड़ी हू और आने वाली घड़ियों में नहीं हो सकता हूँ...इसलिए जितना भी जीना हो... जितनी जिन्दगी जीनी हो उसे भरपूर जी लेना चाहिये...और..."

खान नवाब से लाभ उठाना चाहता है। इसलिए वह उसका मित्र है।

नीरू नवाब से लाभ उठाना चाहती है...जिन्दगी भर भटक चुकने के बाद अब एक आधार ग्रहण करना चाहती है। इसलिए नवाब की मित्र बनी है...

नवाब खुद अपनी जिन्दगी के साथ न्याय नहीं कर पाता क्योंकि वह दुनिया का रोग देखना चाहता है...चाहता है दुनिया कितनी बीमार है...वह स्वयम् कितना बीमार है...नीरू, खान, जसवन्त यह सब कितने बीमार है। हर बीमारी को कितना अग्रेवेट किया जा सकता है और हर अग्रेवेशन किस मंजिल पर पहुँचकर दवा का काम कर जाता है...वह यह जानता है कि ख़ान भी उसका दुश्मन है...जानी दुश्मन है।... वह यह भी जानता है कि नीरू से उसका मेल-जोल, दोस्ती-दुश्मनी सब एक ऊपरी पर्त है लेकिन नवाब को क्या? वह तो केवल लक्षण देखता है और लक्षण का जहाँ तक

सम्बन्ध है वह यह जानता है कि आदमी के साथ सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसे स्वयम् नहीं मालूम है कि किस क्षण वह देवता का अभिनय करेगा और किस क्षण वह मात्र दानव रह जायगा...महान दानव...

ख़ान अपनी छुरी की धार होल्डाल की पट्टी पर रगड़ रहा था और हर बार उसको यह महसूस होता था कि जैसे उसकी कुण्ठित धार तेज हो रही है...और तेज...बिल्कुल तेज...एक दम तेज...नीरू भी देख रही थी...खान ने कई बार इसी चाकू से उसे ख़रबूजे छील कर खिलाये थे...क़लमी आम की फाँकें खिलाई थीं और यह बताया था कि किस तरह सीमान्त देश में ऐसे चाकू इफ़रात से मिलते हैं जिनका फौलाद इतना पक्का होता है कि वह जब चाहे तो सिर्फ़ चाकू से आदमी की गर्दन तक काट सकती है। और यह ध्यान आते ही उसे ख़ान की भयानक आँखों और मुद्राओं में प्रतिहिंसात्मक आकृतियाँ दिखलाई देने लगी...उसकी भयानक आँखें, प्रौढ़ जबड़े और मोटे होठों के बीच जैसे उसकी गर्दन पिसी जा रही थी और अब वह उससे नहीं छूट सकती थी...बिल्कुल नहीं...उसकी साँस में जैसे अप्रत्याशित धुन बढ़ रही थी और वह जैसे उसकी नरभक्षक उँगलियों के बीच पिसी जा रही थी।...सहसा खान ने कहा—

"मैं कहता हूँ नीरू...मौका अच्छा है...भाग चल...भाग...नहीं तो इस अपाहिज डाक्टर की सनक में तुझे भी पागल हो जाना पड़ेगा...पागल..."

"नीरू फ़र्श से उठ खड़ी हुई और धीरे-धीरे दरवाजे की तरफ बढ़ने लगी... ख़ान चाकू की धार को बायें हाथ की चुटकी में लेकर उठ खड़ा हुआ और सख़्त लेकिन दबी हुई आवाज में बोला—

"तू मुझसे बच कर नहीं जा सकती नीरू...मैं कहता हूँ तू आग से खेलने की कोशिश मत कर...चुपचाप बैठ जा...बिल्कुल चुपचाप..."

और नीरू किंकर्त्तव्य विमूढ़-सी वहीं बैठ गई...काफ़ी देर तक बैठी रही। उस समय तक बैठी रही जब तक खान ने अपनी छूरी की धार को बन्द नहीं कर लिया और छुरी को बन्द करके अपनी जैकेट की जेब में नहीं रख लिया। फिर काफ़ी देर बाद ख़ान धीरे-धीरे उसके पास आया, बिल्कुल पास और एक दम निकट आकर बोला—"हमारे देश चलेगी...सच मान मैं यह सब धन्धा छोड़ कर चला चलूँगा... यह क़ालीन की मिल, यह आग के फूलों का खेल, मैं सब छोड़ दूँगा...नवाब का खून भी नहीं होगा...यह अपाहिज लँगड़ा हूँ..."

नीरू ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह केवल-विस्मित सी ख़ान की बात सुन रही थी...ख़ान जिसके जिस्म से हींग की बदबू आती थी...आँखों से ख़ून की छाया झलकती थी, दाँत जिसमें अनायास ही कच्चे मांस के काटने की आवाज आती थी...

शरीर जिसमें केवल भयानकता थी...जंगलीपन था...जिसकी आवाज में केवल स्वार्थ था...जिसके हर हाव-भाव में केवल एक अतृप्त प्यास, अटूट तृष्णा थी। वीभत्स ताऔर भयानकता थी...और बस। उसके जी में आया कि ख़ान से कह दे कि वह नवाब को छोड़ कर कहीं नहीं जाएगी...उसे नवाब से कोई शिकायत नहीं है। लेकिन उसे फिर पिछली घटना याद आई जब एक बार उसने नीरू के गाल इसी चाकू से तराशे थे... एक भारी घाव उसके जिस्म पर उभर आया था...और जब वह तड़प रही थी और वह ठहाका मार कर हँस कर बोला था...

"ज़िन्दा गोश्त तड़पते देख कर मुझे बड़ी ख़ुशी होती है...तुझे अपने रूप पर नाज़ है देख...मैंने उसे भद्दा बना दिया है...बिल्कुल भद्दा..."

और यह याद आते ही उसके हाथ अनायास ही गाल पर जा पड़े...सूखे जख्मों की गाँठें अब भी उँगलियों में लग रही थीं। लेकिन न उसने उसी समय इसका विरोध किया था और न आज ही कर पा रही थी क्योंकि ख़ान ने उसकी उस वक्त मदद की थी, जब उसने काशी की भारी लाश को जमीन पर पटक दिया था...उसके ख़ून से भरे हाथ को अपने छूरे से काट डाला था...उसके पीठ में चार इंच गहरा छूरा भोंक कर उसका गला दबा दिया था और फिर रातों-रात उसकी भारी लाश को नदी में उठाकर फेंक आया था और जिसकी ख़ुशी में नीरू ने उसे कई-कई उपहार दिये थे और तब यद्यपि खान के शरीर से हींग की बू आ रही थी, उसकी आँखों में ख़ून की छाया झलक रही थी, उसके दाँतों से कच्चे मांस की बू आ रहा थी लेकिन फिर भी उसने कुछ नहीं कहा था...उसकी मजबूत कलाइयों में उसने अपना सारा शरीर दे दिया था और उस रात ख़ान बेहद प्यासा था...बेहद...उसने केवल नीरू को एक ठण्ढा गिलास का पानी समझा था ..." एक ठण्ढे गिलास का पानी जिसे जब प्यास लगी पी लिया, फिर रख दिया।..

लेकिन आज वही ख़ान उसे भयंकर पशु-सा लगता था।...उसे उसके प्रत्येक हाव-भाव और संकेत में केवल एक पाशविक भूख दिखलाई पड़ती थी...महज़ एक विक्षिप्त घृणा दिखलाई पड़ती थी।...वह उस जीवन से अब ऊब चुकी थी।...मुक्ति चाहती थी।...अपने से...अपने चारों ओर के वातावरण से...ख़ान से...काशी से... हवल्दार से नवाब से और स्वयम् अपने से...अपने चारों ओर के जाल से।

इसी बीच पठान कमरे में टहल-टहल कर कुछ बड़बड़ा रहा था...बार-बार कहता था...

"औरत...औरत ज़ात को मैं पहचानता हूँ...मैं जानता हूँ...इनके हाथों में ज़हर और ओठों पर रंगीन चाशनी होती है...चाशनी..."

और जब ख़ान यह बातें कहता था तो उसके ओंठ फड़क जाते थे, दाँत पिस जाते थे और वह अर्द्धविक्षिप्त-सा उद्विग्न और आन्दोलित लगता था। टहलते-टहलते बार-बार नीरू के पास जा कर खड़ा हो जाता, कभी उसके बालों को अपनी मुट्ठी में कस कर ऐंठता...अपनी ओर खींचता और जब वह उसकी ओर लुढुक जाती तो उसे छोड़ देता...फिर उसकी बाँह पकड़ लेता और उसे खींच कर खड़ा करके कहता—

"क्या समझती थी मुझे...मैं काशी नहीं हूँ...मैं सरहदी हूँ सरहदी...जानती है मुझसे अँग्रेज भी डरता था और हिन्दुस्तानी भी और महज़ इसलिए कि हम मरद लोग है मरद..."

नीरू जब ख़ान की यह बातें सुन रही थी तो उसे सिके कवाब की-सी बू लगती थी...लगता था जैसे किसी सिके कबाब के अधकचरे मांस की बू आ रही है... उसकी आँखों में आतंक था और उस आतंक में बेबसी के साथ-साथ कहीं किसी कोने में वह प्रकाश भी था जिसे औरत सदैव सुरक्षित रखती है किसी विशेष अवसर के लिए...किसी महत्वपूर्ण मन्तव्य के लिए और शायद यही कारण था कि नीरू इन तमाम बातों के विपरीत भी कुछ नहीं बोल रही थी...सब कुछ सहन करती जाती थी...सब कुछ स्वीकार करती जाती थी।

ख़ान का आवेश अब भी कम नहीं हो रहा था...वह कहता जाता था..."यह अपाहिज लँगड़ा डाक्टर जो आज दवा बाँटता फिरता है...हर एक की नब्ज देखता फिरता है कुछ कम नहीं है...मामूली आदमी भी नहीं है...लेकिन मेरे चंगुल में इस प्रकार है जैसे शेर के चंगुल में गीदड़...मैं जब चाहूँ तब इसकी गर्दन मरोड़ सकता हूँ...लेकिन मैं इसे ज़िन्दा रखना चाहता हूँ...महज़ इसलिए ताकि यह ज़िन्दगी और इसके तलख़ियों को मजबूर हो कर झेले...ठीक वैसे ही जैसे मैं झेल रहा हूँ...मैं झेलता जा रहा हूँ..."

लेकिन उसकी यह सब बातें कौन सुनता था? नीरू निरीह और आतंकित-सी थी। सारे वातावरण में दर्द का फैलाव बढ़ता जाता था...इतना कि यह सारा क्रोध प्रतिरोध, प्रतिक्रिया और आक्रोश उसके सामने फीका पड़ जाता। पास का वेटिंग-रूम जो छोटा-मोटा अस्पताल का वार्ड बन गया था उसमें वेदना ही वेदना थी...दर्द ही दर्द था...पीड़ा ही पीड़ा थी...और इन सब के बीच एक बच्चे की निरीह चीख़ थी जो बार-बार...दादा...दादा की ध्वनि से वातावरण में प्रसारित हो रही थी...लँगड़ा अपाहिज डाक्टर पूछ रहा था—"कोन है तुम्हारा दादा..." और उसने बच्चे को छोड़ दिया था...बच्चा एक चारपाई के पास जा कर खड़ा हो गया था...नवाब पूछ रहा था—

"क्या नाम है इस मरीज़ का।"

"महिम चौधरी...बेहोश है...बच्चे को यहाँ से उठा ले जाओ..."

यह आवाजें खत्म हो चुकी थीं। इसके आगे डाक्टर नवाब कुछ नहीं कह पा रहा था और बच्चा वैसा ही चीख़ रहा था, सिसकियाँ भर रहा था जैसे यह सारी बातें...वह सारा अर्थ...वह सारा मन्तव्य उसके लिए सारहीन हो...मिथ्या और बिना मतलब के हो...

नीरू भी यह सारी बातें सुन रही थी। सहसा उठ कर खड़ी हो गई और वेटिंग-रूम का दरवाज़ा खोल कर बाहर जाने लगी। उसका एक क़दम बाहर था और एक भीतर और ख़ान उसका हाथ पकड़े खड़ा घूर रहा था जैसे पूछ रहा हो—"कहाँ जाती है...उसी लँगड़े, अपाहिज डाक्टर के पास" और उस मौन वाणी को जैसे नीरू ने समझ लिया हो। कुछ गम्भीर हो कर बोली—

"नहीं...मैं जहाँ चल रही हूँ वहाँ तुम भी चलो...तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं। यह जगह ठीक नहीं..."

और आगे-आगे नीरू चली जा रही थी। उसके पीछे ख़ान था...ख़ान के हाथ में एक बन्द चाकू था...माथे पर पसीने की बूँदें थी और गले में एक लटकती हुई तावीज़ थी। ख़ान गम्भीर था। उसके भारी कदमों में जैसे कोई निश्चय दृढ़ता से घर कर रहा था...सहसा उसने अपने जेब से एक सेब निकाला और चाकू से काटता हुआ धीरे-धीरे प्लेटफ़ार्म की दूसरी ओर चला गया। प्लेटफ़ार्म पर लोग कनफुसियों में कुछ बातें कर रहे थे। कोई कह रहा था—

"कौन है यह औरत...

"फ़ाहिशा मालूम होती है।"

"उसी अपाहिज डाक्टर के साथ है।"

"होगा जी हमें क्या करना है—"

अब अँधेरा हो चुका था। इक्के-दुक्के पैटमैन और पासलबाबुओं के नाल-दार जूते तारकोल के प्लेटफार्म पर खटपट-खटपट करते गूँज जाते थे। बगल वाले कमरे में शोरगुल कुछ कम हो गया था। लगता था रोता हुआ बच्चा सिसकियाँ भरते-भरते सो गया था। इस समय खामोशी भी भयानक लग रही थी

चुपचाप कुर्सी पर से उठ खड़ा हुआ और बन्दूक लेकर बाहर जाने लगा। प्रतिभा भी उसके साथ-साथ चलने लगी। दोनों वेटिंग-रूम से बाहर निकल गये। थोड़ी देर के लिये कमरा खाली पड़ा रहा। केवल वे बक्स ही रह गये थे जिन पर—"जसवन्त, आई० एम० एस०—कैलाश, विनय—अरविन्द, शरद—श्रीमती प्रीति सन्तोषी और मेजर नवाब" के नाम लिखे हुए थे। थोड़ी देर के बाद वेटिंग-रूम का दरवाजा खुला—कैलाश, विनय और शरद ने प्रवेश किया। कुर्सी पर बैठते ही कैलाश ने कहा—

"अजीब नाम है...क्या कोई फ़ौजी अफसर नवाब के नाम का भी हो सकता है।"

"क्यों नहीं...अजीब-अजीब नाम के लोग होते हैं...फिर इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"

शरद हतप्रभ सा सारी बातें सुनता रहा। अब तक उसको कुछ ऐसा लग रहा था कि जैसे मेजर नवाब कोई बिगड़ेदिल नवाब होंगे, दो-चार आवारा मुसाहिब होंगे, पतंग पर गजलें लिख-लिख कर किसी माशूक़ की छत पर गिरा देते होंगे... चलती हुई जबान में दस-बीस गजलें उन्हें याद होंगी...छतर मंजिल, इमामबाड़ा और हसन मंजिल जैसे नामों को सुन कर उनका सिकुड़ा हुआ सीना गज भर का हो जाता होगा। हर महीने पन्द्रह-सोलह तारीख़ को इम्पीरियल बैंक के सामने वजीफ़ा लेने के लिए क्यू में खड़े होते होंगे...शाम को एक बार अपनी मैली चिकन की अचकन पहन कर जूतियाँ चटख़ाते हुए वह अमीनाबाद भी घूमते होंगे...और और...और...

"यह स्टेशन भी अजीब है, किलनर के यहाँ किसी क़िस्म की सिग्रेट नहीं सिर्फ़ स्वदेशी चर्खा छाप बीड़ी है बस..." विनय ने कहा—

"होगा जी...कैसे पत्रकार हैं आप जो एक दिन बिना सिग्रेट के भी नहीं रह सकते..." कैलाश ने प्रतिउत्तर देते हुए कहा।

बात अभी खत्म भी नहीं हो पाई थी कि जसवन्त और प्रतिभा फिर वापस आ गये। पास वाले वेटिंग-रूम में रो-रोकर सोया हुआ बच्चा फिर जग गया था और चीख़-चीख़कर रो रहा था। आधे नींद में डूबे मरीज भी जग गये थे...एक बार फिर से कराहने की ध्वनियाँ चारों ओर गूँजने लग गईं...

"कितनी भयंकर दुर्घटना है...शायद इतिहास में अकेला हो..."

इतिहास की क्या बात है जनाब...आदमी की जिन्दगी आज से ज्यादा इंसी-क्योर तो थी ही नहीं...लगता है जिन्दगी का कोई ठिकाना ही नहीं है..."

"ठिकाना क्या हो...हिन्दुस्तानी हैं...कमबख़्त मरना जानते हैं...हर तरह से मरते हैं...यह भी मरने की एक क़िस्म एक है..."

यह जसवन्त की आवाज़ थी जो सबके कानों में तीर-सी चुभ गई। प्रतिभा ख़ामोश थी। और लोग चुपचाप सुन रहे थे लेकिन जसवन्त कहे जा रहा था...

"एक हल्के से तूफ़ान से डर जाने वाले लोग भी क्या है...सारा गाँव का गाँव, शहर का शहर जलते हुए इन्होंने कभी देखा ही नहीं...यहाँ तो ढूँढ़ने से आदमी की लाश मिल सकती है लेकिन लड़ाई के मैदानों में कौन पूछता है...कमबख़्त चील-कौवे भी नहीं पूछते।"

यह कहता हुआ जसवन्त अपना टिफ़िनकैरियर खोल रहा था। अपने काले लोहे के बक्स से प्लेट्स निकाल कर मेज पर रख दिया और फिर टिफ़िनकैरियर में से एक-एक सामान निकालकर प्लेट मे रखने लगा। प्रतिभा मौन बाहर के कोलाहल में डूबी हुई थी। विनय, कैलाश, शरद सभी अब तक बाहर जा चुके थे। जसवन्त भी इतनी-सी बात कहकर ख़ामोश हो पूड़ियाँ गिन रहा था। चार-छः पूड़ियों को प्लेट में रखते हुए उसने प्रतिभा से पूछा—

"और कुछ चाहिये..."

"जी नहीं।"

—और दोनों खाने में व्यस्त हो गये। जसवन्त के चेहरे पर कोई भाव नहीं था। वह केवल शून्य-सा यन्त्रवत् एक-एक करके सब चीजें खाता जा रहा था। मटन चाँप की हड्डियों को जब वह चूस रहा रहा था और उसकी उँगलियों के चारों ओर उसकी घुटी चाँद, काँसई लोटे के समान गोला मुख अगल-बगल से झुक-झुककर किसी विशेष नृत्य मुद्रा में हिल रहा था और तब ऐसा लगता था जैसे वह समस्त घटनाओं को पीसकर पी जाने की चेष्टा कर रहा हो लेकिन मरीजों, घायलों के कराहने की आवाज थी कि कान के पर्दे फटे जा रहे थे।

अभी खाना समाप्त भी नहीं हो पाया था कि सहसा बन्द बाथ रूम से किसी को चलने की आवाज़ सुनाई पड़ी। कुछ आहटें-सी हुई...कुछ आवाजें बुद-बुदाकर रह गई। प्रतिभा ने पूछा—

"बाथ-रूम में कोई है क्या...

"होगा कोई..." ऐंठे हुए गोश्त को दाँत के नीचे चबाते हुए जसवन्त ने उत्तर दिया, और फिर दाँत में फँसे हुए रेशे जीभ के सहारे निकालने में व्यस्त हो गया। थोड़ी देर बाद ऐसा लगा जैसे कोई बाथ-रूम का टब खोल कर नहा रहा है। जंजीरों के बजने की-सी आवाज़ रह-रहकर सुनाई पड़ती। प्रतिभा ने चौंक कर कहा—"लगता है कोई बाथ-रूम में है।"

"हाँ है तो।"

"लेकिन कौन है।"

"तुम्हारा वहम"—जसवन्त इतनी बात कहकर प्लेट का शोरवा पी गया। तौलिये में हाथ पोंछा और पाइप जलाने में व्यस्त हो गया। प्रीति ने खाने के बाद सारे प्लेट एक जगह रख लिये और फिर बोली—

"बाथ-रूम की लाइट जलाइये तो इन प्लेटों को धो दूँ..."

"रहने दो अब तो गाड़ी का कोई ठिकाना नहीं, कल सुबह तक देखा जायगा।"

प्रीति चुप हो गई। लेकिन उसका ध्यान बाथ-रूम की खट-पट, टुन-झुन की आवाज़ में लगा रहा। आवाज़ बढ़ती जा रही थी। धीरे-धीरे जसवन्त का भी ध्यान उसी ओर जा लगा। वह उठकर जाने ही वाला था कि बाथ-रूम का दरवाजा खुला। चूँ चर मर चर—की तीखी ध्वनि में वेटिंग-रूम का सारा शून्यमय वातावरण डूब गया। जसवन्त ने देखा एक लम्बा-चौड़ा, स्वस्थ बूढ़ा व्यक्ति एक फटा कुर्ता, पाजामा पहने दरवाजा खोलकर खड़ा था। प्रतिभा भयभीत-सी चीखने वाली ही थी कि नवागन्तुक ने हश...ह...श...की ध्वनि से उसे चुप करा दिया। नवागन्तुक के चेहरे को देखकर जसवन्त भी कुछ भयभीत-सा हो गया। उसने बन्दूक उठा ली और डपटकर बोला—

"तुम कौन हो जी..."

"आदमी हूँ...जिन्दा हूँ...कोई भूत-प्रेत नहीं हूँ।" एक दबी हुई सायँ-सायँ की आवाज़ में उत्तर दिया। थोड़ी देर मौन रह कर बोला—"मैं आपसे कुछ नहीं चाहता सिर्फ़ एक मदद चाहता हूँ...मेरे हाथ की यह हथकड़ी आधी से ज्यादा कट चुकी है। आप चाहें तो एक झटके से तोड़ सकते हैं और मैं आज़ाद हो सकता हूँ।" उसने थोड़ा गौर से जसवन्त को देखा और कुछ पहचानते हुए बोला—"कप्तान साहब मैं आप को पहचानता हूँ...देहरादून में मैं आपका हवल्दार रह चुका हूँ...क़िस्मत की बात होती है...आज आप कप्तान हैं और मैं एक क़ैदी..." सहसा उसे याद आया कैप्टन हैवरशाक के कमरे का वह दृश्य...वही हिन्दुस्तानी आफ़िसर काठ की बन्दूक... लोहे के खिलौने...

"तुम्हारा नाम क्या है?" जसवन्त ने पूछा—

"क्या करियेगा भूले हुए दिनों को याद करके...इस वक्त आप मुझे बचा सकते हैं...और काश कि एक बार में बच पाता..."

"लेकिन मैं तुम्हें कैसे बचा सकता हूँ...तुम एक कैदी और मैं एक फ़ौजी अफ़सर...हमारा-तुम्हारा क्या साथ..."

"साथ कौन किसका देता है कप्तान साहब...खुद अपनी जिन्दगी अपना साथ नहीं देती। मेरे पास सबसे बड़ा प्रश्न इस हथकड़ी को काटना है...ट्रेन एक्सिडेण्ट में जंज़ीर तो टूट गई लेकिन यह फ़ौलादी कंगन वैसे के वैसे ही। मैं इसे खोलना चाहता हूँ...सिर्फ खोलना..."

थोड़ी देर जसवन्त ख़ामोश रहा, फिर उसने अपना काला बक्स खोला। बन्दूक़ साफ करने वाले औजारों में कुछ ढूँढ़ता रहा। फिर एक पतली आरी निकाली और हथकड़ी का लगा हुआ हिस्सा रेत कर साफ़ कर दिया और फिर बोला—

"यह लो...लेकिन वेटिंग-रूम से अभी निकल जाओ।"

"आप डरिये नहीं कप्तान साहब...मेरे साथ तीन पुलिस आफ़िसर थे। तीनों मर चुके हैं। किसी को पता नहीं कि मैं मर चुका हूँ या ज़िन्दा हूँ।"

और वह आरी को अपने हथेली पर हल्के-हल्के रेतने लगा। हाथ घायल था। हथेली का रुपये बराबर चमड़ा कटकर लटक रहा था और वह उसे साफ़ कर रहा था।

"कम्बख़्त सर्दी भी कितनी कड़ाके की है...दाँत से दाँत बज रहे है।" यह कहकर उसने रेती मेज पर रख दी। फिर चारों तरफ नजर दौड़ाई और आराम-कुर्सी पर पड़े हुए चेस्टर को उसने उठा लिया। उलट-पलट कर देखने के बाद बोला—

"और इसका तो एक हाथ ही ग़ायब है।" और उसने इत्मीनान से उसे पहन लिया। पहनकर कमरे के तीन-चार चक्कर लगाये...फिर कप्तान से बोला—

"ठीक ही तो है कप्तान साहब! आप इसे ही मुझे दे दीजिये बस..."

"लेकिन यह पता नहीं किसका है?" जसवन्त ने उत्तर दिया।

"उँह...होगा किसी का।" और फिर इत्मीनान से कुर्सी पर बैठ गया। कुछ देर चुप रहने के बाद यों ही अनायास ही बोला—"अब तो आप को कई दिनों यहाँ रुकना पड़ेगा। लाइन ख़राब ही नहीं हो गई है, धँस भी गई है। पुल टूट गया है... साथ ही साथ-आठ डिब्बे नदी में गिर गये हैं।"

प्रतिभा कुछ और आतंकित-सी खीझ कर बोली—

"इससे क्या हुआ...हम लोग डगमगपुर होकर जायँगे।"

"लेकिन डगमगपुर पहुँचकर ११० मील बस से चलना पड़ेगा। बीस मील पहाड़ी तराई का इलाक़ा है...धान के खेतों से होकर पैदल जाना पड़ता है। यह पहाड़ी हिस्सा है मेम साहब...इस तरह सफ़र करना जानजोखम है...जानजोखम..."

जसवन्त निरपेक्ष भाव से सब सुनता जा रहा था। हवल्दार और भी जाने क्या-क्या बता गया। प्रतिभा के दिमाग की घबड़ाहट बढ़ती जा रही थी। हवल्दार बैसाखी लेकर अब टहल रहा था और खट-खट की आवाज फर्श पर बिछी पड़ रही थी। हवल्दार की बेतरतीब बढ़ी हुई दाढ़ी, पिंजर की भाँति ठाटर-सा चौड़ा किन्तु

पोला पिचका हुआ ढाँचा। प्रतिभा को ऐसा लग रहा था जैसे वह किसी भूत-प्रेत की कहानी पढ़ रही हो। तब उसने कहा—

"अगर आप मेरी बात मानिये तो मेरे मकान के पास ठहरिये...किसी से भी रानी तम्बोलिन की दूकान पूछ लीजियेगा...आप विश्वास मानिये...आप को कोई तकलीफ़ नहीं होगी...और वैसे...ख़ैर जाने दीजिये।"

यह कहता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। मेज पर पड़ी हुई हथकड़ी को उसने जेब में रख लिया और लँगड़ाता हुआ वेटिंग-रूम से बाहर चला गया। जसवन्त और प्रतिभा ने वेटिंग-रूम से बाहर निकलकर देखा। लम्बे प्लेटफार्म पर वह इतमीनान से बैसाखी टेकता चला जा रहा था। और यह लोग उसे उस समय तक देखते रहे जब तक वह उतरकर नीचे ओझल नहीं हो गया और तब जसवन्त ने यह अनुभव किया कि उसके हाथ में बन्दूक की ठण्ढी नली सिसकियाँ भर रही है। दूसरे हाथ में कार्तूस एक ठण्ढे जिस्म की भाँति ख़ामोश पड़ी है। उसे लगा जैसे उससे कोई भूल हो गई हो। इस फ़रार कैदी को पकड़कर पुलिस के हवाले करना उसका फ़र्ज रहा हो और उसने उसे पूरा न किया हो और तभी जसवन्त आवेश में आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगा, लेकिन उसका कन्धा प्रतिभा के हाथ से दबा था। वह केवल एक उबाल की तरह उफन कर रह गया...और फिर धीरे-धीरे उल्टे क़दम वेटिंग-रूम में चला गया।

रात का अँधेरापन और गाढ़ा हो चुका था। वेटिंग-रूम में प्रायः सभी सो रहे थे और अगर सो नहीं रहे थे तो बैठे-बैठे ऊँघ रहे थे। सामने वेटिंग-रूम के पास दो पैटमैन बैठे आपस में बातें कर रहे थे। दोनों वही थे जो अभी कुछ देर हुए लाइन क्लियर और सिग्नल देकर अपने-अपने घर चले गये थे। लेकिन फिर गाड़ी का समय जानकर प्लेटफ़ार्म पर बत्तियाँ लिये बैठे थे। उनमें से जो जवान पैटमैन कभी-कभी अजीब बातें करने लगता था, वृद्ध उस पैटमैन की बात पर विशेष ध्यान नहीं देता केवल आपत्ति प्रकट करके ख़ामोश रह जाता है। नवजवान कह रहा था...

"सुना है पुलिस वालों ने इस दुर्घटना से बड़ा फ़ायदा उठाया है...काफ़ी सामान लूटकर अपने-अपने घर ले गये हैं..."

"होगा...मैं नहीं जानता..."

थोड़ी देर तक दोनों मौन रहे। चिलम भी सुलगकर राख होती रही। सिगड़ी में जलते हुए कोयले धीरे-धीरे नीचे उतरते रहे। बूढ़े को रह-रहकर खाँसी आ जाती। उसकी साँस की सायँ-सायँ में जैसे कोई कटुता या कोई अन्तर्निहित वेदना उमस-उमस-कर ऊपर उठ रही थी। वह बहुत कुछ कहना चाहता था लेकिन कह नहीं पा रहा था, और तब उस गम्भीर रुकावट को अनुभव करके नवजवान ने कहा...

"एकदम ख़ामोश क्यों हो गये दादा...इतनी चिन्ता में क्यों पड़ गये।"

"कुछ नहीं, यों ही आकाश की ओर देख रहा था...सोचता था क्या आसमान पर इन बिखरे हुए तारों के भी कान हैं...क्या इनके पास भी आँखें हैं?"

"क्यों? अगर हों तो बुरा क्या है..."

"यही कि यह क्या सोचेंगे आदमी के बारे में...यही न कि इस धरती के रहने वालों में कुछ भी दम नहीं है...अपनी प्यास के लिए ये घायल का जख्म भी निचोड़ सकते हैं..."

और इतना कहकर वृद्ध शान्त हो गया। अब भी जैसे वह पूरी बात कह नहीं पा रहा था। आकाश की बातें, इंसान की बातें, घुटते हुए वातावरण की बातें, अपनी बातें, घायल-ज़ख़्मी अपाहिजों की बातें, जैसे सारी की सारी बातें पराई थीं...उसकी हर एक बात से ऐसा लग रहा था जैसे वह स्वयम् अपने ही से अपरिचित हो...स्वयम् अपने ही को ढूँढ़ने और टटोलने की चेष्टा कर रहा हो...थोड़ी देर बाद अपनी गम्भीर मुद्रा भंग करते हुए बोला...

"मैं नहीं जानता...सुना है स्टेशनमास्टर के यहाँ काफ़ी सामान आया है... और किसका होगा...उन्हीं घायलों और लावारिसों का होगा...इन मुर्दों के साज व सामान से आदमी कब तक अपने को सजायेगा..."

"तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है दादा...मैं कहता हूँ दुनिया हमेशा से यों ही रही और शायद यों ही रहेगी..."

बूढ़ा चिलम पी चुका था। धुएँ को भीतर निगलते हुए कुछ ठहरकर भारी आवाज में किन्तु दृढ़ता के साथ बोला—"पिछली दुनिया ऐसी नहीं थी...मुझे लगता है आज की दुनिया की आत्मा खोखली हो गई है...आज के आदमी का लोहा कुछ कुत्सित और खराब हो गया है...मैंने पिछली दुनिया भी देखी थी...ऐसे लोग नहीं थे...सच मानो...ऐसे लोग नहीं थे..."

इस बार इतनी बात कहते-कहते जब उसने अपनी नजर ऊपर उठाई तो वह एकदम से सिग्नल की लाल बत्ती पर जा टिकी। बत्ती के इस पार, उस पार एक ठह-राव था...एक ख़ामोशी थी जो उदास सिग्नल के पोरों पर बैठी सिसकियाँ ले रही थी। दूर बहुत दूर एक शटल खड़ा-खड़ा साँय-साँय कर रहा था, मालगाड़ी के डिब्बे सूने और ख़ाली सीने लिये, आकाश के सारे तारों को अपने वक्ष में समेट लेना चाहते थे। लाइन क्लियर के लिए खामोश केबिन की खिड़कियों पर धरे हुए लाल रंग के लालटेन और उन पर लटकती हुई झंडियाँ खामोश माथा लटकाये शोक में डूबी थीं और नव-जवान उधर देख-देखकर अपनी आँखें अपने दोनों घुटनों के बीच में धँसा लेता था।

"इस ठिठुरती हुई रात में मौत भी जैसे जकड़ गई है...घायलों में एक नव-जवान आदमी भी है जिसके साथ एक बच्चा है। डाक्टर वनडोले कहते थे उस आदमी के बचने की कोई उम्मीद नहीं है...सोचो तो अगर वह मर गया तो उस बच्चे का क्या होगा...मरते दम तक शायद वह अपना पता भी न बता पाये..."

"कुछ लोग होते हैं बाबा जिनको कुछ न कुछ सोचने के लिए चाहिए। लोग कहते है ऐसे लोगों के दिमाग में एक कीड़ा होता है जो भेजा करौंद-करौंदकर खाता है और इस दिमागी खुजली से बचने के लिए उसके पास कोई चारा नहीं होता। कहते हैं ऐसे लोगों के दिमाग पर फालिज गिर जाती है, फ़ालिज...मैं कहता हूँ दुनिया का ठेका हमने-तुमने नहीं लिया है...फिर क्या...जो मरते हैं उन्हे मरने दो...जो जीते हैं उन्हें जीने दो..."

"हूँ तैं तो बड़ा बतक्कड़ हुआ है रे, पागल, अभी तो एन्ट्रेंस, एफ़० ए० पास करके आया है पैटमैनी में। मैं समझता था पढ़-लिखकर लोगो का दिमाग़ उनकी बुद्धि अच्छी होवै है पर तोसे तौ मैं अच्छा होऊँ...कम से कम कुछ सोचता तौ हौं...

सहसा मरीजों वाले कमरे के बाहर जानवरों का इलाज करने वाला मवेशी डाक्टर वनडोले निकला। दरवाजे के बाहर आकर गम्भीर मुद्रा में बोला...

"अरे कोई है...कहाँ गया बुड्ढा पैटमैन..." और दूसरे ही क्षण वृद्ध अपने काँपते हुए हाथ में लालटेन लेकर सामने खड़ा हो गया। उसका हाथ काँप रहा था... साँस तेज गति से चल रही थी। फेफड़े लोहार की धौंकनी की तरह सायँ-सायँ कर रहे थे...डाक्टर वनडोले कह रहा था।

"देखो पौ फटते ही मुर्दागाड़ी यहाँ आ जानी चाहिये। दो घायल मरीज मर चुके हैं...सुबह अगर यह लाशें हटा नहीं दी जायँगी तो बाक़ी मरीज घबड़ा जायँगे, इसलिए अभी म्युनिसिपैलिटी के दफ़्तर से इन्तजाम कर लो...

और पैटमैन के हाथ से लालटेन गिरकर चूर-चूर हो गई। तेल, बदबूदार मिट्टी का तेल तारकोल वाले प्लेटफार्म पर बह गया। शीशे चकनाचूर होकर बिखर गये और दुबकी हुई रोशनी उस ख़ामोश अँधेरे में जबान ऐंठकर खामोश हो गई। लेकिन दूसरे ही क्षण पैटमैन ने अपने लोहे का लालटेन उठा लिया और बड़ी सावधानी से बोला—

"जो हुकुम सरकार।"

मवेशी डाक्टर वनडोले भीतर चले गये। पैटमैन ने जालीदार खिड़कियों से भीतर की ओर झाँका। सफ़ेद चादरों में लिपटे हुए मरीज़, छाती तक ढँके जिस्मों के बीच मँडराती हुई भयंकर आँखें...और उन आँखों के बीच ढँकी हुई लाशें...मेज़ के ऊपर बैठा अपाहिज डाक्टर नवाब गले से लटकती हुई एस्टिथिस्कोप, बग़ल में मोटी मेटेरिया मेडिका की लाल किताब, ऐसा लगता था जैसे कोई मिट्टी की स्टेच्यू मेज़ पर रक्खी हुई है। पास में सोया हुआ गोरा चिट्टा बालक जो अभी-अभी कुछ क्षण पहले चीख़ रहा था, ख़ामोश सो रहा था और डाक्टर वनडोले काला कोट-पैंट और गोल टोपी लगाये टहल रहा था।

पौ फट रही थी।

आसमान की लाल सुर्ख़ी लोहूलोहान हो चुकी थी। मुर्दागाड़ी लिये हुए वृद्ध पैटमैन वेटिंग रूम के सामने खड़ा था। लोग उस से पूछ रहे थे...

"फिर क्या हुआ ?"

"पता नहीं लोग कह रहे थे कि जब उस लँगड़े, काले चेस्टर पहने हुए आदमी ने शोर किया तो आसपास के लोग जग गये...उस अन्धेरी रात में लोगों ने देखा यार्ड में एक खान की लाश पड़ी थी और वह लँगड़ा आदमी अपनी बैसाखी हिला-हिला कर कह रहा था कि यह लाश वहाँ यों ही ठंडी जमी हुई पड़ी थी...उसके पैर में ठोकर लगते ही उसने देखा कि उसके सामने एक लाश थी...लोग कहते हैं काले चेस्टर वाला व्यक्ति चन्दनपुर का पुराना रहने वाल डाक्टर सन्तोषी था।

"फिर क्या हुआ।"

"लोग कहते हैं एक हवल्दार को हवालात में बन्द कर दिया गया है, खान के हत्यारे का पता न लगने तक हवल्दार ही उसका क़ातिल माना जायगा।"

डाक्टर वनडोले काली मोटी नर्स से कह रहा था...

"महिम चौधरी का पेशन्ट शीट लाश के साथ रख दो...पोस्टमार्टम के वक्त उसकी ज़रूरत पड़ेगी।"

चन्दनपुर से आने वालों की भीड़ स्टेशन पर लगी थी। तरह-तरह का शोर व गुल मच रहा था। लोग उत्सुकता में अनेक-अनेक बातें कर रहे थे और बच्चा चीख़ रहा था...रो रहा था...और अपाहिज डाक्टर अपने एक हाथ से उसकी पीठ थपथपा रहा था...उस बढ़ते हुए शोर में भी बच्चे की चीख़ तैर कर इस पार से उस पार तक पहुँच जाती थी।

लेकिन इस शोर व गुल के वातावरण में डूबी हुई मेरी ठण्डी लाश, मरे ये टूटे पैर, कटे आर्म्स, इनकी असह पीड़ा और वेदना से भरी उन्मन विक्षिप्त मनः-स्थितियाँ आज इस भयानक वातावरण में जैसे जमी जा रही हैं। ये डाक्टर, यह नर्स यह मुसाफिर और उनके अस्त-व्यस्त जीवन...इन सब में कहीं कोई दर्द नहीं है। यह महज़ एक घटना से परिचालित हुये प्राणी है, जो स्वयम् नहीं जीते, स्वयम् नहीं चलते, किसी गति ने उन्हें मोमेन्टम दे दिया है और वे चलते जाते हैं। लगता है ये अपने

को इतना महत्वहीन समझते हैं कि न तो किसी गति के साथ चलना चाहते है और न अपनी परिस्थिति में गति की कोई किरण आने देना चाहते हैं। मौत की घण्टियाँ और सिनेमा की घण्टियाँ इनके लिए समान है। सुना है तड़पती हुई लाश की जेब से पर्स निकालने से लेकर जिन्दा आदमी को मुर्दा साबित करने की चेष्टा तक में मनुष्य की अपनी विशेषता है...इस स्टेशन पर इन घायलों में से कितने ऐसे होंगे जो दुर्घटना से घायल हुये होंगे और कितने होंगे जो दुर्घटना से बच कर भी दुर्घटना के शिकार बनाये गये होंगे...फिर आदमी की तस्वीर कौन सी है...?

मुर्दों के टीले पर बैठा आनन्दोत्सव मनाता हुआ भयानक आकृति वाला... या वह जो एक हाथ में रोटी और दूसरे में छुरा लेकर इधर-उधर हर जगह वीभत्स नृत्य करता घूम रहा है...आदमी की आकृति क्या है...बैसाखी के सहारे चलने वाला निर्जीव अपाहिज़ किन्तु मस्तक पर मेटेरिया मेडिका की बोझ से पिसने वाला डाक्टर था। हर घटना को पीकर केवल अस्तित्व में लीन शराब के नशे में चूर भरी कुरूप नर्स जो उपचार भी करती है तो इसलिए कि वह उपचार के साथ-साथ कहीं सेक्स की विकृतियों में उलझ कर प्रेम के सिनेमा गीत अपने जेब में रखती है...।

आदमी...महज़ एक हाथ में रोटी और दूसरे में छुरा लेकर घूमने वाला ही तो नहीं है...लेकिन जो कुछ इसके अतिरिक्त है वह कहाँ है—किधर है...क्या है...?

शायर और
भूगोल की रेखायें

······ख़ाली शराब की बोतल को अच्छी तरह साफ़ किया और फिर अस्पताल ले जाकर वहाँ से वह उसमें एक बोतल टिंक्चर आइडिन भर लाया। वह शराब की बोतल अब से हमेशा उसी टिक्चर आइडिन से भरी रहती है और जब किसी को कभी कोई चोट लगती है या जख़्म लग जाता है तो हवल्दार उसी बोतल को खोलकर रुई के फाहा को भरे जख़्मों पर लगा देता है और फिर काग से बन्द करके बोतल उसी कार्निश पर रख आता है। अक्सर वह यह भी कहा करता है कि आदमी और जानवर की बीमारियों में कोई फ़र्क़ नहीं होता। दवा भी एक ही सी लगती है, अन्तर केवल अनुपात में होता है। साथ ही साथ वह यह भी बताता है कि किस प्रकार जानवरों में भी कुछ ऐसे होते हैं जिनका मिजाज रहन-सहन यहाँ तक कि बीमारी और दवा भी आदमी की तरह ही होती है। कभी-कभी वह यह भी कहता था कि छूत की बीमारी महज़ आदमी में ही नहीं है...कुछ जानवर भी होते हैं जिनको छूत की बीमारियाँ हो जाती हैं लेकिन वह यह फ़ैसला आज तक नहीं कर सका कि यह बीमारियाँ जानवरों से इन्सान तक पहुँची हैं या इन्सान से जानवरों तक······।

शायरे आज़म बरबाद दरियाबादी जिन्दगी को एक मुरस्सा, कसी हुई एवम् तरकीब और बन्दिशों से पूर्ण रियायत और क़ाफ़ियो के अन्दाज़ में डूबी हुई बेहतरीन ग़जल मानते थे जिसमें जवानी का जोखम और इश्क का मरहम दोनों साथ मौजूद रहते हैं। अपनी तमाम उम्र गजल और जिन्दगी का रिश्ता जोड़ने में उन्होने बिता दी थी। सुविधा और रुचि के अनुसार उनकी परिभाषायें भी बदलती रहती थीं। यहाँ तक की इस रद्दोबदल में उनकी स्वयम् की ज़िन्दगी एक मज़ाक बन गई थी और वह तमाम उम्र ज़िन्दगी के मजाक और तमीज से महरूम ही रहे। नामुरादी का हक़ उन्हें इसलिये नही हासिल हुआ क्योंकि उनकी कसौटियाँ बदलती रहीं, तरजे गुफ्तगू बदलती रहो, आदत और व्यवहार बदलते रहे। इसी नापायदारी ने उनसे उनका सब कुछ छीन लिया और अब वह ज़िन्दगी को एक भोगौलिक मज़ाक मानते हैं जिसका मतलब बताते हुए वह कहते हैं—"क्या एशिया, क्या योरोप इस जुगराफ़िया के नक़शे ने आदमी-आदमी को बदल दिया है। इससे उसकी अहमियत छीन ली है...उसे कहीं का नही रखा है..."

शाम का समय था। अगम पण्डित के यहाँ से जिस मजदूर के कन्धों पर लदकर मैं, लोहे के खिलौनों, और काठ के सन्दूक के साथ शायर बरबाद दरियाबादी के यहाँ आई थी वह उनके मकान के पास सागर पेशे में रहता था। उसकी बीबी ने चौरस्ते पर एक पान की दूकान खोल रखी थी और वह स्वयम् दिन भर घूम-घूम कर चना ज़ोर गर्म बेचा करता था। वह बरबाद साहब को बहुत मानता था क्योंकि जब कभी उसके लटके पुराने पड़ जाते थे, और उसकी बिक्री में कुछ कमी पड़ जाती थी तो शायरे आज़म जनाब बरबाद दरियाबादी उसको एक नया और ताज़ा लटका लिख कर दे दिया करते थे जिससे उसकी बिक्री बढ़ जाती थी। यहाँ तक कि मोहल्ला में पहुँचते ही, कसे हुये

बोलते क़ाफ़ियों को सुनने के लिये बच्चे चारों ओर से आ जाते और वह गा-गा कर सारा लटका सुना जाता—यहाँ तक कि शाम को जब घर लौटकर जाता तो उसके मटके में चने का एक दाना भी नहीं बचता था।

उसकी बीबी भी शायर को बहुत मानती थी क्योंकि शायर ने उसे एक दफ़्ती पर एक ऐसा नुस्ख़ा लिख कर दे दिया था कि जिसको दूकान पर टाँग देने से अब कोई भी उससे उधार नहीं माँगता था और उसको नक़द बिक्री आवश्यकता से अधिक बढ़ गई थी। वह शायर को कई और कारणों से मानती थी जैसे शायर ने उसको उस समय बचाया था जब उसकी रोमांस की कहानी उसके घर वाले यानी चना ज़ोर गर्म वाले को मालूम हो गई थी। उस वक़्त शायर ने अपनी लम्बी-चौड़ी बातों से उस सारी रोमांस की कथा को ऐसा बना दिया था कि उसके पति की सारी शंका जाती रही थी। यही नहीं, उससे चना ज़ोर गर्म वाले को इतना पश्चाताप हुआ कि उसने अपनी बीबी से माफ़ी माँगी और फिर वह दोनों साथ रहने लगे। यों तो शुकराने में उसने शायर को क्या दिया और शायर को क्या मिला यह बात हम लोगों को मालूम नहीं है लेकिन वह दफ़्ती जो उसके पान की दूकान पर टँगी हुई है उससे कुछ कथा का भास मिल सकता है और अक्सर लोग उसका मतलब नक़द-उधार से लेकर शायर और तम्बोलिन के रिश्ते तक खींचने की कोशिश करते हैं।

कहते है एक रोज़ शराब पी कर जब शायर बैठा किसी ग़ज़ल की तख़ैउल में डूबा था तभी तम्बोलिन एक पैकेट कैंची का सिग्रेट लेकर उसके कमरे में दाखिल हुई। बरबाद दरियाबादी को ऐसा लगा जैसे वह किसी तिलस्मी कहानी की नायिका की भाँति उस कमरे में आ गई है, जैसे उसका ख़्वाब, उसका सपना सब का सब एक प्रेम का मधुर राग उक्साने वाली अन्तरा हो और तब उसने निहायत कँपती हुई आवाज़ में पूछा...कौन हो तुम...कहाँ हो तुम..."

"मैं हूँ..."

"तुम...तुम्हारा नाम क्या है..."

और इतनी-सी बात सुनकर वह थक गई थी...पानी पानी हो गई...फिर जब वह कमरे से निकली तो वह खुद एक पाक ग़ज़ल की हस्ती की तरह उतार-चढ़ाव, तरन्नुम और तख़ैयुल के साथ निकली। उसके हाथ में एक काग़ज था जिस पर मोटे-मोटे हर्फ़ों में लिखा था..."हुस्न नक़द, मोहब्बत उधार"—और जिसे उसने अपनी दूकान पर उसी रोज़ टाँग दिया था। कहते हैं जब से यह नुसख़ा उसने अपनी दूकान पर टाँगा उस दिन से उसकी दूकान चमक उठी और वह निश्चय ही अपने पति से कहीं ज़्यादा कमाने लगी। पैसे से भारी होना बहुत बड़ी चीज़ होती है। उसका पति भी इसलिये ख़ामोश रहता है क्योंकि वह भी यही मानता है..."हुस्न नक़द, मोहब्बत

उधार"...और पता नहीं वह इस नक़द और उधार का क्या मतलब लगाता है... लेकिन क़िस्सा कुल इतना है, मतलब के बारे में हम ज्यादा नहीं जानते।

शायर के दोस्तों में से एल हकीमजी थे जो "अर्क़े बेद मुश्क" से ले कर "अर्क़े माओलोहम" यहाँ तक कि "शर्बते झाऊ" की तारीफ़ में बैठे-बैठे दो-चार सौ पन्नों की एक किताब लिख सकते थे। आजकल जब से जनाब बरबाद दरियाबादी की सोहबत में आये हैं उनकी यह कोशिश है कि हिकमत के सारे नुस्खों को ग़ज़ल में बाँध दें ताकि वह ग़ज़ल की ग़ज़ल रहे और नुस्ख़ा का नुस्ख़ा। हकीम रहमत अली की सारी दोस्ती केवल इसी दृष्टिकोण से थी।

दूसरे लोगों में से एक पुराने ज़माने के शायर 'फरहत देहलवी' थे जो अपने को दाग़ देहलवी का समकालीन बताते थे और इस सत्तर-अस्सी साल की उमर में भी वह उर्दू शायरी के तीर ओ कमान, नेजे और भालों के सामने अपना दिल और जिगर देने से बाज़ न आते थे। अभी भी उनको माशूक की शोख़ अदाओं में इतना मज़ा आता था जो किसी नवजवान शायर को मुश्किल से आता होगा। आँख में पतला सुर्मा, बालों में ख़िज़ाब और हाथ में पान की गिलौरी लिए वह रोज़ शाम को बरबाद दरियाबादी के दीवानखाने में तशरीफ़ लाते। मुँह में दाँत एक भी नहीं रह गये थे, इसलिए अक्सर जब बोलते तो लगता जैसे बहुत ही मुरग़न हलुआ खा रहे हैं। लेकिन बोलने से बाज़ नहीं आते थे। जब-तब अपनी पुरानी ग़ज़ल दोहराते हुए कहते..."बरबाद साहब आपके यहाँ न जाने क्यों मुझे वह अन्दाजे बयान नहीं मिलता जिसमें जिन्दगी मुसलसल थरथराती हुई शमा की तरह सरापा इश्क़ का मयार बनकर ढल जाय।" और बस यह स्थल ऐसा होता था कि जहाँ बरबाद दरियाबादी का पारा चढ़ जाता और वह ग़ुस्से से काँपते हुए कहते—"बूढ़े मियाँ मेरे यहाँ उर्दू शायरी को नई जान दी गई है। मुर्दा लाश को ढोने का काम मैंने नहीं किया है।" थोड़ी देर तक इसी तरह चख़चख़ होती रहती और फिर तू-तू, मैं-मैं के बाद बैठक समाप्त होती।

शाम की इन बैठकों में भाग लेने वालों में से स्थानीय मिडिल स्कूल के हेड मास्टर पं० रामसरन उपाध्याय भी थे जो संस्कृत, फ़ारसी के बड़े विद्वान् माने जाते थे और जिनके बारे में कहा जाता था, भारतीय संस्कृति के विषय में इस शहर में कोई दूसरा उनके टक्कर का आदमी नहीं है। पर रामसरन उपाध्याय और बरबाद दरियाबादी में दोस्ती का ख़ास कारण वह अण्डर ग्राउण्ड मिलीटेण्ट क्लब था जिसके कि दोनों बड़े सचेष्ट सदस्य थे। लेकिन जनाब बरबाद दरियाबादी से इनकी भी दोस्ती नहीं निभ पाई क्योंकि पं० रामसरन उपाध्याय को अपनी आलोचना शैली पर उतना ही गर्व था जितना कि बरबाद को अपनी शायरी पर था।

जिन दिनों मैं बरबाद दरियाबादी के यहाँ भेजी गई उन दिनों उन्हें केवल

एक ही धुन थी। उनके सामने केवल एक ही योजना थी और वह योजना यह थी कि वह कैसे एशिया के सबसे बड़े शायर बन जायँ और उनका नाम न सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही बल्कि सारे एशिया में ऐसा चमके जैसे अँगूठी में नगीना, जैसे लामहदूद समन्दर के बीचोबीच एक जज़ीरा और ऐसा जज़ीरा जो तैरता रहे, जिसका कोई स्थान हो...जो कभी इस किनारे पर टिके तो कभी उस किनारे पर टिके, ऐसा नगीना कि जिस पर कभी इसकी परछाईं दिखलाई पड़े, कभी उसकी। सारांश यह कि वह इसी धुन में...एशिया के शायरे आज़म बनने के धुन में...अब ग़ज़लें छोड़कर नज़्में लिखने लगे थे, लटके और आल्हे लिखने लगे थे। एशिया, जापान, चीन की तो कोई बात ही नहीं। इसके अलावा कई कापियाँ लिख-लिखकर रखी हुई थी जिनमें सिर्फ़ शायरी नहीं थी बल्कि अजायबघर के तमाशे भी थे।

बरबाद दरियाबादी साहब कहा करते थे—"जिन्दगी एक ग़जल है, सर से पैर तक तख़ैयुल और तरकीब जिसके क़ाफ़िये मौजूँ होने चाहिए, जिसकी तरकीबें चुस्त होनी चाहिए लेकिन इस सबके साथ ज़िन्दगी एक ऐसी तगज़्ज़ुल है भी जो मजज़ूबियत से भरपूर है, इसलिए ग़जल की तरह ज़िन्दगी में रचाव और सजाव दोनों ही होना ज़रूरी है और इस तरह सोचने का नतीजा यह था कि आज उनकी ज़िन्दगी ग़जल में ढलते-ढलते हज़ल बन चुकी थी। उसकी बन्दिशें बिखर गईं थीं और ज़िन्दगी के क़ाफ़िये तंग आ चुके थे। सारी ज़िन्दगी एक क़ौआली के शोर ओ शराबा हाव वो हल्ला में बदलकर रह गई थी और यही कारण था कि धीरे-धीरे वह जिन्दगी को एक सजी ग़जल न कहकर एक छलकता हुआ लबरेज़ जाम मानने लगे थे, जिसमें साक़ी (चाहे वह तम्बोलिन हो या और कोई)...के हुस्न की झलक और उसके तग़ाफ़ुल, एनायत व करम का फैजयाब दरिया उमँडता हुआ देखते थे। अब तो उस उभार उमंग को वह ज़िन्दगी की ग़ज़ल न मानकर गजल को जिन्दगी की एक देन मानते थे और जिन्दगी को शराब का छलकता हुआ एक प्याला।

बरबाद साहब जब कभी रौ में आते तो यह साबित करना चाहते कि शायरी उनकी खान्दानी विशेषता है और उनके वालिद बुज़ुर्गवार बावजूद इसके कि एक कुर्क़ अमीन थे, उनका असली शौक शायरी ही था और कुर्क़अमीनी के दौरों पर जब वह नीलाम की आवाजें लगाते तो उनके साथ-साथ मीर और हाफ़िज की गजलें भी वह गाते जाते थे जिससे तरफ़ैन को इतमीनान और सन्तोष मिलता रहे। न नीलाम होने वाले को खले और न पैसा लगाने वाले को। यह एक ऐसा माहौल था जिसमें जनाब बरबाद दरियाबादी को शायरी से दिलचस्पी हो गई थी। पहले तो चोरी-चोरी लिखते रहे लेकिन बाप के मरने के बाद खुलकर मैदान में आये और कमरे में बैठ-बैठ कर, शमा जला-जला कर, रज़ाई में गुड़ुर-मुड़ुर लेट-लेट कर, औंधे और चित पड़कर उन्होंने

सैकड़ों गजलें लिखीं और उर्दू शायरी में नये इशक़िया जज़्बात लेकर ऐसा फाट पड़े कि जैसा खुदा की रहमत। रास्ता चलते आदमी से, विद्यार्थी, प्रोफ़ेसर, मजदूर, फेरी वाले से, यहाँ तक कि हर कस वा नाकस से, छेड़-छेड़कर वह अपनी शायरी के जज़्बात, जबान की रवाव, भाषा का कसाव, मुहावरों के प्रयोग, फ़साहत व बलाग़त पर बहस करने लगते। जब कोई उनसे सहमत न होता तो फिर वह चाहे जो हो यानी चाहे वह हकीम रहमत अली हो, चाहे जनाब फरहत देहलवी हों, चाहे हेड मास्टर रामसरन उपाध्याय हो या और कोई हों उससे जूझ जाते। अगर वह हिन्दी का आदमी है तो बस, सूरदास, तुलसीदास तक में वह ख़राबी निकालकर दिखाते और हिन्दी को सैकड़ों ऊँचा-नीचा कहकर शान्त होते। अगर उर्दू का आदमी है तो फिर उर्दू के बारे में भी उसी अन्दाज़ से खरा-खोटा सुनना पड़ता, यहाँ मीर, गालिब, मोमिन भी गंदे और रज-अत पसन्द साबित हो जाते। अगर आप केवल अँग्रेजी जानते हैं तो भी बचकर नहीं जा सकते। जनाब बरबाद दरियाबादी की सारी बात आपको सुनकर ही जाना पड़ता। वह बारीकियाँ वह नुकताचीनी वह निकालते कि तबियत अश-अश हो जाय। यहाँ तक कि शायद फिर आप उनसे बातचीत करने की हिम्मत भी न करे। अगर गाहे-बगाहे कहीं मिल जायँ तो आप कतराकर निकल जाने की कोशिश करें और वह आपके पीछे छड़ी हिला-हिलाकर दौड़ते चले आयें। कुछ लोग ऐसे भी थे जो चौरस्ते पर खड़े होकर उनका लेक्चर सुनते, शराब के नशे में बहसों का मजा लेते शेरवानी के जेबों में हाथ डाल-डालकर यह जितनी भी मुद्रायें बनाते उन सबको देखते, सुनते और रस लेते। यह जानकर और भी मज़ा आता कि यह वह शायर है जिसने इश्क किया है, इश्किया शायरी की है लेकिन अब आज के ज़माने में बदल गया है, इश्क और इश्किया शायरी को एक बोझ समझता है, आशिक और माशूक को एक मजदूर और सरमायादार के रूप में देखता है। और इस तरह बरबाद दरियाबादी की मजदूर वाली शायरी भी सुनते और इस नतीजे पर पहुँचते कि इश्किया शायरी भी कैसे मजदूर वर्ग के उत्थान के लिए बड़े से बड़ा मजाक कर सकती है। ऐसा लगता जैसे इश्क़िया शायरी भी शतरंज की गोटों से कम नहीं होतीं। इनमें वह दम और ख़म होता है जो बरबाद दरियाबादी जैसे शायर एशिया का सबसे बड़ा शायर बनने के लिए पूजा कर सकती है, झण्डे-पताके बिकवा सकती है, महावीर के लँगोटे से लेकर मस्जिदों में सिन्नी तक बँटवा सकती है। और आज बरबाद दरियाबादी को यह पूरा यकीन दिलवा सकती है कि बहुत जल्द दो-तीन साल के भीतर ही वह एशिया के मशहूर शायर हो जायगा, दुनिया उसके कदमों पर लोटेगी और वह उसे एक गेंद की तरह जहाँ चाहेगा ठुकरा देगा।

लेकिन इधर जो बातें चल रही थीं वह कुछ दूसरी दिशा बता रही थीं। हकीम

रहमत अली बरबाद दरियाबादी से निराश हो चुके थे क्योंकि उनको गजल लिखने में शायर ने कोई मदद नहीं दी थी। अर्क़ बेदे मुश्क, जोशान्दा, अर्क़ गावज़ुबान अमबरी और रोग़ने मग़ज़े माही के नुस्खे जिनको वह गजल में लिखना चाहते थे उनको पूरा करने में बरबाद ने कोई मदद नहीं दी थी बल्कि उस हकीम बुजर्गवार का खुल्लमखुल्ला मज़ाक भी उड़ाना शुरू कर दिया था जिन्होंने चन्दनपुर में उनको शायरे वक्त के नाम से स्थापित किया था। हकीम रहमत अली जब अपना दीवान लेकर उनके यहाँ कुछ छोटे-मोटे इसलाह और राय के लिए आते तो पहले उनकी शायरी की तारीफ़ करते हुए बरबाद दरियाबादी उनको काफी उछालते। लेकिन आज उनका मजाक उड़ाना शुरू कर देता और कहता—"अमाँ हकीम साहब माशूक़ कोई नुस्खा नहीं है बल्कि जिन्दगी है...यह जो आप नुस्खों को गजल में लिखवा रहे हैं मेरे बस की बात नहीं, अब आप माफ़ कीजिये..."

इस प्रकार की जब लगातार घटनाएँ घटीं तो हकीम रहमत अली को इससे बड़ी निराशा हुई। अन्त में एक रोज खीझ कर उन्होंने कहा—"लेकिन जनाबेमन यह जो आप अपनी चूमा-चाटी वाली शायरी करते हैं, आख़िर इससे इनसान को क्या फ़ायदा होगा...शायरी इनसान की भलाई के लिए होनी चाहिए, उसको सेहत बख्शने के लिए होनी चाहिए...अगर आप यह समझते हैं कि सेहत से, अदब से कोई सारोकार नहीं तो यह आप की ग़लती है...।"

बरबाद दरियाबादी का यह बात कुछ बुरी लगी लेकिन बजाय इसके कि वह खुद कुछ कहते जनाब फरहत देहलवी साहब ने बीच में कहा—"वाह मियाँ तुमने भी खूब कहा...ज़रा देखो तो मरज़ और बीमारी की बातें, तुम करते हो कि शायर करता है... शायर तो हुस्न और नाज़ की पाक दामनी को कुबूल करके जिन्दगी को तहरीक देना चाहता है...इश्क मजाज़ी से हक़ीक़ी तक ख्वाब देखता है।"

और इसी बीच हेड मास्टर रामसरन उपाध्याय भी बोले..."आपने भी कमाल किया मौलाना शायर के पास हुस्न की पाक-दामनी कहाँ है। वह तो बुतपरस्त है...बुतपरस्त...जिसे काफिर भी कहा जा सकता है और कुफ्र ऐसा कि जो..."

"बस...बस पण्डितजी ख़ामोश रहिये...यहाँ हम कुफ्र और काफिर की बहस करने नहीं बैठे हैं...हमारा मतलब शायरी से है, महज़ शायरी से..." जनाब फरहत देहलवी जब किसी फैसले पर नहीं पहुँचे तो ज़नाब रहमत अली हकीम ने अपने नुस्खों को उठाकर बस्ते में बाँध लिया और जाने की ख्वाहिश से छड़ी लेकर उठने लगे। तब ज़नाब बरबाद दरियाबादी ने डाँटकर कहा—

"जाता कहाँ है...पहले यह बताये जा कि शायरी क्या है नहीं तो..."

अब क्या था। जनाब हकीम साहब को तो पसीना आ गया। मन में सोचा अबकी

बार अगर मुसीबत से बच जाऊँ तो फिर शायरी का नाम तमाम ज़िन्दगी नहीं लूँगा। लेकिन क्या करते जनाब फरहत देहलवी भी शराब पी चुके थे। हकीम साहब ने भी एक जाम पिया था। पण्डित रामसरन ने भी काली के नाम पर दो घूँटें प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लिया था—इसलिये वहाँ से उठ जाना और बेचारी शायरी को यों ही जनाब बरबाद दरियाबादी के दरवाजे पर तने तनहा छोड़ देना मुश्किल था और इसी धुन में बात बढ़ती जा रही थी। पण्डित रामसरन उपाध्याय अपनी बात वापस नहीं ले रहे थे। बरबाद दरियाबादी इस बात पर तुले थे कि हकीम रहमत अली, फरहत देहलवी और पण्डित रामसरन उपाध्याय सब अपनी बात वापस ले लें। लेकिन बात पर बात बढ़ रही थी। पण्डित रामसरन कह रहे थे—

"मैं तो डंके की चोट पर कह सकता हूँ कि आपकी शायरी बुतपरस्ती है... बुतपरस्ती थी और बुतपरस्ती रहेगी..." रामसरन उपाध्याय ने कहा—

"नहीं साहब आपकी शायरी इस बात का सबूत है कि जनाब बरबाद दरिया-बादी दिमाग़ी तौर से सेहत को शायरी में कोई जगह देते...इन्सान के फौलाद को बचाने के बजाय उसे गलाने में मदद नहीं देते हैं।" हकीम साहब अपना दावा पेश कर रहे थे।

और फरहत अली देहलवी कह रहे थे—"अदब और शायरी इन्सान के ज़मीर से उठती हैं। खुदा की देन है। इसलिए शायरी न तो कुफ्र है और न सेहत की बकवास, वह एक आलम है जो किसी तरह ख़त्म हो गया लेकिन असलियत थी कि जनाब बरबाद दरियाबादी में कुछ खास बातें थीं। पहली तो यह कि वह ऐसे शायर थे जिनका कोई उस्ताद नहीं था और न वह दक़ियानूसी इसलाह को ही अच्छा समझते थे। दूसरी विशेषता यह थी कि वह निहायत भद्दे और कुरूप थे, फिर भी वह इस चीज़ के मुशताक़ थे कि वह खुद किसी से इश्क न करें बल्कि कोई और हो जो उनसे इश्क करे और आकर वह हाथ जोड़कर यह कहे कि ऐ शायरे आज़म मैं आपसे इश्क करता हूँ और इस तरह माशूक बनकर भी वह आशिक बना रहे। वह अक्सर यह भी कहा करते थे कि "साहब मैं तो कम से कम इश्क और प्रेम के मामले में ज़रा औरत मिज़ाज हूँ।" इस औरत मिज़ाज़ की व्याख्या करते-करते वह जाने क्या-क्या कह जाते।

तीसरी बात जो बरबाद दरियाबादी की विशेषता थी वह यह कि वह रोज़ शाम को अपनी उस बीबी से तंग आकर शराब पीने का बहाना सोचते थे जिसे वह केवल बेहिस व हरकत वाला जीव अथवा मांस की गठरी मानते थे और जो कई माने में शायर से हसीन थी लेकिन जो निश्चय ही शायर की तरह बकवासी और फिजूल गो नहीं थी। अक्सर शाम को वह चन्द स्कूल कालेज के लड़कों को, डाकखाने के मुंशी को या मवेशी डाक्टर वनडोले को, एक मज़दूर नेता को या स्थानीय मिडिल स्कूल के

हेड मास्टर रामसरन उपाध्याय को अपने साथ बैठा लेते और तब, आजकल की पढाई से लेकर जदीद दौर की शायरी तक, पुराने मास्टरों के स्केच से लेकर नये दौर के अप्टूडेट मास्टरों तक के छिछले ज्ञान का मज़ाक उड़ाते और मेरी छाती पर एक वज्र की तरह बैठे-बैठे हर सच को झूठ, हर झूठ को सच, हर उदासी को खुशी और हर खुशी को उदासी की बातों में बदलकर नये ढंग और नये अन्दाज़ से बयान करते। बीच-बीच में ज्वार, बाजरे के भाव की भी बात आ जाती, कुछ चुटकुले आ जाते और प्रगतिशील तत्वों की बुनियादी बातें, भाषा विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सभ्यता-संस्कृति और काव्य के रूपों की बातें भी मौक़े-मौक़े से आतीं और चली जातीं। जब उसका नशा अपने चढ़ाव पर होता तो वह सबको, उन सबको जो वहाँ बैठे होते गालियाँ सुनाता और उनको बेवकूफ़ और जाहिल की उपाधि देकर जब मीटिंग खत्म करता और सब अपने-अपने घर चले जाते, तो रात भर वह पछताते लेकिन सुबह होते ही अपना उतरा हुआ मुँह लेकर सब के घर जाता, माँफी माँगते और इस तरह उसकी महफिल रोज टूटती और रोज बनती। रोज़ बहस-मुबाहिसे होते और रोज खत्म होते लेकिन वह वैसा ही रहता, न तो उसमें कोई तबदीली आती और न कोई फ़र्क़!

जनाब बरबाद दरियाबादी की एक और खासियत थी और वह यह कि इनको दो चीज़ों की खास धुन थी, एक तो वह भाषा को सुधारना चाहते थे, उसमें निखार और सजाव को लाना चाहते थे और दूसरे उनके ऊपर संस्कृति शब्द का इतना बड़ा आसमान टूट पड़ा था कि उसको सँभालने मे उनके अक़्ल के कल-पुर्जे घिसे जा रहे थे, ढीले पड़ रहे थे लेकिन फिर भी वह आसमान उनके सर से नहीं टलता था और वह इसी कोशिश में किसी हद तक सनकी क़रार दे दिये गये थे। अब इस ढलती उमर में उन्हें महज़ भाषा, संस्कृति, शान्ति और शराब की ही धुन थी। इन सबकी धुन उन्हें महज़ इसलिए थी, क्योंकि वह यह समझते थे कि इसी के माध्यम से वह एशिया के सबसे बड़े शायर और साहित्यिक मान लिए जायँगे। चन्दनपुर की छोटी-छोटी सभाओं में भी वह मौक़ा ढूँढ कर तक़रीर देने के लिए जाते और दुनिया के अहम मसलों के मुँह पर थप्पड़ मार कर चले आते। घर पर आकर लाल परी छाप शराब पीते कुछ गाली-गलौज करते और फिर सो जाते। सुबह उठकर नियम से माफ़ीनामा लिखते, दो-एक ग़ज़लें लिखते और फिर रोज़ाना उसी शग़ल में शामिल हो जाते।

हम चार जीव जो अगम पण्डित के यहाँ से बरबाद दरियाबादी के यहाँ आ ठहरे थे और जो वहाँ के धुयें और कड़वे तेल के वातावरण से निकल कर अब इन किताबों से भरी जगह में आ गये थे काफ़ी गम्भीर हो गये थे। सबसे ज्यादा परीशानी

गीदड़ और बन्दर को थी क्योंकि मैं तो हर परिस्थिति में रहने की आदी हो चुकी थी और मेरे लिए इस पतिवर्तन का कोई विशेष महत्व भी नहीं था। यह संसार है, यहाँ की भिन्नता में ही एकता देखना हमारा फर्ज है और मैं अपने उस कर्त्तव्य को खुशी से निभाती जा रही थी लेकिन यहाँ पर मैं यह देख रही थी कि आज के ज़माने की सारी विद्वता केवल बकवास में केन्द्रित हुई जा रही है और हर शख़्स अपनी अहमियत और अपना महत्व किसी नई परिभाषा को ढूँढ़ निकालने में अथवा कोई बेसर-पैर की बात कह देने में ही समझता है और आज के लोग भी ऐसे हैं कि इन बेसर-पैर की बातों में ज़रूरत से ज्यादा दिलचस्पी लेने लगते हैं। कुछ दिनों शहर में आये एक नये दार्शनिक महोदय से जनाब दरियाबादी की मुलाक़ात हो गई थी और उन्होंने अपनी सारी किताबें उन महोदय को जानने और समझने के लिए दी थीं ताकि वह उनको ध्यान से पढ़कर जनाब दरियाबादी का "जीवन दर्शन" क्या है इस पर एक किताब लिख दें और उसमें यह भी दिखलाने की कोशिश करें कि ख़ासकर मानव-संस्कृति के प्रति उन्होंने जो नज़्में लिखी हैं उनका इस नये दौर में क्या महत्व है। बात यों शुरू हुई कि एक रात को बारह बजे के क़रीब जब मिडिल स्कूल के हेड मास्टर पण्डित रामसरन से उनकी बातचीत हो रही थी और अपने परिवर्तित विचारों के अनुकूल हेड मास्टर साहब उर्दू शायरी में प्रस्तुत बुतपरस्ती के विरोध में अपने समस्त विचार प्रकट कर रहे थे। जनाब बरबाद साहब बुतपरस्ती के पक्ष में अपने सभी विचार कुर्सी पर हाथ पटक-पटक कर प्रकट कर रहे थे और बात-बात में स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि बरबाद साहब हाथ में छड़ी लेकर हेड मास्टर रामसरन की ओर लपके और हेड मास्टर साहब अपनी जान बचा कर कमरे से बाहर निकल आये और तब जनाब बरबाद अपने बरामदे में खड़े होकर उनको गालियाँ दे-दे कर कहने लगे :—

"आ मरदूद...कमबख़्त काफिर कहीं का...बुतपरस्ती का मोख़ालफत करता है...बुतपरस्ती ही तो शायरी का जान है..." और हेड मास्टर रामसरन उसके हाते के बाहर खड़े होकर कह रहे थे—"बस जनाब अब अपनी हद ही में रहियेगा... अगर आगे क़दम बढ़ाया तो मैं जान ही ले लूँगा, आप जानते नहीं, अभी आप का पाला मेरे गुस्से से नहीं पड़ा है हाँ..."

और इसी बीच बारह बजे रात को चाँदनी समझ कर डाक्टर सन्तोषी टहलने के लिये जा रहे थे। रात चूँकि चाँदनी थी और घड़ी में बारह बज कर बीस मिनट थे इसलिये उन्हें वह चार समझ पड़ा और घर से निकल पड़े। सन्नाटी सड़क और जाड़े की रात थी, अभी-अभी फ्रायड के मनोविश्लेषण की पुस्तक में "इड" पर किसी प्रसिद्ध अँग्रेजी प्रोफेसर की नवीनतम व्याख्या पढ़ कर वह निकल पड़े थे और उनके दिमाग़ में

वही सब घटनाएँ और वही सब सिद्धान्त गूँज रहे थे कि सहसा इन दो व्यक्तियों की आवाज़ सुनाई पड़ी। पाजामा सरकाते और हाथ में छड़ी लिये बरबाद दरियाबादी अब अपने बरामदे से उतर कर हाते में आ चुके थे और छड़ी तान-तान कर कह रहे थे—"अबे कमीने बदज़ात मुझे ताव दिखाता है, समझता है कि तेरे कहने से मैं हाते के बाहर आ जाऊँगा...मैं कहता हूँ मैं इतना बेवकूफ नहीं हूँ...तेरे अन्दर हिम्मत हो तो हाते के अन्दर आ जा..."

सन्नाटी रात में कुत्ते तेज़ी से भूँक रहे थे। चारों ओर घरों में लोग इस चख़-चख़ से जग गये थे और मोहल्ले वाले इस रोज़ की तू-तू मैं-मैं से परीशान हो गये थे। वह इस बात की कोशिश भी कर रहे थे कि किसी तरह बरबाद दरियाबादी से उनका पिण्ड छूटे क्योंकि उनके यहाँ आये दिन एक न एक वितण्डावाद खड़ा ही रहता था, यहाँ तक कि हर रोज़ किसी न किसी से उनकी गुत्थम-गुत्था हो ही जाती थी। इधर यह शोर-शराबा देख कर डाक्टर सन्तोषी पास में जाकर बड़ी नम्रता से बोले—"अरे साहबान यह सुबह-सुबह आख़िर आप लोग झगड़ा-फसाद में क्यों लगे हैं...कुछ काम की बात सोचिये...कुछ काम की बात करिये, आखिर इस झगड़े और बहस-मुबाहसे से क्या फ़ायदा।"

डाक्टर सन्तोषी की यह बात सुन कर बरबाद कुछ चौंका और बोला..."क्यों साहब आप कहाँ से तशरीफ ला रहे हैं, न तेरह में न तीन में...बारह बजे को सुबह बताने-वाले...कौन से ख़लल दिमाग़ साहब हैं आप...।"

"मालूम होता है कि आप नशे में हैं साहब...तभी साढ़े चार-बजे सुबह को भी आप रात ही समझे बैठे हैं...हज़रत इस वक्त चार बज के २० मिनट हैं बीस मिनट..."

"अरे साहब होंगे इस वक्त साढ़े चार लेकिन फिर इससे क्या? शायर वक़्त का पाबन्द नहीं होता, उसे कोई क़ैद नहीं जनाब...वह आज़ाद पैदा हुआ है और आज़ाद मरेगा भी...वह जब तक जिन्दा रहता है हर घड़ी वह नई दुनिया बनाता, नई ज़िन्दगी जीता है, नया दौर बनाता है, नये मयार और कसौटियाँ तरमीम करता है लेकिन खुद इन बन्दिशों से आज़ाद होता है जनाब...जनाब...जनाब...।"

और हुआ यह कि हेड मास्टर पण्डित राम सरन उपाध्याय की तो जान बच गई और वह इस बीच भाग निकले, लेकिन सन्तोषीजी को यह मालूम करके बड़ी खुशी हुई कि वह किसी शायर से बात कर रहे हैं। साधारणतया सन्तोषीजी हर शायर को एक मरीज़ मानते थे। मानसिक रूप से असाधारण प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि। इससे भी ज़्यादा, वह शेर वो शायरी, काव्य और कविता को जीवन की दबी हुई सेक्स भावनाओं का प्रतीक और विकृत मनोवृत्तियों का विकसित रूप मानते थे। कहा

करते थे शायर एक विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रंथियों का जीव है और यह ग्रंथियाँ उसकी खुद की बनाई होती हैं जिनके कारण वह जरूरत से ज़्यादा बकवासी और बातूनी होता है। उसका यह भी ख़्याल था कि शायर को जब तक एक मानसिक उपचार गृह में रख कर उसकी दवा नहीं की जायगी उसका दिमाग़ी फितूर दूर नहीं किया जा सकेगा। उसके चेतन, उपचेतन, अचेतन पर्तों में दबी लिबिडो की शक्तियों को जब तक उधेड़ा न जा सकेगा तब तक वह साधारण व्यक्ति नहीं बन पायेगा। वह इस किम्वदन्ती से कि शायर आधे पागल होते हैं, कवि अर्द्ध-विक्षिप्त होते हैं सहमत थे। इसीलिए आज एक शायर से मिल कर बड़ा प्रसन्न भी था। बात-बात में उन्हें अपने निष्कर्ष सत्य मालूम पड़ रहे थे जिसके कारण उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। वाद-विवाद समाप्त होने के बाद डा० सन्तोषी ने यह मान लिया कि अभी बारह बजे हैं और वह ग़लती से घड़ी देखने के कारण आज इसी वक्त टहलने निकल पड़े हैं। और जब सन्तोषीजी ने यह स्वीकार कर लिया तब जनाब बरबाद दरियाबादी उसे अपने दीवानख़ाने में ले गये और वहाँ दोनों में सौंदर्य-शास्त्र से लेकर सेक्स, धर्म और बाज़ार के सस्ते-मद्दे भाव तक के विषय पर खूब बातचीत हुई और अन्त में शायर ने अपनी कहानी शुरू की और बताया कि किस प्रकार वह अपने विद्यार्थी काल में एक बड़ा ही प्रतिभावान् विद्यार्थी था और फिर कैसे यूनिवर्सिटी छोड़ने के बाद वह नेता बनने के चक्कर में काफी दिनों मारा-मारा फिरा, फिर वह रूखा-सूखा जीवन छोड़ कर कैसे स्थानीय कालेज में मास्टर हो गया। कैसे अपने बाक़ी समय में वह शेर वो शायरी करके एक नया रूमानी कवि बना, फिर कैसे वह रूमानी कवि के बाद एक बड़ा शायर हुआ और अब किन-किन तिकड़मों के माध्यम से वह एशिया का सबसे बड़ा शायर होने जा रहा है। उसी समय उसने अपनी दस-बीस चीन, जापान, तिब्बत और अन्य देशों पर लिखी हुई कविताएँ भी सुना डालीं जिसे डाक्टर सन्तोषी बड़े धीरज से सुनते रहे। अन्त में शायर ने कहा—"जनाब आज की शायरी ज़माने के मुँह पर एक बड़े भारी घूँसे के समान है और इसको इसी शकल में आना भी चाहिये क्योंकि ज़िन्दगी के थपेड़े और थप्पड़ों में बहुत कुछ बुर्जुआ एरिस्टोक्रेसी है, विशृंखलता है, बिखरा हुआ सत्य है लेकिन घूँसे में ज़िन्दगी के पाँचों अनासिर (तत्वों) की घुली-मिली तस्वीर है, फौलाद है और अब मैं अपनी शायरी में फूल की पंखुरियाँ न लिख कर ठोस फौलाद के घूँसे लिख रहा हूँ, जो सो रहे हैं उन्हें जगा रहा हूँ और इस सिलसिले में मैंने यहाँ एक अन्डर ग्राउन्ड क्लब भी खोल रखा है जिसका प्रतीक है बन्धी हुई मुट्ठियाँ...मुट्ठियाँ...जो जिन्दगी को कस कर पकड़ती हैं इश्क में भी जद वो जेहद और कशमकश के बाद अपनी ज़िन्दगी की आज़ादी के लिये लड़ती हैं और जो फ़ौलादी तत्वों के बदौलत ही पीड़ित और विक्षिप्त

मानवता को आसमान पर बैठाने की क्षमता रखती हैं, आदमी के सारे दुःख-दर्द दूर कर सकती हैं, एक नई ज़िन्दगी एक नये तहरीक को जन्म दे सकती है।"

बात के सिलसिले में मतभेद होना स्वाभाविक था...हुआ भी। दोनों में घूँसे चलने वाले ही थे कि अपने पाइप को सुलगाते हुए डा० सन्तोषी ने कहा—"लेकिन जनाब मैं आप के बारे में कुछ भी राय नहीं क़ायम कर सकता क्योंकि अभी आप की लिखी चीजें मैंने पढ़ी ही नहीं है" और इस बात पर शायर ने नशे की हालत में ही अपनी बीस किताबों का एक बंडल जनाब को दिया। बोला—"आप इन किताबों को ले जाइये, पढ़िये, सोचिये और तब मेरे बारे में कोई राय क़ायम कीजिये।" किसी तरह से शायर के यहाँ से छुट्टी मिली और वह अपने घर की ओर चल पड़े। अभी उस सन्नाटी रात में थोड़ी दूर गये होंगे कि बरबाद दरियाबादी दौड़ते हुए सड़क पर आये और कहने लगे...मुझे आप से एक ज़रूरी बात अर्ज़ करनी है। देखिये आप मुझे ग़लत न समझियेगा, इन किताबों में एक नई तहरीक की आवाज़ आपको मिलेगी, मसलन नया इन्सान जन्म ले रहा है, नई तकदीरें ढल रही हैं, नई तस्वीरें आ रही हैं, इन्कलाब ज़िन्दाबाद और ख़ास करके लाल मिर्चे, लाल टमाटर और लाल इन्कलाब वाली नई नज़्म आप जरूर पढ़ियेगा...इसमें मेरी ही नहीं, चन्दनपुर ही की नहीं, हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान के साथ-साथ तमाम एशिया की उठती हुई ताक़त की आवाज़ है...चलिये...आप पढ़िये...इसी लैम्प पोस्ट के नीचे ही सही, ज़रा खोलिये तो किताव...वह...वह जो...जिसका नाम धड़कते हुये पत्थर हैं ज़रा उसे देखिये तो..."

और वह वहीं सन्तोषीजी को अपनी नजमें सुनाने लगा। जितने ही ज़ोर से वह नज़्में गाता जाता उतना ही ज्यादा डा० सन्तोषी गम्भीर हो जाते और उसको यह विश्वास हो जाता कि वास्तव में शायरों का दिमाग कुछ खराब होता ही है और इसको ठीक करना भी फ़र्ज़ है। जब जनाब बरबाद अस्तीन के साँप कविता पढ़ रहे थे तब डाक्टर ने उन्हें टोकते हुये कहा..."जनाब माफ कीजियेगा, अगर आप को यह किताबें खुद ही पढ़नी हैं तो ले जाइये...

"लेकिन यह तो अच्छा नहीं लगता कि आप रात को चार बजे चौरस्ते पर खड़े हो कर नीलाम की आवाज में अपनी शायरी सुनायें और मैं बेवकूफ-सा सुनता जाऊँ..."

बस सन्तोषीजी का इतना कहना काफी था। जनाब बरबाद की ज़मीर को चोट पहुँची और वह तिलमिला उठे। गुस्से से काँपने लगे, तिलमिला कर बोले..."

"आप जानते है किससे बातें कर रहे हैं...डाक्टर साहब, शायर की शख़सियत बड़ी नाज़ुक होती है...उसके एहसास में ताक़त होती है...उफ ओह...आप ने सितम ढा दिया जनाब..."

और फिर उनका व्याख्यान शुरू हुआ जिसमें उन्होंने शायर की शख़्सियत पर एक लम्बी-चौड़ी तक़रीर दे डाली। बोले...

"शायर इस युग का मसीहा है...पैग़म्बर है...उसकी साँस-साँस में ज़माने के नक़्श व निगार हैं...उसकी धड़कनों में, परदेए साज़ में राजे ज़िन्दगी पिन्हा हैं... वह अपने आँसुओं से नये इन्सान का सेहरा गूँथता है, अपने बेचैनी से वह नई दुनियाँ के ख़्वाब को रंगीनी बख़्शता है...वह यह है, वह है...और वह क्या नहीं है..."

फिर थोड़ी देर के लिये वह ख़ामोश हो गया। लेकिन ताव चढ़ा था, फिर बोला—

आपने मेरी बेइज़्ज़ती नहीं की है। आने वाले ख़्वाब की बेइज़्ज़ती की है, तरक़्क़ी पसन्द तहरीक की बेइज़्ज़ती की है, आपने उसकी बेइज़्ज़ती की है जिसके कदमों पर सारी दुनिया झुकी हुई है और जो अपनी शाने ग़फ़लत में उसको ठुकराता जा रहा है। आपने एशिया की तहरीक के शायरे आज़म, रहबरे जज़्बात की बेइज़्ज़ती की है...लेकिन आप याद रखिये मेरी ज़बान बन्द नहीं की जा सकती...मेरी साँसो पर कोई पहरा नहीं लगा सकता...मैं आसमान को झुका सकता हूँ, चाँद, तारों का हार बना कर इन्सान को पहना सकता हूँ, पत्थरों की नसों से आबेहयात निचोड़ सकता हूँ, पानी में आग लगा सकता हूँ, आग में पानी लगा सकता हूँ...यहाँ तक कि...यहाँ तक कि... यहाँ तक कि"...कहते-कहते वह रुक गया। जब उसे होश आया तो देखा कि वह अकेला लैम्प पोस्ट के नीचे खड़ा चिल्ला रहा था। आसपास कुछ कुत्ते खड़े-खड़े उसकी ओर देख रहे थे। पुलिस वाले गश्त पर घूम रहे थे। डाक्टर सन्तोषी वहाँ से गायब थे। वह खामोश हो गया। सहसा कुछ चमगीदड़ फड़-फड़ाकर बिजली के तारों पर लटक गये और एकबयक सामने चौरस्ते पर पुलिसवालों की टोली दिखाई पड़ी। शायर को होश आया, तेजी से दौड़ता हुआ अपनी घर की ओर भागा। रास्ते में कई ठोकरें लगीं लेकिन फिर भी अपने को बचाता हुआ निकल ही चुका था कि पुलिस वालों ने कोई चोर समझ कर रोका और पूछने लगे :

"कौन हो...कहाँ से आ रहे हो...कहाँ जा रहे हो...क्यों दौड़ रहे थे..."

और बस नये मसीहा और नये पैग़म्बर के होश वो हवास गुम हो चुके थे। वह खामोश खड़ा हो गया। उस ढलती चाँदनी में उसका चेहरा एक बौने आदमी की परछाईं-सा सिमिट कर रह गया। अपनी परीशानी में वह अपने हाथों की उँगलियों को दाँत से दबा रहा था। पुलिसवालों ने कई और सवाल किये लेकिन वह खामोश रहा। इस लगातार खामोशी से पुलिसवालों को शुबहा बढ़ता जा रहा था। परीशान होकर उनमें से एक ने नज़दीक आकर उसकी शक्ल को देखा-भाला, बोला..."आदमी पहचाना हुआ लगता है...पिछली कई बार हवालात में बन्द हो चुका है...कौन हो जी...अपना

नाम क्यों नहीं बताते।"

और जनाब बरबाद दरियाबादी अब भी खामोश रहे। दूसरे ने कहा... "अमा यार किस चक्कर में पड़े हो...चलो...उठो...यह तो बरबाद दरियाबादी है शायर है यार...किसी ख़्याल में डूबा होगा...चलो...बढ़ो...आगे चलो...

पुलिस वालों के जाने के बाद जनाब बरबाद दरियाबादी भी चले गये और रात की खामोशगी में फिर सारा मोहल्ला डूब गया। उस रोज शायर नौ बजे तक सोता रहा और जब उठा तो सारी रात की घटना भूली हुई थी। उसे सिर्फ एक थकावट सी मालूम हो रही थी और बस। लेकिन इस घटना के बाद से बरबाद दरियाबादी और डा० सन्तोषी से काफ़ी गहरी जान-पहचान हो गई। डा० सन्तोषी को चन्दनपुर से जो खास शिकायत थी कि यहाँ पर कोई अच्छा मरीज़ नहीं मिलता सो शायर के मिल जाने से दूर हो गई। और शायर को जिस बौद्धिक मित्र का अभाव यहाँ खटकता था उसे वह भी मिल गया और इस तरह उनकी ज़िन्दगी नये दायरों से होकर गुज़रने लगी और दोनों को थोड़ी-थोड़ी शान्ति भी मिल गई।

जिस साल मैं वहाँ थी उसी साल एक और घटना घटी। चन्दनपुर में सारे देश के शायरों की एक बड़ी सभा हुई जिसमें जनाब बरबाद दरियाबादी को सभापति बनाया गया और उसमें तमाम लेखकों और शायरों से इस बात की अपील की गई कि वह एशिया की जंगे आजादी में शामिल हों और नये तहरीक को जन्म देकर नया इन्सान पैदा करें। इस बात को लेकर प्रोफेसर और शायर में बहस शुरू हो गई।

संतोषीजी ने कहा, "जहाँ तक नये इंसान को पैदा करने का सवाल है वह निहायत ही ग़लत है क्योंकि कोई चीज पैदा नहीं होती, वह धीरे-धीरे विकसित होती है और शायर कहता था कि विकसित होने वाली चीज को जल्दी विकसित कर देना ही तहरीक और प्लावन है। और इस तरह कान्फ्रेंस के महीनों पहले से दोनों में इसी बात को लेकर रोज़ बहस होती। इस सिलसिले में सन्तोषी ने कई बार जनाब बरबाद दरियाबादी को अपने कमरे से निकाल बाहर कर दिया था और बरबाद ने कई बार सन्तोषीजी को निकाल बाहर कर दिया था लेकिन फिर भी दोनों मिलते थे क्योंकि दोनों के बिना एक दूसरे से मिले चैन नहीं पड़ता था। शायर दूसरे रोज सुबह माफी लेता और प्रोफेसर को बिना उससे बहस किये रहा नहीं जाता था। एक दिन प्रोफेसर ने बरबाद से यह साफ-साफ कह दिया कि वह किसी भी तरीके से

एशिया का शायर नहीं हो सकता क्योंकि उसमें एशियाई अक्ल नहीं है और इस पर उन दोनों में एक खास क़िस्म का झगड़ा हो गया और हुआ यह कि काफ्रेन्स के पेहले बरबाद दरियाबादी ने अपने शागिर्दों से प्रोफेसर का मरसिया लिखाया...लिखवाया क्या खुद लिखा और लिख कर उनके दरवाजे पर हाय-हाय करके पढ़वाया। उनके तमाम शागिर्दों ने मिलकर उनका जनाजा निकाला और उसे दफन किया। जिस जगह वह दफन हुआ वहाँ एक पत्थर का चबूतरा बनाया गया और उस पर लिखा गया... "शायरे आजम शहंशाहे जुबान जनाब दरियाबादी के रकीब जिसे उन्होंने अपने अकल और जहनियत से शिकस्त दी।" यह सब हो जाने के बाद शाम को जब कुहना मशक़ पूराने ख़्यालात के शायर जनाब "फहरत देहलवी" बरबाद के यहाँ पहुँचे तो उन्होंने कहा जनाब यह आपने क्या किया। उसका मजार बनवा करके तो आपने उसे आबेहयात पिला दिया। वैसे शायद कोई जानता भी नहीं लेकिन आपने तो उसे शहीद बनवा दिया। लेकिन यह बात जनाब बरबाद दरियाबादी की अकल में नहीं समाई और उन्होंने यह दलील दी कि साहब आप यह क्या फ़र्माते हैं। वह मेरे फ़तह की यादगार है...वह मरदूद मेरी शायरी को मजाक समझता है, मजाक और अब उसकी हिम्मत नहीं होगी कि बाहर निकल कर फिर मुझसे बहस करे।

उधर सन्तोषीजी ने दरियाबादी के ख़िलाफ़ कई लेख लिख डाले और प्रत्येक लेख में कई पहलुओं से यह साबित करने की कोशिश की कि वह महज लफजी वर-ज़िश करता है, विकृत सेक्स से प्रभावित है, प्रतिक्रियावादी है, अभारतीय है, बनावटी है, लेकिन सब कुछ लिखने के बाद जब वह उन्हें पढ़ने लगा तो लगा कि सारा लेख लचर और कमज़ोर है उसमें न तो कोई दम है और न कोई छापेगा क्योंकि उसने महसूस किया कि दर्शन और मनोविज्ञान का प्रोफेसर होने के नाते उस विषय में उसका कोई दख़ल ही नहीं है। लेकिन इसी बीच जब डा० संतोषी को यह पता चला कि उसका जनाज़ा निकाला गया है और उस जनाजे में उसकी बेइज्ज़ती की गई है तब फिर वह अपने कमरे के बाहर नहीं निकले और चुपचाप खामोश हो कर बैठ गये और इस तरह जनाब दरियाबादी की फतह हुई।

काफ्रेन्स के वक्त जनाब दरियाबादी और उनके शागिर्दों ने बड़े-बड़े दंगल जीते, बड़े-बड़े पैतड़े बदले और अन्त में शाहे सुखन, जमाले शायरी के खिताब के बाद बरबाद दरियाबादी उर्दू के माने जाने वाले शायरों में से गिने जाने लगे और अब उनके शागिर्द शायरे आजम एशिया की उपाधि की कोशिश करने लगे। इसके लिये उन्हों ने कई पैतरे बदले यहाँ तक कि कई बार इस बात की भी कोशिश की कि किसी तरह से वह एशिया के और मुल्को में घूमने के लिये जा सकें लेकिन जब किसी में भी सफल नहीं हुये तो अब एक खास किस्म की बिरादरी में शामिल हो गये और उनके

स्वर में स्वर मिला कर शायर से नोरबाज़ बन गये लेकिन नतीजा कुछ न निकला। न तो धरती ने करवट ली, न आसमान टूटा, न पत्थर से आबेहयात के चश्मे फूटे। अलबत्ता धीरे-धीरे वह एक ऐसे शायर गिने जाने लगे जिनके पास न तो फ़ने शायरी का कोई भविष्य रह गया और न कोई तरीक़ा। तब ख़ामोश होकर घर बैठे रहने लगे। शाम को जब लाल परी छाप शराब ढलती तभी कुछ शेर वो शायरी की बात कर लेते, नहीं तो ख़ामोश बैठे रहते। वह जिन्हें गाली देना चाहते उन्हें रजअत पसन्द कह देते, जिनकी पीठ ठोकनी होती उन्हें कुछ और उपाधि दे देते और इस तरह उनकी सारी सरगर्मी उनके दीवनखाने तक ही सीमित रह गई, उस के आगे न बढ़ सकी।

जिन दिनों शायरे आज़म को शायरे एशिया की धुन सवार हुई थी और उनके दिमाग़ में यह खलल जोरों से घर कर रहा था उसी बीच उन्हों ने अपनी नौकरी छोड़ दी और अब इस उम्मीद में घर बैठे कि जब एशिया के शायरे आज़म मान लिये जायेंगे तो फिर उनको कमी किस बात की रहेगी, सारा राष्ट्र उनकी पूजा करेगा, तमाम एशिया के लोग उनकी शान का दम भरेंगे और तब उनको जो इज्ज़त और बड़ाई मिलेगी उसके सामने यह नौकरी बड़ी छोटी और अजीब चीज मालूम होगी। इसी आशा और विश्वास के संघर्ष में उन्होंने यह भी महसूस किया कि अगर यह नौकरी करते जायगे तो जो मरतबा उन्हें हासिल करना है उसमें एक महीने के बजाय दो महीने और एक साल के बजाय दो साल लग जायेंगे। इसलिये जब तक यह नौकरी क़ायम है तब तक वह आगे नहीं बढ़ सकते हैं। इसी सोच-बिचार मे वह खोये हुये थे कि लगातार बग़ैर किसी अर्जी के वह कालेज से एक महीने ग़ैर हाजिर रहे और जब उनसे जबाब पूछा गया तो उन्होंने कालेज के प्रिन्सिपल को डाँटते हुए कहा..."जानते नहीं, मैं आने वाले कल का एक हैरत अंगेज शायर हूँ जिसकी इज्ज़त अफ़जाई करने के लिये एक जमाना तड़प रहा है और जिसे तुमने इस नापाक कालेज की दीवारों में क़ैद कर रक्खा है"...और तब प्रिन्सिपल से काफी बहस-मुबाहसे के बाद उन्होंने यह भी कहा कि..."मैं तुम जैसे सैकड़ों प्रिन्सिपल को मिन्टों में बना सकता हूँ और जो जो देरीना,कमजोर और दक़ियानूसी लोग है उनको खत्म कर सकता हूँ... लेकिन मैं तुम्हें अब तक माफ़ करता आया क्योंकि मैं तुम्हें वह नहीं समझता था जो तुम आज साबित हो रहे हो...तुम्हारी तालीम में खलल है, जिहनियत में सड़े हुये गलीज़ और रुढ़ियों की गन्ध है, तुम उस समाज के एजेन्ट हो जो पूँजीवादियों और शोषण करने वालों पर बना है...तुम्हारे इस कालेज की इमारत में सैकड़ों इन्सानों का खून और पसीना नज़र आ रहा है...और रव में इसके अलावा भी जाने क्या-क्या कह गये थे और तब फिर प्रिन्सिपल ने मजबूर हो कर उनकी शिकायत की और वह

कालेज से निकाल दिये गये थे और यहीं से उनकी ज़िन्दगी का एक निहायत ही दर्द-नाक अ र भयानक दौर शुरू हुआ।

यह दर्दनाक ज़माना उनके भूख, प्यास और आर्थिक संकटों का था। उनके नस और जिगर पर धुयें की पर्तें छाने लगी, उनके मिजाज़ की मजजूबियत में एक दर्द उभरने लगा, उनकी हर चीज में और हर क़िस्म की तमीज़ में एक नया अन्दाज उभरने लगा क्योंकि उनकी ज़िन्दगी से वह सब कुछ हट गया था जिसे वह तहजीब के नाम से पुकारते थे। इन्सानियत की एक नंगी तस्वीर उनके सामने थी...ज़िन्दगी की एक तेज भँवर भूख और बीमारी, आदमी और उसकी परिमित सीमाओं का ज्ञान भी उन्हें होने लगा था। हुस्न की वह हज़ारदास्ताँ जिसे उन्होंने अपने दिमाग़ में गढ़ा था उस वक्त और भी सच्ची शक्ल में आ खड़ी हुई जब उनकी वह बीबी जिसे वह केवल एक मांस का पिंड समझते थे उसने अपने एक-एक गहने बेच डाले, अपने हाथ चक्की चलाने लगी और अन्त में किसी के यहाँ बावरची का काम करके घर का काम-काज करने लगी और इन सब मुसीबतों के बावजूद भी जब वह रोज शाम को नियमित रूप से शायर को लाल परी छाप शराब दे कर कहती...यह लो..."चिन्ता मत करो...यह मुसीबत के दिन है, कट जायेंगे...कट ही जाते है...तन्दुरुस्ती ख़राब करने से कोई फ़ायदा नहीं...उठो...उठते क्यों नहीं...और वह हर रोज यह निश्चय करते कि वह शराब छोड़ देंगे और अपनी बीबी से कह देंगे कि वह इस जिन्दगी से ऊब चुके है...लेकिन रोज शाम को जब शराब की बोतल उनके सामने आती तो वह ख़ामोश हो जाते और अब तो यह आ ही चुकी है...इस को इनकार करने से क्या फ़ायदा, फ़ुजूल पैसा खराब होगा...और इस तरह वह उसे पी लेता और रूखी-सूखी खा कर सो रहते।

लेकिन धीरे-धीरे ज़माना बदलता गया। एक दिन उन्हें अपने बाप-दादों का बनाया हुआ घर भी बेचना पड़ा और वह उसी मोहल्ले मे एक सागर पेशे में रहने लगे। अधिक परिश्रम और चिन्ता के कारण उसकी पत्नी का स्वास्थ्य गिरने लगा। शायर ने उसके सुधारने की कोशिश की लेकिन वह बेकार रही। उसने हर तरह की नौकरी ढूँढ़ी लेकिन कहीं भी काम न कर सका। उन्होंने कहानी, उपन्यास, कविता की नई किताबें लिख डालीं लेकिन कोई भी छापने वाला नही मिला और तब धीरे-धीरे करके जब वह जीवन की सभी आशायें छोड़ बैठा तो एक दिन वह भी आया जब बीबी मर गई और वह घर में अकेला रह गया। इस अकेलेपन में भी उसका कोई साथी न रहा। एक आराम कुर्सी और तीन लोहे के खिलौने ही शेष रहे। ख़ाली वक्त में वह कुर्सी पर बैठा करता और ख़ामोश किसी चिन्ता में डूब जाता। नवजवान शायर के वह सारे सपने जिन्हें उसने अपने खून और उम्मीद के रंग से रँगा था ख़त्म होने लगे

और उसकी आँखों के सामने लाल-पीले-नीले गुब्बारे उड़ने लगे। ज़िन्दगी ख़त्म होते हुये भी ख़त्म नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि वह दिन पर दिन एक घुटन और अनावश्यक आतंक से पीड़ित और विक्षिप्त रहने लगा। वह रोज़ सपनों में अपनी कुरूप बीबी से मिलता और उसे लगता कि जैसे वह कह रही हो—"अरे तुम...तुम चिन्ता करते हो शायरे आज़म...मैं कहती हूँ चिन्ता मत करो...यह मुसीबत के दिन हैं, कट जायँगे...उठो...ज़िन्दगी है, इसमें जो चिन्ता करता है वह मर जाता है...जो ज़िन्दगी की हर मुसीबत को देख कर हँस देता है वही ज़िन्दा रहता है...ज़िन्दगी एक मज़ाक के सिवा और कुछ नहीं है...इसे हँस कर निभाओ...इसका...।"

और तब वह उठकर बैठ जाता। उस अँधेरी कोठरी में आँखें फ़ाड़-फ़ाड़ कर देखता लेकिन उस अंधकार को चीर कर उसकी दृष्टि आगे नहीं जा पाती। फिर भी वह उसे विस्मित सा आँखे फाड़-फाड़ कर घंटों देखता रहता और तब उसे लगता जैसे वह उस अँधेरे में कुछ तस्वीरें देख रहा है..."एक भद्दी, मोटी स्त्री जिसने अपने जीवन में इतना अपमान सहा है कि उसकी उदास आँखों में सिवा दीनता के और कुछ नहीं है...एक मजबूरी और बेबसी है, जिसकी ख़ामोशी में दर्दनाक फ़रियाद घुट कर रही जा रही है। साँसों की पीड़ा और वेदना में एक भयंकर आतंक है जो बार-बार अपने शरीर को कोसता है...और पास ही शायर भी खड़ा है जिसकी नफ़रत भरी निगाह में मौत की-सी भयानकता है, जिसकी आवाज़ में अपमान के लहजे हैं और व्यंग्य है। जो बार-बार कहता है..."मैं हुस्न का शौक़ीन हूँ...मैं हुस्न का आशिक़ हूँ... और तूने मेरी ज़िन्दगी को तलख़ बना रखा है...बिल्कुल तल्ख़..." और वह सुन रही है...सुनती जा रही है...उसके मनमें एक तूफ़ान सा उठ रहा है...वह निरीह और फैली हुई आँखों से उस व्यक्ति को देखती रह जाती है। घूर-घूर कर देखती है जैसे कह रही हो..."हाँ, मैंने तुम्हारी ज़िन्दगी तल्ख़ बना दी है, उसमें असह्य पीड़ा और वेदना भर दिया है पर मैं कर भी क्या सकती हूँ...लेकिन इस बात पर भी वह उसके ऊपर थूक कर चला जाता है और वह उस फ़र्श को अपने आँचल से बटोर लेती है... और फिर ख़ामोश आइयने के पास रक्खी हुई पारे की शीशी को पी जाने की कोशिश करती है...लेकिन जैसे कोई उसका हाथ पकड़ लेता है और शीशी गिर जाती है... पारा फ़र्श पर बिखर जाता है और तब वह सिन्दूर की डिबिया से सिन्दूर निकाल कर अपने माँग में भर लेती है, उस बिखरे हुए पारे को शीशी में बन्द करके रख देती है।

और जब शायर यह दिवास्वप्न देखता रहता तभी उसके कान के पास कोई मच्छर गुनगुनाने लगता उसका ध्यान टूटता और वह केवल उफ़ करके रह जाता है लेकिन जब आँखें बन्द कर लेता तो उसके पुतलियों के सामने बन्द आँखो की पलकों में

एक दूसरा ही दृश्य दिखलाई पड़ता..."जैसे वह किसी अथाह सागर में डूब रहा है और उसमें कुछ अजीब-अजीब शक्ल के इंसान हैं जिनकी आँखें आग की लपटों के समान धधक रही हैं...ओठों में विषैले नीले रंग का लेप लगा है, टूटे हाथ, टूटे पैर वाले असंख्य इन्सान उसको निगल जाने की चेष्टा कर रहे हैं...और उसका खुद का जिस्म, अपना जिस्म इतना भयंकर मालूम हो रहा है कि वह बार-बार अपनी आँखें बन्द कर लेता है लेकिन उस विस्तृत समूह की व्यंग्य भरी हँसी उसको निगले जा रही हैं। उसकी साँस फूल रही है, दिल की धड़कन तेज़ होती जा रही है और वह गिन-गिन कर साँसों में उलझा जा रहा है...और वह सारी उलझन ऐसी है जैसे कोई उसके गले के चारों ओर एक रस्सी का फंदा लगाए जा रहा है और सामने वही भद्दी, मोटी, कुरूप स्त्री ज़ोर-ज़ोर से हँस रही है...हँसती जा रही है...और तब उसे लगता उसका सारा शरीर फूल गया है और उससे एक भयानक दुर्गन्ध सी आ रही है। और वह दुर्गन्ध बढ़ती जा रही है, उसके नाक, मुँह, कान, सब के भीतर दुर्गन्ध जैसे फटी पड़ रही है और वह बेतहाशा, परीशान व्याकुल सा अपने ही जिस्म से घबरा रहा है...हाथ उठाता है तो वह कन्धों से अलग सामने गिर कर तड़पने लगता है...पैर उठाता है तो वह शरीर से अलग चू पड़ता है और जब अपना मस्तक उठाने की चेष्टा करता है तो वह इतना बड़ा और भारी सा मालूम होता है कि उसकी रीढ़ की हड्डियों में दर्द होने लगता है...।

और तब वह झिझक कर आँखें खोल देता और लिहाफ़ के अन्दर मुँह बन्द करके पल्कें खोल कर जगने लगता। उसे महसूस होता जैसे कोई गर्म सलाखें उसके ज़िस्म पर लगाता जा रहा है और हर चोट उसकी ज़िन्दगी की एक पर्त उधेड़ रही है...वही घृणा जिसे उसने सब को दिया था सब उसे वापस किये जा रहे...उसे लगता जैसे गन्ध भरे कीचड़ का एक लोथड़ा अभी-अभी उसके मुँह पर किसी ने दे मारा है और जब वह दूसरी ओर मुँह करता तब फिर वही पिचपिचा ग़लीज़...और वह दलदल में धँसता जाता...धँसता जाता ..लगता उसका अंग-अंग टूट रहा है... उसके इर्द-गिर्द का सारा वातावरण ही उल्कापात सा टूट-टूट कर गिर रहा है और वह अकेला अपने लुंज हुये हाथों और पंगु हुये पैरों से उस सब को अपने से दूर फेंकने की कोशिश कर रहा है...दूर फेंकता जा रहा है...दूर...बहुत दूर...लेकिन अपने शाय-राना लहजे में बार-बार अपने से बहुत दूर सब उसी के ऊपर गिर रहे हैं, उस के शरीर पर टूटे पड़ रहे हैं और उसका शरीर टूट-टूट कर बिखर रहा है...उसकी आवाज़ टूट रही है, टूटती जाती है। कभी-कभी उसे लगता कि उससे दूर बहुत दूर क्षितिज में जाकर वे सारे अंग जुड़ जाते हैं और फिर वह एक नये क़िस्म की ध्वनि में अवतरित होकर जी उठती हैं...गूँजती जाती है...लेकिन इस गूँज में भी कुछ नशा है। वह वह समझ नहीं पा रहा है, उसे अच्छा नहीं लग रहा है और तब वह अपने कानों में उँगली ठूँस कर

एक सकते की हालत में पड़ जाता है, फिर धीरे-धीरे उठता है और खिसक-खिसक कर ख़ाली कुर्सी पर आकर बैठ जाता है और तब उस कुर्सी के नंगे हाथों पर लोहे के खिलौने खड़-खड़ा कर गिर पड़ते हैं और उसे लगता है लोहे के जिस्म वाला काला रीछ, काला बन्दर, काली लोमड़ी सब उसके सड़े हुए ज़िस्म को नोच रहे हैं। उसके पिलपिले मांस में धँसे जा रहे हैं लेकिन वह साहस बटोर कर उन खिलौनों को एक-एक करके अपने से दूर फेंकने लगता है और उस कमरे की दीवार से लगी हुई एल्मारी पर पड़ी हुई शराब की ख़ाली बोतलों से वह सभी टकरा जाते हैं और उस टकराहट से भी वही आवाज़ पैदा होती है जिसे वह समझ नहीं पाता, जिसकी तेज़ और सख़्त खनकती हुई ध्वनि की संगीत टूटी हुई हवा में तैर कर रह जाती है और वह खामोश कानों में उँगली दबाये पड़ा रहता है...पड़ रहता है।

उस हालत में भी वह तमाम रात जागता रहा...अंधकार को घूर-घूर कर देखता रहा, अपनी स्वर्गीया पत्नी की आवाज़ सुनता रहा, व्यंग्य की हँसी सुनता रहा, दूर से टकरा कर लौट आने वाली आवाज़ों की ध्वनियों को बटोरता रहा और इसी दशा में पड़ा-पड़ा ख़ामोश, बेबस, मजबूर, भावना शून्य सी स्थिति में कराहता रहा और जब उसकी आँखें खुलीं तो उसने देखा सामने के नीम के पेड़ पर एक सुनहरी रोशनी बिखरी पड़ी है और डालों पर चिड़ियाँ कुछ नई आवाज़ में गा रही हैं। ख़ाली बोतलें लुढ़की पड़ी हुई हैं और रात को अपने पास से फेंके हुए खिलौने वहीं ज्यों के त्यों उदास स्याही के धब्बे की तरह लुढ़के हुए हैं। उसने एक बार अपना ज़िस्म टटोला और यह देखने लगा कहीं इसमें बदबू तो नहीं है...फिर उसने अपने हाथ की मुट्ठियों को मज़बूती से बाँधा...उसकी उभरी हुई नसों को ग़ौर से देखा, अपने दोनों हाथों से अपने सिर की गोलाई नापी, अपने पैर को एक झटका दिया और तब वह उठ खड़ा हुआ...बाहर जाकर थूक आया, अपनी नाक को अपनी उँगलियों के बीच रखकर दबाया और तब उसे जैसे कुछ आत्म-विश्वास सा आ गया। आज उसकी हालत यह है कि वह निहायत सादे लिबास में दाढ़ी और बाल बढ़ाये ख़स्ता और परीशान तमाम दिन और तमाम रात उसी चबूतरे पर बिता देते हैं जिसे उन्होंने दार्शनिक डाक्टर सन्तोषी से नाराज़ होकर बनवाया था। यही नहीं, अक्सर वह हर आने-जाने वाले से दुनिया के भविष्य के बारे में सवाल करते हैं और बार-बार इस बात पर ज़ोर देते है कि उन्होंने अब शायरी के क्षेत्र से इस्तीफा दे दिया है और आज-कल शेर वो शायरी से बढ़कर उनकी दिलचस्पी जुग़राफ़िया में है क्योंकि अक्षांश रेखाओं में बँटी दुनियाँ उनके सामने भयंकर सपने भेज सकती है। कभी-कभी वह यह भी कहते हैं कि दुनिया के नक़शे में किसी क़िस्म का रंग नहीं होना चाहिये क्योंकि दुनिया का रंगीन नक़शा निहायत गन्दा और धुँधला हो चुका है। वह कहते

हैं कि इस दुनिया को न किसी पहलवान की ज़रूरत है न किसी मसीहा की...इन्सान को आज़ाद रहने की ज़रूरत है...उसे उसकी हालत पर छोड़ दो...शायद है कि वह अपना रास्ता ढूँढ़ ले। यही नहीं अब वह हर ख़ास वो आम से निहायत आजिज़ी से मिलता है, सड़क के कुत्तों से भी मोहब्बत करता है। जिस चबूतरे पर वह तमाम दिन और रात गुज़ारता है वहीं कुत्तों के छोटे-छोटे मासूम बच्चे भी आपस में कलोल करते रहते हैं। रिक्शे वालों और ताँगे वालों के छोटे-छोटे बच्चे दिन भर वहीं गोलियाँ खेलते हैं और जब उनमें से वहाँ पर कोई भी किसी प्रकार की ज़्यादती या बेईमानी करता है और उसके पास फैसले के लिए वे बच्चे जाते हैं तो वह बड़ी आसानी से प्रेम से उन बच्चों का सुलह करा देता है। उनके आँसुओं को अपने शेरवानी के फटे हुए दामन से पोंछ देते हैं और उनके धूल भरे हाथों और गन्दे बालों को अपने सीने से चिपका कर एक ठंडी सर्द आह भर कर कहता है..."या परवर दिगार.. वह दिन कब आयेगा जब साफ़-सुथरी रोशनी आसमान से ज़मीन पर उतरेगी और ये मासूम इन्सान के बच्चे भी उससे फ़ैज़याब होंगे।" सफी ताँगे वाला जनाब बरबाद दरियाबादी को बहुत मानता है। रोज़ दोपहर को दो बेसन की मोटी रोटियाँ और सालन शायर के सामने रख जाता है और अक्सर यह कहता है—"शायरे आज़म...यह तो ज़िन्दगी का उतार-चढ़ाव है...इसे तुम एहसान न समझना, यह तो उस रब्बलालुमीन की देन है मियाँ... यह रूखी-सूखी मंजूर करो और खुश रहो।"

और शायर अपनी निराश आँखों से उसकी ओर देखने लगता है...अपने मन में सोचता है, अपनी ग़ज़लों और नज़्मों में इन्सान की वह आवाज़ ढूँढ़ता है जिसमें हमदर्दी हो, सहानुभूति हो, श्रद्धा हो, विश्वास और आस्था हो लेकिन उसे लगता है जैसे उसने जो कुछ लिखा है वह महज़ ज़बान है...शायरी नहीं...महज़ प्रचार है कविता नहीं...महज़ शोर है...धड़कन नहीं...

शाम हो जाती है। चौरास्ते की सभी बत्तियाँ जल जाती हैं लेकिन वह उसी चबूतरे पर बैठे-बैठे रात का अँधेरा भी देखता रहता है...उसने निश्चय किया है कि वह अब न तो किसी बात की चिन्ता करेगा और न भयानक सपने देखेगा। उसने हिम्मत किया। पहले खिलौनों को उठा कर ख़ाली कुर्सी की नंगी बाहों पर रख दिया, ख़ाली बोतल को सीधा करके अपनी शायरी की किताब के बण्डल पर खड़ा कर दिया। काठ की बनी हुई बन्दूक उठाई। दो-चार अख़बार के टुकड़ों की गोलियाँ बनाई और फिर उनको हवा में छोड़ दिया। कई हल्की-हल्की आवाजें उस आवाज़ के साथ सन्नाटे में गूँज गई। इस आवाज़ से उसे एक खास आराम मिला। उसे लगा जैसे वह नहीं है। उसके सामने जितनी भी चेतन-अचेतन वस्तुएँ हैं सब होते हुये भी नहीं हैं, शायरी

नहीं है, वह नहीं है, उसके भयंकर सपने नहीं हैं...और तब उसने काठ की ख़ाली बन्दूक को अपनी शायरी की किताब के ऊपर रख दिया...दरवाज़ा खोला और जाने लगा। अभी दो-चार ही कदम गया था कि उसने देखा तम्बोलिन उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी। बरबाद ने उसे देख कर पूछा..."कहाँ आ रही है...जानती नहीं मैं कहाँ जा रहा हूँ..." वह चुप ही रही...उसने कोई जवाब नहीं दिया और जब बरबाद दरियाबादी फिर आगे बढ़ा तो उसने अपने आँचल से एक पैकिट कैंची का सिग्रेट और दियासलाई निकालकर दे दिया और फिर ख़ामोश होकर खड़ी हो गई। शायर ने पैकेट में से एक सिग्रेट निकाला और जलाया। धीरे-धीरे हाते के बाहर जाने लगा कहाँ जा रहा है ? क्यों जा रहा ? उसके मन में रह-रह कर बार-बार यही सवाल उठता था ..मसीहा कौन है ? मैं हूँ या यह तम्बोलिन जिसने इस वक्त यहाँ से चलते समय यह एक पैकेट सिग्रेट सफ़र ख़र्च दे दिया है...शायर कौन है ? मैं हूँ या वह लोहे के खिलौने और खाली बोतल और वह काठ की बन्दूक़ जो मेरे बाद भी ज़िन्दा रहेंगे...जो इस तरह हर उस कस वो नाकस का साथ देते रहेंगे जो उनके नज़दीक आयेगा...जो उनकी सोहबत को क़बूल करेगा। लेकिन यह सब सोचने के बाद भी वह आगे बढ़ता गया। आज उसने निश्चय कर लिया था कि वह फिर वापस नहीं लौटेगा और हुआ भी यही। वह नहीं लौटा।"

शायरे आज़म जनाब बरबाद दरियाबादी के सामने आज कोई शग़ल नहीं है। न तो वह सपने देखते हैं और न मसीहाई का दावा करते हैं। उसकी खामोशी... उदास खामोशी...उनके मन में घुलती रहती है...घुलती रहती है...और तब वह उस चबूतरे पर टहलने लगता है...आने-जाने वालों में सब को शून्य दृष्टियों से देखने लगता है। रात गाढ़ी हो जाती है और तब कोई आती है...खामोश धड़कन सी और थोड़ी देर ठहरती है...एक पैकेट सिग्रेट और दियासलाई देकर फिर वापस चली जाती है...वह उसकी ओर देख कर खामोश हो जाता है, फिर उसको याद करने की कोशिश करता है लेकिन उसे और कुछ नहीं याद आता केवल एक वाक्य ही याद आता है जिसे वह कई बार दुहराता है और कहता जाता है...

"हुस्न नक़द मोहब्बत उधार।"

उसको अपना घर छोड़े एक ज़माना हो गया है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे चना ज़ोर गर्म बेचने वाले के लटके पुराने होते गये और पान की दूकान पर लिखा हुआ नुस्खा "हुस्न नक़द, मोहब्बत उधार" रंग फीका पड़ गया। कुछ दिनों बाद फरहत देहलवी मरहूम हो गये। हकीम रहमत अली ने अपनी फर्म से हर साल कैलेन्डर छपवाने का काम शुरू किया और उस कैलेन्डर में नये आदमी की तस्वीर के साथ-साथ गजल में लिखे हुए नुस्ख़े भी छपवाने लगे। नये सपनों के साथ नई बातों

को बताने वाले पण्डित राम सरन उपाध्याय ने पेन्शन लेकर एक पत्थर की दूकान खोली है जिसमें तरह-तरह की मूर्तियाँ बिकती हैं...लेकिन सभी पत्थर की केवल पत्थर ही की बनी होती है।

शायद आज वह इन पंक्तियों का मतलब ज़्यादा समझता है क्योंकि आज वह उस हुस्न और सौंदर्य पर ज़िन्दा नहीं है जिसकी कभी वह उपासना करता था, जिसके प्रति उसका मोह था बल्कि आज वह उस मोहब्बत और प्रेम पर ज़िन्दा है जिसको वह सदा उधार खाते में डालता गया था...और तब वह एक सिग्रेट जला कर फिर ख़ामोश बैठ जाता है...यों ही थका और चूर-चूर था।

उस अँधेरी कोठरी में अब कुछ नहीं बचा था। बर्तन, चिमटे, लोहे यहाँ तक कि डालडा के टिन तक बिक चुके थे। बचने वाली चीज़ों में केवल वह टूटी हुई काठ की बन्दूक बची थी और वही लोहे के खिलौने बचे थे, जिनको अगम पण्डित ने निर्वास लेते समय शायरे आज़म के यहाँ भिजवा दिया था। लेकिन शायर के पास अब केवल उसकी हस्त-लिखित शायरी की किताबें बची थीं। बन्दर, गीदड़ और रीछ यह सब ज़मीन पर लुढ़के हुए थे, बन्दूक को शायर ने अपनी शायरी की किताब पर रख दिया था क्यों, किस लिए और किस मन्तव्य से उसने ऐसा किया था इसका पूरा-पूरा पता नहीं लगता।

शायर के किताब के पन्ने फागुन की हवाओं में लगे। पन्ने पुराने हो चुके थे...गल चुके थे, हवा की तेज़ी के साथ-साथ वह फटने भी लगे थे। उनकी स्वतन्त्रता पर अनायास ही बन्दूक का भार था। उस लकड़ी के बन्दूक का जिसमें कार्क के सिवा और कुछ नहीं लगता...जिसमें एक आवाज़ के सिवा और कुछ नहीं प्रतीत होता...ठीक उसी तरह जैसे शायर की आवाज़ बेमानी... बे मतलब और बे तरतीब।

आज उस कोठरी में एक किरायादार आने वाला था। दोपहर में आकर वह सागर पेशे की इस कोठरी को देख रहा था। कोठरी के बग़ल में रहने वाली तम्बोलिन से उसने इस कोठरी का हाल पूछा। तम्बोलिन अधेड़ ही थी। चौराहे पर उसकी पान की दूकान थी। जब नया किरायादार की शकल में यह नवागन्तुक आज आया तो उसकी प्रसन्नता का सीमा नहीं रह गई। उसने छूटते ही कहा...

"यह कोठरी बहुत अच्छी है...इसमें खुला हुआ रोशनदान भी है, खिड़कियाँ हैं लेकिन..."

"लेकिन क्या..." नवागन्तुक ने पूछा।

"यही कि इसमें हमेशा से अजीब-अजीब लोग रहते आये हैं।"

"जैसे..."आगन्तुक ने आग्रह किया...

"जैसे कि इसमें एक औरत रहती थी जिसका नाम नीरू था...वह नौकरानी से एक बड़े आदमी की बीबी बन गई..."

"बड़ा आदमी..."

"हाँ, हाँ जी...इसी शहर का बड़ा आदमी।"

"कौन था वह..."

"और मैं नहीं जानती...उसे लोग डाक्टर सन्तोषी कहते हैं।"

"डा० सन्तोषी..."आगन्तुक ने आश्चर्य से दोहराया।

"हाँ, हाँ वही...जो तरह-तरह के जानवर पालते थे और...इसी तरह के और कई अजीब लोग है जो इस कोठरी में आये और तरक़्क़ी करके गये। इस कोठरी में जो भी आया कुछ करके गया। मेरा मतलब वह कुछ तरक़्क़ी करके गया...बुरा था तो अच्छा बन गया...अच्छा था तो और अच्छा बन गया...

"और जब कोठरी का दरवाज़ा खोलकर उसने अन्दर प्रवेश किया और सामने किताब पर उसने काठ की बन्दूक और उसी से लगी ख़ाली बोतल देखी तो जैसे कुछ विस्मय में पड़ गया लेकिन फिर दूसरे ही क्षण उसने अपने को सँभाला और कमरे में प्रवेश करने लगा...प्रवेश करते ही उसके पैर में ठंडे लोहे के खिलोने एक-एक कर टकराते गये। पहले तो वह इस घटना को कुछ समझ नहीं सका लेकिन फिर उसने जब खिलौनों को उठाया तो उसे वे पूर्व परिचित से मालूम पड़े। वह उन खिलौनो को ग़ौर से देख रहा था और तम्बोलिन कह रही थी..."

"यही कुछ सामान हैं जो रह गये हैं...वैसे कोठरी काफी खुली है... अच्छी है।"

आगन्तुक ने खिलौनों को उठाकर सामने की दीवार पर रख दिया। उसने बन्दूक को उठाकर किताब से अलग कर दिया। किताब के पन्ने से बन्दूक के हटते ही पन्ने बिखर गये। एक-एक करके सारे कमरे में फैल गये। एक हाथ से वह उन्हें समेटने लगा लेकिन वह अपने प्रयास में असफल रहा।

कमरे में एक कोने में मैं भी पड़ी थी। थककर वह मुझ पर बैठ गया। बैठते ही उसे न जाने कैसा लगा। अपना हाथ बढ़ाकर उसने मेरे उन घावों को कुरेन्द कर

रख दिया जो अगम पण्डित के यहाँ हवन में स्थापित हुए थे। मैंने देखा आज इसमें काफी परिवर्तन आ गया था। उसकी वह सादगी, वह सीधापन, जैसे सब एक बड़े परिवर्तन में डूब गया था। जो में आया पूछूँ..."कहो हवल्दार...ज़िन्दगी की क्या हालत है...बादाम खाते हो...कसरत करते हो...जो भी बातें इस संसार में जीवन में होती हैं उन्हें पचा तो लेते हो कि नहीं..."

लेकिन हवल्दार अभी मुझे नही पहचान पाया था। वह अपनी चिन्ता में ही डूबा था। उसकी आँखों के सामने वह लोहे के खिलौने थे...उनकी स्मृतियाँ थीं... मेम साहब थीं...मेम साहब की ठंढी चारपाई थी और उसके साथ-साथ उसकी आज की ज़िन्दगी थी। और वह विचार में डूबा हुआ ख़ामोश बैठा था...

"कहाँ काम करते हो..." तम्बोलिन ने पूछा।

"यहीं जानवरों के अस्पताल में चौकीदार हूँ।"

"जानवरों के अस्पताल में...क्या जानवरों का भी कोई अस्पताल होता है?"

"हाँ होता है...आज के ज़माने में सब अस्पताल जानवरों के ही तो होते हैं।"

और वह उठ खड़ा हुआ। चलने लगा तो उसने तम्बोलिन से पूछा—

"इस मकान का मालिक कौन है।"

"मालिक की क्या ज़रूरत है।"

"किराया किसे देंगे...बातचीत किससे करेंगे।"

"मकान तो एक गार्ड बाबू ने ले लिया है। लेकिन किराया तुम मुझे देना।"

यह सागर पेशा मेरे ही हाथ में है। मैं ही इन्तज़ाम करती हूँ।

हवल्दार वहाँ से उठ कर चला गया। चलते समय उसने कहा—"मकान तो बहुत अच्छा है तम्बोलिन बी...मैं कल-परसों तक आ जाऊँगा।

और दो दिन बाद वह उस कोठरी में आकर रहने लगा।

इन खिलौनों की अजीब बात है। चाहे जो हो हर हालत में यह बातचीत करते ज़िन्दगी बिता देते हैं। आज इस हवल्दार को इस शकल में देखकर इन खिलौनों

ने फिर क़हक़हा लगाया। गीदड़ ने कहा—"कहिये साहब...आदमी के बारे में अब आप की क्या राय है।"

"तुमको फिर चुहल सूझी। अभी अपनी ख़ैर मनाओ, फिर आदमी के बारे में सोचना।" रीछ ने कहा—

"तुम तो बड़ी जल्दी नाराज़ हो जाते हो। अमाँ कभी-कभी इस मुसीबत से हटकर अपनी चारों तरफ की ज़िन्दगी भी देखनी चाहिये।" गीदड़ ने उत्तर दिया।

"अपनी ही बात लेकर घुलने से फ़ायदा।" बन्दर ने कहा। रीछ चुपचाप खामोश होकर बैठ गया। सोचने लगा। अभी कुछ ही बातें दिमाग़ में आई थीं कि सहसा गीदड़ ने कहा—

"न हुआ वह लोहे का आदमी। नहीं तो उसके सामने हवल्दार को पेश करता और तब पूछता कि—उसकी जात-बिरादरी के लोगों में क्या है जिसे वह लोहा कहता है।"

"आ गये अपनी ज़लालत पर। आदमी फिर भी आदमी है। उसमें जो लोहा है वह हम सबसे अच्छा है नहीं तो क्या—रीछ ने खीझ कर कहा।

"आदमी में लोहा हो या न हो लेकिन आदमी में कुछ ऐसा है जो लोहा से भी बदतर है।"...गीदड़ ने कहा। सब ख़ामोश हो सुनते रहे वह कहता ही जा रहा था..."इस शायर की ही बात ले लो...यों चाहो तो अगम पण्डित की ही बात कहूँ...नहीं चाहते तो इस हवल्दार की ही बात करता हूँ...क्या हवल्दार, क्या पण्डित, क्या शायर सभी ज़िन्दगी को समझना चाहते हैं...चाहते हैं ज़िन्दगी की तस्वीर जान लें...सब कुछ समझ लें लेकिन कहाँ समझ पाते हैं...फिर मैं कहता हूँ क्यों नहीं समझ पाते..."

"ज़िन्दगी कोई समझाने की चीज़ नहीं है मियाँ...खुदी समझने की चीज़ है... देखो न हवल्दार भी भविष्य बनाने के चक्कर में था लेकिन उसके सिर ऐसा शनि का चक्कर पड़ा कि बस सारा जोश ख़रोश समाप्त हो गया...मुँह के बल गिर पड़ा ...अगम पण्डित भी भविष्य के प्रति इतने आतङ्कित थे कि उन्होंने उन सब को अपने ऊपर जानबूझ कर बुला लिया जिस से वह खुद डरते थे और इस शायर को देखिए जो मसीहा बनने की फ़िक्र में इस क़द्र परेशान हो गया कि बस अपनी ज़िन्दगी को ही ख़त्म कर बैठा। काश कि आदमी मसीहा बनना छोड़ देता...थोड़ी देर के लिये यह महसूस करता कि वह मिट्टी का बना हुआ है, केवल मिट्टी का और

यह समझकर बस वैसा ही व्यवहार करता तो आज उसकी सारी मुसीबत ही खत्म हो जाती...साधारण बनकर असाधारण को यह अपने ऊपर क्यों ओढ़ लेता है और फिर उसकी जर्जरता से इतना व्याकुल और परेशान होकर वह क्यों ठोकरें खाना पसन्द करता है।

"आदमी अगर अपने अन्दर लोहा और फ़ौलाद को अनुभव करता है और उसे ग्रहण करने की कोशिश करता है तो बुरा क्या है...उसके अन्दर फ़ौलाद तो है ही...यह बात और है कि वह उस फौलाद को पकड़ न सके उसे ग्रहण करके हज़म न कर सके..."

वृद्ध रीछ ने अभी यह कहा ही था कि सहसा काठ की बन्दूक मेरे हाथ पर गिरी और तीनों लोहे के खिलौने ज़मीन पर जा गिरे। सामने की कार्निश पर बैठी हुई गौरैया अपनी चोंच में मकड़ी पकड़े हुये झटके देने लगीं। शायरी के किताब के पन्ने फिर हवा में उड़ने लगे। सारा कमरा खटपट की शोर से एक बार फिर गूँज उठा और मेरी सुप्त चेतना एक बार फिर झँझोड़ उठी। मैं अपने चारों ओर मौन विनम्र होकर देखने लगी। सहसा उन लोहे के खिलौनों को देख कर मुझे हँसी आ गई। मैंने सोचा कहाँ यह बिचारे, कहाँ अपने जीवन की अपेक्षा आदमी के जीवन की चिन्ता, उसके भीतर कितना लोहा कितनी मिट्टी है इस पर विचार-विनिमय आदि से अन्त तक लोहे के बने होने पर भी एक मामूली चिड़िया के पंख लगते ही गिर जाते हैं। खुद तो इतनी भी सामर्थ्य नहीं कि वह स्वयम् उठकर बैठ सकें लेकिन आदमी पर मज़ाक करने को यह तैयार रहते हैं...यह भी एक व्यंग्य है...कितना बड़ा व्यंग्य ?

सहसा किताब के पन्ने फिर उड़ने लगे और गौरैया मकड़े को खत्म कर के, समूचा निगल कर खाली बोतल पर बैठी-बैठी अपना चोंच साफ करने लगी और मैं इस चारों ओर के वातावरण और परिस्थिति में डूब सी गई...जैसा सारा जो कुछ मेरे सामने फैला है वह सब एक समस्या है...एक प्रश्न चिन्हों का समूह है जिस में मेरी सन्दिग्ध आत्मा एक विश्वस्त पथ ढूँढ़ना चाहती है...एक शान्ति ढूँढ़ना चाहती है...जैसे शान्ति...जीवन से विलग जीवन से पृथक् कोई अस्तित्वहीन सत्य है जो मेरी पहुँच के बाहर है...मेरी सीमा के परे है...

और इसी उलझन में सारा दिन बीत गया। सायङ्काल को हवल्दार फिर आया। उसने किराया पेशगी देकर कमरे में ताला लगाया और फिर चला गया। पेशगी देने के पहले वह बड़ी देर तक तम्बोलिन से बात करता रहा। तम्बोलिन ने उस से पूछा..."हवल्दार तुम अकेले हो कि तुम्हारे घर में भी है..."

"घर में कौन है...मैं अकेला ही हूँ...

"फिर तो खाना पानी का भी ठिकाना नहीं है...तुमको बड़ी तकलीफ़ होती होगी..."

"तकलीफ तो ज़िन्दगी में है ही है.. इस से बचने का क्या उपचार है।"

और तब उसने अपनी कथा बतलाई। उसने बताया कि किस तरह वह काफी दिनों बेकार रहा और इस बेकारी के दिनों में किस प्रकार उसकी पत्नी ने उसका साथ यह कह कर छोड़ दिया कि उस से सारा कष्ट बर्दाश्त हो जाता है लेकिन भूख का कष्ट नहीं बर्दाश्त होता और इस असह्य कष्ट के कारण वह किस प्रकार एक नौकरी मिलने पर उसे अकेला छोड़ कर चली गई। उसके जाने के बाद फिर किस प्रकार उसे इस मवेशियों के अस्पताल में चौकीदारी की नौकरी मिली और अब वह उसे किन किन मुश्किलों से निभा रहा है। उसने यह भी बताया कि अब वह महज़ चौकीदार नहीं है, धीरे-धीरे वह कम्पाउडरी का काम भी कर रहा है और उसने यह भी बताया कि उस के पास जानवरों का बोखार नापने वाला थर्मामीटर भी रहता है जिसे वह अपने पास रखता है और उनके बुख़ार और तापमान का अन्दाजा लगाता है।

इसी सिलसिले में हवल्दार ने यह भी बताया कि किस प्रकार उसकी आस्था बन्दूक से हट गई और अब वह थर्मामीटर में आ बसी है। उसे मवेशी डाक्टर बनडोले बहुत अच्छे लगते हैं। उनका रहन-सहन, उठना-बैठना, वक्त की पाबन्दी और काम करने के तरीके सब कुछ उसे पसन्द हैं और इस तरह वह उस शाम को बड़ी देर तक भारी मन लिये बैठा रहा। दूसरे रोज जब वह अपना सामान लेकर उस कोठरी में रहने आया तो उसने सब से पहला कार्य यह किया कि मुझको (खासी कुर्सी) और उसके साथ उन लोहे के खिलौनों और बन्दूक को उठा कर डाक्टर बनडोले के यहाँ पहुँचा आया। जब वह यह सब लेकर लेकर बँगले मे पहुँचा तो श्रीमती बनडोले ने बड़ी सन्दिग्ध भावना से उससे कुछ पूछा—"और तब उसने सारी कथा सुनाते हुए कहा—कि उसके लिए वह कुर्सी बेकार है...खिलौने खेलने वाला कोई है ही नहीं और बन्दूक भी बच्चो के ही खेलने लायक़ है। इसीलिए वह सारी चीज़ें बँगले पर ले आया है। उसकी बात सुनकर मेम साहब बहुत प्रसन्न हुई और जब डाक्टर बनडोले शाम को अस्पताल से लौटकर घर आये तो मेम साहब ने उनसे सारा क़िस्सा कह सुनाया और मैं डाक्टर बनडोले के यहाँ निश्चित रूप से पहुँच गई।

इधर घर लौटने पर हवल्दार ने शराब की ख़ाली बोतल को अच्छी तरह साफ़ किया और फिर अस्पताल ले जाकर वहाँ से वह उसमें एक बोतल टिंक्चर आइडिन भर लाया। वह शराब की बोतल अब हमेशा उसी टिंक्चर आइडिन से भरी रहती है और जब किसी को कोई चोट लगती है या ज़ख़्म लग जाता है तो हवल्दार उसी बोतल को

खोल कर रुई के फाहा में टिंक्चर आईडिन ज़ख्मों पर लगा देता है और फिर काग से बन्द करके उसी कार्निश पर रख आता है। अक्सर वह यह भी कहा करता है कि आदमी और जानवर की बीमारियों में कोई खास फ़र्क़ नहीं होता। दवा भी एक ही-सी लगती है। अन्तर केवल अनुपात में होता है। साथ ही साथ वह यह भी बताता है कि किस प्रकार जानवरों में भी कुछ ऐसे होते हैं जिनका मिज़ाज, रहन-सहन यहाँ तक कि बीमारी और दवा भी आदमी की तरह ही होती है। कभी-कभी वह यह भी कहता था कि छूत की बीमारी महज़ आदमी में ही नहीं है...कुछ जानवर भी होते हैं जिनको छूत की बीमारियाँ हो जाती हैं लेकिन वह यह फैसला आज तक नहीं कर सका कि यह बीमारियाँ जानवरों से इन्सान तक पहुँची हैं या इन्सान से जानवरों तक।

और आज इस वेटिंगरूम में भी सैकड़ों और हज़ारों आदमी घायल और बीमार पड़े हुए हैं लेकिन यहाँ रंगीन टिंक्चर आइडिन की बोतल का इस्तेमाल होता है। पट्टियाँ और खपच्चियाँ भी एक खास क़िस्म की ही लगाई जाती हैं लेकिन इन सबसे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि दवा चाहे जानवर के लिए हो या आदमी के लिए उसका काम दर्द को दूर करना है...और दर्द भी ऐसा कि जो सहा नहीं जाता... जिसकी तड़प और वेदना से पत्थर भी पसीज जाता है...लोहे की आँखें भी भर आती हैं और सब कुछ निःस्वाद और फीका-फीका-सा लगने लगता है।

और यही दर्द है जो मामूली से मामूली को लेकर बड़े से बड़ों तक को परीशान कर देते हैं। इनमें सृजन की शक्ति होती है क्योंकि यह सन्धि समास के माध्यम से बिखरे-बिखरे तत्वों को जोड़ देते हैं...गुत्थी-गुत्थी ज़िन्दगी को समेट कर एक स्थल पर बटोर देते हैं...आदमी महसूस करता है अपने और पराये के लिए भी...।

लेकिन इस उथल-पुथल, दर्द और पीड़ा से भरे हुए हाल में भी यह अपाहिज डाक्टर केवल पुस्तकें पढ़ रहा है...केवल मरीज़ों की मुखाकृति और उनके तड़पने को

देख-देखकर कुछ नोट कर रहा है। पूछने पर बताता है कि वह दर्द के सिमटम लिख रहा है क्योंकि उसकी दवा की पद्धति में लक्षण ही मुख्य हैं और उन लक्षणों के आधार पर ही दवा दी जाती है। नवाब का इसीलिए बार-बार यही कहना है कि दर्द चाहे एक ही क़िस्म का क्यों न हो लेकिन उसका प्रभाव हर आदमी पर बराबर-बराबर नही पड़ता क्योंकि प्रत्येक की सहन शक्ति अलग-अलग है और अलग-अलग तड़पने के, चीख़ने और चिल्लाने के, अलग-अलग मतलब हुआ करते है। निश्चय ही इसीलिए उनकी दवायें भी इसी प्रकार एक दूसरे से भिन्न और अलग होती है।

पता नहीं यह बात ठीक है या नहीं लेकिन जो कुछ सामने घटित हो रहा है उसकी अवहेलना या उसको तिरस्कृत करना, उसकी उपेक्षा करना भी व्यर्थ है क्योकि दर्द तो सत्य है, उसकी अभिव्यक्ति चाहे जैसे हो उसका उपचार चाहे जिन स्थितियों में हो।

वेटिंगरूम में बैठे हुए ख़ान और स्त्री आपस में बात कर रहे हैं। ख़ान बार-बार यही पूछता है—"कब तक यह लाइन कटी रहेगी...आख़िर अब तो कुछ न कुछ इन्त-जाम करना चाहिये।"

"क्या फ़ायदा..." नीरू ने उत्तर दिया। "हर जल्दी का काम खराब होता है। ख़ान उठो चलो...चाय पीने का वक्त हो गया है ..."

"चाय पीने में क्या रखा है...हमें तो अपने कारख़ाने पहुँचने की जल्दी है... पता नहीं आज क्या होता होगा।"

"जो होना होगा वह सब होके रहता है...उसके लिए परीशान होना ही मूर्खता है।"

और फिर दोनों चुप हो गये। भीड़ बढ़ती जाती थी। मरीज़ो के उपचार के लिए पर्याप्त डाक्टर नहीं थे, इसलिए यह शोर व गुल, हाव व हल्ला बढ़ता ही जा रहा था और हर आदमी अपनी परेशानी में डूबा हुआ था।

मवेशी-डाक्टर ववडोले और
गड़रियों की आवाज़ में कैद
आयोजन-नियोजन, रामानन्द,
इत्यादि

"......डाक्टर वनडोले के घर में जितनी घड़ियाँ थीं उन सब के लिवरें और स्प्रिंग अब ख़राब हो चुके हैं क्योंकि समय की सूक्ष्मता को जब से उन्होंने अनुभव कर लिया है तब से वह स्थूल घड़ियों के डायल के क़ायल नहीं रह गये हैं लेकिन फिर भी एक बहुत पुरानी घड़ी जिसमें सिर्फ़ डायल है और दो सुइयाँ हैं और जिसका लिवर और स्प्रिंग दोनों को बिना देखे और रेगुलेट किये ही वह मान्यरूप से ठीक मानते हैं। उनके कमरे में टॅगी है, समय-समय पर वह उसे देख लेते हैं और फिर शान्त होकर अपने कार्य में लग जाते हैं। इधर कुछ दिनो से उन्होंने एक लोहे का छोटा-सा डायल बनवा लिया है जिसको वह अपने मेज पर रखे रहते हैं। कभी उससे आवारा हवाओं में उड़ते हुए नुस्ख़ो को दबा देते हैं, कभी उससे जानवरों की जबान दबाकर उनके रोग का उपचार करने की चेष्टा करते हैं......।"

मवेशी अस्पताल के संचालक डाक्टर वनडोले अपने मतानुसार कहा करते थे...

"ज़िन्दगी की असली प्रतीक घड़ी है। आदमी की ज़िन्दगी इसी चक्र से बँधी है। मनुष्य स्वयम् उस लट्टू की भाँति आत्म-मग्न नाचा करता है जिसकी कमर घड़ी के डायल से बँधी हुई है। आदमी के लिए सिवा इसके कि लट्टू के समान अन्त तक एक मोमेन्टम के साथ नाचता जाय, कोई दूसरा चारा नहीं है। इसीलिये घड़ी के डायल के साथ-साथ सदैव अपने जीवन में मोमेन्टम बनाये रखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है...लेकिन जो तेज गति की अवहेलना करते हैं, घड़ी के चक्र का तिरस्कार करते है वह एक ठीकरे के समान ज़िन्दगी द्वारा ठुकराये जाते हैं और अन्त में इन्हीं ठोकरों से चूर-चूर होकर कब बिखर जाते हैं। कब टूक-टूक हो जाते हैं इसे कोई नहीं जान पाता।"

यही नहीं डाक्टर वनडोले यह भी कहा करते थे कि..."यह ज़िन्दगी बहुमूल्य है। इसका प्रत्येक क्षण मूल्यवान है किन्तु इस मूल्य को ग्रहण करना, स्वीकार करना केवल निश्चित आयोजन-नियोजन के माध्यम से ही सम्भव है। वह अक्सर यही सलाह देते थे कि जीवन के हर क्षेत्र में एक निश्चित प्लानिंग की जरूरत है और यह प्लानिंग ठीक उसी प्रकार ज़िन्दगी को सँभालती चलती है, ठीक उसी प्रकार लट्टू की तरह नाचने वाले मनुष्य की रक्षा करती है जैसे एंटी फ़्लोजिस्टीन फेफड़ों को जकड़ने से बचाती है...या कालेरा मिक्स्चर आदमी को मौत से बचा लेती है। रोज़ सुबह उनकी दुकान पर जानवरों की भीड़ रहती थी। जानवरों के साथ उनके मालिक भी होते थे। जानवरों का नुस्ख़ा लिखने के साथ-साथ वह मालिक को भी एक नुस्ख़ा लिख कर देते थे, उसकी कमियों को दिखलाते हुए एक प्लानिंग के अनुसार ज़िन्दगी

बिताने की सलाह-मशवरा देते थे और इस प्रकार उनके दवा बाँटने का सिलसिला चला जाता था और उनकी ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती थी।

लेकिन जानवरों की देखभाल और उनकी दवा करने के सिवा आज तक डाक्टर वनडोले को आदमी की दवा करने का अवसर नहीं मिला था। यह उनकी ज़िन्दगी की एक ऐसी असफलता थी जिसके कारण वह अक्सर अपने को और डाक्टरों से तुच्छ समझते थे। यह शिकायत उनके ज़िन्दगी की एक ऐसी कुण्ठा बन गई थी जो दिनों-दिन उनको परीशान करती जाती थी। अपनी हीन भावना को वह जितना ही सचेष्ट होकर मन से निकालना चाहते थे उतनी ही तीव्रता से उसकी कटुता उनको विषाक्त बनाये जाती थी।

यह सब स्थितियाँ मेरे सम्मुख उस समय उपस्थित हुई जब मैं सहसा हवल्दार के चंगुल से छूटकर डाक्टर वनडोले को हस्तान्तरित कर दी गई थी। यों तो हस्तान्तरित जीवन में असाधारण घटनाओं का साक्षात्कार होना कोई असम्भव नहीं है लेकिन मुझे तो खिन्नता इस बात की थी कि आदमी के ये रूप और उसकी यह शक्लें देखते-देखते मेरा जी ऊब गया था। मैं बार-बार यही चाहती थी कि इस जीवन में क्षण भर का भी यदि स्थायित्व मिल जाय, क्षण भर के लिए भी यदि मैं इन दोनों आदमियों के पहाड़ जैसे अहम् से छूट पाऊँ तो एक बार आत्मलीन होकर निरपेक्ष भाव से इनकी देखी-सुनी बातों के आधार पर इनको खरी-खोटी सुनाऊँ और इन्हें यह बता दूँ कि तुमसे अच्छी तो मैं हूँ जिसने अपने को समय, देश, काल के प्रवाह में छोड़ दिया है। फिर भी जिसकी आस्था, जिसकी आत्मा तुम सबसे शक्तिवान और स्वच्छ है।

एक हफ़्ते आये हुये हुआ था। घर का नक्शा कुछ अजीब था। जिस कमरे में मैं रक्खी गई थी उस कमरे में अनगिनत घड़ियाँ थीं। दीवाल पर हर प्रकार के क्लाक टँगे हुए थे, मेज़ पर पचीसों रिस्ट वाच रक्खी हुई थीं, दीवाल से लगे हुए आतशदान के ऊपर पचासों टाईमपीस रखे हुए थे और जब यह सब घड़ियाँ किट-किट, किट-किट करके चारों ओर से अपनी हिंसात्मक ध्वनि के साथ कोरस का गान करती थीं तो मेरा दिल धड़कने लगता था। स्वयम् मुझे अपने से भय लगने लगता था—लेकिन मैं देखती थी कि इसी कमरे में बैठकर डाक्टर वनडोले रोज़ रात को नियमित रूप से जानवरों के अंजर-पंजर का अध्ययन करते रहते थे। यहीं पर नित्य श्रीमती दिव्या देवी और डाक्टर वनडोले की धर्म-पत्नी श्रीमती वासन्ती वनडोले अपने-अपने जीवन की सीमन उधेड़कर उसके बिखरे तागों को जोड़ने की कोशिश करती थीं और एक गहरी मुस्कान के साथ दोनों जो कुछ है उसे स्वीकार करके अपने-अपने घर चली जाती थीं।

और डाक्टर वनडोले की यह समय-उपासना, यह प्लानिंग समस्त चन्दनपुर में इतनी विख्यात हो चुकी थी कि जब वह अपनी लाल रिक्शा गाड़ी में घोड़ा जोत

कर स्वयम् हाँकते हुए निकलते थे तो लोग अपनी-अपनी घड़ियाँ ठीक कर लेते थे। यहाँ तक कि रेलवे की घड़ी भी उन्हीं को देखकर फ़ास्ट और स्लो कर ली जाती थी और स्टेशन मास्टर यह कहा करता था—"इस उदास जंगली स्थान में भी यदि कोई व्यक्ति समय के बंधन को स्वीकार करता है तो वह मवेशी डाक्टर वनडोले ही है... अन्यथा सभी समय का ध्यान नही रखते और न उसका मूल्य ही समझते हैं।" इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण तो यह था कि उनके प्लानिंग और समय-सुविधा का ही यह परिणाम था कि उनकी शादी की वर्षगाँठ एवम् स्वयम् उनके, और उनके बच्चों की वर्षगाँठें ठीक एक ही दिन पड़ते थे और वह दिन था २९ फरवरी। इस २९ फरवरी के कई पहलू थे। एक तो यह तिथि चार साल में एक बार आती थी और वह भी इस प्रकार कि एक वर्षगाँठ का उत्सव मनाकर वह सभी वर्षगाँठें और जन्मदिनों की खुशियाँ मना लेते थे। यही नहीं यह भी उनके प्लानिंग का ही नतीजा था कि उनके पास केवल दो गायों के होते हुए कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया जब कि उन्होंने शुद्ध दूध का सेवन न किया हो। यह दोनों गायें भी कुछ ऐसा नियमबद्ध और अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं कि उनमें से एक न एक दूध देती ही रहती थी और इस प्रकार वह अपने बनाये हुए नियमानुसार सदैव गाय का शुद्ध दूध ही पीते थे और अपनी पुष्ट सन्तानों को अपनी प्लानिंग के अनुसार जीवन व्यतीत करने का आदेश भी देते थे।

डाक्टर वनडोले के चार बच्चे थे। प्रत्येक की आयु में समान रूप से ४ साल का अन्तर था। सबके सब बच्चे विभिन्न प्रकार के पूर्व निश्चित प्लानिंग के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। यहाँ तक कि इनकी जन्मकुण्डली के साथ-साथ एक-एक प्लानिंग का नकशा भी टँका हुआ था जिसके अनुसार डाक्टर वनडोले ने यह पूर्व निश्चित कर दिया था कि उनमे से कौन डाक्टर होगा, कौन इंजीनियर होगा और कौन एक स्वस्थ एग्रीकल्चरिस्ट होगा। इसी नक़्शे के अनुसार उन बच्चों का रहन-सहन, खेल-कूद, पढ़ाई-लिखाई एक निश्चित अनुशासन के अन्तर्गत सञ्चालित किया जाता था। इसकी बारीकी मुझे उस समय ज्ञात हुई जब एक रोज़ दोपहर में बच्चे आपस में लड़ने लगे थे। लड़ाई भी इस बात पर शुरू हुई कि उनका सबसे छोटा बच्चा जो केवल पाँच साल का था, अपने सबसे बड़े भाई के खिलौनों से खेलना चाहता था। लेकिन अनुशासन के अनुसार वह उसे नहीं दिया जाता था। बात कुछ यों थी कि बड़ा लड़का जो एग्रीकल्चरिस्ट बनाया जा रहा था उसका खिलौना अलग था। उसे केवल हल, बैल के खिलौने मिले थे। इसके विपरीत जो सबसे छोटा था उसे चाकू, खल, बट्टा इत्यादि चीज़ें खेलने को मिली थीं। छोटे बच्चे को बड़े के बैल अच्छे लगते थे और वह रोज उससे माँगता था लेकिन डाक्टर वनडोले की आज्ञानुसार उसे ये खिलौने

इसलिए नहीं दिये जाते थे क्योंकि उससे उसके ध्यान में एक अनावश्यक 'डेवियेशन' पैदा हो जाता और वह सारी प्लानिंग नष्ट हो जाती जो उसके जन्म-पत्री के साथ बड़ी मेहनत से बनाकर नत्थी कर दी गई थी। इस अनुशासन के अन्तर्गत वह बच्चा दिन भर रोता रहा लेकिन क्या डाक्टर वनडोले और क्या उनकी श्रीमती जी, उनमें से किसी ने भी प्लानिंग के अतिरिक्त उसे खिलौना देना स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि शाम को उसे बुख़ार आ गया था और वह चार दिन तक बीमार रहा। जब अच्छा हुआ तो फिर उसे वही खल-बट्टे वाले खिलौने ही खेलने को मिले, वही दवाओं और मरीज़ों वाले नाटक चलने लगे और अन्त में डाक्टर वनडोले को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उसकी रुचि फिर उन खेलों में हो गई है जो प्लानिंग के अनुसार उसके लिए पूर्व निश्चित कर दिये गये थे।

मैं यह सब देखकर चकित थी कि इसी बीच २९ फरवरी भी आ टपकी। डाक्टर वनडोले ने २९ फरवरी को अपने विवाह के वर्षगाँठ के अवसर पर यानी अपने बच्चों, अपनी बीबी और अपने विवाह के वर्षगाँठ के अवसर पर—काफी अच्छी ख़ासी दावत दी। यह दिन भी काफी सोच-समझ कर चुना गया था। चार साल बाद हर लीपइयर में ही २९ तारीख पड़ती थी। प्लानिंग का यह एक विशेष लाभ था कि डाक्टर वनडोले को हर साल, साल में कई बार यह त्योहार नही मनाने पड़ते थे। यह भी प्लानिंग ही की सफलता थी कि विवाह से लेकर प्रत्येक जन्म-तिथि भी उसी दिन पड़ती थी। इस दावत के बाद सात दिन तक वह जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते रहे उसका उनके जीवन में एक विशेष महत्व है। यों तो डाक्टर वनडोले अपने उस सात दिन के जीवन को पलायन और प्रतिक्रियावादी—डेवियेशन ही मानते लेकिन इन दिनों में उन्हें जो अनुभव हुआ, वह जिन-जिन परिस्थितियों से पार हुए हैं वह काफी दिलचस्प है। यदि इस सात दिन के जीवन को एक धागे में पिरो कर देखा जाय तो इसे डाक्टर वनडोले के जीवन का रोमांसवादी काल ही कहा जा सकता है क्योंकि इन दिनों वह केवल रोमांस ही करते रहे। यहाँ तक कि उनकी प्लानिंग, उनकी समय उपासना, उनकी दवा, उनका धर्म-ईमान और आचार विचार सभी कुछ रोमांस पर आधारित हो गये थे और उन्हें यह अनुभव हुआ था कि जीवन केवल गति ही गति नहीं है उसमें कहीं ठहराव का भी एक निश्चित योग है और उस योग का भी एक निश्चित आशय है, एक दृष्टिगत मन्तव्य है। कहते हैं रसानुभूति एक दिव्य चेतन-शक्ति है जो द्रवित होकर मनुष्य का रूप बदल देती है। यद्यपि डाक्टर वनडोले यह नहीं मानते थे तो भी यह अवसर उन्हे महज़ इसलिये मिला क्योंकि जानवरों की दवा करते-करते, अमिताभ सिद्धार्थ की भाँति उनको एक जोड़े फाख़ते के दर्शन हुए जो उनकी दूकान में घोंसला बनाकर रहने लगे थे। डा० वनडोले ने बहुत कोशिश की

लेकिन वे फाख़ते वहाँ से हटना ही नहीं जानते थे। उस दिन भी वह उन्हें हटाने की कोशिश कर रहे थे लेकिन वे थे कि बार-बार लौट आते थे और आकर वहीं बैठ जाते थे। अभी यह उपक्रम चल ही रहा था कि "कल्लन" तीतरबाज़ अपने तीतर के जोड़े वाला पिंजड़ा लेकर मवेशीख़ाने में आया। पिंजड़े में से मादा तीतर निकालकर डा० वनडोले की मेज पर रखते हुए बोला—"डाक्टर साहब आज तो मेरी नाक कट गई। पहाड़ी ढलवान पर मैंने मानिकपुर वालों से तीतर की लड़ाई की एक बाजी बदी थी और उसमें मैं हार गया।

इतना तेज़ नर जिसे खिला-खिलाकर हमने पाला था आज ऐसा बुत पड़ा साहब कि एक वार का जवाब नही दे पाया...और इस सब का कारण केवल यह था कि मादा इस प्रकार मुर्दे के समान पिंजड़े में बैठी थी कि एक बार भी इसने आवाज़ नहीं दी...एक बार भी इसने नर को उत्तेजित नहीं किया।"

"तो इसमें मैं क्या कर सकता हूँ...तुम्हारा दिमाग़ ख़राब है, जो तीतरबाजी में अपना इतना समय नष्ट करते हो...ले जाओ अपना तीतर पिंजड़े में रखो...इसकी दवा मेरी दूकान में नही मिलती।"

"खैर आप दवा दें या न दें डाक्टर साहब लेकिन एक बार इसका दिल तो देख लीजिये...क्या इसमें कोई कमजोरी आ गई है...या यह बुड्ढी हो गई है... आख़िर बात क्या है...जो अपने ललकार से मैदान गुँजा देती थी, वह एकदम ख़ामोश क्यों है..."

डा० वनडोले ने देखा कि बग़ैर उसको देखे छुटकारा नहीं मिलने वाला है। इसलिए उन्होंने आला निकाला। थर्मामीटर लगाया। सब कुछ उलट-फेर कर देखा और अन्त में उन्होंने बताया कि उसे कुछ नही हुआ है...उसका दिल बिल्कुल ठीक है, स्वास्थ्य बड़ा सुन्दर है, नब्ज़ भी ठीक चलती है, शरीर का तापमान भी ठीक है... यह केवल उसके मूड की बात थी जो वह आज की लड़ाई में नहीं बोली...

"यह मूड क्या होता है डाक्टर साहब"—कल्लन मियाँ ने दबे हुए कण्ठ से पूछा और तीतर पकड़कर पिंजड़े में बन्द करने लगे।

"मूड मूड ही है भाई...जैसे किसी काम को करने की तबियत होना...किसी काम करने [illegible] ।...मूड वही है जो हम लोगों को हो जाता है..."

"तो क्या मूड की बीमारी आदमी को भी होती है, डाक्टर साहब"—कल्लन मियाँ ने उत्सुकता से पूछा—

"मूड कोई बीमारी नहीं है जी...बस मूड के माने तबियत है, तबियत।"

और इस उत्तर के बाद डाक्टर साहब ख़ामोश हो गये। कल्लन मियाँ

वहाँ से चले गये। डा० साहब स्वयम् इस "मूड" की व्याख्या में उलझ गये। बैलों, गदहों और घोड़ों की नब्ज़ देखते-देखते उनकी तबियत ऊब गई थी। इसीलिए वह अपनी शून्य दृष्टि से दुकान की दीवाल पर कार्निश के ऊपर बने हुए फूल और बेल को ग़ौर से देखने लगे। उनकी मानसिक प्रक्रिया और भी आगे बढ़ने लगी। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि ससार मे दो प्रकार के लोग हैं, एक वह जो तीतर की तरह ज़िन्दगी बिता देते हैं, लड़ते हैं, दौड़ते-धूपते हैं, सारा दिन, सारी रात संघर्ष करते रहते हैं लेकिन फिर भी शान्ति नही पाते और कुछ ऐसे हैं जो इस फ़ाख्ते की तरह मौन, शान्त बैठकर भी उस सारे सुख का रस लेते हैं जो तीतर केवल एक बोल के लिए लड़कर लेता है। इस तरह सोचते-सोचते डा० वनडोले ने यह अनुभव किया कि संसार में प्रेम, रोमांस और प्रणय लीला के लिए किसी प्लानिंग की आवश्यकता नहीं होती, वह मौन रूप से एकाग्र चित्त होकर भी हो सकती है। यहाँ तक कि यह सब सोचते-सोचते उन्होंने यह अनुभव किया कि उनकी आज तक की ज़िन्दगी महज़ बेकार गई है और उन्होंने केवल उस नर तीतर का जीवन बिताया है जो केवल लड़ना, दौड़ना और संघर्षशील रहना ही अपने जीवन का ध्येय मान बैठा है। उसी आवेश में डाक्टर वनडोले ने एक सप्ताह की छुट्टी ली और एक बिना प्लानिंग के रोमांस को सार्थक करने के लिए चार बच्चों की माँ श्रीमती वासन्ती वनडोले को बिना सूचना दिये कुछ अद्भुत लीला करने पर तत्पर हो गये।

श्री डाक्टर वनडोले की आयु इस समय लगभग चालीस की हो चुकी थी लेकिन देखने से तीस साल के ही लगते थे। उनकी पत्नी श्रीमती वासन्ती वनडोले भी लगभग पैंतीस साल की हो चुकी थीं। डा० वनडोले नाटे क़द, भूरे रंग के तपे-तपाये व्यक्ति थे, उनकी नीली कंजी आँखों में एक अजीब भयानकता थी। उनके भूरे बेलौस बाल हमेशा खड़े रहते थे, मोटी, भद्दी और चिपटी उँगलियों पर भद्दे अर्द्ध चन्द्राकार नाख़ून इस बात के साक्षी थे कि वह जिस चीज़ को, जिस बात को एक बार पकड़ लेंगे वह उनके चंगुल से कभी भी नहीं छूटेगी और यह भी सत्य है कि उनकी बुद्धि में समाई हुई बात सदैव एक जकड़ी हुई फाँस-सी लगती है जिसे वह कभी भी अपने दिमाग़ से नहीं निकालते और न निकालने की कोशिश ही करते हैं। यह भी एक सत्य है कि डा० वनडोले अपनी लम्बी-चौड़ी, हृष्ट-पुष्ट पत्नी के स्वस्थ सौन्दर्य से उतने ही प्रभावित थे जितना कि पाश्चात्य डाक्टरों के नुस्ख़ों से जो सदैव किसी बैल की बदहज़मी या घोड़े का सिर दर्द दूर करने के लिए राम बाण-सी अमोघ सिद्ध होती थी। साधारणतया छोटे क़द के होने के कारण डाक्टर को उनकी पत्नी "बाब साहब" कहा करती थीं—"और उनके बच्चे उन्हें "बे-बे" कहते थे। डाक्टर वनडोले अपनी पत्नी से प्रेम करने के साथ-साथ डरते भी थे क्योंकि उसमें एक

बेतहाशा झिड़कने की आदत भी थी, जिसको सहन करने की क्षमता डा० वनडोले में नहीं थी। वह बहुधा इस शैली की डाँट के संसर्ग से अपने को मुक्त रखना चाहते थे और वासन्ती वनडोले के मनोनुकूल ही हर एक काम करना उचित समझते थे। कहते हैं वासन्ती वनडोले को विवाह के पहले साहित्य और कला से भी ख़ासी दिलचस्पी थी क्योंकि उनकी सखी दिव्या देवी जो आजकल साहित्य छोड़कर केवल संगीतज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उनकी घनिष्ठ प्रशंसकों में से थीं। शादी के बाद श्रीमती वनडोले ने डा० वनडोले को कई प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ पढ़कर सुनाई थीं और जब उसने यह देखा कि मवेशी डाक्टर न तो वसन्त का मतलब समझते हैं न फूल का, न भँवरे का सन्देश समझते हैं, न कोयल की आवाज़ की जुगाड़ लगा सकते हैं, तब वह मौन होकर स्थिति परिस्थिति से समझौता करके मन मार कर बैठ गई थी। कहते हैं कि किताबों को दीमक चाट गये हैं और श्रीमती वासन्ती वनडोले भी समय के साथ-साथ साहित्य भी भूल बैठी हैं। अब वासन्ती वनडोले ने एक तोता पाल रखा था जिसे उसने कुछ कवियों की कविता याद करा दी थीं और जब वह तोता चीं-चीं करके कुछ प्रसन्न होकर बोलता है तब वासन्ती वनडोले केवल मुस्कुरा कर रह जाती है।

सारांश यह कि घर पहुँचते ही डा० वनडोले ने अपनी पत्नी को सूचित करते हुए बतलाया कि आज से उन्होंने एक हफ़्ते की छुट्टी ले ली है और वह छुट्टी केवल मौज करने के लिए है, क्योंकि अब धीरे-धीरे उनके समझ में प्रेम और रोमांस का मतलब आने लगा है और उन्हें यह लगता है कि जिस प्रकार की ज़िन्दगी वह बिता रहे हैं वह डल है, उसमें कोई गति नहीं है क्योंकि उसमें बन्धन ही बन्धन है...मुक्ति का कहीं नाम नहीं है और इस लम्बी व्याख्या को सुनने के बाद श्रीमती वासन्ती वनडोले ने कहा—

"क्या कहा बाब तुमने...ज़रा फिर से तो कहना..."

"फिर से क्या क ः...क्या इतनी-सी बात तुम्हारे समझ में नहीं आती..."

"समझती तो सब हूँ बाब लेकिन ज़रा सुनना चाहती हूँ कि तुम कह क्या रहे हो...यह प्रेम और रोमांस की बीमारी तुम्हें कहाँ से लग गई जो आज चालीस साल की उमर में दूकान बन्द करके घर चले आये हो।"

"बीमारी-ऊमारी मुझे थोड़े लगी है, मैं तो बस ज़रा इस रोमांस को भी नज़दीक से देखना चाहता हूँ..."

"अच्छा जी...यह बात है...अभी मेरे हाथ में आटा लगा हुआ है...कड़ाही का घी जल रहा है...तुम बैठो वहाँ मैं अभी आई।"

और वासन्ती वनडोले ने जल्दी-जल्दी थाल में आटा सना कड़ाही में पूड़ियाँ डाली...उबलते हुए दूध को नीचे उतार कर रक्खा और डाक्टर वनडोले वहीं कुर्सी

पर चुपचाप बैठे-बैठे यह सब देखते रहे। उन्हें लगा जैसे वह और वासन्ती वनडोले फ़ाख़्ते के समान हैं जो दवाख़ाने के कार्निश पर बैठे-बैठे एक-टक एक दूसरे को देखते रहते हैं और संसार के सभी रसों का ज्ञान, सभी रसों का स्वाद अपनी मौनता में घोल कर पी जाते हैं। इस मौन संवेदनशील स्थिति में वनडोले की पत्नी का हाव-भाव यहाँ तक कि हाथ उठाना, साड़ी सँभालना, पूड़ी बेलना यह सब स्थितियाँ ऐसी थीं कि जिनसे एक विशेष प्रकार का रोमांस-सा डा० वनडोले अनुभव करते थे...और, रह-रह कर अपने ही मन में कह पड़ते..."अरे...वाह...वासन्ती में भी वह सभी गुण हैं जो किसी भी सुन्दर और स्वस्थ नायिका के लिए आवश्यक हैं।"

आयु और अनुभव की गम्भीरता के कारण श्रीमती वनडोले के चेहरे पर एक प्रकार की गम्भीरता और प्रौढ़ता आ गई थी। इसीलिए वह मन ही मन डा० वनडोले की बातें सोचकर कुछ खीझ भी रही थीं। पूड़ियाँ समाप्त करके वासन्ती ने अपना हाथ धो डाला और फिर दौड़ी हुई कमरे में गई और वहाँ से एक गिलास सादा पानी लेकर वापस लौटी। शीशे के गिलास में सादा पानी चमक रहा था, बाहर कुछ बूँदें टपक रही थीं। कमरे से डा० वनडोले के पास तक आने से पानी की एक गाढ़ी काली लकीर कच्चे फ़र्श पर पड़ गई थी जिसे देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे एक काला साँप दरवाज़े से भीतर तक लेटा हो और उसकी कुण्डलियों में कुछ ऐसी गाँठें पड़ गई हों जो छुड़ाने से भी न छूटती हों। पास आकर वासन्ती ने गिलास का पानी हाथ में दिया। फिर कुछ कहने ही वाली थी कि डा० वनडोले ने कलाई पकड़ ली। श्रीमती वनडोले ने डाँटते हुए कहा—

"यह क्या कर रहे हो...दिमाग़ ठिकाने नहीं है क्या।" और इस पर भी जब डा० वनडोले ने हाथ नहीं छोड़ा तो अपनी कलाई को ऐंठते हुए श्रीमती वनडोले ने फिर उसी वाक्य को दूसरी प्रकार से दुहराते हुए कहा—"क्या हो गया है तुम्हे... कहीं कोई बीबी से रोमांस करता है...छिः...छिः।"

और अब तक कलाई की चूड़ियाँ टूट चुकी थीं। काँच के टुकड़े हाथ मे धँस गये थे। हथेली से ख़ून की बूँदें टपकने लगी थीं। यह सब ऐसे अनजान मे घटित हो गया था कि जिसको देखकर डा० वनडोले और श्रीमती वनडोले दोनों ही आश्चर्य से चकित हो गये थे। काँच की कनी सख़्त पर्तों को चीर कर भीतर घुस गई थी और डा० वनडोले को उसका किरकिरापन अनुभव हो रहा था। मवेशी डाक्टर थे, इसलिये सहसा ख़्याल आया कि काँच का धँसना या निगलना हानिकारक है। उन्हें उस भैंसे का भी चित्र याद आया जिसने एक काँच का टुकडा निगल लिया था और जिसके कारण उसे तड़प-तड़पकर मरना पड़ा था। उन्हें लगा कि काँच के टुकड़ों को यदि अभी

चिमटे से पकड़कर निकाल नहीं दिया जायगा तो वह भीतर घुसते जायँगे और उनकी तकलीफ अधिक बढ़ती जायगी।

"मैं कह रही थी न बेवक्त शहनाई कभी भी अच्छी नहीं लगती।"

"जल्दी से आपरेशन का बक्स उठा लाओ...काँच के टुकड़ों को निकालकर अभी ड्रेसिंग कर लूँ, नहीं यह टुकड़े आफ़त ढा देंगे आफ़त..."

और दूसरे ही क्षण श्रीमती वनडोले आपरेशन बाक्स उठा लाईं। उसमें से चिमटी निकालकर हाथ में देते हुए बोलीं—"तुम निकालो तब तक मैं पानी गर्म कर दूँ..." और फ़ौरन चौके में जाकर उन्होंने अँगीठी में पानी उबलने के लिए रख दिया और इस बीच डा० वनडोले चिमटी से काँच की कनियों को निकालने की कोशिश करते रहे। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब नहीं निकाल पाये तो अन्त में वासन्ती के हाथ में चिमटी देते हुए कहा—

"लगता है टुकड़े काफ़ी भीतर घुस गये हैं...ज़रा तुम्हीं निकालो।"

वासन्ती ने साहस करके चिमटी के सहारे कनियों को निकाला लेकिन इसके साथ खून भी काफ़ी निकल आया। गर्म पानी से हाथ धोने के बाद डा० वनडोले ने लाल दवा बाँध कर पट्टी बाँधी और फिर वह कमरे में चले गये। श्रीमती वनडोले ने बिखरे हुए काँच के टुकड़ों को आँचल से बटोर डाला और चूमकर खपरैल पर फेंक दिया। कहते हैं टूटी हुई चूड़ियों को चूम करके ही फेंकना चाहिये क्योंकि वह सोहाग की प्रतीक हैं और सोहाग की हर चीज़ को आदर के साथ तिरस्कृत भी करना चाहिये। तिरस्कार में भी आदर की सम्भावनायें जब रूढ़ि बन जाती हैं तब चाहे उन्हें झाड़ू से भी चूमकर बटोर लेना अन्यथा नहीं है। कभी जब वह झाड़ू से चूड़ियाँ बटोर रही थीं तो अगम पण्डित की पत्नी गौरी भी वहाँ मौजूद थी और उसने कहा था—"यह आप क्या कर रही हैं...सोहाग की चीज़ है इसे आँचल से बटोरना चाहिये..." फिर गौरी ने उन्हें यह भी बताया था कि उसे फेंक नहीं देना चाहिये बल्कि चूमकर फेंकना चाहिये...फिर यह बतलाया था कि चूमकर कूड़े में नहीं खपरैल पर फेंकना चाहिये ताकि किसी के पैर के नीचे या जूते के नीचे न पड़े...इससे सोहाग का अपमान होता है...और तब से श्रीमती वनडोले इस एक नियम का पालन करती आ रही हैं और शायद करती जायँगी।

आज भी जब श्रीमती वनडोले काँच के टुकड़े बटोरकर फेंक रही थीं तभी अपने एक नौकर के साथ गौरी आई और घर में घुसते ही श्रीमती वनडोले की सूनी कलाई देखकर बोली—"अरे यह आपने क्या किया। हाथ में कम से कम एक-एक चूड़ी तो डाल लीजिये।"

"अभी-अभी तो टूटी है...पहन लेती हूँ ।"

"अभी टूटने से क्या हुआ...आपको पहले चूड़ियाँ पहननी चाहिये थी, फिर दूसरा काम करना चाहिये था...सोहाग की बात है...इसका बना रहना क्या कम है ।"

"हाँ ठीक ही कहती हो...लेकिन यह सब बातें तो मन की होती हैं बहन... चूड़ियाँ तो केवल एक बहाना है...सिर्फ बहाना..." श्रीमती वनडोले ने कहा—

"क्या कहती हो...कभी सोचा है...मुझ ही को देखो...पंडित नहीं हैं तो क्या हुआ लेकिन मैंने अपनी सोहाग की चीज़ कभी नहीं छोड़ी...चूड़ियाँ पहनती हूँ, सिन्दूर लगाती हूँ...नहाने के बाद बिना महावर लगाये पानी तक नहीं पीती... सोहागिन के लिये यह सब जरूरी है...बिल्कुल ज़रूरी ।"

श्रीमती वनडोले आपरेशन बाक्स को बन्द करते हुए गौरी की बातें सुनती रहीं और फिर ख़ामोश होकर भीतर चली गईं । बक्स रखकर जब वापस आईं तो देखा गौरी मटर की फलियाँ छील रही थीं । दूध अभी तक उबल रहा था...उसको गिरते देखकर गौरी ने दूध नीचे उतार दिया और मटर की फलियाँ छीलने में व्यस्त हो गई । श्रीमती वनडोले जब आँगन में आईं तो गौरी को यह सब करते देख कर खुद भी वहीं बैठ गईं । बातें होने लगीं । गौरी ने कहा—"दिन काट रही हूँ...पण्डित का कुछ पता नहीं है...सारा कारोबार ठप पड़ा है..."

"गनपत शास्त्री तो है...मैंने सुना वह तो सारा कारोबार सम्भाल लेते हैं..."

"कुछ भी हो...जो सुख और सुविधा अपने से मिलती है वह पराये से कब मिल सकती है...कहाँ अपने भाग्य में बहन..."

"हाँ यह तो ठीक ही है..." श्रीमती वनडोले ने वाक्य को खींच कर कसते हुए गौरी की बात का समर्थन किया । बातें यों ही चलने लगी । डाक्टर वनडोले से लेकर, हाथी, घोड़े, गाय, भैंस तक बात आई । गौरी ने बतलाया कि किस प्रकार उसके अस्तबल में अब घोड़ों के नाम पर केवल पँचकल्यानी घोड़ा ही रह गया था... किस तरह एक-एक करके गायें बिकती गईं और फिर नई गायें आ सकीं । धीरे-धीरे उसके अपने मन की सारी गाँठ खोलते हुए कहा—"यह कुछ पूर्वजन्म का ही पाप है नहीं तो क्या पण्डित यों ही चले जाते । आगे का भी क्या सहारा...न तो कोई बात दीख पड़ती है और न कोई आशा ही है..."

और इसी सिलसिले में बात करते-करते गौरी ने अपने आने का मन्तव्य भी बतलाया । सारी मन की व्यथा कह चुकने के बाद उसने कहा—"पिछले पाँच दिनों से घोड़े की हालत ज़्यादा ख़राब है..."

गनपत शास्त्री से इतना कहा एक बार तुम्हारे यहाँ आकर दवा ले जाते लेकिन यह है कि कुछ सुनता ही नहीं...और मैं यह सोचती हूँ कि बीमारी चाहे आदमी

की हो या जानवर को...दुःख दोनो ही को होता है...और इस दुःख से उबारना भी बड़ा पुण्य है..."

श्रीमती वनडोले ने भी गौरी का समर्थन करते हुए आदमी और घोड़े में किसी भी प्रकार की भेद भावना रखना असंगत बतलाया। यही नहीं आदमी और घोड़े की पीड़ा, व्यथा, को समान बतलाया दर्द की सीमाओं को समान बतलाया और यह आश्वासन दिया कि वह डाक्टर को आज शाम को ज़रूर घोड़ों को देखने के लिए भेज देंगी। इस सिलसिले में गौरी ने डाक्टर वनडोले की प्रशंसा में दो-चार वाक्य भी कह सुनाये...जैसे चलते समय कहा—"कुछ भी हो बहन तुम्हारे पति के बारे में मैंने सभी से सुना है...सभी कहते हैं चन्दनपुर में उनसे बढ़ कर कोई आदमी नहीं...और आदमी भी क्या सब इसको मानते हैं कि डाक्टर पूरे गऊ हैं गऊ..."

श्रीमती वनडोले को यह उपमा खली तो लेकिन वह कुछ कह नहीं सकीं केवल स्वीकृति में माथा हिला कर रह गईं और दरवाज़े तक पहुँचते-पहुँचते गौरी ने एक बार फिर कहा—"देखना बहन...बुरा मत मानना...तकलीफ़ तो होगी लेकिन..."

और जब वह घर से निकलीं तो हवल्दार बाहर बैठा-बैठा ऊँघ रहा था। श्रीमती वनडोले को बाहर दरवाज़े के पास तक आते देखकर चौंक उठा और फिर खड़ा होकर उसने श्रीमती वनडोले और गौरी दोनों ही को प्रणाम किया। श्रीमती वनडोले ने हवल्दार को आदेश देते हुये कहा कि गौरी को उनके घर तक पहुँचा दे और हवल्दार केवल एक संकेत से ही गौरी के आगे-आगे चलने लगा और जब धीरे-धीरे करके वह अगम पण्डित के घर के पास पहुँचा...वह विलासभवन, वह हाता, वह घोड़साल देखा...और बरामदे में बैठे एक गोलमटोल पण्डित को गद्दी पर बैठे देखा तो न जाने कौन-कौन सी बातें उसके ध्यान में आने लगीं...और द्वार पर पहुँचकर उसने बड़े ऊँचे स्वर के पूछा—"यह तो अगम पण्डित का घर है..."

"हाँ..."

"और अब कहाँ हैं पण्डित..."

इस बात पर गौरी चुप रही। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वह एक झटके के साथ घर के भीतर चली गई और हवल्दार दरवाजे पर बैठा हुआ वह गोलमटोल आदमी कौन है..."यह स्त्री कौन है" यही सोचता रहा और अन्त तक उसके समझ में नहीं आया तो फिर आकर वहीं अपने स्थान पर बैठ गया और ऊँघने लगा।

हवल्दार के लौटने पर भी डाक्टर वनडोले अपने कमरे बैठे हुए थे...चारों ओर घड़ियाँ टिक-टिक करके चल रही थीं। लोहे के खिलौने पेपरवेट की तरह मेज़ पर बिखरे हुए थे और डाक्टर वनडोले कुछ सोचने में व्यस्त थे।

हाथ में काँच की टूटी हुई चूड़ियों का घाव देखकर डा० वनडोले के दिमाग़ में दो बातें आईं। पहली तो यह कि उनके रोमांस की भूमिका पूर्णतया सफल थी। सिनेमा के देखे गये रोमांस के अनुसार नायक का हाथ भी कटा और नायिका की परीशानी भी बढ़ी, नायिका ने हाथ में पट्टी बाँधी और पट्टी बाँधने के बाद नायक एक निश्चित स्थान पर रोगी की तरह पड़ा भी रहा लेकिन जो बात डा० वनडोले की समझ में नहीं आती थी वह यह कि इतना सब होते हुए भी वासन्ती की बातचीत, उसके भाव उद्‌गार क्यों नहीं स्वाभाविक और सुन्दर रूप में प्रस्तुत हो सके। वह क्यों बार-बार उन्हें डाँटती-फटकारती रही, क्यों व्यंग्य के लहजे में वह यही कहती रही कि...

"अच्छा जी...यह बात है...प्रेम और रोमांस की बीमारी तुम्हें कहाँ से लग गई जो इस बुढ़ापे में..."

और इतनी-सी बात सोच कर डा० वनडोले उत्तेजित हो गये। सोचने लगे... बुढ़ापा क्या चीज़ है...बूढ़ा तो वही आदमी होता है जो समय को मुट्ठियों में बाँध नहीं पाता...और मुट्ठियाँ भी क्या हैं जो जीवन को पकड़ने की साधन है और साधन भी क्या है यह तो महज़ एक माध्यम है, ठीक वैसे ही जैसे किसी मंजिल तक किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए एक योजना की आवश्यकता है योजना...केवल योजना...

और फिर एक दूसरी बात दिमाग़ में आई। सोचा यदि साधन योजना ही है तो फिर दुनिया का कोई काम यहाँ तक कि रोमांस भी बिना योजना के नहीं हो सकता और इसी भावावेश में आकर डा० वनडोले ने अपनी नोटबुक निकाली उसके ऊपर बड़े मोटे हरफ़ों में काँपते और ज़ख़्मी हाथों से लिखा योजना...योजना...और यह लिख चुकने के बाद उन्हे यह महसूस हुआ कि ज़ख़्मी और घायल हाथों से लिखी गई योजना कहाँ तक सफल हो सकती है...घायल हाथों में पड़ी हुई योजना तो स्वयम् एक व्यंग्य है उसमें क्या सफलता मिलेगी लेकिन दूसरे ही क्षण उन्होंने हर मामूली सी बात को अपने दिमाग़ से चुभते हुये काँटे की भाँति निकाल फेंका और पेन्सिल से कुछ लिखने के लिए तत्पर हुये। कुछ लिखने ही वाले थे कि फिर उनके दिमाग़ में वही दुकान का नकशा...कानिश, कानिश के नीचे बेलबूटे...और उन बेल-बूटों के साथ कानिश पर बैठा हुआ एक फ़ाख़्ते का जोड़ा जिनकी आँखों की ख़ामोशी में डूबी हुई असंख्य संवेदनायें थीं। जिनकी शान्ति मुद्रा में बर्बस ही अपना लेने की उत्कट इच्छा थी और जिनकी अनुभूतियों में उस ठंडे, शीतल झील के उपर खेलते हुए पक्षियों का कौतूहल था जो समय और काल की मुट्ठियों से परे है...उसके बन्धन से मुक्त है। और उन पक्षियों की याद आते ही डाक्टर वनडोले ने अपनी पेन्सिल रख दी, डायरी बन्द कर दी और चुपचाप बिना योजना के चलने के लिए तत्पर हुए। उन्हें अपने विद्यार्थी काल में पढ़े हुए जीवविज्ञान में विभिन्न जानवरों के

प्रणय और प्रेम करने के विनय-अनुनय, भाव अभिनय के तरीके याद आने लगे। साथ में ही उनको अपने विद्यार्थी काल की वह घटनायें भी याद हो आईं जब लोग उन्हें चिढ़ाते थे... न जाने क्या-क्या कहते थे।

लेकिन शादी हो जाने के बाद डा० वनडोले को शादी की खुशी का अनुभव नहीं हुआ था। उन्हें योजना की सफलता की खुशी हुई थी। उन्हें श्रीमती वनडोले को पाकर प्रसन्नता नहीं हुई थी वरन् मित्रों को नीचा दिखाने में प्रसन्नता हुई थी... उन्हें यौवन की सूक्ष्म अनुभूतियों की जिज्ञासा नहो हुई थी, उन्हें उत्सुकता इस बात के प्रति थी कि उनका होटल का खाना छूट गया था, घर पर खाना मिलने लगा था, पैसे की बचत होने लगी थी। निश्छल और चरित्रवान् होते हुये भी उन्हें कभी इसका ध्यान नहीं हो सका था कि प्रेम प्रणय और रोमांस का भी जीवन में स्थान है वरन् उनका ध्यान इस बात पर था कि दुनिया में और लोगों की तरह उनकी भी बीबी है और इससे भी बढ़कर दो-चार जाने-पहचाने लोगों में "वाइफ़ यह कहती है" "वाइफ़ को यह पसन्द नहीं है", "वाइफ़ बहुत अच्छा खाना बनाती है" इत्यादि कह सकने के आकर्षण के प्रति उनकी जिज्ञासा हो गई थी। दो-चार बच्चों के पिता तो हो गये थे लेकिन पिता होने का अनुभव उन्हें वात्सल्य से अधिक था। उनकी योजना के अनुसार ही बच्चे भी हुए थे। समय का ध्यान रखकर ही वह वासन्ती वनडोले से बातचीत भी करते थे। इतवार को अस्पताल बन्द होने के कारण उनके दाम्पत्य जीवन का समय शनिवार की नव बजे रात से प्रारम्भ होकर रविवार के आठ बजे सुबह तक ही रहता था। इस बीच हर शनिवार को वह श्रीमती वनडोले के साथ सेकेन्ड शो सिनेमा देखते, अर्जुन की भाँति उर्वशी का शृंगार करते, नवाब वाजिद अली शाह की भाँति रंगमहल में शयन करते और फिर उन्हें पता चलता कि वह यों ही जीवन की समस्त योजनाओं की भाँति पिता भी हो गये हैं किन्तु पुत्र जन्म से भी अधिक सुख उन्हे उस समय होता जब वह यह देखते कि उनकी योजना के अनुसार उनके सभी बच्चे ठीक उसी दिन जन्मे है, ठीक उसी महीने में जन्मे हैं जिस दिन और जिस तिथि में उनका विवाह हुआ था...और वह स्वयम् पैदा हुये थे। वह यदि दावत भी करते तो महज़ इसलिये कि उनका पिता बनने का कार्य भी समय और योजना के अनुसार हुआ है और इस बात को वह प्रायः प्रत्येक अतिथि से कहते और उनका समर्थन पाकर मारे खुशी के फूले नहीं समाते।

लेकिन इस सब में उन्हें फिर भी वह रस न मिल पाता जो औरों को मिलता था। एक ओर श्रीमती वासन्ती वनडोले की भी तबियत इस सब से उचटी। स्वयम् डा० वनडोले को भी कुछ फीका-फीका सा अनुभव होता। जब औरों के रोमांस और प्रणय की गाथायें सुनते तो उनकी आलोचना करते...वह केवल योजना को प्रतिफलित

होते देखना चाहते थे और अक्सर कहते थे...

"पता नहीं कैसे लोग हैं यहाँ के...खोखले...बिल्कुल खोखले...हँसते हैं तो हँसते ही रहते हैं...घूमते हैं तो घूमते रहते हैं...जैसे जीवन मे और कुछ है ही नहीं..."

और फिर भी जब उनके मन में उदास आती...जब उन्हें अपने से ऊब लगने लगती तो कहते मौसम की ख़राबी है... कोई व्यतिक्रम हो गया है...अमुक व्यक्ति के साथ रहने से उनके संस्कार ख़राब हो गये हैं...अमुक व्यक्ति के साथ बात करने में उनमें सुस्ती आ गई है और तब वह अपने मन को अपने जीवन और अपनी दुविधा को कुछ और परिष्कृत करते...लीक्विड पैराफ़ीन से लेकर, तेज़ से तेज़ दवा खाते... कभी दाल्दा की शिकायत करते, कभी ख़ालिस घी की तारीफ़...लेकिन फिर भी उनके भीतर एक उदासी रहती, बिल्कुल फीकी-फीकी-सी उदासी...।

इन सब की प्रतिक्रिया उनके बच्चों पर भी थी। वह गम्भीर, बौदे और केवल निश्चल गतिहीन-से लगते। उनकी आखों में भोलेपन की अपेक्षा एक खामोशी दिखलाई पड़ती। वे खुल कर न तो हँसते और न हँस पाते। वही खिलौने, वही घुटन...और बस...उनके जी में आता कि उड़ती हुई तितलियों के पीछे दौड़ें... झाड़ियों में जाकर अमरूद और बेर के पेड़ों पर चढ़ कर अमरूद चुरायें, बेर खायें... गेन्द खेलें...लेकिन तितलियों का खेल उनके लिए वर्जित था...घूमना उनके लिए मना था...लोरियाँ उन्होंने सुनी नहीं थीं...पिता ने उनसे कभी बातचीत नहीं की थी...माता का स्नेह बँधा-बँधा था...शुद्ध घी के खाने के साथ उन्हें रुचि और अरुचि के बिना ही एक गिलास गाय का दूध ज़बर्दस्ती पीना पड़ता, स्वाद और अस्वाद के बिना ही उन्हें ककड़ियाँ, टमाटर, सलाद खाने पड़ते क्योंकि डा० वनढोले उन्हें स्वस्थ रखने के लिए आचार-विचार से रखना आवश्यक समझते थे और यह आवश्यक था इसलिये भी कि उनकी यह योजना भी थी कि इनको स्वस्थ ही रहना है... आजकल के बच्चों की तरह उन्हें बाल काढ़ कर फ़ैशन से नहीं रहना है बल्कि आचार-विचार के अनुसार उन्हें जीवन की वह योजना पूरी करनी है जो उनके पिता ने उनके लिए निश्चित कर दी है।

गति होते हुये भी उनके जीवन में जान नहीं थी। दिन-रात दौड़ने पर भी उनके मन में शान्ति की अपेक्षा उद्विग्नता अधिक थी...समय को पकड़ कर चलने पर भी उनको समय का स्वाद नहीं मिल पाता था। योजनाओं के होते हुए भी उनमें सफलता मिलने पर भी उनको उसकी असली खुशी का मज़ा नहीं मिल पाता था। यही कारण था कि जब कभी शान्त होकर एक क्षण के लिए भी बैठते थे, एक पल के लिए भी यदि वह समय की पकड़ को ढीला कर देते थे तो बस वही फीकी-फीकी सी

उदासी...वही घुटन...वही परीशानी उन्हें घेर लेती थी और फिर जब वह समय को पकड़ कर अपनी योजनाओं के साथ-साथ दौड़ने लगते थे तो अपने को भूल जाते थे और तब वह अनुभव करते कि समय और योजनायें ही जीवन को शान्ति देती हैं, नहीं तो इस खोखले जीवन में क्या है...कौन-सा रस है...कौन-सा सुख है...।

और आज जब वह उस कमरे मे बैठे, उन घड़ियों, इंगेजमेण्ट डायरी के पन्नों और अनेक योजनाओं के बीच टूटी हुई चूड़ियों से घायल हाथ लिये पड़े थे तो उन्हें घड़ियों की किरकिरी आवाज़, डायरी के धारी वाले पन्ने, योजनाओं के नक़्शे इतने भयानक लगते थे कि बार-बार जी में आता कि उनको फाड़कर फेंक दें। घड़ियों की सुइयाँ तोड़कर फेंक दें...पेन्डुलम को उतार कर रख दें...और फिर कमरे के शान्त वातावरण में बैठकर कुछ देर सोयें...कुछ मौन होकर उन फ़ाख़्तों के जीवन से सीखें जो समय से परे...योजनाओं से मुक्त और दौड़-धूप से सर्वथा अलग जीवन व्यतीत करते हैं...मौन शान्त...गम्भीर...किन्तु स्नेह और प्रेम से भरे-पुरे...

और घड़ियाँ चल रही थीं...इंगेजमेण्ट्स की डायरी वाले पन्ने वातावरण मे तैर रहे थे। समय अकेला दौड़ रहा था और हर मिनट...हर सेकेण्ड घायल डा० वनडोले को ललकार रहा था...किट...किट...किट...किट...खट...खट...खट।

टन...टन...टन...टन...टन करके सभी घड़ियाँ बज उठीं...सभी घड़ियाँ एक दम से चीख़ पड़ीं और उस टन...टन...घन...घन की आवाज़ों में डा० वनडोले की साँसें और ज़ोर से घुटने लगीं...उनकी आँखें भयभीत होकर फटने-सी लगीं...उनकी घबराहट, दिल की धड़कन और साँसों के उफ़ान में अधिक उत्तेजना और ऊष्णता-सी बढ़ गई...और तब उन्होने इंगेजमेण्ट्स के डायरी के पन्नों को बन्द कर दिया। घड़ी के पेंडुलमों को एक-एक करके रोक दिया। मेज़ पर बिखरी हुई रिस्ट वाचों को औंधा करके मेज़ पर डाल दिया और फिर कुर्सी पर आकर बैठ गये। लेकिन दूसरे ही क्षण उन्होंने फिर सुना......सभी घड़ियाँ चल रही थीं...सभी वैसे ही आवाज़ कर रही थीं...सभी अपनी किटकिटी आवाज़ से डा० के नस-नस में सुइयाँ चुभो रही थीं और तब डा० ने पास में पड़े हुए चीड़ के बक्स को खोला। उसमें की सारी किताबें निकाल कर फेंक दीं और दीवाल पर टँगी हुई तमाम घड़ियों को उसमें बन्द कर दिया और फिर चुपचाप कुर्सी पर आकर बैठ गये...

कमरे की सभी दीवालें सूनी थीं...मेज़ पर केवल लोहे के खिलौने रह गये थे। ठंढा थर्मामीटर रह गया था...आला रह गया था...रह गई थीं, महज़ वह बेजान किताबें जिनमें न तो समझ था और न योजना...जिनमें बीमारी थी...दवायें नहीं थीं, उनके नाम थे...दौड़-धूप नहीं थी केवल एक निश्चिन्तता थी...एक गम्भीर ख़ामोशी थी...एक बेजान संकेत था...अगर बीमार हो तो मुझे खोलो...पढ़ो...और अपनी

दवा करो।" आपरेशन बक्स था जिसके खुले हुये जबड़े से दाँत-सी दवा की शीशियाँ झाँक रही थीं...

इसी बीच श्रीमती वासन्ती वनडोले चाय और शुद्ध घी में तली हुई मटर की फलियाँ लेकर कमरे में आईं। बत्ती जलाया तो देखा सारा कमरा सूना था। दीवाल से घड़ियाँ उतार दी गई थीं...डायरी के पन्ने दरवाजे के चौखट के पास पड़े उड़ रहे थे...मेज़ की घड़ियाँ भी ग़ायब थीं...थर्मामीटर ठंढा-ठंढा-सा पड़ा था...आले के दोनों कान वाले सिरे ऐंठे-ऐंठे से मेज़ पर बिखरे थे। लोहे के खिलौने उदास बैठे थे। आपरेशन बक्स का ढक्कन खुला था, उसके भीतर से दवा की शीशियाँ और आपरेशन के औज़ार चमक रहे थे...डा० वनडोले शान्त और निश्चेष्ट से कुर्सी पर लेटे हुए थे। आस-पास किताबें बिखरी हुई थीं...मेज़ पर चाय रखते हुए उन्होंने कहा—

"क्या हुआ है तुम्हें...घड़ियाँ क्या हुईं...यह सारे कमरे में सन्नाटा-सा क्यों है ?"

डा० वनडोले ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। ख़ामोश एक ही मुद्रा में कुर्सी पर बैठे रहे। थोड़ी देर बाद बोले—"क्यों...? तुम्हारे पूछने का मतलब क्या है..."

"मतलब क्या होगा...यही कि यह सब कर क्या रहे हो ?"

"कर क्या रहा हूँ...मुझे यह सब घड़ियाँ खाये जा रही थीं...इनकी सुइयाँ चुभती जाती थीं...मैंने इन्हें बन्द कर दिया है...इस चीड़ वाले बक्स में...

श्रीमती वासन्ती वनडोले कुछ नहीं बोलीं। केवल एक प्याली चाय बनाकर हाथ में देते हुये चुपचाप वहीं खड़ी हो गईं और फिर कुछ स्नेह प्रदर्शित करते हुये...कुछ सरल स्वभाव से उन्होंने पूछा—

"आख़िर इस सब की क्या ज़रूरत थी।"

"ज़रूरत...क्या...मुझे अच्छी लगती थीं...इन घड़ियों के आवाज़ में एक व्यंग्य मालूम पड़ता था...ऐसा व्यंग्य जिसमें वेदना की गहराई नश्तर-सी लगती थी और जी में आता था बिल्कुल मौन होकर पड़ा रहूँ...किसी से कुछ न बोलूँ।"

"मुझसे भी नहीं।"

"तुमसे...तुमसे क्यों नहीं..." और वह फिर चाय पीने में व्यस्त हो गये। श्रीमती वासन्ती वनडोले वहीं बैठ गईं और अपने भद्दे, मोटे हाथों से वनडोले के माथे को सहलाने लगीं।

वासन्ती वनडोले अपने को एक विचित्र स्थिति में पाकर चकित-सी थीं। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि डा० वनडोले को हो क्या गया। वह कुछ कहने ही वाली थीं। डा० वनडोले ने अपनी आँखें खोल दीं...और बड़े नम्र स्वर में बोले—

"न जाने क्यों आज जी में यही आता है कि तुम यों ही मौन बैठी रहो और मैं तुमको देखता रहूँ...मौन, शान्त...और...और न तुम कुछ बोलो न मैं कुछ बोलूँ..."

"लेकिन बच्चों के स्कूल से आने का समय हो गया है...देखेंगे तो क्या कहेंगे। क्या सोचेंगे अपने मन में।"

"क्या सोचेंगे...कुछ भी तो नहीं...जानेंगे यों ही हम लोग बैठे हैं और क्या।"

"लेकिन इस सब से फ़ायदा क्या होगा।"

"तुम नहीं जानती वासन्ती फ़ायदा क्या होगा...मुझे शान्ति चाहिये...

"बस शान्ति..."

बाहर एक खटका हुआ। कमरे का दरवाज़ा खुला था। वासन्ती ने एक झटके से अपने हाथ को छुड़ाना चाहा। चाय की प्याली और तश्तरी ज़मीन पर गिर पड़ी। उदास किताबों के पन्ने भींग गये और उस प्याली और तश्तरी की आवाज़ से डा० वनडोले की भाव-मुद्रा फिर टूट गई। वह कुछ बोलने ही वाले थे कि बाहर से दिव्या देवी की आवाज़ सुनाई दी। वासन्ती कमरे के बाहर आकर खड़ी हो गई। सामने दिव्या देवी खड़ी थीं और उनके बग़ल में हट्टा-कट्टा सारथी ज्वाला प्रसाद था। वासंती ने अपना आँचल सँभाल लिया। सारथी कमरे में डा० वनडोले के पास जाकर बैठ गया और मायादेवी को लेकर वासन्ती वनडोले दूसरे कमरे में चली गईं।

इस कमरे में सारथी ज्वाला प्रसाद कई बार आ चुका था लेकिन आज न जाने क्यों जब वह कमरे में प्रवेश कर रहा था तब उसे एक झिझक मालूम हो रही थी। चुपचाप पास ही एक कुर्सी पर बैठ गया। डा० वनडोले ने उसे देखते ही नमस्कार किया। ज्वाला प्रसाद ने भी नमस्कार किया। बातचीत होने लगी। बात आजकल के ज़माने से चल पड़ी। डा० वनडोले बात नहीं करना चाहते थे लेकिन सारथी ज्वाला प्रसाद था कि विश्व युद्ध से लेकर मानव और मानव के भविष्य तक की सारी बातें करना ही चाहता था। प्रौढ़ हृष्ट-पुष्ट व्यक्तित्व। बड़ा रंगीन-सा बुश शर्ट और पैण्ट पहने, हाथ में एक रिस्ट वाच लगाये, जेब में मनीबेग रखे, बाल छोटे-छोटे किन्तु क़ायदे से कटे थे। अभी इसी साल प्राइवेट एफ़० ए० का इम्तिहान पास किया था, बी० ए० की तैयारी कर रहा था। लेकिन अख़बार रोज़ पढ़ता था और रोज़ कुछ न कुछ विषय सोचकर अपने इष्ट मित्रों और जान-पहचान के लोगों से बातचीत छेड़ ही देता। विषय को खींच-खींच कर विश्व-चेतना, मानव-चेतना तक ला देता था। उसकी बातें सुनने में बहुत बड़ी मालूम होती थीं लेकिन सोचने पर ऐसा लगता था कि जैसे सारी बातें हवा में की गई हों...सारा, सब कुछ बिना किसी अर्थ और सन्दर्भ का हो। आज भी उसने वही बात शुरू की। सुबह-सुबह अख़बार में खबर निकली थी कि

किसी औरत का आपरेशन करके उसे मर्द बना दिया गया था। उसके दिमाग़ में सुबह से ही यह बात खटक रही थी लेकिन बात किससे करता। डा० वनडोले को देखकर विषय के प्रवर्तन का मोह वह संवरण नहीं कर सका। मेज़ पर रखे हुये खिलौनों में से गीदड़ की दुम को अपनी उँगलियों के बीच नचाते हुये कहा—

"यह दुनिया भी क्या है डा० साहब...मानव का भविष्य तो विज्ञान ने बड़ा कुत्सित एवन् पतनोन्मुख बना दिया है..." इस वाक्य को कहने में सारथी ज्वाला प्रसाद ने एक-एक शब्द को इतनी भावभंगिमा से चबाया था कि उसका सारा रस वही ले सके थे। जो कुछ श्रोता को मिला वह नीरस था...सूखा-सूखा था। डा० वनडोले जब इस पर भी कुछ नहीं बोले तो उसने सुप्त भावों को उत्तेजित करते हुए फिर कहा—"विज्ञान को ही लीजिए...किस दिशा को जा रहा है...एक ओर तो ऐटम बम से समस्त सृष्टि को नष्ट करने में सभी गतिशील वैज्ञानिक लगे हुये हैं, दूसरी ओर मनुष्य की पूर्ववत चेतना पर भी कुठाराघात हो रहा है...पुरुष स्त्रियों में बदले जा रहे हैं..."

डा० वनडोले अब भी नहीं बोले। मौन ही रह कर वह उस उत्तर का प्रतिकार करना चाहते थे लेकिन ज्वाला प्रसाद की ज़बान तो खुजला रही थी। वह बोलता जा रहा था। कुछ देर उत्तर की प्रतीक्षा करने के बाद जब उसने देखा कि डा० वनडोले कुछ नहीं बोले तो फिर उसने कहा—

"आज दिव्या देवी से भी इसी विषय पर बात चल रही थी...वह मुझसे सहमत नहीं थीं...वह तो बार-बार कहती थीं कि संसार में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनकी अन्तरात्मा पुरुष जैसी होती है फिर इसमें आश्चर्य क्या है...उनको उन की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा देना कोई आश्चर्य की बात तो नहीं है...

"ठीक ही कहती हैं दिव्या देवीजी..."

"लेकिन डा० साहब आप सोचें तो कल को अगर हम और आप भी पुरुष से स्त्रियों में बदल दिये जायें तो क्या होगा..."

"होगा क्या ?..."

"मेरी आत्मा तो यह विडम्बना नहीं स्वीकार करती डा० साहब...यह तो उस पूर्ण ब्रह्म, अनादि, अनन्त, विश्व चेतना की शक्ति का अपमान है अपमान...इसके मतलब तो यह हुये कि ईश्वर कुछ है ही नहीं...उसकी कोई सत्ता ही नहीं है... विज्ञान को यह दिशा देना अहितकर है...मुझे तो लगता है मानव का भविष्य बड़ा अन्धकारमय है...बहुत अन्धकारमय..."

और इतनी बात कह कर सारथी ज्वाला प्रसाद ने समझा कि उन्होंने विश्व-समस्या पर बड़ी अच्छी चिन्तनक्रिया की है, वस्तुस्थिति को निरपेक्ष भाव से

आँकने की चेष्टा की है, विज्ञान की भौतिकवादी विचारधारा को एक ज़बर्दस्ती ठेस पहुँचाया है, भारतीय एवम् आस्थावादी परम्परा को प्रगति प्रदान की है, मानवीय संवेदनाओं की रक्षा की है। डा० वनडोले ने सोचा कैसा दक़ियानूस आदमी है। इस युग में भी वही रूढ़िग्रस्त बातों को ढो रहा है...यह युग विज्ञान का है लेकिन यह विज्ञान की अवहेलना करके अपने को तीसमारख़ाँ समझता है और वास्तव में यह ढीठ है, लफ्फ़ाज़ है, अनर्गल प्रलाप करता है। ड्राइवर था। किसी प्रकार एफ़० ए० क्या पास कर लिया है कि अपने को किसी अफ़लातून से कम नहीं समझता। घर आया हुआ मेहमान है नहीं तो...।

अभी बात समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि दिव्या देवी ने बाहर से ही ज्वाला को आवाज़ दी। ज्वाला ने अपनी चटकीली बुश शर्ट को ठीक किया। एक झटके से उसने अपनी क़लाई घड़ी देखी और धीरे-धीरे कमरे के बाहर चला गया। श्रीमती वनडोले को यह सारा नाटक देख कर बड़ा विस्मय हुआ क्योंकि पास वाले कमरे में डा० वनडोले बातचीत कर रहे थे वह अत्यन्त रूखा और अकुशलपूर्ण था। दिव्या देवी की वजह से वह कुछ बोल नहीं पाती थीं लेकिन दिव्या देवी ने चलते समय श्रीमती वनडोले से यह साफ़-साफ़ कह दिया था...

"देखो जी अपने पति को मना कर देना...आज जिस तरह से तुम्हारे पति ने ज्वाला से बातचीत की है उससे ज्वाला को काफी ठेस पहुँची है। इस तरह की बात डाक्टर को नहीं कहनी चाहिये थी..."

"लेकिन क्या हुआ...दिव्या जी आप इतनी रुष्ट क्यों हैं..."

"बस-बस भूसे पर मत लीपो...मैं सब जानती हूँ लेकिन देखो ज्वाला को ढाँकने अथवा छिपाने की कोशिश मत करो..."

"फिर भी माया जी मैं तो समझती हूँ उन्होंने कुछ भी नहीं कहा...केवल चुपचाप सारी बातो को सुनते ही रहे..."

"यह क्या कम अपमान था...यही तो अपमान है...घर आये हुये आदमी से दो-चार बात करना यह तो साधारण शिष्टाचार की बात है...इतना भी नहीं है इस वनडोले मे..."

श्रीमती वासन्ती वनडोले ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। दिव्या देवी भी चली गईं लेकिन डा० वनडोले चुपचाप अपने कमरे में कुर्सी पर पड़े ही रहे। अब तक बच्चे भी स्कूल से आ गये थे। "बेबे" के कमरे में जाना उनके लिए निषेध था, इसलिए वह बरामदे में ही बैठे-बैठे खेल रहे थे। श्रीमती वनडोले और कामों में लग गई थीं और हवल्दार कुएँ से पानी ला कर घर के बर्तनों में भर रहा था। डा० वनडोले के यहाँ पाइप होते हुये भी कुएँ ही का पानी इस्तेमाल होता था। यह बात

हवल्दार को असंगत तो लगती थी लेकिन कुछ कह नहीं पाता था। आज वासन्ती वनडोले भी आवश्यकता से अधिक गम्भीर थीं। उन्हें लगता था जैसे कोई विपत्ति आने वाली है अथवा कोई अनावश्यक घटना घटित होने वाली है। वह आतंकित थीं लेकिन अपने मन की बात किसी से कह नहीं पाती थीं। पानी भरने के बाद हवल्दार ने बड़ी कँपती हुई आवाज़ में पूछा..."क्यों मेम साहब...साहब की तबियत तो ठीक है...आज कुछ..."

"हाँ हाँ जी...साहब की तबियत बिल्कुल ठीक है...उन्हें कुछ हुआ थोड़े ही है..."

"आज अस्पताल से एक दम उठ के चले आये...इसीलिये पूछा...शायद कुछ तबियत ही ख़राब हो...वरन् डाक्टर साहब और छुट्टी..."

"हाँ, यह भी तुम ठीक ही कहते हो..."

"स्टेशन मास्टर भी यही पूछ रहे थे...कहने लगे...आज स्टेशन की घड़ी भी नहीं ठीक हो सकी...लेकिन मेम साहब मेरे समझ में बात नहीं आई कि आख़िर डा० साहब से और घड़ी से क्या मतलब है..."

"तुम नहीं जानते हवल्दार...डा० साहब समय के बड़े पक्के आदमी हैं... इसीलिए कहा होगा...तुम्हें चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। सब ठीक हो जायगा..."

"ओ ही तो मेम साहब...मैं आपका नमक खाता हूँ...आपके आराम-तकलीफ में काम न आऊँगा तो फिर किसके काम आऊँगा।

श्रीमती वनडोले ने बात यहीं समाप्त कर दी। मौन हो गईं। हवल्दार चुपचाप हाथ पोंछता हुआ बाहर जा कर बैठ गया। श्रीमती वनडोले चौके में लग गईं। लड़के अपना खेल समाप्त करके पढ़ने वाले कमरे में चले गये लेकिन डा० वनडोले अपने ज़ख्मी हाथ को छाती पर धरे चुपचाप अर्द्ध जागृत अवस्था में कुर्सी पर पड़े हो रहे। आज वह सपने देख रहे थे...श्रीमती वासन्ती वनडोले को अनेक रूपों में, अनेक प्रकारों से नायिका बना रहे थे और उनके नये-नये रूपों पर आत्मविवेचन कर रहे थे।

अभी डा० वनडोले कुछ यही सोच रहे थे कि सहसा गौरी के यहाँ से कोई आदमी घोड़ा लेकर आ पहुँचा। घोड़ा बाहर चिग्घाड़ रहा था। उसकी भयानक आवाज़ में रोष और विकलता दोनों ही थे। सहसा श्रीमती वनडोले को याद आया कि उन्होंने गौरी से इस बात का वादा किया था कि वह डाक्टर को उसके यहाँ अवश्य भेज देंगी लेकिन आज न जाने कैसा दिन था कि उन्हें कोई बात ही नहीं याद आ रही थी। कोई सन्तुलन मालूम ही नहीं पड़ता था। वह एक झटके के साथ कमरे में

आईं और ज़रा तेज़ी से बोलते हुए बोलीं...

"अरे सुनते हो आज दोपहर को गौरी आई थी...कह रही थी उसके घोड़े की तबियत बहुत ख़राब है...जाके उसे देख आओ न..."

डाक्टर वनडोले कुछ भी नही बोले। केवल चुपचाप स्थिर अवस्था में पड़े ही रहे। श्रीमती वनडोले को यह उपेक्षा पसन्द नहीं आई उन्होने ज़रा तीखे स्वर में कहा—

"आख़िर तुम्हें हुआ क्या है...बाहर घोड़ा खड़ा हुआ है और तुम चुपचाप पड़े हो। आख़िर यह सब हो क्या रहा है..."

"तुम तो बात नहीं समझती वासन्ती...आज मैं कुछ नहीं करूँगा..."

"तो डाक्टरी किस लिए पढ़ी थी..."

"इसीलिए कि जब चाहूँगा तब घर बैठूँगा...जब चाहूँगा तब मरीज़ देखूँगा।"

"और यह ख़र्चा कैसे चलेगा..."

"ख़र्चा मैं नही जानता, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि आज मैं कुछ नहीं करूँगा...यों ही पड़ा रहूँगा।

"तो शादी-ब्याह किस लिये किया था...यह घर-द्वार क्यों बसाया था...क्या मैं अपने बाप की कोई फ़ालतू थोड़े ही थी...मैं कहती हूँ जा के देख आओ...घोड़ा बाहर खड़ा है..."

लेकिन डाक्टर वनडोले अब भी ख़ामोश रहे, कुछ भी नहीं बोले। चुपचाप कुर्सी पर पड़े ऊँघते रहे, कुछ बातें सोचने मे व्यस्त रहे, कुछ स्थितियों के निर्माण में लगे रहे। स्थितियाँ कई थीं। पहली स्थिति तो यह थी कि डा० साहब रोमांस और प्रेम की व्याख्या करना चाहते थे...व्याख्या भी कार्य रूप में क्योंकि वह यह जानना चाहते थे कि प्रेम और रोमांस के लक्षण क्या हैं। जानवरों की दवा करते-करते उनके काफ़ी लक्षणों से तो वह परिचित थे जैसे मोर के, तीतर, बटेर के, गाय-भैंस के रोमांसवादी प्रवृत्तियाँ क्या होती हैं और उनके कौन से लक्षण थे इनसे तो वह पूर्णतया परिचित थे ही किन्तु अन्य वस्तुओ से वह सर्वथा अपरिचित थे। वह यह नहीं जानते थे कि स्वयम् मनुष्य में रोमांस की कितनी स्थितियाँ हो सकती हैं और वह किन-किन प्रवृतियो में बदल सकती है और अगर बदल सकती है तो उनके कितने लक्षण हो सकते हैं, उन लक्षणों के कितने रूप हो सकते हैं, उन रूपों को कितने प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। लेकिन उनकी कल्पना कुछ कम तीव्र नहीं थी। उसके आधार पर वह बहुत कुछ सोचना चाहते थे और सोचने में व्यस्त भी थे और ज्योंही वह उस दिशा की ओर बढ़ते, ज्योंही उनकी कल्पना कुछ तीव्र अनुभूतियों को ग्रहण करती कि बाहर खड़ा घोड़ा चिंघाड़ता और उनके जी में आता कि बाहर

जाकर उसे वापस लौटा दें लेकिन फिर चुपचाप कल्पना में लीन हो जाते और यह निश्चय करते कि चाहे जो हो वह आज इस कुर्सी पर के नहीं उठेंगे और न कोई मरीज़ ही देखेंगे।

डा० वनडोले के दिमाग़ में पहली बात इस प्रकार आई थी...

रात काफ़ी हो चुकी है...वह श्रीमती वनडोले के साथ अकेले किसी निर्जन वन में चले जा रहे हैं...भयंकर और घने जंगल के बीच पगडंडी है...चारों ओर से भयंकर आकार के पशुओं की हिंसक ध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं...सहसा उन्होंने देखा पीछे से एक साँप उनका पीछा करता चला आ रहा है...और वह अपनी तीव्र गति से आगे बढ़ रहे हैं...सहसा उन्हें अनुभव हुआ जैसे उनका शरीर वासन्ती वनडोले की शरीर से छू गया है। यही नहीं, वह बिल्कुल उनसे चिमट कर खड़ी हो गई है और डा० वनडोले ने उसे अपने बाहों में कस लिया है और वह उनके वक्ष से ठीक उस प्रकार चिपट गई है जैसे आत्मसमर्पण की स्थिति में असहाय और निरुपाय अवस्था में आतंकित और भयभीत-सी हो गई हो।

यह स्थिति डा० वनडोले की कल्पना में इतनी अनुभूतियों के साथ समा गई कि उनको रोमांस हो गया। अर्द्ध जागृत अवस्था में उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे वास्तव में वह श्रीमती वासन्ती देवी को अपने वक्ष में समेट कर खड़े हो गये हो और इस अनुभव के साथ जब उन्होंने अपने हाथ को ज़ोर से दबाया तो घायल हाथ का ज़ख्म कुछ दर्द करने लगा लेकिन हाथ ढीला करते-करते उनको फिर उसी घोड़े की चिग्घाड़ सुनाई पड़ी और उनकी भाव मुद्रा जग गई। वह अर्द्ध जागृत अवस्था में कुर्सी पर उठ कर बैठ गये। दूसरे ही क्षण डाक्टर वनडोले ने आवेश में आकर हवलदार को बुलाया। हवल्दार डरते-डरते कमरे मे आया। उसने देखा डा० वनडोले कुर्सी पर पड़े-पड़े किसी विशेष स्थिति में अर्द्ध विक्षिप्त से गहरी साँसें ले रहे है। हवल्दार को देख कर वह बड़ी सख़्त आवाज मे बोले—"बैठे-बैठे क्या कर रहे हो...

"बस बैठा ही हूँ हुज़ूर..."

"घोड़े वाले से कहो यहाँ से ले जाय...आज मैं उसे नहीं देखूँगा..."

"लेकिन मालिक तो कहीं चला गया है...कहता था अभी थोड़ी देर में आकर ले जायगा..."

डा० वनडोले का आवेश कुछ कम हुआ। वह फिर कुर्सी पर बैठ गये। उन्होंने अपने घायल हाथ को अपनी छाती पर सम्भाल कर रख लिया और चिन्ता-मग्न हो गये। इस बार उन्होंने दूसरी स्थिति की कल्पना की जो इस प्रकार थी...

एक तेज़ नदी की धार में वह डूब रहे हैं...सहसा दूर से उन्हें एक सतरंगी

डुपट्टा सा पानी में बहता हुआ दिखलाई पड़ा जिसे उन्होंने ज़ोर से पकड़ लिया और जब वह उसे ज़ोर से पकड़े हुये थे तभी सहसा उन्हें अनुभव हुआ कि इस सतरंगी साड़ी में और कोई नहीं है वासन्ती वनडोले ही हैं और जब उसमें वासन्ती का आकार-प्रकार उभर आया तभी लगा जैसे जल का थाह मिल गया हो और वासन्ती वनडोले ने ज़ोर की हँसी से डा० वनडोले का स्वागत किया हो। डा० वनडोले ने इस बार भी वासन्ती को अपने हाथ में उठा लेना चाहा किन्तु वह अपना शरीर छुड़ा कर हँसते हुये दूसरी ओर चली गई। इस दौड़-धूप में पानी की कल-कल ध्वनि और जल की मोटी बूँदें एक स्वर से निखर पड़ीं। डा० वनडोले को फिर रोमांस हो आया लेकिन उनकी तन्द्रा टूट चुकी थी क्योंकि इस बार फिर घोड़ा ज़ोर से चिंघाड़ उठा था और डा० वनडोले का ध्यान फिर टूट गया था जिसके कारण वह अपनी स्थिति से जागरूक हो उठे थे। सूनी-सूनी कमरे की दीवारें, फ़र्श पर बिखरी हुई उदास किताबें, चाय की टूटी हुई प्याली, मेज़ पर रक्खे हुये लोहे के खिलौने उनके दिमाग़ मे घुसने लगे और फिर उन्होंने सँभल कर एक तेज़ आवाज़ में हवल्दार को पुकारा और पहले की भाँति फिर उन्होंने हवल्दार को बुलाया और जब हवल्दार कमरे में आया तो उन्होंने फिर पूछा...

"बाहर बैठा-बैठा क्या करता है, एक गिलास पानी दे..."

और हवल्दार एक गिलास पानी डा० वनडोले को देते हुये मन में न जाने क्या-क्या सोच गया। लेकिन सारा सोचना व्यर्थ था क्योंकि डा० वनडोले स्वस्थ होते हुये भी किसी विशेष चिन्ता में डूबे से प्रतीत हो रहे थे। हवल्दार समझता था कि डा० की तबियत नहीं ठीक है, इसलिए चिन्तित था लेकिन डा० वनडोले यह जान कर परीशान था कि जो कुछ भी हो रहा था वह असाधारण और अस्वाभाविक था, कई साल की नौकरी मे ऐसा हुआ नहीं था। उसने काँपते-काँपते पूछा...

"हुज़ूर...क्या कुछ तबियत ज़्यादा ख़राब है..."

"क्यो ? क्या मेरी तबियत ख़राब मालूम होती है..."

"नही हुज़ूर कुछ झटके-झटके से मालूम पड़ते हैं..."

"झटके-झटके से क्या..."

"यही हुज़ूर फीके-फीके, उदास-उदास..."

डा० वनडोले ने कोई उत्तर नही दिया। हवल्दार थोड़ी देर तक खड़ा-खड़ा उदास आँखों से देखता रहा। फिर उसने मन ही मन कुछ कहा, कुछ उँगलियो पर गिना, कुछ देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा लेकिन जब उसने देखा कि डा० ने फिर आँखें बन्द कर ली हैं और चिन्ता विशेष में डूब गये है तब वह धीरे-धीरे कमरे के बाहर निकल आया और चुपचाप गम्भीर-सा अपनी स्टूल पर आकर बैठ गया।

सभी कुछ शान्त वातावरण में डूबा हुआ-सा लग रहा था। डा० वनडोले खुद गम्भीर और उदास थे। उन्हें लग रहा था जैसे सारे वातावरण में एक गहरी शान्ति है लेकिन उनके भीतर उनके मन में ही किसी प्रकार की गहरी अशान्ति और गम्भीर स्थितियाँ चक्कर काट रही हैं...वही उदास, शान्त, निश्चल से बैठे हुए फ़ाख़्ते, वही कार्निश के बेल-बूटे, वही मौनता में डूबी हुई संवेदनाएँ...वही खो जाने की-सी स्थिति और यह सब सोचते-सोचते एक बार फिर उनकी कल्पना तीव्र हो उठी और उन्होंने अनुभव किया...

"जैसे वह किसी सुन्दर ड्राइंग रूम में बैठे हुए हैं...पास में ही वासन्ती बैठी ऊन की लच्छियों को सुलझा रही है और डाक्टर वनडोले अपने हाथ में एक किताब लिये कुछ पढ़ रहे हैं। वासन्ती आज कुछ अधिक सुन्दर और आकर्षक मालूम पड़ रही है। उसकी मोटी भद्दी उँगलियों के बीच ऊन की डोरी नाच-नाच कर रह जाती है और डाक्टर वनडोले यह सब देख कर इन सब की प्रेरणामय भावनाओं को स्वीकार करके अपनी पुस्तक बन्द कर देते हैं और वासन्ती के बिल्कुल निकट आकर, उसके खुले बाँह पर चिपके हुए, ब्लाउज़ के फूल को उँगलियों के बीच करौंद कर कुछ कह रहे हैं जिसके कारण वासन्ती ऊन की लच्छियों को छोड़ देती है और बनावटी आपत्ति प्रकट करते हुए कुछ कहती है। डा० वनडोले उस विरोध को स्वीकार नहीं कर पाते और उसके हाथ को अपने हाथ में ले लेते है...दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते है...और निकट...और निकट...और जब वनडोले उसकी आँखों में आँखें डाल कर देखते हैं तो उन्हें पता चलता है कि वह बासन्ती नहीं है...कोई और है...जिसे वह पहचानते हैं लेकिन जिसका नाम नहीं जानने...। डा० वनडोले एक झटके के साथ अपने को अलग कर लेते हैं...इस झटके में उनका हाथ कुर्सी के नीचे जा गिरता है...और तब सहसा उनकी आँखें खुल जाती हैं..."

आँखे खोलते ही उन्होंने देखा कि वह अपने कमरे में निष्क्रिय उदास-से पड़े हुए हैं...बाहर से घोड़े की आवाज़ बार-बार सुनाई पड़ती है लेकिन लगता है जो आदमी घोड़ा लेकर आया था वह निराश होकर उसे वापस ले जा रहा है और उसकी टाप, रास्ते की धूल में मिली सुनाई दे रही है...टप...टप...टप...

सहसा ठंडे आतशदान के ऊपर रखी हुई सभी टाइमपीस की घड़ियों का एलार्म बजने लगा। सभी एक साथ समय की सूचना देने लगी। खाने का समय हो चुका था। बच्चे चौके में पहुँच चुके थे...श्रीमती वनडोले चौके ही से आवाज़ लगा रही थी लेकिन आज इन घड़ियों के शोर में डा० वनडोले को कुछ भी नहीं सुनाई दे रहा था। व्यग्रता के साथ उठकर घड़ियों के एलार्म को बन्द करने में तीन-चार टाइमपीस घड़ियाँ नीचे आ गिरी थीं...कई ख़ामोश हो चुकी थीं लेकिन

वह पुरानी "जाज़" घड़ी अब भी एलार्म दिये जा रही थी और उसकी आवाज़ को अपनी मुट्ठियों में बन्द कर के डा० वनडोले खड़े थे। एलार्म की स्प्रिंग घायल हाथ की पट्टी पर उछल-उछल चोटें कर रही थीं और खुद डा० वनडोले पसीने से तर थे। धीरे-धीरे जब घड़ी की निरीह आवाज़ बन्द हुई तो उन्होंने मुड़ कर देखा...हवल्दार दरवाज़े पर खड़ा था चारों ओर उदास सन्नाटा ख़ामोशी का कफ़न लपेटे चीख़ रहा था और डा० वनडोले आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देख रहे थे।

"साहब खाना तैयार है..." हवल्दार ने कँपती हुई आवाज़ में कहा...कोई उत्तर न पाकर ख़ामोश ही खड़ा रहा। थोड़े विराम के बाद उसने फिर दोहराया—"साहब खाने का समय हो गया है—" और इस बार डा० की बात सुन कर तीव्र झुँझलाहट हुई। खिसिया कर बोले—"खाने का समय हो गया है कि समय खाने का हो गया है...जा कह दे कि मैं नहीं खाऊँगा...समय से नहीं खाऊँगा... मैं समय को खाऊँगा...समय मुझे नहीं खा सकता..."

हवल्दार की समझ में कुछ नहीं आया। बिल्कुल सपाट चेहरा लिये वह वहाँ खड़ा रहा। पहले तो डा० की बात को समझने की चेष्टा करने लगा..."समय को मैं खाऊँगा" वाली बात उसकी समझ में नहीं आई। "समय" क्या चीज़ है यह वह सोचने लगा। समय भी क्या खाने की चीज़ हो सकती है। फिर अपनी अल्प बुद्धि की सीमा समझ कर उसने अपने मन में सोचा—"हो सकता है समय भी समोसे की तरह कोई खाने की चीज़ है। बहुत कुछ सोच-समझ कर उसने दबी हुई आवाज़ में डा० वनडोले से फिर पूछा—"तो साहब...मैं क्या कह दूँ—" और बस इतना कहना था कि डा० वनडोले झड़प पड़े और हवल्दार वासन्ती वनडोले को बिना सूचना दिये ही फिर बाहर जा कर बैठ गया। बच्चे चुपचाप चौके मे बैठ कर खा-पी रहे थे। वासन्ती वनडोले चुप-चुप बच्चों को खिला रही थी। किसी बच्चे ने कहा—

माँ...अब मैं वह खिलौने नहीं खेलूँगा...यह हल, बैल...यह सब पुराना खेल है माँ..."

"और माँ...मैं डाक्टर नहीं बनूँगा...यह सब क्या होता है, माँ डाक्टर... डाक्टर..."

"माँ...मुझे भूख नही लगती...यह सलाद मैं नहीं खाऊँगा...यह चटनी... आखिर मुझे चाट क्यों नहीं खाने देती माँ..."

"लेकिन माँ...आज बेबे खाने नहीं आये..."

"हश...शी...शी...चुप-चुप कहीं आते होंगे तो बस कान गर्म हो जायँगे।"

वासन्ती वनडोले सब कुछ सुन रही थीं लेकिन एक का भी उत्तर नहीं देती थीं। थोड़ी देर बाद बोली—

"दूध पीकर सोने जाना, समझे..."

"माँ यह तुम रोज-रोज जबर्दस्ती दूध क्यों पिलाती हो ?"

"दूध अच्छी चीज़ होती है बेटे...इसे पीने से आदमी तन्दुरुस्त और स्वस्थ रहता है..."

"लेकिन माँ मैं तन्दुरुस्त नहीं रहूँगा तो क्या होगा...और अब तक दरवाज़े से उनको यह आहट मिल चुकी थी कोई चौके में आ रहा है। ओठ पर उँगली रखते हुये कहा—"शि...शि...दादा...बेबे..."—लेकिन वह कहता जा रहा था...

"जब देखो तब बेबे यही कहते है...मुझे डाक्टर बनना है, डाक्टर...डाक्टर... तुम कहती हो तुम्हें दूध पीना है...मास्टर कहते हैं तुम्हे पढ़ना है...मुझे क्या-क्या करना है माँ..."

"तब तक डा० वनडोले चौके के फाटक तक आ चुके थे और उन्होंने यह सारी बातें सुन ली थीं। बच्चे चुप थे। बिना विरोध के सलाद भी खाया जा चुका था। सब अपने-अपने गिलास में दूध लेकर पी चुके थे और खाना समाप्त करके चौके के बाहर जा रहे थे। बाहर हवल्दार पानी, साबुन और तौलिया लेकर खड़ा था। बड़े, छोटे के अनुसार सभी बच्चे पहले क्यू में खड़े हुये फिर एक-एक कर के सबों ने हाथ धोये। तौलिये से मुँह पोंछा और फिर पढ़ने के कमरे में चले गये। श्रीमती वासन्ती वनडोले ने थाली में खाना लगाया और डाक्टर वनडोले ने भी खाना शुरू किया। आज नियमानुसार अगले दिन के खाने के मिन्यू पर बातचीत नहीं हो रही थी। यह तय करने में वक्त नहीं लगाया जा रहा था कि कल गोभी उबाल कर बनाई जाय या मसालेदार मटर की फलियाँ आलू में मिला कर बनाई जाय या पीस कर...टमाटर काट कर सलाद बनाया जाय या उसका सूप बनाकर पिया जाय। आज बात कुछ दूसरी दिशा में हो रही थी। डाक्टर वनडोले अधिक चिन्तित थे। जो कुछ आज चौके में उन्होंने सुना था उससे उनके मन की खिन्नता बढ़ती जा रही थी। उन्हें लग रहा था जैसे उनके घर में किसी अप्रत्याशित विद्रोह का जन्म हो रहा है, कोई अनावश्यक अनास्था पनपती जा रही है। इसीलिये आज डाक्टर वनडोले ने बड़ी गम्भीर मुद्रा में पूछा—"लड़कों की बातें तो कुछ अजीब थीं..."

"क्या..."

"यही...यह सब मेरी योजना से ऊब चुके हैं...लगता है बड़े होकर यह विद्रोह करेंगे..."

"हाँ...हो सकता है..." श्रीमती वनडोले ने कहा।

"विद्रोह तो तुम भी करती हो..." डाक्टर वनडोले ने बात को दूसरी ओर भी डाल दिया...

"करना ही पड़ता है...वैसे मैं जान कर तो कुछ नहीं करती..."

"ठीक है...विद्रोह अनजान में ही तो जन्मता है और फिर विस्फोट में बदल जाता है..."

श्रीमती वनडोले ने डाक्टर वनडोले की सारी बात सुन ली। किसी भी भाँति का प्रतिकार नहीं किया। डाक्टर वनडोले ने चुपचाप भोजन कर लिया। आज खाने में क्या अच्छा था, क्या बुरा था इस पर उन्होने अपना कोई भी मत नहीं प्रकट किया। देर तक चबा-चबा कर खाने के बजाय वह जल्दी-जल्दी और तेजी से खा रहे थे। श्रीमती वनडोले भी जल्दी ग्रास निगल रही थी लेकिन आज डाक्टर वनडोले के सामने उनकी गति मन्द थी। कोशिश करने पर भी वह खाना जल्दी नहीं समाप्त कर पा रही थीं। और इस बीच डाक्टर वनडोले खाना खाकर मुँह-हाथ धो सौंफ चबाते हुये अपने कमरे में चले गये। बगल वाले कमरे से बच्चों के पढ़ने के स्वर आ रहे थे...

ए कैट चेज़्ड ए रैट

दि रैट जम्पड आन दि मैट

दि मैट स्लिप्ड आन दी फ्लोर

आस्क ममी फ़ार ए लोर

पता नहीं तमाम रात डाक्टर वनडोले ने कौन-कौन से सपने देखे और किन स्थितियों में रोमान्स की कल्पना की लेकिन आधी रात को बेसमय ही जब श्रीमती वनडोले उनके कमरे में आईं तो डाक्टर वनडोले ने अपने को विचित्र स्थिति में पाया। श्रीमती वनडोले डाक्टर के सिर में गुल रोग़न लगा रही थीं। एक हाथ में तेल की बोतल थी और दूसरा हाथ डाक्टर वनडोले के सिर पर था और जब डाक्टर की नींद खुली तो यह सब देख कर उन्हें उतना ही विस्मय हुआ जितना कि किसी अज्ञात नायक को किसी अज्ञात नायिका से सहसा मिल कर होता है। डाक्टर वनडोले चारपाई पर से उठ कर कुर्सी पर बैठ गये और श्रीमती वनडोले सहमी-सी गईं...थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद डाक्टर वनडोले ने उत्सुकता से पूछा—"तुमने कोई उपन्यास पढ़ा है...'

"हाँ..."

"कब पढ़ा तुमने..."

"शादी के पहले पढ़ा था..."

"तो बता सकती हो इस समय जिस स्थिति में तुम यहाँ हो, अगर ठीक उसी स्थिति में किसी नायक के कमरे में कोई नायिका आ जाती तो क्या होता..."

"...श्रीमती वनडोले चुप रहीं। डाक्टर वनडोले उठे और उन्होंने अपने कपड़े पहने। शाल डाला और घर के पीछे दरवाज़े से निकल कर बाग़ में चले गये।

रात चाँदनी तो नहीं थी, लेकिन फिर भी लान पर बैठे-बैठे उस अँधेरी रात में दोनों तारे गिनते रहे। श्रीमती वासन्ती वनडोले घास पर लेटी पत्तियाँ टूँग रही थीं और डा० वनडोले उन्हें यह बताते रहे कि जब सप्तऋषि यहाँ से इस स्थान पर आ जाते हैं तो कितने बजे होते हैं...और जब वहाँ से यहाँ आ जाते है तो क्या समय होता है और बात इसी तरह से चल रही थी...चलती जा रही थी।

सहसा झाड़ी में कुछ खड़खड़ाने की ध्वनि सुनाई पड़ी। श्रीमती वनडोले कुछ सतर्क हो कर उधर देखने लगीं लेकिन डाक्टर वनडोले ने उसकी उपेक्षा करके श्रीमती वनडोले का ध्यान सप्तऋषियो और ध्रुव में ही उलझाये रखा किन्तु कुछ ही क्षण बाद इस झाड़ी में एक रोशनी बिजली की तरह चमक कर बुझ गई जिसे डा० वनडोले उसकी उपेक्षा की और चुपचाप उन तारों को देखने और पहचानने में लगे रहे जो पृथ्वी से दूर किन्तु मन के निकट और निकटतम दिखलाई पड़ते थे। डा० वनडोले कह रहे थे—

"और यह शुक्र है...अँग्रेज़ी में इसे वीनस कहते हैं...यह प्रेम का तारा माना जाता है..."

"हाँ...हाँ...मैं जानती हूँ...चलो भीतर घर सूना पड़ा है...कोई नहीं है..."

"अभी ज़रा और रात हो जाने दो...जल्दी में सब काम बिगड़ जाते हैं"—और डा० वनडोले ने घास पर से करवट बदली और वासन्ती के सामने औंधे लेट गये।

इसी क्षण पास वाली झाड़ी में एक बार फिर टार्च की रोशनी दीख पड़ी। डा० वनडोले कुछ और सतर्क हो गये। वासन्ती को अपने निकट खींचते हुये बोले—इस झाड़ी में फिर रोशनी जलती हुई दिखलाई पड़ रही है...आख़िर बात क्या है? यह कहते हुये वह उठ खड़े हुये और किसी तरफ़ चलने वाले थे कि पीछे पीठ पर एक धमाका पड़ा और किसी सख़्त आवाज़ ने कड़कते हुये कहा—

"कहाँ जाता है...चुपचाप खड़ा रह नहीं तो ढेर कर दूँगा..."

अँधेरा घना था। इसलिए आकार ही आकार दिखलाई पड़ रहा था। कौन था यह न तो डा० वनडोले ही देख पा रहे थे और न वासन्ती। अधिक ग़ौर से देखने पर लगा कोई हट्टा-कट्टा आदमी है जिसका सर से पैर तक काले कम्बल से ढँका हुआ है। एक हाथ में मोटी लाठी है, दूसरे में टार्च है। आवाज़ से सख़्त और कठोर मालूम पड़ता है। डा० वनडोले की घिघ्घी बँध गई। वासन्ती वनडोले की सिसकियाँ बन्ध गईं और उसने उन दोनों को हाथ से पकड़ कर साथ चलने का आदेश दिया और बोला—"अगर ज़रा भी चूँ-चरा किया तो जान ही ले लूँगा"—और यह कह कर वह उन दोनों को डा० वनडोले के अस्तबल की ओर ले गया। अँधेरे में उसने

घोड़े की रस्सी ढूँढ़ी और दोनों के हाथ रस्सी में बाँध कर घोड़साल में बन्द कर दिया। चलते समय चेतावनी देते हुए बोला—"

"अगर रात में यहाँ ज़रा भी शोर शराबा किया तो मैं जान से मार डालूँगा कोई जान भी न पायेगा"—इतना कहकर वह चला गया।

डा० वनडोले और वासन्ती वनडोले सहसा अपने को इस स्थिति में पाकर अधिक चिन्तित हुये। दोनों की वेदनायें और आशंकाएँ आवश्यकता से अधिक बढ़ गईं। डा० वनडोले कह रहे थे—

..."हो न हो यह कोई डाकू है...पता नहीं क्या करेगा...कमबख़्त घर का धन ले जाय तो अच्छा है, कहीं बच्चों की जान न ले...क्या करूँ...कैसे करूँ..."

और वासन्ती वनडोले की सिसकियाँ बँधी हुई थीं। मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। प्राण अनावश्यक चिन्ता में डूबे थे। भारी दबाव से ऐसा लग रहा था जैसे मनों वज़नी सिल छाती पर पड़ा हो। हृदय की धड़कन रुकी-रुकी सी लगती थी...आवाज़ में भारीपन था लेकिन फिर भी दबे कण्ठ से कहती जाती थीं...

"सुनते हो...उन बच्चों का क्या होगा...क्या करेंगे सब..."

और तभी डा० वनडोले ने सुना...खिड़की दरवाजे चर्र-चर्र करके बन्द हुये और खुले। सिटकनी कई बार खन-खन करके वातावरण में गूँज गई...घर के बर्तन टुन-झुन करके बोल उठे। घर में किसी के चलने की आवाज़, किसी के क़दमों की चाप सुनाई दी। लगा किसी ने बाहर का दरवाज़ा खोला। और फिर बन्द किया और फिर सारा कोलाहल शान्त हो गया, सारी आहटें शान्त हो गईं, सारी आवाजें थपथपा कर मर गईं और केवल उनके समीप मोटे-मोटे मच्छरों की आवाज़, घोड़े की पट-पट ध्वनि और अस्तबल की बदबू ही भरी रह गई। उस मौन संवेदना में और गम्भीर वातावरण में जब कभी घोड़ा अपने नथुनों से मच्छरों को भगाता तो डा० वनडोले और श्रीमती वनडोले की तन्द्रा टूट जाती। उनकी चिन्ता और भी तीव्र हो जाती, लेकिन स्थिति का ध्यान रख कर वह फिर मौन हो जाते। वासन्ती वनडोले अधिक व्यग्र थी, इसलिए डाक्टर वनडोले ने उन्हें बहुत समझाया और उनके सिर पर थपकियाँ देने लगे...लेकिन माँ का हृदय... आशंकित होने के कारण अधिक भावोद्वेग में आ जाता और फिर मसोस कर रह जाता।

रात के दो बज चुके थे। कहीं दूर पर गजर की ध्वनि गूँजी और फिर अन्तरिक्ष में लीन हो गई।

अब डाक्टर वनडोले के सामने फिर अपनी दुकान का नक़शा आ खड़ा हुआ; वह उदास फ़ाख्ते का जोड़ा, वही कार्निश की बेल, तीतर वाले की आवाज़ और

उसकी संवेदनशील अभिव्यक्ति...लेकिन इस बार उनके सामने रोमांस की कोई स्थिति नहीं आई। कुण्ठित कल्पना ने कोई नया चित्र नहीं प्रस्तुत किया...रोमांस की भावना ने न तो कोई नया अर्थ ही प्रदान किया और न कोई संवेदना। इस समय उनके लिए एक-एक घड़ी वियोग की घड़ी की भाँति बीत रही थी। काटे भी नहीं कटती थी। चिन्ता के मारे माथा ठनका जा रहा था...वह चाहते थे किसी प्रकार समय कटे, किसी प्रकार रात की यह मनहूस घड़ियाँ समाप्त हों, भोर का नया प्रकाश आये और फिर वह अपने जीवन को नये सिरे से शुरू करें।

लेकिन समय कंजूस की कौड़ी की भाँति बँधा था। काल की मुट्ठियाँ इतनी प्रबल थीं कि उनके चंगुल से उसे मुक्ति ही नहीं मिल पाती थी। वह भारी बोझ के समान श्रीमती वनडोले और डा० वनडोले की छाती पर खड़ा था और वह अपनी साँसें गिन रहे थे। कभी-कभी जब घोड़ा अपनी दुम हिलाता तो उसके बाल डाक्टर वनडोले के सिर पर ऐसे लगते जैसे बिजली के कोड़े और जब कभी घोड़ा मक्खियों और मच्छरों को उड़ाने के लिए इधर-उधर हिलता-डुलता तो उसकी टाँग पीठ में कूबड़-सी चुभ जाती। लेकिन सब कुछ सहने पर भी डाक्टर वनडोले ने वासन्ती वनडोले से ज्यादा धीरज रक्खा और वह एक ही आसन मे मौन, चिन्तित और उद्विग्न से बैठे रहे।

काफ़ी प्रतीक्षा के बाद तीन बजे। घड़ी के एलार्म की तरह कोई रिक्शा घण्टी बजाता हुआ सामने की एक छोर से दूसरी छोर तक निकल गया। घण्टियों की ध्वनि दूर, बहुत दूर, क्षितिज के समीप किसी मोड़ पर जाकर डूब गई। श्रीमती वनडोले फिर भी मौन ही रहीं। उनकी सिसकियाँ मौन रूप से तीव्र होती गईं, और डाक्टर वनडोले की सन्तोष की सीमा भी टूट गई। उनकी भी सिसकियों की आवाज़ अन्तर्वेदना की बाँध तोड़ कर निकल पड़ीं। थोड़ी देर बाद दोनो व्यक्ति फिर भी चुप हो गये और भावी घटनाओं की प्रतीक्षा करने लगे।

चार बजे स्टेशन पर एक गाड़ी आई। इन्जन की चीख़ ने सारे शान्त और मूर्च्छित वातावरण को जैसे झंझोड़ कर रख दिया। और फिर छिक-छिक करते हुये किसी दूसरी दिशा को निकल गई। सड़क पर लगातार इक्कों, ताँगो और रिक्शों की आहट ठोस दीवारों से छन-छन कर अस्तबल तक आने लगी। रास्ते पर कुत्ते भूँकने लगे...म्यूनिसिपैलिटी की गाड़ियाँ खड़-खड़ की ध्वनि से लौटने लगीं। थके हुये, ऊँघते भैंसों के क़दम और ज़ंग लगे हुये पहियों की चीं-चीं की ध्वनि वातावरण में गूँज-गूँज कर डूबने लगी।

अँध कूप जैसे उस अँधेरे घर में फैला हुआ भारीपन कुछ हलका होने लगा। डाक्टर वनडोले की घबराहट कुछ कम होने लगी। मच्छरों की भुनभुनाहट भी क्रमशः

मन्द पड़ने लगी और ज्यों-ज्यों अंधकार घटने लगा और बाहर के प्रकाश की सम्भावनाएँ बढ़ने लगीं डाक्टर वनडोले का विश्वास भी जमने लगा।

सहसा लगभग दो घण्टे के बाद डाक्टर वनडोले को लगा उनके घर के सामने काफ़ी लोग जमा हैं। तरह-तरह की बातें हो रही हैं। सभी की घबराई हुई आवाजें अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कर रही हैं, कोई कह रहा है—

"हवल्दार कहाँ चला गया..."

"शायद थाने गया है.. थानेदार भी आने वाले हैं..."

"लेकिन भाई अजीब बात है...ऐसी घटना न तो कभी हुई थी और न होने की आशा ही थी...चन्दनपुर के इतिहास में अपने क़िस्म की यह पहली घटना है..."

"अरे साहब ज़माना इतना ख़राब लगा है कि कुछ मत पूछिये...आदमी आदमी का पुरसाँ हाल नहीं है...हर तरफ़ नोच-खसोट मचा हुआ है..."

"यही हुकूमत रही तो देखिये क्या-क्या गुल खिलते हैं...अभी आपने देखा क्या है।"

और जब यह बात हो रही थीं लगा तभी एक ताँगे पर से दिव्या देवी सारथी ज्वाला प्रसाद के साथ उतरी चली आ रही है। ज्वाला प्रसाद इस ठंडक और सर्दी में भी केवल खद्दर का गेरुआ पाजामा और कुर्ता पहने हुये, आँख पर धूप का चश्मा लगाये दिव्या देवी के पीछे-पीछे चला आ रहा है। सहसा एक रिक्शा रुका और पता चला कि रेलवे के स्टेशन मास्टर भी चले आ रहे हैं। एक नवजवान, सुन्दर और निहायत ही सौम्य लड़की के साथ डाक्टर सन्तोषी भी छड़ी हिलाते हुये हाते में आ चुके हैं...और उनके पीछे उनका शिष्य महिम भी बड़ा गम्भीर और अनमना-सा हल्के और संकुचित क़दमों के साथ प्रवेश कर रहा है। सहसा सारी गम्भीरता को तोड़ते हुये सारथी ज्वाला प्रसाद ने कहा...।

"आज-कल मानव का जीवन तो इतना विषम हो गया है कि कुछ निश्चय नहीं कब क्या हो जाय..."

"अजी साहब कुछ मत पूछिये...ज़माना दिनोंदिन बदलता जा रहा है... आख़िर हम मध्यवर्ग के लोग, हमारे यहाँ धरा ही क्या है...लेकिन मरता क्या न करता ? डाकू बिचारे भी कहाँ जाँय..." स्टेशन मास्टर ने ज्वाला प्रसाद का उत्तर देते हुए कहा...

"हाँ साहब...क्या ज़माना था और अब क्या हो गया है ? लाईफ़ की सेक्योरिटी तक नहीं है..." प्रस्तुत व्यक्तियों में से किसी सज्जन ने स्टेशन मास्टर का समर्थन करते हुये इन वाक्यों को दुहराया।

और अभी बात इसी गम्भीर अनुभव के साथ चल ही रही थी कि सहसा

पुलिस की मोटर हाते में आकर रुकी। लगभग पच्चीस-तीस पुलिस काँस्टेबल मोटर में से लठ लिए हुए निकल पड़े और बड़ी तेज़ी के साथ उन्होंने घर को घेर लिया और फिर थोड़ी देर के बाद उसी मोटर से थानेदार साहब भी उतरे। वर्दी-पेटी से चुस्त थे। पिस्तौल बग़ल में था, धीरे-धीरे क़दमों से हवल्दार भी चला आ रहा था। भीड़ में हवल्दार को देख कर लोग कानाफूसी करने लगे थे। अजीब-अजीब मुद्राओं में लोग अपने-अपने सिर हिला रहे थे। सहसा हवल्दार थानेदार को घर के पिछवाड़े लिवा गया। फिर उसने बाहर के दरवाजे का ताला खोला, घर में लिवा गया। घर में पहुँच कर सबसे पहले डाक्टर वनडोले के कमरे में लोग गये। चारपाई खा़ली देख कर सहसा लोग चीख़ पड़े। फिर श्रीमती वनडोले के कमरे का दरवाज़ा खोला गया। वहाँ पर श्रीमती वनडोले की चारपाई खा़ली पड़ी थी...बच्चे सहमे हुये एक ही चारपाई पर बैठे थे। उनकी आँखों में भय और आतंक दोनों का विचित्र सम्मिश्रण था...ज्वाला प्रसाद ने भावावेश में आकर बच्चों को गोद मे उठा लिया। और फिर सारे घर और कमरों का भ्रमण करके थानेदार डाक्टर वनडोले के कमरे में आया और मेज़ पर रखे हुये लोहे के खिलौनों को देख कर बोला—

"यह खिलौने किसके हैं..."और बिना हवल्दार के कुछ उत्तर दिये ही थानेदार ने उन खिलौनो को उठा लेने का आदेश दिया। दीवान ने उन्हे उठा लिया और तब सब लोग बाहर चले आये। बाहर आते समय थानेदार की दृष्टि चौके के सामने चूड़ियों के टुकड़ों पर पड़ी जो वहाँ पड़े थे...उसने उन टुकड़ों को भी उठा लिया और एक बार फिर डाक्टर वनडोले के कमरे की ओर गया। इस बार खुला हुआ आप्रेशन बाक्स देख कर उसने दीवान से उसके भीतर के सब औज़ार और दवाइयों का नाम नोट कर लेने के लिये कहा। फिर थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद उसने पूछा—
"इसमें क्लोरोफ़ार्म भी है क्या..."

"जी हाँ, क्लोरोफ़ार्म ओर माइक्रोकीम दो दवाइयाँ हैं..."

"हूँ..." कह कर उसने ज़ोर की साँस ली और बाहर चला आया।

बाहर पहुँचते ही लोगों ने देखा गौरी एक नौकर के साथ घोड़ा लिए खड़ी थी। पँचकल्यानी ऊँचा घोड़ा रस्सी में बँधा था और दो तरफ़ से दो नौकर उसे पकड़े हुये थे। गौरी दबे पाँव हाते में आ रही थी और सहसा यह सब भीड़भाड़ देख कर कुछ विस्मय में पड़ गई थी, लेकिन दिव्या देवी को देख कर उसके मन में कुछ ढाढस बँधी। वह धीरे-धीरे उनके पास आकर खड़ी हो गई, और थानेदार हवल्दार को लेकर अस्तबल के पास पहुँचा। सब लोग उत्सुकता से एकटक ध्यान लगाये उधर देख रहे थे। ज्वाला प्रसाद पीछे से कह रहा था...

"आप लोग चाहे जो कहें लेकिन हवल्दार का कार्य है। बड़े पुरुषार्थ का,

बड़ी हिम्मत का काम किया है हवल्दार ने... । डाकुओं को ज़िन्दा अस्तबल में बाँध लेना कम हिम्मत का काम नहीं है...नौकर तो बहुत होते हैं लेकिन जान जोखम में डाल कर कौन आफत मोल लेता है..."

और इतने में दरवाज़ा खुल चुका था, मोटी रस्सी में बँधे हुए डाक्टर वनडोले और श्रीमती वनडोले सामने पड़े थे । श्रीमती वनडोले का अस्त-व्यस्त वस्त्र, सरका हुआ आँचल और खुले हुये केश को देख कर सब ने आँख बन्द कर ली । सिपाही लपके हुये भीतर गये । उन्होंने डाक्टर वनडोले के हाथ से रस्सी छुड़ाई और तब वनडोले ने श्रीमती वासन्ती वनडोले के हाथ की रस्सी खोली । श्रीमती वासन्ती से हाथ की रस्सी खुलते ही उन्होंने अपना वस्त्र सँभाला और रोती-चीख़ती हुई अपने बच्चों से लिपट गईं और उन से चिपट कर जी खोल कर रोईं । सारी भीड़ में कोहराम मच गया । कुछ लोग हँस रहे थे...कुछ उफ़-ओह कर रहे थे । डाक्टर वनडोले की घिग्घियाँ बँधी हुई थीं । आँखों से आँसू बह रहे थे । स्टेशन मास्टर और सारथी ज्वाला प्रसाद उन्हें चुप कराने की कोशिश कर रहे थे और डाक्टर वनडोले कह रहे थे...

"स्टेशन मास्टर...यह सब तुम लोगों की दया है...धन, रुपया-पैसा तो मैं फिर भी कमा लूँगा...बीता हुआ समय...गुज़रा हुआ दिन यह सब तो फिर भी वापस आ जायेंगे...लेकिन मुझे तो अपने बच्चों का भय था...वे बच गये तो समझिये सब बच गया ।"

ज्वाला उन्हें चुप कराने लगा । स्टेशन मास्टर भी चुप कराने लगे...लेकिन रात भर का बँधा हुआ बाँध जो खुला तो फिर चुप होने से रहा । सब लोग अपनी-अपनी बारी से डाक्टर वनडोले को उपदेश देने लगे लेकिन उनकी सिसकियाँ रुकती ही नहीं थीं । यह स्थिति देख कर थानेदार ने फ़ौरन हवल्दार के हाथ में हथकड़ियाँ डाल दीं और उसे मोटर में बैठा दिया । फिर चुपचाप वह बरामदे में कुर्सी पर बैठ गया । उसने अपनी डायरी खोली और डाक्टर वनडोले और श्रीमती वनडोले का बयान लिया... दोनो व्यक्तियों का दस्तख़त लिया । सारथी ज्वाला प्रसाद और स्टेशन मास्टर ने गवाही में दस्तख़त किये और वह लोहे के खिलौने को वापस कर के चला गया । धीरे-धीरे सभी लोग चले गये और तब डाक्टर वनडोले ने अपना आला उठाया, चिंघाड़ते हुये घोड़े के पास गये, उसे देखने में व्यस्त हो गये और गौरी श्रीमती वासन्ती वनडोले को घर में ले गई...वहाँ उसने उन्हें बरामदे की कुर्सी पर बैठा दिया, फिर घर के भीतर गई । ड्रेसिंग टेबुल पर से काँच की चूड़ियाँ उठा लाई और हाथ में पहनाते हुये बोली—

"मैं कह रही थी सोहाग के मामले में लापरवाही का यही सब नतीजा होता है...यह चूड़ियाँ पहन लो। फिर छूछा हाथ न रखना"—और बच्चे अपना-अपना आँसू पोंछ कर हँस रहे थे। बाहर डाक्टर वनडोले कह रहे थे—"इस घोड़े को भयंकर बीमारी हो गई है...इसका खाना कम कर दो...दो वक्त में से एक ही वक्त दो...दो-चार दिन कुछ भी खाना मत दो...जानते हो इसको ज़रूरत से ज्यादा चर्बी बढ़ गई है...इसीलिये इसका दिमाग़ ख़राब हो गया है...मैं न्यूट्रलाइज़ करने की सुइयाँ दूँगा लेकिन अभी नहीं...दो दिन बाद...

और गौरी अपने नौकरों के साथ घोड़ा लेकर घर वापस चली गई। डाक्टर वनडोले जब घर में आये तो श्रीमती वासन्ती वनडोले ने कहा—"गौरी बड़ी अच्छी है...सब चले गये लेकिन वह आख़िर तक रही...तुमने उसके घोड़े को दवा दे दी है न।"

"हाँ...हाँ...दे दी है"—डाक्टर वनडोले ने उत्तर दिया।

"क्या हुआ था उसे..."

"वही बेवक्त की शहनाई...चर्बी बढ़ गई है...चर्बी...बँधा-बँधा खाता है खूँटे पर...कोई बात नहीं है...दो दिन खाना न मिलने पर सारी मस्ती भूल जायगी, मैंने दवा बता दी है।"
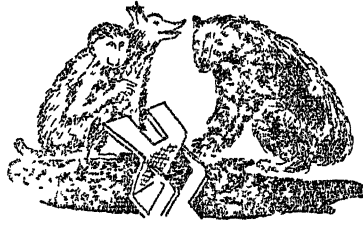
हवल्दार पुलिस की हवालात में बन्द था और कब छूटेगा यह नहीं कहा जा सकता। लोहे के खिलौने जो अकस्मात पुलिस के झोले से छूट कर बाहर आ गये थे और अकेले उदास-से डा० वनडोले के बरामदे में पड़े थे यह सब देखकर स्तम्भित थे और बात-बात में कहते थे—

"कौन कहता है भाग्य का नाम की कोई चीज़ नहीं है...यह भाग्य-चक्र ही की तो बात है न कि इतना नेक, ईमानदार और सच्चा होने पर भी हवल्दार आज हवालात में बन्द है और हम अकस्मात ही पुलिस के थैले में गये और वापस निकल आये।"

इस एक कथन को सभी स्वीकार कर रहे थे लेकिन विभिन्न-विभिन्न दृष्टिकोण से इस एक तथ्य को देख रहे थे। कोई इसको तथ्य के रूप में स्वीकार कर रहा था, कोई सत्य के रूप में और, कोई केवल घटना-दुर्घटना मान कर ही सन्तोष कर रहा था।

रात काफ़ी हो चुकी थी और बाहर की सर्दी छनकर बरामदे में आ रही थी। गीदड़ दुबका हुआ दीवाल से सटा औंधा पड़ा था। बन्दर अपने चारों पैर छितराये ज़मीन पर लेटा था और रीछ अपने हाथ-पैर आकाश की ओर उठाये चित्त पड़ा था। बन्दर और गीदड़ अपने आप बात करते जाते थे लेकिन रीछ चुपचाप चिन्तामग्न था। इस बार बात आदमी के ऊपर न होकर उसके चक्रों पर हो रही थी चाहे वह चक्र शनि का हो, अथवा भाग्य का हो, अथवा समय का हो। उनको ऐसा लग रहा था कि आदमी की बहुत-सी सफलताएँ और असफलताएँ इन चक्रों के सहयोग और असहयोग पर निर्भर हैं...उसका बस, उसकी बुद्धि, उसकी ईमानदारी इन चक्रों की परिधि के बाहर नहीं जा सकती...उसका रूप, उसका आकार चाहे जितने परिवर्तन के विरामों और अर्ध-विरामों को क्यों न पार कर ले सदैव एक ही समान रहता है।

आदमी की निरीहता, आदमी का मज़ाक, खुशी, हँसी सभी तो उसी के अधीन हैं। सभी...

"लेकिन मैं तो कहूँगा हवल्दार फिर भी नेक है...और नहीं तो मन से नेक और भला है।" बन्दर ने अपनी टाँग छितराये सबों को सुना कर कहा और फिर सबकी प्रतिक्रियायें सुनने की प्रतीक्षा में उत्सुक हो गया। गीदड़ मौन था, रीछ की निरपेक्ष भावना में कोई परिवर्तन नहीं आया और इस स्थिति को देखकर गीदड़ ने धीमे स्वर में प्रत्युत्तर देते हुए कहा—"लेकिन मन की बात कौन जानता है...हो सकता है हवल्दार ने किसी बुरी भावना से ही डाक्टर और श्रीमती वनडोले को उस स्थिति में पकड़ा हो लेकिन उसकी चाल न चली हो।" रीछ इन दोनों की बातें सुन रहा था और अपने मन में सोच रहा था...घटनाएँ घटित हो जाती हैं लेकिन समूची दुनिया असलियत के प्रति सन्दिग्ध ही रहती है। बन्दर के कथन मे जितना तथ्य है यहाँ उसका शतांश भी मानने के लिए कोई तैयार नही है...और बन्दर कह रहा था—"कुछ भी हो हवल्दार आदमी नेक और अच्छा था"...गीदड़ कह रहा था—"लेकिन मूर्ख था हवल्दार"...और रीछ अपने मन में सोच रहा था—"मन की बात करने वाले को मूर्ख नहीं होना चाहिये...यह हवल्दार की मूर्खता नहीं डाक्टर और श्रीमती वनडोले की मूर्खता थी जो उनको यह सब यातनायें भोगनी पड़ीं"...लेकिन गीदड़ इन लोगों की बात सुनकर भी अनसुनी करता जा रहा था। उसे लग रहा था कि यह सब बात की तह में जाने की कोशिश नहीं करते, केवल ऊपर से ही सारी बातों को देखते हैं। मैं कहता हूँ इन सब बातों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि... आज का आदमी कुछ अजीब हो गया है...क्या हवल्दार, क्या डाक्टर वनडोले दोनों ही की स्थिति एक ही सी है...एक सीधा है, दूसरा इतना चालाक बनता है कि सारी दुनिया के सामने सिवा मूर्ख के और कुछ नहीं सिद्ध हो सकता।

प्रश्न है...आदमी समय के लिए बना है या समय आदमी के लिए...

लेकिन क्या मनुष्य समय की सीमा से भी मुक्त नहीं है...

शायद डा० वनडोले की बन्दी की हुई घड़ियाँ फिर बाहर न निकलें...और ठण्ढा मेज़ पर लेटा हुआ थर्मामीटर सदा की भाँति वैसा ही पड़ा रहे...उसके पारे में उतार की क्षमता होते हुए भी वह समय के तापमान पर घटना-बढ़ना न स्वीकार करे...और फिर वह दुविधाएँ जिससे आक्रान्त डा० वनडोले का जीवन रसहीन लगता था जीवन से नष्ट हो जाय और वह अधिक निश्चयवान बन सके, लेकिन इन सब का होगा क्या? क्या डा० वनडोले का जीवन समय की निर्धारित योजना के बिना भी चल सकेगा? क्या वासन्ती वनडोले के जीवन में वह सब स्थितियाँ आ सकेंगी जो केवल

एक क्षण के लिए जीवन में रस का उद्रेक कर सकती हैं...? एक ओर गौरी का जीवन है...दूसरी ओर दिव्या देवी का रोमांस और संगीत का संगम...तीसरी ओर हवल्दार की जीवित कहानी है और इन सब के बावजूद भी डा० वनडोले की योजनायें और समय की सीमाय हैं। लेकिन सत्य कौन है? गौरी ने परिस्थितियों से समझौता कर लिया है, इसलिए ऐसा लगता है कि वह परिस्थितियों से छोटी है, किन्तु दूसरी ओर दिव्या देवी और ज्वाला का जीवन है जिसमें उन दोनों ने समझौता की अपेक्षा परिस्थितियाँ बनाई हैं...ऐसी परिस्थितियाँ जिनमें उन दोनों का प्रणय-प्रलाप चलता रहे...इसलिए निश्चय ही दिव्या देवी परिस्थितियो से बड़ी हैं...और बड़ी हो सकती थी यदि उस शक्ति को उन्होने किसी अच्छी दिशा की ओर लगाया होता, किसी और कार्य के लिए प्रेरित किया होता। लेकिन डा० वनडोले के लिए परिस्थितियो से समझौता करने या परिस्थितियों के बनाने का प्रश्न ही नही उठता। उन्होने तो परिस्थितियों का भी आपरेशन करके उनको समय और योजना के अन्तर्गत विभाजित कर दिया था, इसीलिए उनके जीवन की घटनायें उतनी ही टूटी-टूटी-सी थी जितनी कि उनकी कल्पनायें, उनकी सम्भावनायें और संवेदनायें हो सकती है।

कहते हैं डाक्टर वनडोले ने यद्यपि इस घटना के बाद चीड़ के बक्स से बड़ी-बड़ी घड़ियों को नही निकाला और न उन्होने फिर कोई योजना ही बनाने की चेष्टा की, किन्तु फिर भी उनके जीवन में पूर्वस्थिति नही आ सकी। यद्यपि अब भी उनकी कार्य-प्रणाली और समय उपासना अनायास ही होती जाती थी लेकिन फिर भी उन्हें कोई इसके लिए बड़ा आदमी मानने के लिए तैयार नहीं था। लड़के भी उनकी योजना को कार्यान्वित नहीं कर सके। जिसको वह कृषि-पण्डित बनाना चाहते थे वह फ़ोटोग्राफ़र निकला और अब उसकी बहुत बड़ी तस्वीरों की दूकान है जो चन्दनपुर में अकेली दूकान मानी जाती है। उससे छोटा लड़का डाक्टर बनने के बजाय दवा बेचने वाली बड़ी-बड़ी कम्पनियों का एजेन्ट है। दवाओं का नमूना और कई प्रकार की चीज़ों को साथ लेकर चलती गाड़ी में सफ़र करता है, हर डिब्बे में जाकर दवाओं के गुण और दोष बताता है और उनका प्रयोग बतलाता है और इस तरह डाक्टर बनने के बजाय अब वह ऐसी दवाओं का प्रचारक है जिसमें आधी धूल और आधी पानी मिली रहती है। उससे छोटा लड़का जो कन्नी-बसूली का खेल खेला करता था अब काठ के खिलौने बनाने लगा है। हवाई जहाज से लेकर बागड़बिल्ला तक बनाता है और चन्दनपुर की बढ़ती हुई आबादी और भावी नागरिकों को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है। पिछले दिनों उसके खिलौनों की प्रदर्शनी दिल्ली में हुई थी जिसमें उसे बड़ा इनाम मिला था और बनाये हुए खिलौने विभिन्न दूतावासों में भारत के कुटीर उद्योग के अन्तर्गत प्रदर्शित किये गये थे। यद्यपि उसको

सदैव खाने के लाले पड़े रहते थे लेकिन इसी बीच ज़माना प्लास्टिक का आ गया, फिर भी विदेश में काठ के खिलौनों की माँग दिन पर दिन बढ़ती गई। सबसे छोटा लड़का अभी पढ़ रहा है। डाक्टर वनडोले की सारी आशायें अब उसी पर केन्द्रित हैं लेकिन लोग कहते हैं उसका मस्तिष्क उसकी आयु का साथ नहीं देता यद्यपि वह दिमाग़ में छोटा और आयु में बड़ा दिखता है लेकिन फिर भी डा० वनडोले की समस्त योजनाएँ अब उसी तक सीमित हैं और वह आशा करते हैं कि कम से कम उनके बच्चों में से एक तो ऐसा होगा ही जो उनके सपनों को उनकी योजनाओं को किसी हद तक पूरा कर दिखायेगा।

जिस दिन उनके जीवन में अस्तबल घटना घटित हुई उसके तीसरे ही दिन कमरा साफ़ करते समय डा० वनडोले ने मुझे भी कमरे से बरामदे में निकालकर रख दिया। श्रीमती वनडोले मुझे और लोहे के खिलौनों को मनहूस समझने लगी और हम लोगों को उन्होंने दिव्या देवी के यहाँ पहुँचा दिया और जैसा भाग्य में बदा होता है वही होता है। मैं दिव्या देवी के ड्राइवर के कमरे में डाल दी गई और ज्वाला ड्राइवर मेरे ऊपर बैठकर अपनी परीक्षाओं की तैयारी करने लगा। कभी-कभी आल्हा लिखता और गाता। समय मिलने पर दिव्या देवी जब उसके कमरे में आतीं तो कुछ कवितायें और प्रेम सम्बन्धी बातचीत भी बिना फ़सल के पौदों के समान उगते हुए मालूम पड़ते। मेरे साथ खिलौने थे लेकिन उनकी तो विभिन्न दशा थी। पाण्डु रोग से पीड़ित होने के नाते ज्वाला इन खिलौनों का विशेष उपयोग करता था जिससे उनको बड़ा कष्ट था। डाक्टरों और वैद्यों ने उसके रोग को देखकर यह बताया था कि उसके रक्त में लोहे की कमी है और लोहा खाने की विधि भी कुछ ऐसी थी कि जिसके कारण उन खिलौनों को मण्डूक रस बनाने में भैंस की दही में डूबना पड़ता था, खरल में घिसना पड़ता था और तब जाकर ज्वाला ड्राइवर को संचित लोहा मिल पाता था...और पांडु रोग से बचने की सम्भावना और उसको जीवित रहने की आशा मिल पाती थी। वैद्यों की यह राय थी कि यदि ज्वाला का लोहा इसी प्रकार से कम होता रहा तो एक दिन उसके शरीर में केवल पानी-पानी ही रह जायगा और वह मर जायगा। इससे स्वयम् दिव्यादेवी भी चिन्तित थीं और कुछ ऐसा उपाय करना चाहती थीं जिससे ज्वाला का रोग मिट सके...वह स्वस्थ और बलवान् रह सके।

यों तो डा० वनडोले बहुधा दिव्या देवी के यहाँ आते-जाते थे लेकिन इधर उनकी घनिष्टता अधिक बढ़ गई थी क्योंकि ज्वाला का वैद्यों पर अधिक विश्वास था

और वह मन्डूक रस से लेकर कासावलेह और अशोकारिष्ट तक पीकर भारतीय और राष्ट्रीय परम्परा का सजीव रखना चाहता था। और डाक्टर वनडोले अँग्रेजी दवाओं के समर्थक थे। यह संघर्ष भी कम दिलचस्प नहीं था। श्रीमती दिव्या देवी ज्वाला को लाख समझातीं कि यह युग विज्ञान का है, वैज्ञानिक अनुसन्धानों का है और नई-नई दवाओं का है लेकिन वह एक भी न मानता और वही लोहे के खिलौने को घिस-घिस कर पीता और राष्ट्रीय परम्परा की दुहाई देता। इधर जब ज्वाला की तबियत ज़्यादा ख़राब होने लगी तो श्रीमती दिव्या देवी डाक्टर वनडोले को अपने घर बुला लेतीं और ज्वाला की हृदय-गति, नब्ज़ और अन्य चीज़ों को दिखला लेतीं और फिर घन्टों ज्वाला को समझातीं कि देखो यह विज्ञान की बात है...कभी हमारा देश बहुत आगे था, आज नहीं है, इसलिये आज के युग मे जो अधिक वैज्ञानिक हो उसे ही स्वीकार करना चाहिये, कल जब हमारा देश फिर बहुत अधिक वैज्ञानिक हो जायगा तो हम पुनः वैद्यक को स्वीकार कर लेंगे। लेकिन ज्वाला एक भी बात नहीं मानता और डाक्टर वनडोले भी थक कर चले जाते।

भाग्य की बात थी। डाक्टर वनडोले को दवा करते-करते एक मरीज़ ऐसा भी मिला जो जानवरं के अतिरिक्त मनुष्य था लेकिन जिस पर जानवरों की दवा पूर्ण रूप से लागू होती थी और जब वैद्यक का लोहा घिसते-घिसते ज्वाला को कुछ भी फायदा नहीं हुआ तो डाक्टर वनडोले ने ज्वाला को जानवरों की दवा देनी शुरू की। धीरे-धीरे उससे लाभ होने लगा और ज्वाला स्वस्थ होने लगा। एक महीने के अन्दर उसका सारा रोग जाता रहा। इस घटना का कुछ विचित्र प्रभाव डाक्टर वनडोले पर पड़ा। एक ओर तो उनकी यह इच्छा पूरी हुई कि जानवरों के अतिरिक्त उन्हें मनुष्यों की भी दवा करने का अवसर मिला और दूसरी ओर उन्हें यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि आदमी और जानवरों को रोग समान रूप से होते हैं, अन्तर केवल इतना रहता हे कि आदमी के लिये हल्के ख़ूराक की आवश्यकता है और जानवरों की बड़े ख़ुराक़ की। इस तथ्य को पाकर डाक्टर वनडोले की प्रसन्नता की कोई सीमा ही नहीं रह गई लेकिन जहाँ और जिस सीमा पर उन्हें अपने प्रयोग की सफलता दिखलाई पड़ती वहीं उनके दिमाग़ में अब एक ही प्रश्न बार-बार उठता था और वह यह कि आदमी और जानवर में अन्तर कितना है...क्या केवल ख़ूराकों का और बस...?

और यह एक ऐसा प्रश्न था जिसे वह प्रत्येक व्यक्ति से कह भी नहीं सकते थे लेकिन उनकी उत्कण्ठा और जिज्ञासा बिना कहे रुकती भी नहीं थी, साथ ही वह किसी भी प्रकार इस निष्कर्ष पर आना भी नहीं चाहते थे कि वह मनुष्य और जानवर

में कोई अन्तर नहीं मानते क्योंकि समय-बन्धन और योजनाओं की सक्रियता में उनकी अटूट श्रद्धा थी और आज भी वह किसी न किसी रूप में उनमें है ही, इसीलिये वह अपने को विशेष संकट की स्थिति में पाते थे...विशेष असुविधा में पाते थे और यह दबी हुई भावनायें उनको भीतर ही भीतर घुलाये जा रही थीं। डाक्टर वनडोले के प्रयोगों से स्वयम् कवयित्री दिव्या देवी भी विस्मित थी। कभी-कभी वह सोचतीं यदि घोड़े की दवा से सारथी ज्वाला प्रसाद ठीक हो सकता है तो फिर पेट्रोल पीकर हवाई जहाज़ का चालक भी किसी रोग से निवृत्ति पा सकता है और यही कारण था कि जब कभी भी श्रीमती दिव्या देवी ज्वाला प्रसाद को देखतीं तो हँसी रोक न पातीं और वह जितना ही हँसतीं ज्वाला प्रसाद को उतनी ही अधिक चिढ़ मालूम होती। बात धीरे-धीरे फैलती जा रही थी। हर आदमी कभी न कभी इस घटना को लेकर ज्वाला का काफी मज़ाक बनाता। इन सब का परिणाम यह हुआ था कि ज्वाला प्रसाद के भीतरी मन में डाक्टर वनडोले के प्रति दबी हुई चिढ़ बढ़ती जाती थी, उसके मन में श्रीमती दिव्या देवी से लेकर डाक्टर वनडोले तक से चिढ़ हो गई थी। यह चिढ़ दिनों दिन बढ़ती जाती थी। अक्सर वह डाक्टर वनडोले से बहस करने लग जाता और कहता..."आप चाहे जो कहें डाक्टर साहब इस पाश्चात्य सभ्यता ने हमारा और आपका व्यक्तित्व ही नष्ट कर दिया है यहाँ तक कि मनुष्य और पशु तक में कोई अन्तर नहीं रक्खा है...सारी सामाजिक चेतना को जड़ता प्रदान कर दी है हम सब को पशु बना दिया है पशु...मुझे तो डारविन उतना ही सनकी लगता है जितना मार्क्स...

और तब डाक्टर वनडोले भावुक होकर कहते—"हाँ ज्वाला प्रसाद जी, यह तो आप ठीक ही कहते हैं किन्तु वैज्ञानिकों के इस कथन में काफ़ी सत्य मालूम पड़ता है क्योंकि यदि यह सत्य न होता तो आज संसार में विद्रोह हो जाता...जाने क्या-क्या हो जाता..."

सारथी ज्वाला प्रसाद को डाक्टर वनडोले की यह बात पसन्द न आती। वह मन ही मन डाक्टर वनडोले को कोसते और उनके पीछे उनकी कटु आलोचना करके उनके कथन का विरोध करते...अपनी राष्ट्रीय भावनाओं और सांस्कृतिक चेतना के मूल्यों पर अच्छा ख़ासा वक्तव्य दे डालते और तब अपने विनय उल्लास पर खुशियाँ प्रकट करते हुये कभी तो लोहे के खिलौनों को अपनी मुट्ठियों में कस कर मसलने लगते और कभी दिव्या देवी की नीहारिका के स्वच्छ सुन्दर ड्राइंग रूम में गुलदस्तों के फूलों को नोच-नोच कर ढेर कर देते। जब तक मैं वहाँ थी तब तक न तो डाक्टर वनडोले ही किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच पाये थे न सारथी ज्वाला प्रसाद ही

अपने को बदल पाया था। श्रीमती दिव्या देवी यद्यपि विचारों में डाक्टर वनडोले से बहुत कुछ सहमत थीं लेकिन फिर भी ज्वाला से रागात्मक सम्बन्ध होने के कारण बुद्धिवादी परम्परा का अनुसरण करना उनके लिये असह्य था। यही दुविधा थी जो उन तीनों के बीच उस त्रिशूल के समान पड़ी थीं जिससे सभी भयभीत थे लेकिन किसी में यह साहस नहीं था कि उसको आगे बढ़ कर उठाता, एक निर्णय को स्वीकार करके दूसरों को स्वीकार कराता।

डाक्टर वनडोले के घर में जितनी घड़ियाँ थीं उन सब के लिवर और स्प्रिंग अब खराब हो चुके हैं क्योंकि समय की सूक्ष्मता को जब से उन्होंने अनुभव कर लिया है तब से वह स्थूल घड़ियों के डायल के क़ायल नहीं रह गये हैं लेकिन फिर भी एक बहुत पुरानी घड़ी जिसमें सिर्फ़ डायल है और दो सूइयाँ हैं और बिना रेगूलेट किये ही वह मान्य रूप से ठीक मानते हैं है। समय-समय पर वह उसे देख लेते हैं और फिर शान्त होकर अपने कार्य में लग जाते हैं। इधर कुछ दिनों से उन्होंने एक लोहे का छोटा-सा डायल बनवा लिया है जिसको वह अपने मेज़ पर रखे रहते हैं—कभी उससे आवारा हवाओं में उड़ते हुये नुस्खों को दबा देते हैं, कभी उससे जानवरों की ज़बान दबा कर उनके रोग का उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

उनकी लाल रिक्शा घोड़ा गाड़ी अब भी चन्दनपुर में उसी गति से चलती है लेकिन स्टेशन मास्टर अब घड़ी रेगूलेट करने के बजाय डाक्टर को सलाम करता है और अपने मित्रों में बात करते हुये कहता है कुछ भी हो डाक्टर वनडोले समय के सूक्ष्म रूप की चाहे जितने ज़ोरदार शब्दों में प्रशंसा करें लेकिन उसका स्थूल रूप भी है और वह स्थूल रूप सत्य है, उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा लेकिन डाक्टर वनडोले अब समय की अपेक्षा कार्य को प्रधान मानते हैं और यही कारण है कि समय को मुट्ठियों में कसने के बजाय अपने हृदय की धड़कनों में उसकी आवाज़ सुनते हैं और कभी-

कभी ऊब कर अपने से कहते हैं—"घड़ी की किट-किट वाली ध्वनि में केवल गति थी लेकिन इन धड़कनों में कहीं अनुभूति भी है और यह अनुभूति उन घड़ियो से कहीं ज़्यादा शक्तिवान् है..."

मवेशी अस्पताल के कँगूरे पर अब भी दो फ़ाख़्ते शान्त और गम्भीर मन से बैठते हैं। कभी-कभी वह दूर आकाश की परिधि को पार करने की इच्छा से लम्बी-लम्बी उड़ानें भी भरते हैं लेकिन जब वह लौट कर फिर वापस आते है तो अधिक गम्भीर होकर कुछ देर उन्हीं कारनिशों पर डैनें फैला-फैला कर अँगड़ाइयाँ लेते है। डाक्टर वनडोले उनसे बहुत कुछ सीखते रहते हैं। ख़ासकर जब वह अपने छोटे-छोटे बच्चों की चोंच में चोंच डालकर चारा बाँटते हैं तो डा० वनडोले का हृदय भर जाता है और उस दिन वह दूकान से घर लौटते समय अपने मन में कई बातें सोचते हैं...कई निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। कभी तो कहते हैं—"आसमान की उड़ान से कार्निश पर बैठे नन्हें-मुन्ने बच्चो को चारा देना अधिक श्रेयस्कर है, अधिक जीवन्त तत्वो से भरपूर है..." कभी कहते हैं..."प्रत्येक योजना चाहे वह आकाश में उड़ने की हो या बच्चों को चारा देने की हो उसमें रागात्मक अनुभूतियों का ताप आवश्यक है...आकाश की सीमा है किन्तु उसे योजना की उड़ान से नहीं, हृदय की अनुभूति द्वारा ही पाया जा सकता है और हृदय की अनुभूति सब में होते हुये भी लोग क्यो बदशकल योजनाओं का जाल बनाते है—क्या बिना योजनाओ के जीवन नहीं चल सकता... क्या नहीं चल सकता ?"

लेकिन यह स्टेशन पर जितना शोर-शराबा है...जितनी चीख़-पुकार है, जितनी घटना-दुर्घटना है, जितना हाहाकार और चीत्कार है यह सब का सब क्यों है ? समय की गति के साथ न चलने वाले की चूक ही इस भयंकर दुर्घटना का रूप है, समय की...प्रतिक्रिया कितनी प्रतिशीघ्रात्मक है,...ग़ल्ती किसकी है...? समय की ? योजना की ? लाइन क्लियर से लेकर पास देने वालों में से किसने समय की गति की अवहेलना की है...

मुझे सहसा हँसी आती है...सोचती हूँ कितना भयंकर जाल आदमी ने अपने चारों ओर बुन लिया है...शायद वह अपने इस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता...वह समय और गति, योजना और प्रस्तावना से मुक्त जीवन नहीं बिता सकता...उसे जीना है तो इन्हीं सीमाओं में और मरना है तो इन्हीं बन्धनों के साथ...

क्या आदमी इन सब से परे जीवित नहीं रह सकता ?

राख के पुतलों में लोहे का अभाव

"......जैसे यह कविता, यह संगीत, यह वेदना भरे गीत, यह अज्ञान की जिज्ञासा कुछ नहीं है... केवल एक पलायन है, एक ख़ोल है...एक खोखली अभ्यर्थना है...एक व्यंग्य है। सत्य है यह सिग्रेट, यह प्लास्टिक का आदमी, यह लौह पुरुष का खोखलापन, आग और धुएँ की भूख और प्यास...उसके भीतर का ख़ालीपन। लेकिन यह सब जानता कौन है? उसे स्वीकार कौन करता है? दिव्या देवी के अनन्त गीत-सगीत.... ज्वाला का ताँगा....डा० वनडोले की घड़ियाँ उस खोखलेपन पर आवरण डालने के बहाने हैं... केवल बहाने......"

सारथी ज्वाला प्रसाद चन्दनपुर के उन व्यक्तियों में से थे जिनकी प्रतिष्ठा केवल इसलिये थी क्योंकि वह स्वयम् प्रतिष्ठावान् नहीं थे वरन् एक ऐसी ख्याति-प्राप्त संगीत विदुषी के यानवाहक थे जो न केवल चन्दनपुर बल्कि समस्त आसपास के स्थानों में प्रसिद्ध और विख्यात थी। ज्वाला प्रसाद स्थूल से सूक्ष्म को अधिक महत्व देते थे यहाँ तक कि जब वह अपनी तुलना कृष्ण से करने लगते तो बार-बार कहते... "सारथी तो कृष्ण भी थे जो गीता इत्यादि 'दर्शन' के प्रणेता थे लेकिन शायद वह सद्-बुद्धि कृष्ण को भी नहीं आती यदि वह अर्जुन जैसे महारथी के सारथी न होते।" शायद यही कारण था कि चन्दनपुर में सारथी ज्वाला प्रसाद की ख्याति कुछ अंशों में प्रसिद्ध संगीत प्रवीणा श्रीमती दिव्या देवी से कहीं अधिक हो चुकी थी और अब इस स्थूल संसर्ग का परिणाम यह हुआ था कि सारथी ज्वाला प्रसाद भी कभी-कभी अपने को कुरुक्षेत्र के बीच खड़ा दिव्या देवी को दर्शन की दीक्षा देते हुये पाते थे और कहते थे..."देखिये दिव्या जी यह सारी सृष्टि ब्रह्मा की मुष्टिका में आकर निहित होती है...जीवन स्वयम् इन्हीं मुष्टिकाओं से बना है...शरीर में और है ही क्या सिवा एक मुट्ठी मांस के जो सूक्ष्म अनहद नाद मात्र नहीं है बल्कि स्थूल है गुण सम्पन्न है...निर्गुण नहीं..." दिव्या देवी के विचारों में और सारथी ज्वाला प्रसाद के विचारों में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। दिव्या देवी जीवन को एक पारिजात का पुष्प मानती थीं...शतदल कमल सा विश्रृंखल किन्तु एक सूत्र में समाहित पंखु-रियों-सा अनेक होते हुये भी मानती थी। एक ही रहस्य से सम्बद्ध। वह कहती थीं..."जीवन स्थूल नहीं सूक्ष्म है...अनहद नाद की तरह सूक्ष्म और अनन्त, इसीलिये वह शाश्वत भी है क्योंकि जो स्थूल है वह कंकाल है...नाशवान है...मिथ्या है। ज्वालाओं के पथ पर फूलों का श्रृंगार करके मैं नित्य अभिसार करती हूँ लेकिन ज्वाला

के लिये नहीं वरन् उस सूक्ष्म आँच के लिये जो अनन्त है...अखंड है...अभेद है... सर्वभूतेषु, प्रज्ञा-चक्षु वाली है...जो जीवन को रिझाती-सिझाती हुई पका देती है... जो संगीत की स्वर लहरियों के आरोह के समान, अन्तरा और मीड के समान शत सहस्र ध्वनि लहरियों को विस्फोटित करके वातावरण में वितरित कर देती है..."

लेकिन दिव्या देवी के इस कथन का आशय लोग समझ नहीं पाते थे। कुछ लोग ऐसे थे जो ज्वालाओं के पथ को, ज्वाला की आँच को, सारथी ज्वाला प्रसाद पर आरोपित करते थे लेकिन कुछ लोग दिव्या देवी के इस कथन को पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर की ओर लक्षित करते थे...कुछ लोग ऐसे थे जो तथ्य के निकट होते हुए भी सत्य पर अविश्वास करना ही उचित समझते थे और यह सारी ज्वाला की बात, अभिसार की बात उसी आदि शक्ति, पूर्ण, ब्रह्म, परम पिता परमेश्वर की ओर आरोपित करते थे। इस प्रकार श्रीमती दिव्या देवी का दिव्य जीवन संसार के कुहरमय आकाश में स्नेह-रश्मि के आधार पर सारथी ज्वाला प्रसाद के साथ निर्विरोध, निर्विवाद, प्रणय-प्रलाप के रूप में चला जाता था।

ख़ैर साहब ! हटाइये भी ज़िन्दगी इतनी गम्भीर नहीं। इतने गहरे पैठने की ज़रूरत भी क्या ? इन गहराइयों मे, सूक्ष्म और स्थूल में ज़िन्दगी का पता लगाना व्यर्थ है, ख़तरनाक है, दुःखद है। ज़रा छिछले आइये। ज़िन्दगी में चाहे डूबिये या भीजिये, लेकिन ज़िन्दगी का पूरा रस, पूरा मज़ा ज़रा उथले जल में ही मिलता है। अनन्त...अगाध...प्रवाहमयी वेगवती धारा में क्या है ? उस शाश्वत हाहाकार में तो केवल ऊब जाना ही है ? फिर कौन उस प्रवाह में अपनी साँस घुटाये...जान खपाये... वस्तुस्थिति को ही क्यो न देखा जाय...उनको क्यों न समझा जाय जो बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, दार्शनिकों और आलोचकों के शब्दाडम्बर के जाल में और गम्भीर, ओजस्विनी, वेगवती धार में दुनिया को ढकेलकर डाल देते हैं और स्वयम् तट के छिछले जल में आनन्द लेते है...कितने ख़ाली लोग होते है ये। स्वभाव से आदमी बातूनी है...बड़ी-बड़ी बातों का उसे मोह है, इसीलिए वह बड़े-बड़े शब्दों की खोल ओढ़ कर सब कुछ कर सकता है...करता जाता है। जहाँ तक इस ज्ञान का सम्बन्ध है उसका आभास तो मुझे था ही लेकिन अनुभव उस समय हुआ जब मैं सहसा एक नाटकीय ढंग से डाक्टर वनडोले के निवास स्थान से अस्पृश्य और भाग्यहीन, मनहूस मानकर श्रीमती दिव्या देवी के स्थान पर भेज दी गई। इस कारावास में स्थूल और सूक्ष्म का नग्न सत्य मेरे जीवन से टकराने लगा और मैंने जो कुछ भी देखा, सुना और उससे जो आदमी की तस्वीर मेरे सामने बनी वह उस ढपोरशंख के आकार की थी जो देखने में विशाल, सुन्दर, और दिव्य, किन्तु भीतर से खोखली, थोथी और शून्य...

लगता है आदमी कभी भी अपने स्वर में बात नहीं करता। वह सदैव दूसरे के स्वर का भिक्षुक है लेकिन उस आरोपित स्वर को पाकर उसमें अखंड स्वर नाद करने की अदम्य क्षमता भी है...लेकिन मैंने ऐसे ही आदमी को गूँगा, बहरा और अपाहिज होते हुये भी देखा है...देखा है उसकी दयनीय याचना की दृष्टि जिसमें असहायता के सिवा शेष कुछ नहीं बच पाता।

श्रीमती दिव्या देवी एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थीं। सुन्दर गीत गाती थीं। स्वरों के उत्तम, मध्यम और तबले के सम में उन्हें बार-बार यह अनुभव होता कि जीवन को केवल बन्धन में बाँधकर रखना श्रीहीनता और कला को अपमानित करना है। यही कारण था कि विवाहित होते हुये भी दिव्या देवी ने पति-पत्नी के जीवन का बहिष्कार कर दिया था। पान की बेगम की तरह वह सदैव ट्रम्प कार्ड ही बना रहना चाहती थीं। पुरुषों को तुच्छ समझती थीं क्योंकि साधारणतया उन्होंने देखा था कि पुरुषकंठ में कोमल स्वर जाकर कठोर हो जाते थे। स्वरों के कम्पन और उनकी मन्थर गति जाकर अवरुद्ध हो जाती थी। यही कारण था कि अपनी संगीत विद्या के लिए अनुकूल गीतों की वह एक प्रसिद्ध हिन्दी कवियित्री भी मानी जाती थीं। अपनी शृंगार रस से परिपूर्ण, नायिका भेदों से सुशोभित कोमल कलित-ललित पदावलियों पर वह रयाज़ करती थी। स्वरों और रागों की भाँति सूक्ष्म रोमांच में उनका अटल विश्वास था। हँसती थीं तो पारिजात की बँधी कलियाँ स्फटिक शिला पर उछलने लगती थी। अगर आप कभी भी उनसे मिलते और अपने कष्ट की बातें करते, अपनी कठिनाइयों को उनके सामने प्रस्तुत करने को चेष्टा करते तो सब कुछ सुनने के बाद वह अपनी हँसी से आपका पेट भर देतीं। आप क्षण भर के लिए अपनी व्यथा, पीड़ा, वेदना सब कुछ भूल जाते लेकिन प्रश्न यह है कि आप उनसे मिलते भी कैसे? क्योंकि वह बड़ी कठिनाई से मिलती थी। नाद मंदिर जो उनके निवास-स्थान का नाम था उसके चारों ओर आम्र मंजरियों और मौलश्रियों की सुगन्ध, सुरभित पवन की ओढ़नी के भीतर, बन्द कपाटों के पीछे वह रहती थीं। उषाकाल में स्वर्णधूलि छिटकाकर जब प्रकाश बेला आती और जीवन का शुभ सन्देश प्रातः समीर रहस्यमय स्वरों के आरोह, अवरोह से आम्रमंजरियों में गुंजा देता तब कुसुमित पल्लवों की करतल ध्वनियाँ आभार व्यक्त करती बज जाती। हरित दूर्वा के आन्दोलित अंचल में विश्व-शिल्पी की स्वप्न अलसित मुक्तावलियाँ ओस बिन्दु-सी अपनी रजत आभा बिखेर जाती और वहीं कहीं किसी पत्थर के चबूतरे पर बैठी-बैठी श्रीमती दिव्या देवी अपने संगीत के तान पूरे पर अनन्त स्वरों की गतियों में रागों की साधना करतीं। चिर-अपरिचित, अनभिज्ञ, अलौकिक उनकी आँखों में आँसू बनकर आता और उन्हें अंगारों के पथ पर दीपक राग का अनन्त प्रकाशमान स्तम्भ दिखा जाता और तब दीपमालाओं के बीच उनकी ज्वालामय

यात्रा प्रारम्भ होती। शत-शत आह्वान करती हुई वह, जीवन फलक पर एक दृढ़ तुषार विन्दु-सी, अनन्त पथ की मौन यात्रा करती-सी लगतीं और तब उस अनहद नाद के मंडलाकृत कक्ष में साधनाओं की अनेक दीपमालिकाओं वाली कोमल बल्लरियाँ जगमगा जातीं। प्रेरणामय प्रणय आह्वान की विभूतिमयी बेला में वह चिर अपरिचित, अज्ञात की अनुसन्धान हेतु, रश्मि रथ पर बैठ ज्वालाओं के देश को जातीं और वह तमस्वि मेघों को बेधती, लाँघती उसकी याचना में विकल विरहिणी-सी पुकारतीं, आह्वान करतीं। लेकिन उस नाद मन्दिर के मुग्ध वातावरण में उन्हें केवल अपनी ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और कहीं कुछ नहीं...कुछ भी नहीं। कभी कलारासी घोड़ा जिसे उन्होने गनपत शास्त्री से खरीदा था, जो पँचकल्यानी होने के साथ-साथ बड़ा ही सुन्दर था और कलापूर्ण था अस्तबल में बँधा-बँधा हिनहिनाता। सारा नाद मंडल उसकी आत्म-सुरभित वाणी से गूँज उठता...दिव्या देवी को लगता जैसे स्वर सिद्धि हो गई। लेकिन जब आँखें खोलतीं तो दीप शिखायें वैसी ही मौन मूक स्नेह सञ्चित निस्तब्ध खड़ी रहतीं और सामने सोन जुही की लतर में श्यामा के लिपटे हुये फूल उभर आते। दिव्या देवी को लगता वे दीप जिनको अनन्त अनुभूति के क्षणों मे उन्होंने जलाया था वे दीप नही थे वरन् श्यामा के फूल थे जो दीप से लगते थे और तब अर्द्ध-मूर्च्छित-सी, विक्षिप्त-सी वह आम्र-मंजरियों मे टहलने लगती, हाथ मलतीं लेकिन कुछ कर नहीं पाती थीं।

कहते है एक दिन जब वह इन्हीं-किन्हीं भावों में तिरोहित हो रहीं थीं और इन्हीं-किन्हीं भाव मुद्राओं में आत्मविभोर थीं तभी अस्तबल में किसी काम से गया हुआ ज्वाला प्रसाद सारथी नाद मण्डल के कुंजों के बीच से जा रहा था। उस आत्मविभोर स्थिति में दिव्या देवी को वह दिव्य आभा से सुशोभित कोई अलौकिक शक्ति-सा दीख पड़ा। उन्हें लगा कि नाद की सूक्ष्म सीमाओं के समक्ष वह कोई दिव्य सन्देश लेकर अवतरित हुआ है। उन्हें लगा कि वातावरण की रहस्य-मयी प्रेरणा जैसे उन्हें बार-बार उकसा कर इस दिव्य विभूति को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर रही है। दिव्या देवी को सहसा यह अनुभव हुआ कि जैसे शून्य अन्तरिक्ष में सहसा एक श्वेत रजताभ बादल, राजहंस के दुग्ध धवल पँखों को फैलाता-सिकोड़ता दूर उस पार के क्षितिज से इस पार के अन्तराल में प्रवेश कर रहा है और उस राजहंस वाले श्वेत रजताभ बादल की गति में एक अलौकिक आभा आकाश से छन-छन कर दिव्य मंजरियों के कुहरमय अवसाद में फैलती जा रही है। मुग्ध मौन स्नेह-दीप अछत कौमार्य की कलियों से बर्बर फूटे पड़ रहे हैं...एक वेदना मीड़ और झाले के मुक्त प्रवाह में उन्हें तन्द्रालस मुद्रा परिवर्तित कर रही है और कोई शक्ति है जो अनहद नाद की स्वरारोहण मुद्रा में, प्रतीकात्मक शैली में उभारता आ

रहा है। धुँधुलका हट रहा है। ज्योति फैल रही है और तब उस आत्मविभोर स्थिति में दिव्या देवी ने सुना जैसे कोई कह रहा है—

"हे सौम्य...प्रत्येक प्राणी को यहीं इस शरीर के भीतर, हृदय पुण्डरिकाकाक्ष में ही जागना चाहिये...किसी अन्य देश में नहीं। तुम स्त्री हो, तुम्हारे हृदय की दीप शिखा के लिए कोई ज्योतिवर्द्धक चाहिये और हे अलौकिक पुत्री जिस पुरुष में ज्वाला प्रसाद की कलाएँ नहीं होती उसे रागिनी कभी भी सिद्ध नहीं होती और जब तक रागिनी सिद्ध नहीं होगी तब तक ब्रह्मानन्द सहोदर भी नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्वों मे अध्यारोप के बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता...और हे पुत्री ज्वालाओं में इन कला की उत्पत्ति हुई है...उसने स्थिति और परिस्थिति को जाना है...उसने सब को अपने ऊपर आरोपित कर लिया है, उसे अपने हृदय गगन में श्याम मेघ सा स्वच्छन्द विहार करने दे...उसका स्वागत कर...उठ...उसको स्वीकार कर..."

सहसा अस्तबल से घोड़े ने समर्थन किया। और तब जब उस ध्यानावस्था में उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और इस अन्तर प्रेरणा के सूक्ष्म शब्दों को हृदयंगम करने के बाद इस नश्वर जगत को देखा तो उन्हें लगा जैसे ज्वाला वह ईश्वरप्रदत्त प्रसाद हो जिसे अस्वीकार करना उस रहस्यमय शक्ति का अपमान करना होगा। अतएव दिव्या देवी ने ज्वाला को अलौकिक मान कर उसे स्वीकार और अंगीकार कर लिया। कहते हैं जब से यह घटना घटित हुई है तब से दिव्या देवी की रहस्य-भावना शान्त हो गई है। उनका ध्यान सांसारिक राग-द्वेष और सांसारिक रचनाओं से उठ कर उस अजन्मा अखण्ड के शब्द में लीन हो कर स्वरहीन हो गया जो व्यक्त-अव्यक्त, प्रत्यक्ष-परोक्ष, स्पष्ट और अस्पष्ट दोनो ही है। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि उन्होंने संगीत से विराग ले लिया है और उसके स्थान पर संगीतज्ञों की सेवा करना शुरू कर दिया है लेकिन किम्वदन्तियों पर क्या विश्वास ? कौन जाने सेवा भी उतना ही बड़ा नाटक हो जितना कि उनकी संगीत-साधना। इसलिए मैं उस विषय में मौन रहना अधिक श्रेयस्कार समझती हूँ। जो कुछ देखा-सुना है उसी को मानती हूँ, अपना निर्णय उन सबसे अलग रख कर ही कथा कहती हूँ—विषय गूढ़ है, भगवान ही निबाहे तो निभे वरना...

इधर जब से दिव्या देवी ने ज्वाला को अलौकिक मान लिया था तब से उसका भाग्य ही पलट गया। वह सारथी ज्वाला से ठाकुर ज्वालाप्रसाद सिंह हो गया। कहते है दिव्या देवी ने ताँगे को भी उसके नाम कर दिया है और घोड़ा भी। यद्यपि साधारण जनता का मत यही पर ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। अभी तक यह बात रहस्य

ही है लेकिन सत्य यह है कि ताँगा को वह एक सारथी की हैसियत से नहीं मालिक की हैसियत से हाँकता है और शायद आजीवन इसी प्रकार हाँकता जाय। इधर जो विशेष परिवर्तन ज्वाला में आया वह यह था कि ज्वाला ने धीरे-धीरे पढ़ना-लिखना शुरू कर दिया था, चुपके से इन्ट्रेन्स और एफ० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। टूटी-फूटी कविता और कहानी भी लिखने लगा और इसके साथ-साथ कुछ ऐसे चमत्कारिक परिवर्तन हुये जो विचित्र थे। क्योंकि ज्वाला प्रसाद ही चन्दनपुर के ऐसे व्यक्ति थे जिन के सामने दिव्या देवी गीत गाती और सुनाती थीं। ज्वाला में संगीत को कान बन्द करके सुनने की क्षमता अजीब थी। स्थितप्रज्ञ हो कर निरन्तर बिना किसी राग-द्वेष के केवल सुनता रहना भी कुछ कम श्रेयस्कर नहीं था और यह एक ऐसा गुण था कि जिसके कारण दिव्या देवी आवश्यकता से अधिक प्रसन्न रहतीं और अपने इष्ट मित्रों में उसकी बड़ी प्रशंसा करतीं। कभी-कभी ज्वाला भी आल्हा गाता और दिव्या देवी को प्रसन्न होकर सुनाता और दिव्या देवी उस आल्हे मे नाद और लय के माध्यम से अभिव्यक्त भावों की हृदय से प्रशंसा करतीं। सत्य तो यह है कि जब से उनके जीवन में यह सरसता आ गई है, उनकी मनोभावनाएँ अधिक प्रौढ़ हो गई हैं, तब से उनकी कला साधना ढीली पड़ गई है और ठीक भी है, कला, काव्य, साहित्य केवल रस-सिद्धि और रस प्राप्ति के माध्यम मात्र हैं। जब रस परिपक्व हो जाय, उसे भोग लिया जाय तो फिर उसके लिए साधना की क्या आवश्यकता? फिर तो सीधा मोक्ष, सीधा निर्वाण ही जीवन का ध्येय बन जाता है...स्वर्ग नसैनी की सभी खूँटियाँ फिर तो सुलभता से लाँघी जा सकती हैं।

पिछले कई वर्षों से दिव्या देवी ने मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनानी शुरू कर दी हैं और इन मूर्तियों में वेद मन्त्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठित करने के बाद उन्हें अपने ड्राइंग रूम में रख देती हैं। इन मूर्तियों को देख कर ज्वाला बड़ा प्रसन्न होता है। उन्हें कोई उच्च कला की वस्तु समझ कर उसका अध्ययन करता है और फिर धीरे-धीरे उन मूर्तियों की प्रशंसा में प्रशस्तियाँ लिखता है और लिख-लिख कर दिव्या देवी को सुनाता है। दिव्या देवी अपनी भावुक भ्रूभंगिमा से कृतज्ञता प्रकट करती हैं और ज्वाला इससे बड़ा प्रसन्न हो जाता है। धीरे-धीरे करके उसने इन्हीं प्रशस्तियों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। मूर्तियों की शिल्प व्यवस्था पर मन माने ढंग से वक्तव्य देना शुरू किया और अन्त में पता चला कि वह मूर्ति कला का भी विशेषज्ञ है और अच्छी व्याख्या करता है। एक दिन ज्वाला अपनी इसी धुन में अगम पण्डित के यहाँ भी जा पहुँचा और अपना हाथ दिखलाते हुये बोला—

"बोलो पण्डित इन टेढ़ी-मेढ़ी हस्त रेखाओं में भाग्य की कितनी लकीरें ऐसी

हैं जो मेरे प्रगति के पथ में बाधक है"—और तब अगम पण्डित ने बतलाया था—

"तुम्हारे हाथ की सभी रेखाएँ सबल हैं...स्वास्थ्य और भाग्य की रेखाएँ तो इतनी प्रबल हैं कि...कि..."

"कि...कि क्या करते हो पण्डित...सीधी तरह बताओ न कि क्या दोष है और क्या गुण है...तुम भारतीयों में यही तो बड़ी गड़बड़ी है...तुम कभी भी स्पष्ट बात नहीं कह सकते..."

और अगम पण्डित को इतनी-सी बात सुन कर ज्वाला पर थोड़ा क्रोध आ गया था। आवेश में बोले..."देखो ठाकुर मैं कुलीन और विद्वान हूँ...मुझसे अनर्गल प्रलाप मत करना नहीं तो धोखा उठावोगे...समझे..."

ठाकुर का भी खून क्यों न खौलता, कड़क कर बोले—

"तो तुम भी जान लो पण्डित मैं भी कोई ऐसा-वैसा ठाकुर नहीं हूँ...बैसवाड़े का नाम सुना है न...नहीं जानते, लो अब से जान लो बैसवाड़े के ठाकुर बड़े ख़तरनाक होते हैं...हाँ..."

"होते होंगे ठाकुर साहब...आपको मुझ जैसा ब्राह्मण भी नहीं मिला होगा... मैं किसी से भी नहीं डरता समझे..."

और इस प्रकार बात-बात में बात बढ़ती जा रही थी। कोई बीच-बचाव भी करने वाला नहीं था। अगम पण्डित को अपनी विद्वता पर गर्व था और ज्वाला को अपनी उधार मिली हुई मान और प्रतिष्ठा का। दोनों में से एक भी नीचे उतरने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए सारा मामला रफ़ा-दफ़ा करने के लिए स्वयम् गौरी को दरवाज़े की कुण्डी खटखटानी पड़ी थी और जब अगम पण्डित घर में गये थे तो गौरी ने कहा था..."पण्डित तुम विद्वान होकर भी मूर्खों से क्यों उलझते हो, आख़िर बता क्यों नहीं देते कि उसकी हस्त रेखाओं में कौन-सा योग है..." और तब पण्डित को थोड़ा ज्ञान हुआ। वह दमकते हुये बाहर अपनी गद्दी पर आ बैठे और फिर उन्होंने काफ़ी जोड़-बाक़ी करने के बाद सारथी ज्वाला प्रसाद को पाँच बातें बताईं जिनमें से प्रायः सबों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। बताते समय अगम पण्डित थोड़ा हिचकिचाते थे लेकिन फिर उसने बताया कि उनकी हस्त रेखा में पाँच गूढ़ रहस्य हैं।

प्रथम तो यह कि ज्वाला का प्रणय सम्बन्ध किसी प्रौढ़ स्वस्थ नायिका से हो चुका है जो इतनी तीव्र अनुभूतियों वाली है कि उसके सम्मुख वह सदैव बचकाने सा लगेगा लेकिन, फिर भी उसका संचित आत्म-स्नेह ही तुम्हें कीर्तिवान और प्रतिष्ठित बनाने में काफ़ी सहायक होगा...

दूसरा यह कि ज्वाला को किसी पराई स्त्री द्वारा इतना अधिक संचित धन

मिलेगा कि उसका उदारचेता अन्तःमन सहसा एक सारथी से प्रतिष्ठित गुणवान विद्वान में परिणत हो जायगा। उसके हाथ में विद्या और ज्ञान की रेखा पर कई वर्ग और वृत्त इस बात के साक्षी हैं कि भविष्य में आने वाले संकटों से वह सदैव उबरता रहेगा और वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाएँगे।

तीसरी बात यह थी कि वह किसी कीर्तन मण्डली की स्थापना में वही योग देगा जो एक हरकारा पत्रों को इधर-उधर ले जाने में देता है। उसकी प्रौढ़ नायिका सदैव अपनी तीव्र बुद्धि-कटाक्ष से उसे आगे की ओर अग्रसर करती रहेगी और वह मण्डली में बचकाना होते हुये भी अपना स्थान बना लेगा। थोड़ी-बहुत निन्दा और आलोचना तो होगी लेकिन हाथ में आत्म-हत्या और विक्षिप्तता की रेखाएँ शून्य है, इस लिएवह उन्हें भी सहन कर ले जायगा।

चौथे चरण में ज्वाला को एक शारीरिक कष्ट होगा अर्थात् वह पाण्डु रोग से पीड़ित होगा और उसमें लोहे की कमी के कारण थोड़ी दुर्बलता आयेगी लेकिन फिर दैव संयोग से नक्षत्रों-ग्रहों के उतार-चढ़ाव से उसे उस रोग से मुक्ति मिलेगी और जब वह उस रोग से मुक्त हो चुकेगा तब उसे एक लोहे का आदमी मिलेगा और फिर इस लोहे के आदमी की सहायता से वह आगे बढ़ने की चेष्टा करता रहेगा।

पाँचवाँ चरण घोर संकट का होगा। उसकी प्रणय सम्बन्धी आस्था बदलेगी... इस काल में उसे एक काग़ज़ी आदमी मिलेगा जो उसका स्थान लेने का प्रयास करेगा और तब ज्वाला को आत्मग्लानि होगी। आत्महीनता के इस क्षण में यदि वह उबरना चाहेगा तो भी कुछ नई आस्थाएँ लेकर उबरेगा अन्यथा वह अवसान काल होगा। हो सकता है ज्वाला को इस काल में सन्यास लेना पड़े और वह एक यती का जीवन व्यतीत करे।

जब अगम पण्डित ज्वाला को यह बातें बता रहा था तो गौरी किवाड़ें से लगी हुई यह सारी बातें सुन रही थीं। अगम पण्डित के हाथ में अभी ज्वाला का हाथ था। जो रेखाएँ मद्धिम थीं उनको भी पढ़ने और समझने की चेष्टा में लीन होने के कारण वह कुछ विस्मय में भी डूबा हुआ था। अगम पण्डित सोचते थे कि विद्या और ज्ञान की रेखा इतनी दुर्बल क्यों है और यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी। काफ़ी देर तक अगम पण्डित को चिन्तामग्न देखने के बाद ज्वाला ने पूछा—

"आप मेरा हाथ क्या घूर रहे हैं...क्या कुछ और है..."

"हाँ, एक विस्मय की बात यह है कि यह विद्या की रेखा इतनी मलीन और धुँधली क्यों है? आप अपने हाथ से कोई सख़्त काम तो नहीं करते...

"सख़्त काम क्या? क्या मैं कोई कुली-कबाड़ी हूँ...इन दो उँगलियों से मैं सिग्रेट पीता हूँ और दोनों हथेलियों से घोड़े की लगाम चलाता हूँ बस..."

"वही तो...वही तो..."दुहराते हुये अगम ने कहा। "कभी-कभी ऐसा होता है... विद्या की रेखा पर किसी मुर्दा चमड़े की पट्टी का भार अपेक्षित था, रेखाएँ यह बताती थीं कि तुम्हारे यश का माध्यम यह लगाम ही है...चाहे वह लगाम चमड़े का हो अथवा किसी और चीज़ का..."

इतनी बात कह कर अगम पण्डित मौन हो गये। थोड़ी देर तक चिन्ता और विचार करने के बाद बोले—"लेकिन हाथ की रेखाएँ यह बताती हैं कि तुम सदैव वाहन के स्वामी रहोगे...यानी तुम्हारे पास सदा एक न एक सवारी रहेगी...यात्रा की सुविधा तुम्हें सदैव रहेगी...जहाँ तक मैं समझता हूँ तुम्हारे पैर में ऊर्ध्व रेखा अवश्य होगी..." और तब सारथी ज्वाला ने अगम पण्डित को अपने पैर की रेखा भी दिखलाई और उस का प्रभाव सुनकर वह चुपचाप घर वापस चले आये। अपने समस्त जीवन को आदि से अन्त तक सोचने और समझने की चेष्टा करने लगे और फिर नाद मन्दिर के उद्यान में टहलते-टहलते सो गये...

दिव्या देवी और ज्वाला दोनों की प्रेम-गाथा आज के युग की गाथाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी क्योंकि उनके जीवन और कृतित्व में उनके युग की वह सब दुविधायें, आशंकायें और सम्भावनायें निहित हैं जो आज के जीवन के लिए उतनी ही सत्य हैं जितनी कि प्लास्टिक और रेयन के कपड़े अथवा आज के युग के आदमी की बनावटी शक्लें। जैसा कि कहा गया है स्त्री जब आत्म-समर्पण करती है तो वह अच्छा-बुरा, अपना-पराया सब कुछ भूल जाती हैं...उसके सामने केवल आत्म-समर्पण की भावना होती है और शेष जो कुछ उसे दीखता है वह है उसकी भाग्य-विडम्बना में वे अंकुरित भावनायें जो धीरे-धीरे शंकाओं में बहकर उसके व्यक्तित्व पर अपनी पर्तें चढ़ा देती हैं। दिव्या देवी शिक्षित और उदारचेता होते हुये भी इस एक सत्य में मात्र स्त्री थीं। उनमें वह सब भावनायें स्वारोपित ढंग से पनप रही थी जो किसी स्त्री में भी पूर्ण आत्म-समर्पण के बाद विकसित होती हैं।

जिस दिन से उन्हें यह अनुभव हुआ था कि "प्रत्येक प्राणी को यहीं इसी शरीर के भीतर हृदय पुण्डरिकाकाश में ही जागना चाहिये" और जब से उन्होंने ज्वाला को सर्वस्व अर्पित करके संसार के रहस्य को भोगने की गहन प्रेरणा अपना ली थी, उसी दिन से ज्वाला के जीवन में विशेष परिवर्तन आ गया था। दिव्या देवी ने ज्वाला को क्या कुछ नही दिया...अपना संचित स्नेह, अपना प्रौढ़ यौवन, अपना स्वस्थ शरीर, अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा, अपना सामाजिक स्थान, अपना जीवन-दर्शन, अपनी प्रतिभा और अपनी हर चीज़ जिस पर उनका अधिकार था उसे ज्वाला सरस रसिक की भाँति भोगकर हर्षित और आनंदित होता था। कभी-कभी नाद-मन्दिर के सघन

निकुंजों में प्रणयपूर्ण हास-विलास की सरस प्रवाहिनी रस-गंगा बह जाती और उसमें वे दोनों ऊब डूब आत्म-दर्शन करते, आत्म-परिरमण और आत्म-आलिंगन में एकात्म सर्व-शून्य स्थिति का उपभोग करते और तब दिव्या देवी मुग्ध-मूर्छित अवस्था में कहतीं...

"कितना रस है इस समूची प्रकृति में...इन शेफाली के पुष्पों में कितनी गन्ध है...कौन इसकी अथाह रस-सिंचित भाव-ऊर्मियों को पकड़ सकता है ज्वाला ? लगता है जितना भी रस हमने-तुमने अपनी मुट्ठियों में बाँध लिया है वह सब एक-एक करके रिस रहा है...रिसता जा रहा है और उस रिसने में समस्त सृष्टि ही शराबोर है...

और तब ज्वाला किंकर्तव्यविमूढ़-सा कहता..."क्यों नहीं...क्यों नहीं देवी-जी...आख़िर रस तो स्थूल तत्व है, नहीं वह तो तरल पदार्थ ही है...वह तो कहीं से भी भिंच कर निकल सकता...और जो कुछ भी छलक जाता है उसी से तो सृष्टि पल्लवित होती है, प्रकृति रसमय अपना शृंगार करती है..."

"लेकिन क्यों न इस रस को पूर्णरूप से भोगा जाय...क्यों न उसे सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपने ही तक संचित रखा जाय ? ज्वाला ..मैं सब कुछ सहन कर सकती हूँ किन्तु मेरे लिये यह असंभव है कि अपने रस का एक अंश भी अपनी मुट्ठियों से बाहर जाने दूँ। मुट्ठियाँ मेरी हैं...मैं इस रस को अपने तक ही सीमित रखूँगी... केवल अपने तक।"

शेफाली और मौलश्री की सघन छाया में दोनों घण्टों बैठकर बातें करते... शरद चन्द्रिका, शिशिर शीत, हेमन्ती हवा, वसन्त वैभव सभी एक-एक कर आते और उनकी आत्माओं को आन्दोलित कर देते...कभी-कभी ज्वाला एक अड़हौल का फूल दिव्या देवी के जूड़े में लगा देता और तब वह प्रसन्न होकर एक हल्की-सी कड़ी गुन-गुना देती...ज्वाला ठहाका मार कर हँसने लगता और कोमल सुन्दर पुष्पों की पंखुड़ियाँ अकस्मात् ही गिर पड़तीं, फिर दोनो बैठ कर गीत गाते, और फिर उस समस्त रस को मुट्ठियों में रख कर संग्रहीत करने की चेष्टा करते लेकिन जब नाद-मन्दिर से उठते तो लगता उस रस का शेषांश भी उनके पास नहीं है, वे रिक्त हैं, शून्य हैं, केवल शून्य...

एक दिन ज्वाला ताँगा चला रहा था और दिव्या देवी उसी के बग़ल में बैठी चली जा रही थीं। दोनों ही आत्म-मग्न, आत्म-विभोर स्थिति में थे। सामने चाँदनी में दिव्या देवी की स्वच्छ, शुद्ध प्रतिमा झलक रही थी, ज्वाला उसे देख-देख कर ताँगा चला रहा था। उस चाँदनी में पड़ती हुई सड़क के पेड़ों की छायायें एक

रहस्यपूर्ण चित्र छोड़कर आगे बढ़ जाती थीं और उन बदलते हुये चित्रों के बीच दिव्या देवी की सौम्य और गम्भीर प्रतिमा चिरन्तन सत्य की भाँति शाश्वत-सी लगती थी। रहस्य और छाया, छाया और रहस्य की इस आँखमिचौनी में ज्वाला क्षण भर के लिए अपने को भूल गया...उस सड़क को भूल गया जिस पर वह ताँगा चला रहा था, उस लगाम को भूल गया जो एक गोल चक्र सुदर्शन-सा उसकी दोनों हथेलियों में नाच रहा था। सहसा ताँगा दनदनाता हुआ एक पेड़ से टकराकर नीचे खड्ड और खाईं की ओर जा पड़ा। सारथी ज्वाला प्रसाद ताँगा के साथ एक भयंकर चीख़ के बाद नीचे जा गिरा और बेहोश हो गया।

भाग्य की बात ताँगा जब एक झटके के साथ खड्ड में गिर रहा था तभी उस झटके और झकझोर में दिव्या देवी खड्ड के ऊपर ही गिर पड़ीं। लेकिन उनकी श्वेत साड़ी ताँगे मे इस प्रकार फँस गई कि वह भी उसके साथ-साथ ठीक उसी प्रकार घसिट गईं जैसे गठ-बन्धन के बाद कुलवधू अपने पति के पीछे-पीछे घसिट जाती है, बिल्कुल अनायास, बिना किसी परिश्रम के। स्थूलकाय दिव्या देवी के शरीर पर अब तक कई खरोंच लग गये थे। चमड़े की जिल्द कट चुकी थी। माथा फूट गया था। ठुड्डी पर घाव लग गया था और उनकी वह कुरूपता जिसे वह सदैव अपने मेक-अप और सादगी में छिपाये रहती थीं प्रकट और स्पष्ट हो गई, लोहू-लोहान चण्डिका की भाँति लट बिखेरे वह ताँगे की एक ओर पड़ी थीं, दूसरी ओर ज्वाला पड़ा सिसक रहा था। साहस करके दिव्या देवी उठीं...अपनी धूल और कालिख से सनी हुई साड़ी उन्होंने लपेट ली और फटी-चरी हालत मे धीरे-धीरे लँगड़ाते हुए वह ज्वाला के पास गईं। किसी तरह ज्वाला को मूर्च्छित अवस्था में ताँगा की अंजर-पंजर हालत से निकाला। वह अब भी बेहोश था और दिव्या देवी उसे उस हालत में देख कर विशेष चिन्तित हो रही थीं। उन्होंने अपनी साड़ी की अच्छी, ख़ासी कछनी कसकर बाँध ली और जब वह ज्वाला को उठा रही थी उसका भारी शरीर दिव्या देवी के हाथ से छूट गया और ज्वाला लुढ़कता हुआ फिर नीचे जा गिरा और इस कई बार के प्रयास में ताँगे की चोट के अतिरिक्त ज्वाला को कई और चोटें लगीं जिसे वह आज भी ताँगे की चोट समझकर भुलाये हुये है लेकिन शायद उसे यह नहीं मालूम कि वह समस्त चोटें उस प्रयास में लगी थीं, जब दिव्या देवी उसे गर्त और गड्ढे के ऊपर उठाने का प्रयास कर रही थीं। अब भी उनकी हड्डियों में कभी-कभी बड़ा सख़्त दर्द होता है जिसे वह ताँगे का ऐक्सिडेण्ट समझ कर भुलाने की चेष्टा करता है लेकिन वह दर्द कुछ अजीब होता है, ज्वाला को जब कभी वह दर्द उभरता है तो वह परीशान और बेहाल-सा हो जाता है।

लेकिन यह सब होते हुए भी दिव्या देवी के साहस की सराहना करनी ही होगी। उन्होंने जैसे-तैसे करके ज्वाला प्रसाद को खड्ड में से ऊपर उठा ही लिया और सड़क के किनारे ज्वाला को लेटाकर किसी सवारी की प्रतीक्षा करने लगीं। सामने ताँगे की धुरी टूट कर गिरी पड़ी थी। चकनाचूर होने पर भी वह पहियो से अभी तक अलग नहीं हो सकी थी। जब सहसा ज्वाला के घायल हाथ-पैर से रक्त पोछते-पोछते दिव्या देवी की दृष्टि वैनेटीबैग के शीशे पर पड़ी तो उन्होंने उसे उठा लिया लेकिन जब उन्होंने उसमें अपना रूप देखा तो ठक रह गईं। वही भयंकर आकार-प्रकार, बिखरे हुए बाल, उलझी हुई लटें भद्दे कुरूप नथुने, गालों पर धूल और कालिख की एक पर्त...चिथड़े-चिथड़े हुई सफेद साड़ी और कालिख और खून से लतफत... बिन्दी का टीका ज्वाला की लपटों सा माथे के ऊपर बिखर रहा था...माथे पर के घाव से रक्त रिस-रिस कर बह रहा था...पहले तो दिव्या देवी ने शीशे में अपनी छाया देखकर उसे फेंक देना चाहा लेकिन फिर उन्होंने उसकी सहायता से मुँह पर लगी हुई कालिख हो पोंछना चाहा लेकिन न जाने क्या बात थी कि वह जितना ही उसे मिटाना चाहती थीं वह उतना ही बिखरता जा रहा था...और वह कालिख खून के जमे हुए धब्बे जिन्हें उन्होंने केवल एक स्थान विशेष तक सीमित समझा था जब सारे मुख पर फैल गया तब उन्होंने शीशे को उलट दिया और मुँह पोछने का उपक्रम भी बन्द कर दिया।

चैत मास की चाँदनी थी। लेकिन सन्नाटी चौकन्नी सड़क पर फैली हुई चाँदनी गर्म चाशनी-सी बिखरी हुई थी। सड़क का डामर उभर रहा था, उदास पत्तियाँ डालों से चिपक रही थीं और पेड़ के ऊपर से महुये के फूल टपक रहे थे टप...टप...टप.. ज्वाला अब कराहने लगा था, दिव्या देवी ज्वाला के केश सहेज कर कह रही थीं...

"ज्वाला.. होश में आओ, ज्वाला...जीवन के इतने से संघर्ष में तुम इस प्रकार चित्त पड़ गये...अरे अभी तो झंझावातों और झकोरमय गर्जनों के बीच, उल्कापातों के समक्ष चलना है...यह तो अभी कुछ नहीं है..."

ज्वाला को होश आ गया था लेकिन उसमें हिलने-डुलने की शक्ति नहीं थी। दिव्या देवी की बातो को सुन कर वह कुछ खीझ उठा। आँखें बन्द किये हुए बोला—

"वाह...वाह...यहाँ मेरी जान जा रही है और आपको कविता सूझी है..."

"यह कविता नहीं है ज्वाला, यह जीवन है...यह वह नैसर्गिक सन्देश है जो इन महुये के फूलों के साथ-साथ मेरे अन्तर्मन में उतर रहा है...ज्वाला आँखें खोलो... अन्तरिक्ष के वातायन से झाँक-झाँक कर महाश्वेतायें पृथ्वी के प्रांगण में कलित कल्लोल

कर रही है उठो, उठो...ज्वाला सामने विशाल पथ है...अंगारों से भरा हुआ ज्वालाओं की विभीषिका में गलता हुआ...इधर मुकुर है। शीशा है जो अनन्त छाया लिये उस पार...क्षितिज के उस पार का सन्देश दे रहा है...

लेकिन अब ज्वाला से दिव्या देवी की कविता नहीं सही जा रही थी। उसने अपना मस्तक नीचे की ओर कर लिया और ज़मीन में मुँह धँसा कर सिसकियाँ भरने लगा और दिव्या देवी चुपके-चुपके गुनगुनाने लगीं। "जीवन आग तुम ज्वाला लपटों से क्या डरते हो...मैं अकेली पथ पर निर्भय चलूँगी...

और मन मारे मौन पीड़ा में डूबा हुआ ज्वाला यह सब बकवास सुनता रहा। गाँठ-गाँठ में जो भयानक दर्द था, जो असह्य पीड़ा थी, उससे उसकी जान निकली जा रही थी...हर क्षण मौत के भयंकर झटके जैसे उसकी छाती पर घोर लौह घन चला रहे थे...उसकी हड्डियों का ख़मीर-सा बन रहा था...उसकी नस-नस ऐंठी जा रही थी...और वह अपने बस में नहीं हो रहा था। सहसा उस काली डामर वाली सड़क पर दूर से एक बैलगाड़ी आती हुई दिखलाई दी। गाड़ी धीरे-धीरे निकट आ रही थी...दिव्या देवी अपनी पूर्व स्थिति में बैठी-बैठी उचक-उचक कर देख रही थी। गाड़ी समीप आ गई थी। और निकट आने पर दिव्या देवी ने उससे चन्दनपुर शहर ले चलने के लिए कहा और काफ़ी बात करने पर भी जब गाड़ी वाला राज़ी नहीं हुआ तो दिव्या देवी ने कहा—

"मैं तो जानती थी कि तुम लोगों में दया-धर्म बाक़ी है, लेकिन लगता है तुम लोगों के पास भी अब कुछ नहीं रहा।" इतनी बात सुनकर गाड़ी वाला बिगड़ गया। आवेश में कुछ तीव्र और व्यंग्य भरे स्वर में बोला...

"बस-बस मेम साहब...ई सब तिरिया चरित हम जानित है...ई कैइसन मरद रहा जौन आई कै ई खन्दक खाई में फाट पड़ा...जो तनिको अकिल होत तौ तोहरे फरफन्दा में कबौ नहि परत...राम राम...तनि एकर गत देखौ औ आपन उदूँ छाँटब देखौ...भला कौन मुँह लैके सहर जावू मेम साहब..."

उसकी इस बात से दिव्या देवी का क्रोध और बढ़ गया। उन्हें सहसा याद हो आया कि सदियों से शृंखलाबद्ध नारी को यह पुरुष वर्ग सदैव इसी तरह व्यंग्य का पात्र बनाता चला आया है, उन्हें फिर सहसा नारी जाति के उद्धार की बात याद आई, उसकी मुक्ति के अनेकों साधन याद आये और वह एक क्षण में उन्हें कई विद्रोह की चिनगारियाँ याद हो आईं...वह कुछ कहने ही वाली थीं कि गाड़ीवान गाड़ी से उतरा और उतर कर ज्वाला को गाड़ी पर लिटाते हुए बोला—

"बईठौ मेम साहब तुहौं बैठि जाव...जबान तो तोहार कैंची ऐसन चलत है

मुला का करी...जौ ई मदु्आ तोहरे साथ न होत तो हम चलै जाईत एक्कौ सिकन्ड नाहीं रुकित..."

उस गाड़ीवान की यह बात जले पर नमक की तरह लगी लेकिन दिव्या देवी मौन ही रह गई। हाँ इतना ज़रूर हुआ कि विरोध में उन्होंने पैदल चलना ही अधिक श्रेयस्कर समझा और वह लँगड़ाती, मचकती, फटे चिथड़ों में सनी उसी गाड़ी के पीछे-पीछे पैदल ही चलने लगी। रास्ते भर गाड़ीवान मन माने ढंग से खरी-खोटी कहता रहा और दिव्या देवी उसे सुनती रही। चलते समय उन्होंने ताँगे का टूटा हुआ शीशा उठा लिया था। जब वह गाड़ीवान अधिक तेज़ और तीखी बातें कहने लगता तो वह शीशे में अपनी शकल देखने लगतीं वही भयंकर चण्डिका का स्वरूप, लटें बिखरी हुई, माँग के बाल खून और कालिख पुते हुये ओंठ और माथे की रेखायें उलझी हुई किसी तरह ज्वाला और दिव्या देवी दोनों ही साथ-साथ अपने निवास स्थान पर पहुँच गये। ताँगा टूटा हुआ उसी खड्ड में पड़ा रहा घोड़ा गाड़ी के पीछे बन्धा था और उसके पीछे थीं दिव्या देवी।

इस घटना के बाद ज्वाला प्रसाद लगभग एक महीने तक अस्पताल में पड़ा रहा। दिव्या देवी रोज़ सुबह-शाम उसे देखने के लिये जातीं, दोनों वक्त एक गुलदस्ते का फूल लेकर उसके सिरहाने रख देतीं। अपने हाथ से एक बादाम घिसकर पिलातीं। कभी-कभी अधिक आग्रह करने पर उसे भाँग की गोलियाँ भी पीस कर खिला देतीं और इस प्रकार ठीक एक महीने बाद ज्वाला लकड़ी टेकता हुआ घर आया और दिव्या देवी को उसके लौट आने पर ठीक वही प्रसन्नता हुई जो वाणिज्य के लिये गये हुये बनिक की पत्नी को उसके पति के वापस आने पर होती है। उस दिन दिव्या देवी ने एक छोटी-मोटी दावत की, सारे घर में अगर की बत्तियाँ और धूप जलाये गये। गमले का पानी बदला गया, नये-नये फूलों से ड्राइंग रूप सजाया गया और फिर धीरे-धीरे कर के वह सब स्थितियाँ जीवन में पुनः आ गईं जो आज से एक महीने पूर्व थीं। और ज्वाला और दिव्या देवी अपनी पूर्व स्थिति के अनुसार जीवन व्यतीत करने लगे।

ज्वाला ने यद्यपि इस काल में बहुत घोर कष्ट पाया था फिर भी उसकी पूर्व स्थिति के प्रति श्रद्धा में कोई कमी नहीं आ पाई थी। वह अब भी नाद मन्दिर में बैठ कर दिव्या देवी से प्रेम और रहस्य की गूढ़ रसभरी बातें करता और उसकी रसिकता में डूब जाता। इसी तरह जीवन व्यतीत करते-करते एक दिन उसके जी में अपनी वर्त्त-मान स्थिति के प्रति बड़ी अश्रद्धा उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा—"यदि आज मुझे दिव्या देवी अपने घर से निकाल दें...और मुझे अलग रहना पड़े तो फिर मेरा क्या होगा? आज तो सारा सुख-वैभव है...ताँगे की सवारी यश पताका है लेकिन कल क्या

होगा...मैं क्या करूँगा ? मान लिया कि मैंने इस बीच एफ० ए० पास कर लिया है लेकिन आज का क्या ठिकाना है...कल को भी ध्यान में रखना चाहिये..."

जब यह सारी बातें सोच रहा था तो उसे अगम पण्डित की भविष्य वाणी भी याद हो आई और उसने सोचा कि इस समय उसे किसी न किसी प्रकार किसी पराई स्त्री से संचित धन मिलना ही चाहिये और फिर दिव्या देवी ने जब अपना सर्वस्व ही मुझे दे दिया है तो फिर अधिकार का भी उपभोग मुझे करना चाहिये... आख़िर अधिकार देने में क्या जाता है...और उस रोज़ जब धवल दुग्ध सी सुन्दर चाँदनी में उद्यान की स्फटिक शिला पर बैठी हुई दिव्या देवी के समक्ष वह अपने तन, मन और सूक्ष्म चिन्तन का विवेचन कर रहा था तभी दबी हुई किन्तु बड़े सतर्क ढंग से उसने कहा-

"और सब बात तो किसी न किसी रूप में मनुष्य प्राप्त ही कर लेता है लेकिन खोया हुआ अधिकार नहीं मिलता। मुझ ही को देखिये आपने मुझे कहने के लिये सभी अधिकार दिये हैं लेकिन यदि कल इन में से एक भी यदि आप मुझसे छीन लें तो मेरी क्या दशा होगी...कभी आपने इस विषय पर भी सोचा है..."

"अधिकार सुख बड़ा सारहीन और मादक होता है ज्वाला...इस में सन्तोष नहीं है इसकी जिज्ञासा व्यर्थ है.."

"यह बात तो नहीं है देवी जी... मैं भी मेहनत-मजूरी करता हूँ शारीरिक श्रम करता हूँ, ताँगा हाँकता हूँ...आप की सेवा करता हूँ, इसलिये कुछ न कुछ अधिकार रूप में मुझे मिलना ही चाहिये...

"इसका अर्थ तो यह हुआ ज्वाला कि तुमको मेरे ऊपर विश्वास नहीं है...तुम्हें यह नहीं पता कि मेरा तुम्हारा अलौकिक सम्बन्ध है...तुम ने मेरे जीवन प्रांगण में उस समय पदार्पण किया है जब अनन्त और असीम की रहस्य भावनाओं में मैं तिरोहित हो रही थी, इसीलिये मैं सदैव तुम्हें अपने से भी बड़ा मानती हूँ...और देखो ज्वाला इन काग़ज़ी क़ानूनी कार्रवाइयों में कुछ नहीं है। यह सदैव मन मैला पैदा करते हैं, इसलिए हमको और तुमको इन बकवासों से बच कर रहना चाहिए...

लेकिन ज्वाला के गले यह कोई बात नहीं उतरती थी। उसके कानों में वही उस गाड़ीवान की बात रह-रह कर गूँज जाती थी जो बार-बार कह रहा था—

"बस बस मेम साहब ई सबतिया चरित्तर हम जनित है...ई कईसन मर्द रहा जौन आइ कै ई खन्दक खाई में फाट पड़ा...जौ तनिकौ अकिल होत तौ तोहरे फरफन्दा में कबौ नाहीं परत.. राम राम...तनी एकर गति तौ देखौ..."

और यह याद आते ही ज्वाला की बाहें फड़कने लगीं...आँखें क्रोध से लाल

हो गई...उसे अपने इष्ट मित्रों के व्यंग्य और उनकी क्रोध और भर्त्सना भरी बातें याद आने लगीं...कुछ आत्मग्लानि और हीन भाव भी उसके मन में अंकुरित होने लगे और वह अपनी भावहीनता में इतना उलझ गया कि काँपते हुए और आतंकित स्वर में बोला—

"तो ठीक है देवी जी...आप अपना आदर्श लिये बैठी रहें...मेरा आपका आज से केवल ड्राइवर और मालिक का सम्बन्ध रहेगा...मैं समझूँगा कि मैं वही ज्वाला हूँ जो आज से छः वर्ष पहले आपका ताँगा हाँकने आया था और आज तक जो कुछ भी आत्मिक सुख आप को मुझ से या मुझ को आप से मिला था वह सब मिथ्या और सारहीन था...उसका कोई तत्व हमारे जीवन में नहीं है।"

और जब वह इतनी बात कहकर उस नाद मन्दिर के उद्यान से जाने लगा तब दिव्या देवी ने उसका हाथ पकड़ लिया। पैरों पर पड़ गई। आत्म-प्रताड़ित-सी अनुभव करने लगीं लेकिन ज्वाला था कि हाथ छोड़ा कर एक झटके में बाहर चला गया। दिव्या देवी वहीं उद्यान में अकेले सारी रात बैठी रहीं और जब वह आत्म-चिंतित अवस्था में दुःख और पीड़ा से अपना श्रृंगार कर रही थीं तब रात का सारा आँसू अपनी भीगी पलकों से हरित दूर्वा दल की नोकों में झपेकती रही...तुहिन कणों से स्नात समस्त तरु पादप के पल्लव मौन मुद्रा में रुके ठुके सारी वेदना का दर्शन करते रहे...तारिकाओं की मण्डली में गुपचुप बातें होती रहीं...ज्योत्स्ना चाँद के बाहु पाशों से बिछल-बिछल सघन कुंजों में लुकती-छिपती रही और वेदनामयी दिव्या देवी के हृदय से अनेकों गीतों की पंक्तियाँ बरबस ही फूटी पड़ती रहीं, लेकिन आज न जाने क्यों उनका जी इन गीतों को गाने का नहीं हो रहा था...लगता था एक ज्वाला के बिना उनका सारा जीवन ही व्यर्थ था...आज जिस पीड़ा और अन्तर्वेदना को वह अनुभव कर रही थीं वह उनके जीवन में उस समय भी अनुभव नहीं हुआ था जब उन्होंने अपने नव-विवाहित पति को केवल इसलिए त्याग दिया था क्योंकि वह इतना सुन्दर था कि थोड़े दिनों बाद वह स्वयम् उन्हे ठुकरा देता, यह सब अनुभूतियाँ दिव्या देवी को उस समय भी नहीं हुई थी जब उन्होंने डाक्टर सन्तोषी के साथ प्रेम किया था लेकिन सन्तोषी ने प्रेम को एक रोग बताते हुए दिव्या देवी को यह समझाया था कि प्रेम वास्तव में कुछ नहीं है केवल जीवन की कुछ कुण्ठाएँ हैं जो मौका पाकर आदमी को दबोच लेती हैं और फिर वह असाधारण रूप से व्यवहार करने लगता है...उसने उन्हें यह भी बताया था कि यह पीड़ा, वेदना जिसे तुम आत्मा की प्यास कहती हो वास्तव में शरीर की भूख है...और यहां शरीर की भूख कभी-कभी बड़ा भयकर रूप धारण कर लेती है...मनुष्य को निश्चल और निष्प्राण बना देती है

जीवन का सारा रस जिसे उन्होंने ज्वाला के सहयोग से अपनी मुट्ठियों में कस कर रखना चाहा था, जिसका एक बूँद भी वह प्रकृति और संसार को देना नहीं चाहती थी, जिस रस की अतृप्त तृष्णा में वह केवल अपनी ही प्यास बुझाना चाहती थीं, जिस रस को एक शीशे के जार में बन्द करके वह अपने ड्राइंग रूम के गुलदस्ते के पास सजा कर रखना चाहती थीं वह सारा का सारा रस विष बन कर व्याप्त हो रहा था...ज्वाला ने दिव्या देवी को आज एक ऐसा झटका दिया था कि वह चूर-चूर होकर विंश्रृंखल-सी पृथ्वी पर धराशायी थीं...ऊपर आकाश अपवाद और व्यंग्य से हँस रहा था और नीचे पृथ्वी कठोर बनी उनको जकड़े थी...

और तब दूसरे दिन प्रातः काल उठते ही दिव्या देवी ने अपने संचित धन का काफ़ी हिस्सा ज्वाला को बुला कर दे दिया। तिजौरी की चाभी उसी के हवाले कर दी। साथ ही एक वसीयत भी लिख दिया और स्वयम् काशाय वस्त्र धारण करके पूर्ण वैराग्य ले लिया। सांसारिक माया-लोभ से मुक्ति धारण करके उन्होने एकान्त वास लेने का निश्चय कर लिया। रही बात ज्वाला और अपने आत्म-मिलन की उसके लिए फ़िलहाल कोई बन्धन नहीं रखा। आत्म-मिलन की तीव्र भावना कब किस बन्धनों को स्वीकार ही कर सकती है...वह तो बन्धनों के परे है...इसलिए उन्होंने ज्वाला के साथ अपना अलौकिक सम्बन्ध क़ायम रक्खा या उसमें कोई विरोध भावना का आग्रह न तो उन्होंने स्वीकार किया और न उसका प्रश्न ही उठा।

लेकिन काशाय वस्त्र धारण करने के बाद दिव्या देवी के हृदय में एक देव मन्दिर स्थापित करने की भावना जागृत हुई और समस्त अधिकार समाप्त कर चुकने के बाद अब एक ही सद्भावना शेष बची और वह यह कि एक आत्म परिषद् स्थापित किया जाय और उस प्रतिनिधि सभा में आत्मा को ऊपर उठाने के लिये आत्म साधकों को उचित सुविधाएँ प्रदान की जायँ ताकि आत्म-साधना में मनुष्य आगे बढ़ सके। ऊँची आत्मा के लोग जब देश और राष्ट्र में अधिक होंगे तो राष्ट्र और देश का तो उत्थान होगा ही साथ में आत्मा काभी उत्थान होगा। हृदय प्रांगण में इच्छाएँ कन्दुक के समान उछलने लगा और उन्होंने ज्वाला को कोटिशः धन्यवाद दिया। मन ही मन में उन्होंने उस घड़ी और साइत को हृदयांकित कर लिया और फिर आत्म-मुग्ध होकर चिन्तामग्न हो गईं, सोचने लगीं ऐसी कोई महिला बौद्ध काल में भी हुई होगी, उसने भी आत्मसिद्धि और आत्मनिर्वाण के लिए एक धर्म संघ बुलाया होगा। समस्त राष्ट्र से एक से एक बौद्ध भिक्षु आये होंगे...मगध, श्रावस्ती, अवंति, व्रज, कोशल, विदर्भ से एक से एक काशाय वस्त्र, चीवर धारण किये हुये बौद्ध महामात्य एक पंक्ति में चन्दनपुर के विहार में पधारे होंगे...कितनी प्रसंशा हुई होगी उस

महिला की ? कितना यश मिला होगा उसे। लेकिन इतिहास के अन्ध गर्भ में कौन नाम लेता होगा उस देवी का ? कौन उसे याद करता होगा...काल और समय का चक्र कितना क्रूर है ? कितना अपवादमय है...मनुष्य की कीर्ति और उसका यश कोई भी तो चिरन्तन शाश्वत नहीं है...फिर...फिर क्या...

लेकिन कौन जाने उस खाई में...उस विशाल ऊबड़-खाबड़ खँडहर में जहाँ उस दिन वह ज्वाला के साथ ताँगा लेकर गिरी थीं वहीं, उसी भूमिखण्ड में कोई प्रज्ञा-चक्षु इतिहासकार सहसा खुदाई करना प्रारम्भ कर दे और खोदते-खोदते सैकड़ों फ़ीट के नीचे कोई ताम्र पत्र मिले जिसमें उस देवी का नाम लिखा हो, धर्म संघ का नाम लिखा हो, उस संघ में आये हुये समस्त भिक्षुओं का नाम लिखा हो... और सहसा उस मनीषी महिला का नाम इतिहास में चमक जाय...एक रोज़ तिष्य-रक्षिता, राजेश्वरी और अन्य ऐतिहासिक नारियों की तरह इतिहास में अमर हो जाय। वस्तुतः जहाँ मनुष्य का पतन होता है उत्कर्ष भी वहीं से अंकुरित होने लगता है।

न जाने क्यों तभी से दिव्या देवी लगातार उस उजड़े खण्डहर वाले स्थान में जाती है...उसके बग़ल वाली विशाल बंजर धरती पर ताँगा खड़ा करके ज्वाला के साथ बैठती हैं...ज्वाला संध्या समय अपना धूप का चश्मा लगाये अपने चटक रंग के मनीला से एक सिग्रेट केस निकालता और सिग्रेट जला कर धूम्र पान करता हुआ दिव्या देवी को घूर-घूर कर देखता। काशाय वस्त्रों में बिखरे हुये तर्क जाल से केशों को अपनी उँगलियों से सुलझाता है और जब कभी-कभी उस स्थिति में सहसा दिव्या देवी भावमग्न हो जातीं तब बड़े ही उदासीन भाव से कहतीं—

"क्या है ज्वाला...अब इन केशों में क्या रह गया है..."

"मैं तो उस अनन्त ज्योति का साक्षात्कार करना चाहती हूँ जो रश्मि रथ पर आरूढ़ दिवालोक से इस धरती पर उतर रही है...ज्वाला यह देह का खेल...यह मन की विडम्बना बन्द करो..."

और तब ज्वाला आवेश में आ जाता। माथे की भवहें टेढ़ी करके कहता—"देखिये देवी जी, आप जिस सूक्ष्म ज्योति का साक्षात्कार करना चाहती हैं वह सदा स्थूल के माध्यम से ही व्यक्त होगी...और उस स्थूल की जिज्ञासा के बिना कोई भी शक्ति अवतरित नहीं हो सकती..."

इसी प्रसंग में बात करते-करते एक दिन जब दिव्या देवी अति अधिक भावुक हो गई तो उन्होंने ज्वाला से सारी जिज्ञासाएँ कह डालीं। उन्होंने बतलाया किजिस स्थान पर ताँगे की दुर्घटना हुई थी वह उस स्थान को अमर बना देंगी...वहाँ एक ऐसा

विहार स्थापित करेंगी जहाँ इच्छित आत्म-साधक आकर अपनी आत्म-साधना कर सकें। ज्वाला को दिव्या देवी के इस घोषणा से कुछ आपत्ति हुई। बाहर से सैद्धान्तिक मतभेद का पक्ष लेना चाहता था लेकिन उसके अन्तर मन में कहीं यह प्रगाढ़ अ शंका थी कि दिव्या देवी ने यदि कहीं यह विहार स्थापित कर दिया और सच्चे, सिद्ध पुरुषों के संसर्ग में यह आ गईं तो निश्चय ही ज्वाला प्रसाद का मान-सम्मान नष्ट हो जायगा और फिर वह अपनी पूर्व स्थिति पर आ जायगा और उसका सारा वैभव, उसकी सारी अहम्मन्यता नष्ट हो जायगी। वह फिर ठाकुर ज्वाला प्रसाद सिंह न कहला कर केवल ज्वाला कोचवान रह जायगा। चमकीले बुशशर्ट की जगह उसे खाकी वर्दी पहननी पड़ेगी और फिर जीवन का सारा रस बिखर जायगा। इस सम्भावना से आशंकित होकर उसने दिव्या देवी से कहा—"हाँ यह विचार तो अच्छा है देवी जी लेकिन इस संस्था को पंचायती अखाड़ा बनाने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। आप जानती हैं...समय किसी का साथ नहीं देता। काल का कुचक्र बड़ा भयंकर होता है। अगर आप सावधानी से काम नहीं लेंगी तो आपकी सारी सत्ता ही नष्ट हो जायगी..."

यद्यपि ज्वाला यह जानता था कि दिव्या देवी स्वप्न में भी कभी ऐसा काम नहीं कर सकतीं कि जिससे उनका सम्मान किसी भी रूप मे कम हो जाय लेकिन फिर भी उसने अपनी चेतावनी को बड़े ही दृढ़ एवम् संयमित रूप से कह डाला। मर्म की बात वह भी समझ गईं लेकिन उसकी उपेक्षा करती हुई उन्होंने कहा—"अरे यह सब बातें बड़ी छोटी हैं ज्वाला, संसार और समाज का कल्याण करने के लिए जब निश्चय कर लिया है तब कोई मुझे पूछे तो क्या और न पूछे तो क्या? अपना नाद मन्दिर तो कोई नही लेगा। फिर जीवन में अब कौन-सा सुख भोगने को रह गया है? वैसे तुम्हारी भी बात अपने स्थान पर ठीक ही है...भविष्य मे देखा जायगा, अभी तो इस योजना को आगे बढ़ाने का कार्य सम्पन्न करना है।"

"स्त्रियों में यही एक कृत्रिमता बड़ी भयानक होती है, देवी जी। वह सदैव अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान समझती है लेकिन मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि उनकी एक भी बात तर्कसंगत नहीं होती, भावना विषय में भले ही..."

"देखो ज्वाला तुम्हें कम से कम मेरे सामने ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये, मैंने अपने जीवन फलक पर अपना जो भविष्य अंकित किया है और जो आत्म-साक्षात्कार का विषय है उसमें मैं निरपेक्ष और निर्लेप रहना चाहती हूँ। तुम कभी..."

"मैं आत्म-साक्षात्कार की बात नहीं जानता देवी जी...सबसे पहले शरीर साक्षात्कार को प्रधान समझता हूँ। मैं जीवन के उस समस्त रस को अपनी मुट्ठियों में ही बाँध कर रखना चाहता हूँ जो जीवन का सुख और सार है। सन्तोषी की बात मैं नहीं जानता। मैं चाहता हूँ, इसलिए आपको यही करना है—"

"तुम जिद्दी हो ज्वाला..."

"और आप मूर्ख हैं देवी जी...जो इतनी-सी बात भी नहीं समझतीं।"

और जब इतनी बात हो चुकी तो दिव्या देवी को भी आवेश आ गया। वह बिना कुछ बोले ही वहाँ से उठ कर चली गईं। पैदल ही शहर की ओर जाने लगीं। थोड़ी देर तक अपने पैण्ट की जेब में हाथ डाल कर ज्वाला सिग्रेट पीता रहा और साथ ही कुछ ऐसा अभिनय करता रहा जिससे दिव्या देवी भी इस बात को समझ लें कि ज्वाला भी कुछ अस्तित्व रखता है। उसकी आवाज़ में भी कुछ शक्ति है, वह भी अपनी बात पर टिकना जानता है। वह निरा मिट्टी का पुतला ही नहीं है। दिव्या देवी अपनी दुविधा में पड़ी जाने क्या-क्या सोचती हुई पैदल चली जा रही थीं। एक बार तो उनके जी में नारी स्वभाव के प्रति क्रोध आ रहा था। वह सोच रही थीं कि आख़िर बिना किसी कारण के वह ज्वाला से क्यों दबती हैं? क्यों नहीं उसे एक तिनके के समान झाड़ कर अलग कर देतीं? लेकिन फिर सहसा उनको ध्यान आता कि जीवन का अस्तित्व ही जब उन्होंने ज्वाला को अर्पित कर दिया है तो उसका विरोध क्या? यह काया बार-बार नहीं मिलती, इसकी लाज रखनी ही है। फिर उन्होंने यह सोचा कि आज जिस स्थिति में वह हैं और जीवन के जिस उत्कर्ष को अपनी सीमा मान कर वह आगे की ओर बढ़ रही हैं, उसकी अवहेलना करके चलना सम्भव नहीं है। आख़िर ज्वाला ने जो कुछ कहा...उसने जो भी सलाह उसमें अकेला उसका ही स्वार्थ नहीं है। स्वयम् उनका निज का भी कल्याण है। यह भी एक पक्ष है और ठीक ही है। कौन किसका होता है? रही मूर्खता की बात सो वह भी तो कोई गाली नहीं है, बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी तो कहीं न कहीं मूर्ख होता ही है। फिर उसमें उसका क्या? अगर ज्वाला ने भावावेश में आकर एक ऐसा वाक्य कह भी दिया तो उस पर इतना तिनक जाना शोभा ही नहीं देता। इसी आत्मग्लानि में डूबी हुई दिव्या देवी शहर की ओर चली जा रही थी कि सहसा उन्होंने देखा कि ज्वाला ताँगा लेकर उनके पास बिल्कुल निकट आकर खड़ा हो गया है। यह सब देखने के बाद वह अधिक देर तक अपना क्रोध नहीं रोक सकीं। अन्यमनस्क भाव से चुपचाप ताँगे में ज्वाला के बिल्कुल निकट आ कर बैठ गईं। मुँह में सिग्रेट लगाये ज्वाला ताँगा चलाता रहा। इधर पिछली बार की दुर्घटना से ताँगे में एक अजीब प्रकार की आवाज़ आने लगी थी जिससे रास्ते के लोगों के कान छिल जाते थे। यह आवाज़ ज्वाला को भी अच्छी नहीं लगती थी लेकिन कई बार मरम्मत कराने पर भी इस आवाज़ में कोई परिवर्तन नहीं आया था। यह आवाज़ लगातार एक दर्दभरे कराह की तरह सुनाई देती थी। दिव्या देवी इससे अधिक परीशान नहीं

होतीं थीं लेकिन रास्ते के लोगों को इससे परीशानी हो जाती थी। ज्वाला को परीशानी इसलिये होती थी क्योंकि इस आवाज़ से उसकी मानसिक एकाग्रता भंग होती थी। उसके धूप के चश्में और ठप्पे वाले बुशशर्ट और पैण्ट का भी अपमान होता था। रास्ते में जब ताँगे की आवाज़ से ज्वाला खीझ उठा तो बिना सिग्रेट मुँह से निकाले ही बोला—

"यह आवाज़ दिनों दिन बढ़ती जाती है...न जाने क्या हो गया है इस धुरी को..."

"काफ़ी चोट पहुँची है उसे...उस दिन की दुर्घटना में लगता है कोई चटख़ कर रह गया है..."

"लेकिन मरम्मत करने वाले कहते हैं इसमें कोई खराबी नहीं है..

कभी-कभी ऐसा होता है कि देखने में प्रत्यक्ष कोई ख़राबी नहीं मालूम होती लेकिन भीतर तह में कोई दराज़ होती है जो गतिशील होने पर खटकती है। और यह भीतर की आवाज़ कहीं न कहीं बड़ी सच्ची और खरी होती है..."

"फिर आप ने वैसी ही बात शुरू कर दी देवी जी...आप को कैसे बताऊँ कि प्रत्यक्ष जब कोई ख़राबी नहीं है तो अप्रत्यक्ष में क्या होगी...इस ताँगे में कोई आत्मा तो है नहीं जो चीख़-पुकार करे..."

"होगा...हो सकता है तुम्ही ठीक सोचते हो...तुम जैसा चाहो वैसा सोच सकते हो...मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

ताँगा नाद मन्दिर के पोर्टिको में पहुँच चुका था। देवी जी उतर कर अपने डाइंग रूम में प्रवेश कर रही थीं। ज्वाला ताँगे को गैराज़ मे रखने के लिये तेज़ी से बढ़ा जा रहा था। बरामदे में डा० वनडोले बैठे अख़बार पढ़ रहे थे। माली सूखे हुये फूलों को डाल से अलग कर रहा था। रेडियो की धीमी आवाज़ से सारा घर एक गुलाबी संसार में शराबोर था। ड्राइंग रूम में महात्मा बुद्ध की बनाई हुई मूर्ति पर पड़ा हुआ सतरंगी पर्दा धीरे-धीरे हिल-डुल रहा था। उत्प्रेक्षा अलंकार की तरह कार्निश के बेल-बूटे अपनी व्यंजना लिये ठिठके पड़े थे। सुबह से गुलदस्ते में रखी हुई नीली-पीली फूल की कलियाँ मुर्झा गई थीं और कमरे में गोधूलि का अन्धेरा-उजेला, दिवा-लोक से लुका-छिपी कर के खुल रहा था। सामने दिव्या देवी की कबरी बिल्ली शान्ति-पूर्वक लेटी थी। वहीं डाक्टर वनडोले बैठे जानवरों के हत्या रोग सम्बन्धी प्रस्ताव पढ़ रहे थे। ज्वाला प्रसाद ताँगा बन्द करके डाक्टर वनडोले के पास आकर बैठ गया और बड़े स्वाभाविक ढंग से बातें होने लगीं। ज्वाला ने कहा—

"आप ने यह कोट का कपड़ा कहाँ से लिया डाक्टर साहब? काश्मीरी पशमीना मालूम पड़ता है। इस पर के रोयें तो बड़े हल्के और मुलायम दिखलाई पड़ते हैं।"

"यहीं...पारसाल नुमाइश मे लिया था...काश्मीरियों की एक दूकान आई थी..."

"काशमीरी होते बहुत अच्छे हैं डाक्टर साहब...पिछले वर्ष जब मैं देवी जी के साथ काशमीर गया था..."

"देखिये...अब मेरा समय हो गया है। मुझे ठीक तीन मिनट में यहाँ से चला जाना है। देवी जी से कह दीजियेगा कि उनकी बिल्ली को मैंने देख लिया है। कोई ख़ास बात नहीं है। कुछ साधारण बातें है जिन्हें ध्यान मे रखना ज़रूरी है। चाहे आदमी हो या जानवर नियम के सामने सभी बराबर होते हैं..."

"यह तो बड़ी अजीब बात करते है...डाक्टर साहब। मनुष्य चिन्तनशील व्यक्ति है, सृष्टि का नवनीत है। वह भी यदि पशुओं की तरह उपचार और रोग के नियम का अनुशासन मानने लगेगा तो फिर तो..."

"ख़ैर ज्वाला प्रसाद जी...आप जो चाहें वह कहें, लेकिन जहाँ तक विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तो का प्रश्न है वह प्राकृतिक नियमों में कोई अन्तर विशेष नहीं मानता..."

"फिर वही सूक्ष्म की बात आपने शुरू कर दिया। मैं कहता हूँ सूक्ष्म का अस्तित्व उदारचेता स्थूल ही के कारण है, और स्थूल के महत्व को आप निम्न नहीं कर सकते। और रहा विज्ञान, उसने तो हमारी सस्कृति और हमारे राष्ट्र को नष्ट कर दिया है...'

डा० वनडोले को निश्चय हो गया कि इस समय सारथी ज्वाला प्रसाद सिंह किसी लम्बे विवाद की खोज में हैं। विषय कोई हो...बात कोई हो...आज दिन भर में इन्होंने जो कुछ भी बिना पढ़े-लिखे सोचा है उसी को विवाद का विषय बनाना चाहते हैं, इसीलिये वह फ़ौरन कुर्सी पर से उठ खड़े हुये। बड़े विनम्र स्वर में हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और फिर इतने सारगर्भित विषय को बीच में ही छोड़ कर चले जाने के लिए उन्होंने क्षमा माँगी और अपनी लाल रिक्शा गाड़ी पर लगाम हिलाते हुये चले गये। अभी वह फाटक पर ही पहुँचे थे कि दिव्या देवी कपड़े बदल कर सुन्दर साटन के काशाय वस्त्रों में बरामदे में आकर खड़ी हो गईं। ज्वाला ने दो-तीन आवाज़ लगाई लेकिन हाथ हिलाते हुये डा० वनडोले आगे ही बढ़ते गये। उन्होंने गाड़ी नहीं रोकी और तब दिव्या देवी ने उदास होकर बिल्ली को अपनी गोद में उठा लिया, और उसके रोयें पर अपनी उँगलियाँ फेरने लगीं...

ज्वाला कहीं पास में खड़ा रहा। उसे डा० वनडोले के इस कृत्रिम व्यवहार पर बड़ा क्रोध आ रहा था। लेकिन वह कुछ भी कहने में अपने को असमर्थ पा रहा

था। उसकी मुट्ठियाँ भिचीं थीं। जी में आ रहा था कि वह अपना ताँगा निकाल कर सडक पर ले जाये और डाक्टर वनडोले की गाड़ी से अपना ताँगा भिडा दे, लेकिन उसे दिव्या देवी पर क्रोध आ रहा था जो मन माने ढग से डा० वनडोले के साथ मित्रता का व्यवहार निभा रही थीं। और जब बिल्ली ने उसके बुश शर्ट को अपने पंजो से खरौंचना शुरू किया तो उसकी मुट्ठियाँ खुल गईं और वह ड्राइग रूम मे चला आया।

योजना के अनुसार श्रीमती दिव्या देवी ने मगध देश के भिक्षु दिवाकरानन्द, मध्य देश के वयोवृद्ध भिक्षु सिद्धार्थ और व्रज भूमि के, कौशल, कौशाम्बी, श्रावस्ती और अवन्तिकापुर के बड़े धर्म सघ चालकों को आमन्त्रित किया। उस खण्डहर विशेष के समीप एक विराट सभा की जिनमें उन्होंने अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करके वर्त्तमान सरकार द्वारा, आत्म-साधकों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा की निन्दा की। अध्यात्म के उत्थान के लिये आवाज उठाई और नाद सम्बन्धी अध्यात्म के अनेक विभागो की स्थापना के साथ आत्म परिषद की स्थापना हुई। दादा सिद्धार्थ, भैय्या दिवाकर, अनुज गुरुरत्न, सहयोगी कुसुम और सहकर्मी ज्वाला प्रसाद की एक कार्य-कारिणी बनी और आत्माभ्यास के लिये धन सञ्चय का कार्य प्रारम्भ किया गया। उसकी एक अन्तरंग परिषद भी बनी जिसमें उसकी बारीकियों पर विचार किया जाता था। ज्वाला सहकर्मी होने के नाते काग़ज़ पत्र ठीक रखता था और इस प्रकार विहार स्थापना योजना सम्पन्न हुई। शिलान्यास के शुभ मुहूर्त पर एक शुद्ध ताम्र पत्र पर दादा, भैयया, सहकर्मी और दिव्या देवी का नाम लिखे गये। लगभग तीस फीट गहरा एक कुँआ खोदा गया और उसमें वह ताम्र पत्र सुरक्षित रूप से गाड दिया गया। जब वह गाड़ा जा रहा था तब दिव्या देवी की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। वह सोचती थीं..."कुछ भी हो बोद्ध कालीन भिक्षुणी दिव्या देवी को आज का इतिहास भले न जाने लेकिन आने वाला इतिहास दिव्या देवी को कभी भी नहीं भूलेगा क्योंकि यह निश्चय है कि कालचक्र के अन्तर्गत यह विहार भी ध्वस्त होके रहेगा और भविष्य में जिज्ञासु इतिहास के विद्यार्थी उस खण्डहर का उत्खनन करेंगे और तब यह ताम्र पत्र पृथ्वी के गर्भ से निकलेगा ही और आने वाला इतिहास यह जानेगा कि दादा, भैय्या, सहकर्मी, सहचरों का एक दल कलियुग के उस मध्य काल में भी था जो भौतिक तत्वों की अपेक्षा अध्यात्म, आत्म, तदात्म, सतात्म और मतात्म इत्यादि विषयों में रुचि रखता था और जिसने राष्ट्र को एक नैतिक स्तर पर स्थाई बनाने का कार्य सम्पन्न किया था।

लेकिन विहार भवन शून्य था...उसमें दिन दहाड़े गीदड़ों और बिज्जुओं की गोष्ठियाँ होती थीं, रातों को उलूक सम्मेलन होते थे, दीमकों और अन्य कृत्रिम

जन्तुओं ने अपना शयन स्थान बना लिया था। और तब ज्वाला ने दिव्या से कहा—

"संसार में सारा वैभव, सारी क्षमता, सारी शक्ति भोग के लिये है देवी जी... पंचायती ही सही लेकिन इस समय इस शून्य विहार की आप संचालिका है...अभी आप में रस है, स्वर है, संगीत की झिलमिल उर्मियों का अंश दर्शन है...क्यों अपना जीवन आप इस नाद मन्दिर तक ही सीमित रखती हैं। आप चाहें तो उस विहार का भी उपभोग कर सकती हैं जो आपकी अखण्ड साधना की मेरु दण्ड सा उस एकान्तनिर्जन स्थान में खड़ा है..."

"नहीं ज्वाला...उस स्थान को मैंने अपने पलायन के क्षणों के लिये निर्माण कराया है। मैं वहाँ इस भोग की लिप्सा के लिये नहीं जाऊँगी। उसके लिये नाद मन्दिर ही ठीक है।...इसका संकुचित प्रांगण ही उस रस स्निग्धता के लिये पर्याप्त है..."

"मैं कहता हूँ देवी जी आप उस विहार में यदि नहीं चलेंगी तो यह भी निश्चय है कि मैं भी इस संकुचित नाद मन्दिर में नहीं रहूँगा। मैं इसके छोटे-छोटे कुंजों से ऊब चुका हूँ। मैं अकेला ही सही...लेकिन रहूँगा उस विशाल विहार भवन में ही..."

दिव्या देवी ने ज्वाला को बहुत समझाया। रोईं, गिड़गड़ाईं। अपने तन-मन की गाँठें खोल कर रख दीं लेकिन ज्वाला अपने निश्चय से नहीं हटा। उसने यही निश्चय किया कि वह विहार भवन में ही रहेगा और जब दिव्या देवी ने यह देखा कि ज्वाला किसी भी प्रकार अपने निश्चय से नहीं हटेगा तो उन्होंने अपनी आदत के अनुसार कोई विशेष विरोध नहीं किया। जब ज्वाला अपना सामान ताँगा में लाद कर जाने लगा तो उन्होंने बड़े नम्र स्वर में कहा—

"अच्छा जब तुम वहाँ जा ही रहे हो तो जावो...लेकिन कम से कम एक बात का ध्यान रखना और वह यह कि विहार भवन में कम से कम गीदड़ सियारों का जमघट न लगने पाये...रात में उलूक सम्मेलन न होने पाये और...और..." कहते-कहते उनके आँखो में आँसू भर आये। तरल नेत्रों से ज्वाला की ओर देख कर बोलीं—

"आखिर इतने दिनों तक साथ रहने का ध्यान भी मैं संवरण करने में असफल हूँ। दिन-रात तुम मेरे साथ रहते थे। जाने कितनी बातें होती थीं। वैसे विहार भवन भी समीप ही है, दूरी का नाम बुरा है, वियोग की कल्पना ही समस्त आत्मा को उद्वेलित करने के लिये पर्याप्त है...जावो...जावो...लेकिन।"

लेकिन के आगे दिव्या देवी कुछ नहीं कह सकीं। वह संचित रस जिसे वह मुट्ठियों में बन्द रखना चाहती थीं और जिसका एक बूँद भी बाहर रिसने नहीं देना

चाहती थीं वह सब बिखरता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। लाख चेष्टा करने पर भी वह उस संचित रस को एकत्र करने में असमर्थ थीं। लगता था जीवन के सारे तन्तु-स्नायु ढीले पड़े जा रहे थे...सारा सौन्दर्य बिखरा पड़ रहा था...सारी संवेदना सूखी जा रही थी...लेकिन ज्वाला था कि उसके चेहरे पर कहीं शिकन का नाम तक नहीं था क्योंकि वह इस निश्चय से जा रहा था कि इतना बड़ा विहार भवन...उसका रूप, उसका आकार, उसका समस्त वैभव वह स्वयम् भोगेगा और किसी दूसरे को उस भवन की हवा तक नहीं लगने देगा...अगर भूला-भटका कोई भिक्षु उधर आयेगा तो वह ऐसी चाल चलेगा कि उसे भागते ही बन पड़ेगी...यही कारण था कि जब वह दिव्या देवी का साथ छोड़कर जा रहा था, अपने को अलग स्थापित करने की बात सोच रहा था तो उसे कोई कष्ट नहीं हो रहा था...वह उतना ही प्रसन्न था जितना कि उस दिन जब उसे प्रथम बार दिव्या देवी ने अपने आत्म-अंश के रूप में स्वीकार किया था और उसे अपने स्नेह और शृंगार का पात्र बनाया था।

सारथी ज्वाला ताँगे पर अपना सारा सामान लादे विहार-भवन की ओर चिंता-मग्न चला जा रहा था। धुरी की करखती हुई आवाज़ कभी-कभी उसकी चिन्ता की तारतम्यता को तोड़ देती थी। न जाने क्यों दिन पर दिन ज्वाला को यह आवाज़ अधिक भयानक लगती जाती थी। आज भी इस आवाज का तीखापन एक गहरे नश्तर-सा उसके दिल में समाया जा रहा था। ताँगा चलाते-चलाते वह उसकी स्पीड कम कर देता...बिल्कुल कम कर देता लेकिन ज्यों-ज्यो ताँगे की गति कम होती त्यों-त्यो यह आवाज़ और भी तीखी होती जाती। कभी-कभी वह गाड़ी रोक देता। ताँगे से उतरकर थोड़ी देर तक सड़क के फुटपाथ पर टहलने लगता। फिर वह ताँगे को चलाता और फिर उसकी तीखी आवाज़ उतनी तीखी ध्वनि के साथ उसके हृदय में चुभती जाती। फिर वह ताँगे की गति की ओर तेज कर देता...और तेज...और तेज...और तब एक भयानक भारीपन के साथ वह आवाज़ स्पीड की गति के साथ उसके मस्तक को दबोच लेती...लगता जैसे कोई उसकी छाती पर घन चला रहा है...उसी भयंकर गति और विकृति के साथ...उसी आरोह और अवरोह के साथ...लेकिन ज्वाला का निश्चय था और वह दृढ़ निश्चय था। इसलिए वह रास्ते से लौटा नहीं...वह सीधे विहार-भवन के द्वार पर ही जा रुका। शाम हो चुकी थी। विहार-भवन की मुँडेरों पर शाम की पिघलती हुई रोशनी किसी मीठी याद-सी चुपके-चुपके थिरक रही थी...चारों ओर सघन अशोक के वृक्ष अपना सारा शरीर ढीला किये नतमस्तक से एक पंक्ति में खड़े थे...उद्यान के हरे, नीले फूल बेतरतीब विचारों के समान इधर-उधर लटककर ख़ामोश हो गये थे। फाटक में प्रवेश करते ही गीदड़ों के

हा...हा शोर ने सारा भवन गुँजा दिया। उल्लुओं के पंख जो दिन भर शान्त, स्तब्ध-से पड़े थे सहसा हिलने लगे। लेकिन यह सब होते हुये भी ज्वाला ने भवन का ताला खोला और उसमें प्रवेश कर गया। विशाल सौम्य प्रासाद के एक शान्त शिविर में उसने अपना सामान रख दिया और बिना किसी व्यवस्था के, बिना कुछ खाये-पिये ही वह बिस्तर पर लेट गया मौन...विक्षिप्त...निरीह-सा...।

दस मील की दूरी कोई खास दूरी नहीं थी। वह नाद-मन्दिर में दिव्या देवी के पास नित्य प्रति नियम-से आया-जाया करता था। ताँगे की आवाज़ अवश्य बड़ी भयानक लगती थी...रात में अकेले जाते समय सन्नाटी राह पर कभी-कभी उसे अपने ही से भय लगने लगता था लेकिन फिर भी उसने अपना यह क्रम क़ायम रखा। जब-तब दिव्या देवी भी उसके साथ विहार-भवन में चली जातीं। रात भर आत्म-साधना का सफल अभ्यास करने के पश्चात् ब्रह्म वेला में प्रायश्चित का मन्त्र पढ़ते हुये फिर नाद-मन्दिर में वापस आ जातीं और फिर अपने कार्य में लग जातीं। इधर जब से ज्वाला विहार-भवन में रहने लगा था तब से देवी जी का अधिक समय मिट्टी की मूर्तियों के बनाने में बीतता था। अब तक बुद्ध, ईसा, टालस्टाय और अपनी मूर्ति के अतिरिक्त उन्होंने ज्वाला की भी एक मूर्ति बनाई थी और यह सब मूर्तियाँ ड्राइंग रूम में आतशदान के ऊपर कार्निश पर रखी थी। इन मूर्तियों का निर्माण करते-करते उन्हें बहुत कुछ दार्शनिक तथ्य भी मालूम हो गये थे। अपनी चिन्तन शैली की अकेली छाप भी उन्होंने बना ली थी...और यह प्रगति यह मिट्टी की मूर्तियों की दिशा वाली प्रगति ठीक उसी प्रकार से गहरी अनुभूतियों से सम्बन्ध रखती थी जैसे ज्वाला को अपनाने की अनुभूति थी।

अभी ज्वाला को विहार-भवन में गये कुछ ही दिन हुये थे कि उसकी तबियत खराब हो गई। बहुत-सी बातों में जहाँ ज्वाला की और जिदें चलती थीं वहीं राष्ट्रीय भावनायें भी ज्वाला में कुछ अजीब प्रकार से विकसित हुई थीं। ज्वाला ने आज तक अँग्रेजी डाक्टरों की शकल नहीं देखी थी...उसने हमेशा वैद्यों की दवा की थी। रसों, भस्मों और पाकों की वैज्ञानिकता में उसका विश्वास पेन्सलीन और सल्फ़ाड्राग्स से कहीं अधिक था। अक्सर वह कहा करता था कि आज के डाक्टर क्या दवा करेंगे? वैद्यों की योग्यता को वह कभी भी नहीं पहुँच सकते। वैद्य तो केवल नाड़ी देखकर रोग बता देते हैं...यही नहीं, वे तो यह भी बता सकते हैं कि किस रोज़ किसने क्या खाया है। यह तो विदेशियों के शासन के नाते वैद्यक का महत्व घट गया है वरना...

और जब श्रीमती दिव्या देवी ने बीमारी की बात सुनी तो ज्वाला को उसी

रोज विहार-भवन से नाद-मन्दिर में उठा लाईं। डाक्टर को बुलवाया, ज्वाला की परीक्षा कराई। डाक्टर ने कँवल रोग बतलाया। लेकिन जब दवा पीने की बात आई तो ज्वाला ने दवा पीने से साफ़ इनकार कर दिया और बहुत पूछने पर तब उसने बताया कि डाक्टरों की दवा करना वह अराष्ट्रीय समझता है, इसीलिये उसने यह निर्णय किया है कि वैद्य की दवा करेगा। जैसा कि उसे मालूम था...दिव्यादेवी ने ज्वाला की ज़िद् के सामने कुछ भी नहीं कहा चुपचाप उन्होंने एक वैद्यराज को बुलवा दिया और दवा होने लगी। अधिक सतर्क होने के कारण दिव्या देवी ने डाक्टर वनडोले से जब रोग का कारण पूछा तो दाँत निकालते हुये डाक्टर वनडोले ने कहा—

"जानवरों में यह रोग ज़्यादा होता है। जहाँ तक इस रोग के कारण का सम्बन्ध है लोगों का कहना है कि जब रक्त में लोहे की मात्रा कम हो जाती है और कलेजा बढ़ जाता है तब यह रोग अपना भयंकर रूप धारण कर लेता है..."

डाक्टर वनडोले की बात सुन कर ज्वाला के क्रोध की सीमा नहीं रही। पहले तो उसने घृणित दृष्टि से डाक्टर वनडोले को ओर देखा। फिर थोड़ा गम्भीर होकर बोला—

"आज जो आपने कह दिया सो कह दिया, फिर कभी मत कहियेगा मवेशी डाक्टर...लोहे की कमी आदमी में कभी नहीं होती...वह सदा फ़ौलाद का रहता है... जिस दिन आदमी का लोहा ख़राब होगा वह मर जायगा...फिर वह जीवित नहीं रह सकता..."

"वही तो मैं भी कह रहा हूँ ज्वाला जी...आदमी में लोहे की कमी की सम्भावना भयानक परिणाम उपस्थित कर देती है..."

"तो आपका मतलब यह है कि मुझमें लोहे की कमी है...और मवेशी डाक्टर तुम्हें मालूम है मैं बैसवाड़े ठाकुर हूँ...ठाकुर तुम्हारे जैसे वनडोलों को तो मैं यों ही चुटकियों में मसल सकता हूँ, आख़िर क्या समझ रखा है मुझे..."

दिव्या देवी के अनुसार ज्वाला पहले का। ख़राब आदमी नहीं था। यह तो इस बीमारी के कारण उसका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा हो गया था। इधर बीमार होने के पूर्व कुछ अजीब स्वभाव हो ही गया था ज्वाला का। नही तो क्या कमी थी उसमें। लगता था जैसे दैवी आभा से मण्डित और सुशोभित हो। अपने इसी तर्क के अनुसार ही दिव्या देवी ने बात को रफ़ा-दफ़ा करते हुए डाक्टर वनडोले से कहा—

"देखिये डाक्टर साहब...आप बुरा मत मानियेगा...ज्वाला की तबियत ख़राब है न...यही कारण है नहीं तो..."

"बस देवी जी अब आप आगे कुछ मत कहियेगा...थोड़ी-सी जानवरों की डाक्टरी क्या जान ली है कि बड़ा डाक्टर की दुम बन गया है...मैं कहता हूँ इसे हमारी आँख के सामने से हटा ही दीजिए नहीं तो..." ज्वाला ने कड़कते हुए कहा।

"नहीं तो क्या ज्वाला सिंह जी आप ने मुझे क्या समझ रखा है...मैं जानवरों की दवा करता हूँ तो क्या हुआ आदमी तो कभी-कभी जानवरों से भी गया बीता होता है। श्रीमान् जी ज़रा आप भी जामें में रहिए वरना..."

"वरना पूछता है और हम से..." चारपाई पर से थोड़ा तिनक कर ज्वाला ने उत्तर दिया। दिव्या देवी ने तुरन्त ही दौड़ कर उस की छाती पर हाथ रख दिया और लिटा दिया। डाक्टर वनडोले भी आवेश में आ गए। एक झटके में उठे और अपनी लाल रिक्शा गाड़ी पर बैठ कर वापस चले गये।

वैद्यराज पं० गंगा सरन उपाध्याय आयुर्वेदाचार्य की दवा होती रही और उनके बताये नुस्ख़ों को श्रीमती दिव्या देवी अपना स्थूल शरीर लेकर कूटती-छानती रहीं। सुबह-सुबह घास फूसों का काढ़ा चढ़ जाता। सेर भर पानी उस समय तक जलाया जाता जब तक कि एक छटाँक की मात्रा शेष न रह जाती। दिन भर बैठ कर त्रिफला कूटना पड़ता, घास-पातों को मिला कर पाग बनाना पड़ता...और इन सब से कठिन कार्य यह था कि लोहे के खरल में दही जमा कर उसे लोहे से घिसना पड़ता और स्वच्छ श्वेत दही एक दम काला अवलेह के रंग का हो जाता तब उसे ज्वाला को चटाना पड़ता। सौभाग्य की बात थी कि लोहे के खिलौने डाक्टर वनडोले के यहाँ से आ गए थे नहीं तो और जो कठिनाई होती सो होती है शुद्ध पक्का लोहा ढूँढ़ने में बड़ी कठिनाई होती। वैद्य जी ड्राइंग रूम में उन खिलौनों को देख कर ही लौह मण्डूक की विधि बताई थी अन्यथा शुद्ध लोहा के अभाव में शायद वह कुछ दूसरी ही विधि बताते; क्योंकि वैद्यराज इस युग में भी शुद्ध लोहा के क़ायल थे और कहते थे कि शुद्ध होने और शोध करने में अन्तर होता है क्योंकि एक तो जन्मजात संस्कारी होता है और दूसरे को कुसंस्कार से अलग कर के शोधना पड़ता है। लेकिन यह सब होते हुए भी आज एक महीने हो गए थे, ज्वाला का स्वास्थ्य ठीक नही हो रहा था। भस्म, रसायन और इस प्रकार की अनेक औषधियाँ वैद्य जी ने दे डालीं थीं। माधव निदान से लेकर निघण्टु तक की पुस्तकें उन्होंने छान डाली थीं। हर प्रकार का प्रयोग कर डाला था लेकिन किसी भी प्रकार उनको सफलता नहीं मिल रही थी।

इसी बीच एक दिन दिव्या देवी गौरी के यहाँ गईं और वहाँ उन्होंने उससे मिल कर अपनी सारी व्यथा कह सुनाई। गनपत शास्त्री ने ज्वाला की जन्म पत्री देख

कर बतलाया कि रोग चाहे जितना भयंकर हो लेकिन आप यह विश्वास मानिये कि इस रोग से कोई हानि नहीं होगी। ज्वाला की बृष राशि है, इसलिए कुछ ग्रहों का हेर-फेर है सब ठीक हो जायगा। दिव्या देवी इतनी बात सुन कर चली गईं। बाद में जब घर पहुँचीं तो ज्वाला की हालत और ज़्यादा ख़राब थी। अन्त में श्रीमती दिव्या देवी से न रहा गया और उन्होंने डाक्टर वनडोले को बुलवाया और बड़ी आग्रह के साथ ज्वाला की जान बचाने के लिए कोई उपाय पूछा, जब काफ़ी देर तक दिव्या देवी अनुनय-विनय करती रहीं तो डाक्टर वनडोले ने एक खुराक दवा जानवरों के अस्पताल से भिजवा दिया। उसको पिलाते ही ज्वाला में कुछ चैतन्यता आ गई। दिव्या देवी दौड़ी हुई डाक्टर वनडोले के यहाँ गईं और सारा हाल कह सुनाया। डाक्टर वन-डोले ने बहुत ही उदासीन हो कर कहा—"देवी जी दवा तो मैं दे सकता हूँ लेकिन आशा है आप क्षमा करेंगी...मैं ज्वाला की शकल नहीं देखना चाहता..."

डाक्टर वनडोले की यह बातें श्रीमती दिव्या देवी के हृदय में तीर-सी चुभ गईं लेकिन उन्होंने चुपचाप सब सहन कर लिया और फिर बड़े नम्र स्वर में डाक्टर वन-डोले से स्थितियों पर विचार करने का आग्रह किया और जब उन्होंने बहुत कहा तो डाक्टर वनडोले ने शाम को आने का वचन दिया। उस समय तक की दवा उन्होंने फिर अस्पताल से भिजवा दिया।

शाम को डाक्टर वनडोले को बुलाये जाने के पूर्व श्रीमती दिव्या देवी एक बार फिर गौरी के यहाँ गईं। गनपत शास्त्री को धन्यवाद दिया। गौरी से दो-चार दुःख-सुख की बातें कीं और फिर ज्योंही चलने को हुईं त्यों ही उनकी दृष्टि आँगन के नाबदान के पास पड़ी हुई एक मूर्ति पर पड़ी जो आकार-प्रकार में बड़ी विभिन्न दीख पड़ी और उनकी उत्सुकता आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। जिज्ञासु हो कर उन्होंने उस मूर्ति के विषय में पूछा। गौरी ने बताया कि वह मूर्ति मिट्टी की नहीं लोहे की है। लोहे की मूर्ति सुन कर दिव्या देवी और भी विस्मित हो गईं। उन्होंने उसे नाबदान पर से उठा लिया। गौरी को दिव्या देवी का यह कार्य अच्छा नहीं लगा। कुछ आपत्ति प्रकट करते हुये उन्होंने कहा—"क्या देवी...अरे वह कितनी गन्दी जगह की चीज़ है... देखतीं नही नाबदान में पड़ा है, नाबदान पर...आख़िर कौन-सा सोना लगा था उसमें जो आपने उठा लिया..."

"सोना नहीं गौरी यह लौह पुरुष कला की चीज़ है। इसे तो किसी सुन्दर संग्रहालय में होना चाहिए। जब मैं कोई भी कला की चीज़ देखती हूँ तो अकस्मात् ही मेरी संवेदनायें वश में नहीं रहतीं..." और यह कहते हुए वह उसे लेकर चलने लगीं। गौरी को कला से क्या प्रेम होता ? जब दिव्या देवी ने उसको ले जाने की आज्ञा

माँगी तो गौरी ने सहर्ष दे दिया। दिव्या देवी उसे लेकर डाक्टर वनडोले के यहाँ आईं। डाक्टर वनडोले तैयार बैठे थे, इसलिए दिव्या देवी वासन्ती वनडोले से बिना मिले ही बाहर से चली गईं। घर पहुँच कर डाक्टर वनडोले ने ज्वाला की नब्ज़ देखी, फिर दवा दिया और काफ़ी देर तक उन दोनों में बातचीत भी हुई और यह सब देखकर दिव्या देवी को बड़ी प्रसन्नता मिली। उन्होंने भावुक होकर डाक्टर वनडोले को चाय और नाश्ता दिया और हँस-हँस कर अपने जीवन की कहानी बताने लगीं। जब रात काफ़ी हो गई और डाक्टर वनडोले ने दिव्या देवी को समय की याद दिलाते हुए जाने की आज्ञा माँगी तो देवी जी उनको फाटक तक पहुँचाने आईं और जब डाक्टर वनडोले अपनी लाल रिक्शा गाड़ी पर बैठ कर अपने घर की ओर रवाना हुए तो श्रीमती दिव्या देवी फूलों का एक सुन्दर गुलदस्ता बनाने में व्यस्त हो गई।

दूसरे दिन से वैद्यराज की दवा बन्द हो गई और डाक्टर वनडोले की दवा नियमित रूप से चलने लगी। फिर थोड़े ही दिनों में ज्वाला का स्वास्थ्य ठीक हो गया और अब वह धीरे-धीरे कमरों और बरामदों में टहलने लगा। जिस दिन वह पहली बार ड्राइंग रूम में आया तो उसने देखा कि कमरे के आतशदान की कार्निश पर मिट्टी की मूर्तियों के बीच एक लोहे की मनुजाकृति भी रखी हुई है जिसके गले में एक कागजी फूलों का हार पड़ा है और जिसके इर्द-गिर्द वही गीदड़, बन्दर और रीछ वाले खिलौने पड़े हुए हैं जो देखने में कुछ दुबले अवश्य लगते थे लेकिन दुर्बल होने के साथ-साथ अब वे अधिक चिकने और सुडौल हो गए हैं। लेकिन मिट्टी की मूर्तियों में एक और नयी मिट्टी की मूर्ति भी बना कर रखी हुई थी जिसको ज्वाला पहचानता तो था लेकिन इस समय उस से संगत जोड़ने में अपने को असफल पा रहा था। वह बार-बार हाथ में छड़ी लेकर उस मूर्ति के पास जा काफ़ी निकट से देखता लेकिन पहचान नहीं पाता। अन्त में हैरान होकर उसने उस मिट्टी की मूर्ति को उठा कर फ़र्श पर बिछी हुई चौकी पर रख दिया और फिर उसके समीप बैठ कर घूर-घूर कर देखने लगा।

काफ़ी देर तक घूर-घूर कर देखने के बाद उसे ख़्याल आया। डाक्टर सन्तोषी की आकृति से वह उस मूर्ति को मिलाने लगा और अन्त में हर तरह से वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि हो न हो वह डाक्टर सन्तोषी की ही मूर्ति है लेकिन यह मूर्ति दिव्या देवी ने क्यों बनाई? दिव्या देवी का, डाक्टर सन्तोषी से का परिचय हुआ, क्यों परिचय हुआ, कैसे परिचय हुआ? जब वह इस विषय पर अपना दिमाग़ लगाकर सोचने लगा तो उसे लगा कि यह सब एक रहस्य है और ऐसा रहस्य जिसने उसके हृदय में भयंकर शंकायें पैदा कर दी है। वह अधिक उद्विग्न हो उठा। मुड़कर जब

उसने बगल वाले कमरे में प्रवेश किया तो दिव्या देवी के कमरे से कुछ बातें भीने-भीने स्वर में छनकर उसके कानों मे पड़ने लगी। कोई पुरुष स्वर कह रहा था—

"मैं जानता हूँ दिव्या देवी स्त्रियाँ कभी भी अपने से अधिक बुद्धिमान और प्रतिभावान् व्यक्ति की ओर आकृष्ट नहीं होतीं...वह सदैव पानी की धार की तरह नीचे की ओर ही दौड़ती हैं...बड़ा भयंकर अहम् होता है स्त्रियों का..."

"जाने भी दीजिये। यह सब बातें बहुत पुरानी हो गई हैं। अब कुछ नई बातें कीजिये सन्तोषी जी। अब तो आप औरतों को कुछ मानने लगे कि नहीं..."

"मैं अब भी औरतों को एक कटी हुई तरबूज की फाँक मानता हूँ जिनमें या तो पानी होता है या मोटा छिल्का। ज़्यादा पानी होना तरबूज के लिए उतना ही ख़राब है जितना कि मोटा छिल्का।"

"कुछ मर्दों के बारे में भी आपने सोचा है कि अपनी सारी अक़्ल औरतों ही की बातें सोचने में ख़त्म कर दी है..."

"मर्द भी कई क़िस्म के होते हैं देवी जी लेकिन सबसे ख़तरनाक मिट्टी का इन्सान होता है, मिट्टी का...क्योंकि उस कमबख़्त मे ऐसी ऐंठ होती है कि अपने को भगवान् से भी बढ़कर समझता है..."

दिव्या देवी थोड़ी देर तक ख़ामोश रहीं लेकिन फिर कुछ सोचकर मीठी चुटकी काटते हुये बोलीं—

"मिट्टी के आदमी तो मैं भी बना लेती हूँ...देखना चाहें तो देख लें..."

"कौन ज्वाला के बारे में कहती हैं ? क्या बनाया है आपने...अरे वह तो राख का पुतला है, राख का..."

ज्वाला अपने कमरे में बैठे-बैठे यह सब बातें सुन रहा था लेकिन जब अपने विषय में उसने डाक्टर सन्तोषी के यह वाक्य सुने तो वह अपने बस में नहीं रह गया। उसने अपने हाथ की छड़ी फ़र्श पर फेंक दी...और अपनी कसी हुई मुट्ठियों से चारपाई की पाटी पीटने लगा। यह सारी ऊधम चौकड़ी करने पर भी उन दोनो की बात चलती रही और तब उसने सुना दिव्या देवी कह रही थीं—

"हाँ, ज्वाला राख ही का पुतला सही, फिर भी कागजी पुतलों से तो अच्छा ही है..."

"ख़ैर जो भी हो...तुम तो जैसे पुरानी दुश्मनी निकालने बैठी हो...मैं तो आया था कि तुमसे कुछ कुर्सियाँ माँग कर ले आऊँगा और तुम आदमी की बात लेकर बैठ गईं...जानती हो..."

"मैं सब जानती हूँ...आप जैसे लोग आदमी का दिमाग़ ख़राब कर सकते हैं...सुख के नाम पर तो उनके पास शून्य है, शून्य..."

इस बार दिव्या देवी ने सन्तोषी को परास्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उनकी दबी हुई विक्षिप्तता आज बरसों बाद उभरी थी। यही सन्तोषी था जिसे उन्होंने आज से कई वर्षों पूर्व अपने लिए अलौकिक माना था। उस काल की समस्त काव्य-रचनाओं का रहस्य-केन्द्र बनाया था। सैकड़ों बार अपनी मूर्तियों और चित्रों के नीचे उसी के हाथ से भावमय सन्देश लिखाया था लेकिन वही सन्तोषी था जो उसकी आत्मा की असीम जिज्ञासा को देह की कृत्रिम भूख की संज्ञा देकर ख़ामोश हो गया था। सन्तोषी के पास क्या नहीं था...बुद्धि, रूप...सामाजिक आचार, इज़्ज़त...सभी चीजें तो थीं...सभी बातें तो थीं...लेकिन शायद बुद्धिजीवी के पास हृदय की धड़कनों में वह सरसता नहीं होती...प्रायः सभी डा० सन्तोषी की तरह ही निष्क्रिय और असफल होते हैं...सभी पतित और दूसरों को पतित समझने वाले होते हैं...सन्तोषी ने दिव्या देवी का अपमान किया था...और आज भी उसकी वही धारणा काम कर रही थी। थोड़ी देर तक दिव्या देवी यही सब सोचती रहीं, फिर बात को टालते हुए उन्होंने पूछा—"क्या बात है...आपको कुर्सियों की ज़रूरत किसलिये पड़ गई...प्रतिभा के लिए तो आपने बड़े-बड़े फ़र्नीचर ख़रीदे थे। बड़ा साज़ व सामान लिया था।"

डा० सन्तोषी ने दिव्या देवी के इस रहस्यगर्भित बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह केवल अपनी छड़ी की मुठिया को अपने नाखून से करोदता रहा और फिर कमरे की कार्निशों और आल्मारी की किताबों में काफ़ी देर तक आँख गड़ा कर देखने के बाद वह उठ खड़ा हुआ और बड़े व्यंग्य के स्वर में बोला—

"आजकल तो आप की बौद्धिकपिपासा तीव्र गति से बढ़ गई है...संसार के सभी दार्शनिकों का अध्ययन शुरू कर दिया है क्या..."

"क्यों...क्या यह भी कोई बुरा काम है...दिव्या देवी ने व्यंग्य से भरा हुआ उत्तर दिया। डा० सन्तोषी इस बार भी ख़ामोश रह गया। वह बात बढ़ाना नहीं चाहता था। इसलिए कमरे के बाहर आकर खड़ा हो गया। काफ़ी देर तक वह बरामदे के खम्भे से लगी हुई पतली लतर को छड़ी से हिला-हिला कर देख रहा। थोड़ी देर कुछ इसी प्रकार का अभिनय करता रहा। फिर ड्राइंग रूम की ओर बढ़ने लगा। कमरे में प्रवेश करते ही उसने देखा चारपाई पर औंधा पड़ा हुआ ज्वाला छत की कड़ियाँ गिन रहा था। बिना ज्वाला से बात किये ही वह देवी जी के ड्राइंग रूम में चला गया। पीछे-पीछे दिव्या देवी भी आ रही थीं। आतशदान के मस्तक पर बैठी हुई ते

मिट्टी और लोहे की मूर्तियाँ, लोहे के खिलौने अवाक् से पड़े थे, केवल सन्तोषी की ही मूर्ति मेज़ के बीचोबीच रखी हुई थी। इस सब को देख कर सन्तोषी ने कहा—"तो आपने क़ाग़जी इन्सान को भी मिट्टी का बना डाला। यह तो आपने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है। आख़िर मैंने क्या बिगाड़ा था? काग़ज़ ही रहने देतीं..."

और इतनी-सी बात कहकर उसने खुद अपने ही हाथ से उस मूर्ति को कमरे के बाहर उठा कर फेंक दिया। लुढ़कती हुई वह मूर्ति बरामदे पर से नीचे सीढ़ियों पर लुढ़क कर रुक गई। आख़िर मिट्टी की ही थी...नाक टूट गई, माथा फूट गया...सर के बाल उड़ गये, लेकिन दिव्या देवी ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप उस मूर्ति को उठा लाई और फिर ड्राइंग रूम के गोल मेज़ पर सम्भाल के रख दिया। डाक्टर सन्तोषी जब कमरे से निकल कर बाहर जाने लगा तो दिव्या देवी ने कुछ नम्र होकर सरलता से पूछा—"कब आने वाले हैं...आप के मेहमान?"

डाक्टर सन्तोषी कुछ नहीं बोला। लेकिन दिव्या देवी ने फिर पूछा...

"क्या हुआ था अंजलि की माँ को? बिचारी अकेली होगी। यह बड़ा अच्छा किया जो उसे बुला लिया..."

डा० सन्तोषी अब भी नहीं बोला। बरामदे में टहलता ही रहा। दिव्या देवी ने बात छेड़ने की मनशा से उसी बात को कई प्रकार से पूछने की चेष्टा की। पहले कहा—"क्या हुआ है आज के आदमी को? खून ही से नहाना चाहता है। चाहे वह पंजाब के दंगे हों या लड़ाई के मैदान।" कुछ देर प्रतीक्षा करके फिर बोलीं—"कितना भयानक दृश्य होगा? माता-पिता की हत्या देख चुकने के बाद भी अंजलि कैसे जीवित रह सकी...?" फिर कुछ देर तक उत्तर को जोहने के बाद बोलीं..."मनुष्य स्वयम् नहीं सहता। उसकी पीड़ा सहती है। उसकी आत्मवेदना सहती है—" और जब इस पर भी डाक्टर सन्तोषी नहीं बोला तो फिर दिव्या देवी ने हार कर पूछा—"तो कुर्सियाँ कब भेज दूँ...'

और केवल इस प्रश्न पर डाक्टर सन्तोषी ने एक छोटा-सा उत्तर दिया और वह था—

"कल...कल...शाम को।"

इतना कह कर छड़ी हिलाता हुआ डा० सन्तोषी नाद-मन्दिर के बाहर चला गया। रात घनी हो गई थी। सड़क की बिजलियाँ भी जल चुकी थीं।

इस बीमारी से अच्छा होने के बाद से ज्वाला में काफ़ी परिवर्तन आ गया था। कभी-कभी वह मौन होकर सोचता और खुद अपने से कहता—"चिड़चिड़ापन

लोहों को जंग की तरह खा जाती है। आदमी को लोहे की तरह ठण्डा और सहनशील होना ही पड़ेगा—" और ज्वाला को जब से यह बोध हुआ है तब से वह बार-बार विहार भवन में जाने की बात सोच रहा है। किंतु जिस दिन से उसने डा० संतोषी की बात सुनी है उसको बड़ी आत्मग्लानि हो गई है। दूसरे ही दिन से शाम को उसने अपना सामान बाँधा और फिर ताँगे पर लाद कर कमरे में छड़ी लेने के लिए गया। दिव्या देवी उस लोहे की मूर्ति के गले में एक पट्टा बाँध रही थीं। पट्टे में एक डोरी से लटकते हुये काग़ज़ की चिट्ट पर कुछ लिख कर उन्होंने बाँध दिया था। ऐसे ही पट्टे गीदड़, रीछ और बन्दर के गले में भी पड़े हुये थे। पास में बूढ़ा माली खड़ा था। लोहे की मूर्ति में पट्टा बाँध चुकने के बाद दिव्या देवी ने कुर्सी को उन खिलौनों और लोहे की मूर्ति के साथ, डा० सन्तोषी के यहाँ ले जाने का आदेश दिया—बूढ़ा माली अभी नया नौकर रखा गया था, इसलिए वह डाक्टर संतोषी का घर नहीं जानता था। ज्वाला भी तैयार खड़ा था। बात यह निश्चय पाई कि ज्वाला धीरे-धीरे ताँगा चलाये और माली कुर्सी और खिलौनों को साथ लेकर ताँगे के साथ-साथ सन्तोषी के घर तक चला जाय। किन्तु जब ज्वाला ने ताँगा स्टार्ट किया तो दिव्या देवी को न जाने कैसा लगा। वह ज्वाला से कुछ कह नहीं सकती थीं, इसलिए दिल मसोसकर रह गईं। बिना दरवाज़े तक उसको पहुँचाये ही अपने कमरे में जा बैठीं।

धुरी में आज भी वही करख़्ती आवाज़ थी। यद्यपि धीरे-धीरे चलाने पर उसकी तेज़ चुभती हुई आवाज़ कानों के पर्दों में भयानक ख़राश पैदा कर देती थी फिर भी आज ज्वाला को इस आवाज़ से कोई ख़ास परीशानी नहीं हो रही थी। हो सकता है पाण्डु रोग के बाद उसकी सहनशक्ति ही बढ़ गई हो। हो सकता है प्राप्त किया हुआ संचित लोहा इस आवाज़ को पचा ले जाय...लेकिन कौन जाने आज इन आवाज़ों का संदेश ही ज्वाला के लिए कुछ न हो और संचित लोहा होने पर भी ज्वाला में केवल सहन शक्ति बढ़ गई हो और वह भी उस सीमा तक कि जहाँ आवाज़ें एक मुर्दा, अर्थहीन प्रतिबिम्ब मात्र मालूम होती हों...जहाँ न कोई सन्देश होता है न अर्थ...न कोई मतलब होता है न उद्देश्य...केवल एक गति होती है जो प्रकृति से ही चलने के लिए मजबूर होती है, जिसका लक्ष्य कुछ भी नहीं होता...केवल किसी ढलवान पर लुढ़कते हुये पत्थर-सा वह नीचे की ओर गिरता जाता है...गिरता जाता है...

कभी-कभी ऐसे पत्थर महादेव की मूर्ति भी बन जाते हैं...लेकिन क्यों और कैसे शायद इसका उत्तर देना कठिन हो?

फ़ीरोज़ी रंग से लिपी-पुती दिव्या देवी के ड्राइंग रूम की दीवारों में नीला बल्ब जल रहा था। दीवाल पर तैल चित्रों में डूबी हुई वाल पेन्टिंगस् बोलती तस्वीरों के समान खड़ी थीं। एक ओर महाभिनिष्क्रमण का चित्र था। सिद्धार्थ, यशोधरा और राहुल को छोड़कर बौद्ध होने की जिज्ञासा में तत्पर महात्मा बुद्ध दरवाज़े पर खड़े थे। भीतर यशोधरा राहुल को लिए गोद में निद्रामग्न थी। दूसरी ओर एक बारात की अगवानी का चित्र था। आरती, थाल, शंख और दूब लिए सुसज्जित किन्तु अस्त-व्यस्त वस्त्रों में अनेक स्त्रियों की भावमयी मुद्राएँ थीं जिनमें प्रौढ़ा-नवोढ़ा और अज्ञात यौवना तक समवेत रूप से मिली-जुली खड़ी थीं, कहते हैं कि किसी भोले और भावुक कलाकार को केवल ऊँची-ऊँची बातें सुनाकर यह वाल पेन्टिंग बनवा ली गयी थी। पुरस्कार रूप में चित्रकार को पन्द्रह दिन तक केवल उपवास करना पड़ा था। इसी दीवाल के बग़ल वाली दीवाल से लगा हुआ एक आतशदान का कार्निश था जिस पर बैठी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ लोहे के खिलौने और लोहे का आदमी किसी विशेष स्थिति में विचारमग्न थे। ठीक इनके मस्तक पर एक क्रास पर ईसा का चित्र अंकित था। बाईं ओर या आख़िरी दीवाल पर एक सीपिया रंग का गोल वृत्त बना था, जिसके चारों ओर लहरदार इन्द्रधनुषी रंग की हल्की-हल्की ऊर्मियाँ बनाई गई थीं। नाद मन्दिर में सब लोग सो चुके थे, लेकिन मिट्टी की मूर्तियाँ आपस में कुछ गुम-सुम बातें कर रही थीं।

टालस्टाय ने कहा—"दुनिया के जिस दुःख-दर्द को लेकर मैंने इतना कुछ लिखा-पढ़ा है, आज उसे इन्सान एक बार भी उठाकर पढ़े तो उसका समस्त कष्ट दूर हो सकता है...दुनिया एक सिरे से शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकती है..."

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। केवल महर्षि टालस्टाय की बात ही कमरे में

गूँजती रही...हर ओर, हर दिशा से शान्ति और सम्वेदना की लहरें गूँजने लगीं लेकिन ऐसा लगता था जैसे ज्वाला की बनी हुई मूर्ति एक व्यंग्य भरी हँसी में कह रही हो—

"इन्सान और उसकी शान्ति...क्या बात करते हैं महर्षि जी...मनुष्य ने इस कलि काल के गर्त में शान्ति के भी कई रंग बना लिये हैं। कुछ तो लाल रंग की शान्ति की खेती करते हैं...कुछ पीले रंग की शान्ति चाहते हैं...कुछ शान्ति के गले में मुण्डमाला, हाथ में खप्पर...कन्धों पर तलवार और बन्दूक, माथे पर टैंक की टोपी पहना कर पैरेड करवाना चाहते हैं। मैं तो सुविधा अनुसार हर दल में शामिल हो लेता हूँ। बोलिए आप इनमें से कौन-सी शान्ति चाहते हैं?"

टालस्टाय महर्षि ड्राइवर की बात सुनकर कुछ आश्चर्य में पड़ गये। आँखें फाड़-फाड़, घूर-घूर कर देखने लगे। शायद उन्हें ज्वाला की बात पर विशेष आपत्ति हुई क्योंकि वह यह प्रश्न ईसा के चित्र और टैगोर, गाँधी की प्रतिमाओं से कर रहे थे ज्वाला से नहीं लेकिन फिर क्रोध शान्त करके, ज्वाला को क्षमा की दृष्टि से देखते हुये महर्षि टालस्टाय ने कहा—"युद्ध और शान्ति का समन्वय नहीं हो सकता जो एक तरफ़ बन्दूक़ और बारूद के गोदाम भरता है और दूसरी तरफ़ शान्ति की बात करता है, इन्सानियत के साथ ग़द्दारी करता है..."

यह सुनते ही टैगोर ने उचककर कहा—"विश्व चेतना में ग़द्दारी का शब्द बड़ा साधारण हो गया है, कहीं ऐसा विचार और न प्रकट कीजियेगा नहीं तो आप भी प्रतिक्रियावादी, सामन्तवादी...टुटपुँजिये, डिकेडेन्ट और अनैतिक घोषित कर दिये जायँगे...और अगर आपकी आत्मा कहीं भूले-भटके अपने देश में पहुँच गई तो आप जन्म भर के लिए निर्वासित कर दिये जायँगे..."

ज्वाला से न रहा गया, बोला—"तब फिर आप नहीं जानते महर्षि। मैंने न जाने कितने शान्ति सम्मेलनों में भाग लिया है। आज का आदमी आपके युग से कहीं अधिक मिलिटैण्ट है और यह मिलिटैण्ट शक्ति आप की आत्मा-परमात्मा से कहीं ऊँची है...मिलिटैण्ट होना ही शान्तिप्रियता का प्रतीक है...देवराज। आप वाली फ़्यूडल शान्ति को आज का इंसान लेकर क्या करेगा? वह तलवारों, बम और बारूदों के बीच शान्ति की स्थापना कर सकता है, खौलते हुये इन्सान के लोहू से वह शान्ति का श्रृंगार करेगा, आप अपने दक़ियासूनी विचार पास रखिये...आज की दुनिया में इस विचार की ज़रूरत नहीं है।"

अब तक की इस वार्तालाप के बीच प्रायः सभी मूर्तियों खामोश थीं...लेकिन लम्बी श्वेत दाढ़ी और काला लबादा पहने हुये ख़ामोश बैठी हुई टैगोर की मूर्ति से न रहा गया। आँखों में आँसू भरे गम्भीर लेकिन थरथराई आवाज़ों में टैगोर ने कहा—

"क्या हो गया है इस ज़माने को ? शस्य-श्यामला भूमि पर यह लाल और पीले बारूदों का रंग कैसा है ? शान्ति और मानवता के नाम पर कीचड़ उछालने का अधिकार इन आदमियों को किसने दे दिया है ? क्या शब्द की शक्ति समाप्त हो चुकी है ? भावनाओं की सूक्ष्म संवेदना नष्ट हो रही है ? यह कैसे लोग हैं इस दुनिया में...कहाँ ले जायँगे अपनी भावी सन्तान को ?" और इसके बाद जैसे टैगोर के कण्ठ से स्वर बन्द हो गये...और अपनी शून्य दृष्टि से वह सब को देखने लगे...जैसे उनकी आत्मा की आन्दोलित भावनाएँ अपनी बेबसी और मजबूरी में हैरान और परीशान हो गई हों...जैसे आत्मा की कठिन पीड़ा से सारी मनःस्थिति डाँवाडोल हो गई हो..."

लेकिन इसी बीच उनके अत्यन्त निकट बैठी हुई गाँधी जी जैसी मूर्ति स्थिति गम्भीर हो कर अत्यन्त शान्त स्वर में बोली—"गुरुदेव...महर्षि यह रंगों का खेल स्थाई है...मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यह भयंकर नाटक जो आज का मनुष्य स्वयम् अपने से ही खेल रहा है वह अधिक दिन तक नहीं चल सकेगा। संसार में जब तक एक भी व्यक्ति अपने प्रति ईमानदार है...अपने को धोखा देने की कृत्रिमता से बचने में सतर्क है तब तक आने वाली सन्तानों का कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता...एक दिन आयेगा जब आदमी अपने थके हुये हाथों से अपनी आत्मा की झीनी सी डोर...झीना सा आधार पकड़ेगा...अपनी आवाज़ सुनेगा और तब संसार में वास्तविक शान्ति आयेगी...सत्य और असत्य का ज्ञान मनुष्य को सहज ही हो जायगा..."

और यह अन्तिम ध्वनियाँ बड़ी देर तक कमरे में गूँजती रहीं। दीवाल के चित्रों से टकरा कर उनकी आत्मा में पैठने की जैसी स्थिति में उद्वेलित, तरंगों की भाँति कमरे की हर चीज़ से गले मिलती रहीं...कमरे की प्रत्येक वस्तु जैसे कुछ क्षणों के लिए आत्म-विस्मृत अवस्था में केवल एक ही रास्ता देखती रही...केवल एक ही स्वर सुनती रही...और जैसे कमरे की सारी घुटन, सारी पीड़ा और सारी आत्मद्विधा डाँवाडोल स्थिति में किसी निष्कर्ष की सम्भावनाओं की प्रतीक्षा में कौतूहल और जिज्ञासा में डूब गई और जब एक दम शान्त और गम्भीर वातावरण में कमरे का तिनका डूबा था तभी फ़र्श की चौकी पर बैठी हुई प्रोफेसर सन्तोषी की प्रतिमा ने एक ज़ोर की व्यंग्य भरी हँसी से कमरे की शान्ति को तोड़ दिया, कम्पित स्वरों में प्रतिमा फिर बोली...

"यह सब ग़लत है...यह सब ग़लत है...यह लाल और पीले बारूद उस वक्त तक रहेंगें जब तक आदमी मिट्टी, लोहे, काग़ज़ और राख का बनाता रहेगा।

आज के ज़माने में भूसे के पुतलों की जरूरत है जिसके दिमाग़ में भूसा हो...हृदय में भूसा हो। ज्ञान-विज्ञान मे भूसा हो। ताकि वह सोच न सके। वह डर न सके। वह प्रेम न कर सके...वह घृणा न कर सके...आप लोग क्या जाने कि आदमी की कितनी शक्लें हैं, कितने दिमाग़ हैं और उस दिमाग़ मे कितनी फ़ितूरें हैं..."

और इतना कह कर मूर्ति इतने ज़ोर की हँसी कि सारा वातावरण और सारा कमरा हिल गया...ठण्ढी आतशदान की कार्निश पर धरी हुई वह सभी मूर्तियाँ विस्मय से उसकी ओर देखने लगी...लगा सब की सब ने एक बहुत ही कड़वा ज़हर पी लिया हो...सब की आत्मा में एक भयंकर आतंक तूफ़ान की तरह छाया जा रहा हो...बम की आवाज़ें हवाई जहाज़ों की करखती-चटखती ध्वनियाँ...तलवारों की खन-खन...सिपाहियों के बूटों की खटपट सारे कमरे में शून्य नृत्य सी करने लगी.. और तब प्रो० सन्तोषी ने कहा—

"तुम सब अपने-अपने युग के भयंकर रोगी रहे हो...जो सोचते थे कह कर नहीं पाते थे। आज के आदमी जो कुछ सोचते हैं वह कर ले जाते है। जनाब घर फूँक कर तमाशा देखना कोई मामूली काम नही है। आज का आदमी अपने मस्तक मे आग लगा कर...पैर को पानी में डुबो कर बैठना चाहता है...वह ऐसा ही बैठा रहेगा। आप लोग अपना सिर पीट कर रह जायँगे लेकिन कुछ कर नही पावेंगे क्योंकि उसके दिमाग़ में ठोस पिलपिला भेजा है...कोई भूसा या गोबर नहीं है..."

अभी प्रो० सन्तोषी ने अपनी बात समाप्त भी नहीं की थी कि सामने की दीवाल पर चित्र के गोल वृत्ति से पीले सोने के टुकड़े खड़खड़ा कर गिरने लगे और सोने के सिक्कों की गड़गड़ाहट में एक ध्वनि बिल्कुल साफ़, बिल्कुल स्पष्ट सुनाई देने लगी...सब के सब उधर देखने लगे। लगा सोने के अम्बार पर एक ताश के जोकर सा आदमी खड़ा अपनी कमर पर हाथ रक्खे कुछ कह रहा है...धीरे-धीरे आवाज़ साफ़ होने लगी...लेकिन सिक्कों का ढेर बढ़ता गया...बढ़ता गया और उसने एक पिरामिड की शकल मे कमरे की छत को भी छू लिया, फिर कुछ कड़क कर बोला—

"यह क्या फ़जूल का बकवास मचा रखा है...तुम सब शान्ति चाहते हो... दे दो सारी दुनिया को मेरे हाथ में...मैं जिस तरह चाहूँ उसे रक्खूँ...जब तक सारी दुनिया को मैं इन सोने के टुकड़ों से ख़रीद नही लूँगा तब तक यह सब होता रहेगा... यह सब चलता रहेगा।

इतनी-सी बात सुनाकर लोहे का आदमी नाचने लगा। उसके आवेश और उसके जोश की कोई सीमा नहीं रह गई। वह बार-बार कस-कस कर अपने ही हाथों अपने मुँह में थप्पड़ मारने लगा और कुछ 'गूँगी' भाषा में बड़े संकेतिक ढंग से कहने

लगा। बात स्पष्ट नहीं हो रही थी। मिट्टी की मूर्तियाँ हैरान थीं। लेकिन गीदड़, रीछ और बन्दर चौकन्ने होकर बैठ गये थे...और वह लोहे की अपाहिज मूर्ति नाचती रही...नाच-नाच कर कुछ अज्ञेय और अस्पष्ट भाषा में बोलती रही...सोने के सिक्कों के अम्बार पर खड़ा हुआ जोकर अपनी छड़ी हिलाता हुआ लोहे की मूर्ति पर व्यंग करता रहा और थोड़ी देर बाद जब लौह पुरुष थक कर एक स्थान पर बैठ गया तब जोकर बड़ी तेज़ी से ठहाका मार कर हँसा, फिर बोला—

"मैं यहाँ इतने ऊँचे पर हूँ कि तुमसे झुककर मिल नहीं सकता...लगता है तुम भूखे हो...लो...ले जाव कुछ सिक्के...अख़बार निकालो...मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाओ...तुम्हारी भूख शान्त होगी...

लौह पुरुष थोड़ी देर तक गौर से उस जोकर को देखता रहा। उसके बाद उस घने कुहासे से भरे हुए वातावरण में सहसा धीरे-धीरे करके कुछ ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगीं। लौह पुरुष कह रहा था—"मैं ठोस इस्पात का बना हुआ आदमी मामूली घटनाओं से चूर होने वाला नहीं हूँ...मेरा ऊपरी ढाँचा कठोर वज्र-सा है लेकिन मेरे भीतर की रिक्तता ही जैसे मुझे खाये जा रही है...और यह सोने की ढेर पर खड़ा हुआ बिना कमर का जोकर जो नया मसीहा बनने का दावा भर रहा है यह हमारी ज़िन्दगी का ज़िन्दा मज़ाक है...ज़िन्दगी न तो फ़ौलाद है और न सोना, जिन्दगी एक परिस्थिति है, एक वातावरण है...जो परिवर्तनशील है...प्रेषणीय है...

लेकिन जब वह यह सब कह रहा था कमरे की सभी मूर्तियाँ व्यंग्यात्मक ढंग से हँस रही थीं। सभी सोच रही थीं यह लोहे का आदमी, जिसकी वाह्याकृति इतनी सुदृढ़ और प्रौढ़ है, जिसने ज़िन्दगी को चूरनवाले से लेकर महामनीषी दिव्या देवी के जीवन तक को देखा है, वह सहसा अपनी रिक्तता के प्रति इतना क्षोभ क्यों प्रकट करता है...आज सहसा ज़िन्दगी के प्रति उसकी जिज्ञासा क्यों जागृत हो गई है...जो सम्पूर्ण जीवन को केवल अवसर और सुविधा के अनुसार एक साँचे में ढालना चाहता था आज वह एक दम से इतना भीरु और कायर क्यों बन गया है और तब ड्राइवर ज्वाला प्रसाद ने पूछा—

"अपने दिव्य संकुलित जीवन के प्रति यह अनुदार प्रवृत्ति तुमने कब से अपनाई लौह पुरुष ? तुम तो अपने लोहे की सार्वभौमिक सत्ता के एक मात्र प्रतिष्ठापक थे, फिर उसके प्रति यह अरुचि कैसी...यह अश्रद्धा कैसी..."

इतनी सी बात सुनकर जैसे लौहात्मा तिलमिला उठी। आवेश के आवेग में जबान लड़खड़ाने लगी...सारा शरीर एक तेज़ लट्टू के समान नाचने लगा...और तब उसने कहा—"मैं यह नहीं बता सकता क्योंकि मेरी ज़बान कटी हुई। मेरे हृदय के

पास भी एक कठोर ठोस लोहे का टुकड़ा रख दिया गया है जो मेरी रक्त की मस्तक गतिविधि को दबाये बैठा है, मेरे मस्तक में कुछ भी भेजा नहीं है, उसकी जगह पर कुछ लोहे की गोलियाँ हैं जो इतनी सख़्त हैं कि दिन-रात मेरे दिल व दिमाग़ को दबाये रहती है। तुम जानते हो मुझमें मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ उस सैम्पसन फैक्टरी का है, जिसने मुझे बनाया है...मुझे आकार दिया है...वह कहा करता था...वह दिल जो पसीज जाता है...वह दिमाग़ जो एक साँचे में रह कर तितर-बितर हो जाता है...वह कमज़ोर है...तंग है...मैं उसका क़ायल नहीं हूँ...इसलिए मैं कहता हूँ यह ज़िन्दगी एक परिस्थिति है...एक स्थिति है...एक वातावरण है..."

सारथी ज्वाला प्रसाद चुप रह गया। ललचाई आँखों से वह सोने की ढेर की ओर देखने लगा। ढेर पर खड़ा हुआ प्लास्टिक का बना इन्सान बोला—"यही तो मैं कहता हूँ, जिसे तुम ज़िन्दगी कहते हो...शान्ति कहते हो...वह प्लास्टिक है... लचीला है। फ़्लेक्सेबुल है। इन लौह पुरुषों ने आदमी से उसका लचीलापन छीन लिया है। उसकी प्लैस्टिसिटी छीन ली है। उसे कठोर और कटु बना दिया है।"

अभी यह बात हो ही रही थी कि ज्वाला ने अपनी सिग्रेट जला कर सींक फ़र्श पर फेंक दी। सहसा आग लग जाने का दृश्य सजीव हो उठा। लौह पुरुष चिल्लाने लगा और चिल्ला-चिल्लाकर नाचने लगा। सारे वातावरण में आग की चिनगारियाँ फैल गईं। प्लास्टिक का बना जोकर चीख़-चीख़ कर रोने लगा। अशर्फ़ियाँ और सोने के सिक्के भी एक राख के ढेर से पड़े रह गये। लौह पुरुष के पोले, खोखले मुँह में इतना धुआँ भर गया कि वह निस्तेज चेतनहीन-सा फ़र्श पर पड़ा रहा और तब वृद्ध टालस्टाय ने फिर कहा—

"यह आग और धुआँ, यह ज़िन्दगी और उसके साथ भयानक मज़ाक, इसे बन्द करना होगा। वह लोहा भी किस काम का जो झुक न सके और प्लास्टिक भी क्या जो खुद ही आग पैदा करे और खुद ही जल जाय...आदमी की यह दोनों शक्लें ख़तरनाक हैं...इन दोनों से अलग आदमी की शक्ल है। आदमी का वास्तविक रूप कुछ और है। बिल्कुल और..."

कमरे में एक साथ ही सैकड़ों झाँझ और शोर व गुल का वातावरण छाया जा रहा था। चारों तरफ धुआँ ही फैल रहा था। प्रोफेसर सन्तोषी की तस्वीर जैसे कुछ और गम्भीर हो गई थी। टालस्टाय की मूर्ति चिन्तित और उद्विग्न थी। टैगोर की मूर्ति में एक निश्चय और दृढ़ता का संकेत मिलता था। ईसा की तस्वीर जो सूली पर टँगी-टँगी दर्द से पीड़ित थी वह कराह रही थी। गाँधीजी की मूर्ति और अधिक गम्भीर हो गई थी...प्लास्टिक का आदमी अपनी ही आग से जल रहा था, चमकीले

सुनहले गोलवृत्त की सीमा और परिधि सिकुड़ रही थी। लौह पुरुष अपने ख़ाली पेट में धुआँ भर रहा था, लेकिन पोपला और ख़ाली मुँह से धुआँ निकला जा रहा था।

पौ फट रही थी। सवेरे की चमकीली रोशनी रोशनदानों से छन कर बेल-बूटे बना रही थी। ठीक उसी जगह जहाँ अभी आग लगी थी...जहाँ प्लास्टिक का पुतला जलभुन कर राख हो गया था...जहाँ लौह पुरुष अपनी सारी रिक्तता में धुआँ भर कर वज्र बनने का प्रयास कर रहा था, जहाँ टालस्टाय की गम्भीरता, गाँधी का आत्मबल, टैगोर की दृढ़ता अभी-अभी जागृत हो उठी थी।

इस घटना के बाद।

गीदड़ ने कहा—"आदमी में बड़ी ख़तरनाक आग है। कुछ अजीब है जो वह दूसरों को जलाने के लिए पैदा करता है, और उसमें खुद जलने लगता है। आदमी अपने को धोखा देना जानता है। खूब धोखा देता है।"

बन्दर ने कहा—"यह आदत तो आदमी ने मुझसे सीखी है। उसके बाप-दादों में मैं भी हूँ। आज तुम जिसकी निन्दा करते हो, वह आदमी का मूलगत स्वभाव है। वह आग लगाता है, धुआँ पीने के लिये—धुआँ जिसमें घुटन है, मौत है। अँधेरा है, भ्रम है और भयभीत सन्तान की सम्भावनाओं का केन्द्र है।"

रीछ ने कहा—"आदमी सम्भावनाओं की प्रतिक्रिया है। जिसे तुम आग उगलने वाला, धुआँ पीने वाला समझते हो वही कभी इतना ठण्ढा हो जाता है, जैसे बासी गोश्त, या आटे का पुतला। आज का आदमी न तो धुएँ पर ज़िन्दा रह सकता है, न आग पर। उसे न तो फ़ौलाद बनना है, न प्लास्टिक, उसे उपनी मिट्टी के अस्तित्व को सिद्ध करना है।

कमरे में सन्नाटा था। मूर्तियाँ निश्चल, प्राणहीन-सी पड़ी थीं। सारथी ज्वाला प्रसाद फ़र्श पर बैठा सिग्रेट पी रहा था। उसे लग रहा था जैसे यह सारी घटनाएँ

उनके सामने ही घटित हुई हैं लेकिन वह किसी से कुछ कह नहीं पाती थीं। दिव्या देवी अपनी कविता की पुस्तक लिए निहारिक कुंज में कुछ गुनगुना रही थीं, और ज्वाला को लग रहा था जैसे यह कविता, यह संगीत, यह वेदना भरे गीत, यह अज्ञात की जिज्ञासा कुछ नहीं है। केवल एक पलायन है। एक खोल है। एक खोखली अभ्यर्थना है। एक व्यंग्य है। सत्य है उसकी सिग्रेट...प्लास्टिक का आदमी, लौह पुरुष का खोखलापन, आग और धुएँ की भूख और प्यास...उसके भीतर का ख़ालीपन... लेकिन यह सब जानता कौन है ? उसे स्वीकार कौन करता है ? दिव्या देवी को गीत प्रिय है...उसे ताँगा प्रिय है...डाक्टर यनडोले को घड़ियाँ प्रिय हैं...शायद यह सब उस खोखलेपन पर आवरण डालने के बहाने हैं...लेकिन यह खोखलापन कैसा ? मैं तो ठाकुर हूँ...बैसवाड़े का ठाकुर...मैं ठोस हूँ, केवल ठोस और जब वह यह सब सोच रहा था तभी उसके सिर पर एक चिड़िया ने बीट कर दिया। ज्वाला प्रसाद का ध्यान टूट गया। उसकी तन्द्रा टूट गई।

और यह वेटिंग रूम है जहाँ समय की निश्चल धारणा भी आज अनिश्चित है। एक कड़ी है, एक सन्धि रेखा है जो टूट गई है, चकनाचूर हो गई है, और जिस एक विशृङ्खलता ने सब निश्चय ही बिगाड़ डाला है। लेकिन कुछ बात है जो सभी एक ही दिशा की ओर केन्द्रित हैं। सभी एक नई गतिविधि को अपनाना चाहते हैं। सभी इस परिस्थिति से ऊब चुके हैं। कुछ मर जाना चाहते हैं। कुछ सुबह की रोशनी के साथ-साथ किसी भी दिशा को चल पड़ना चाहते हैं। लेकिन सभी आतंकित हैं, उस बच्चे की चीख़ से जो अपाहिज डाक्टर की गोद में पड़ा-पड़ा समस्त दुर्घटना को अपने सिर पर लादे हुए है। रात भर कोई सोया नहीं है। हवल्दार जेल में बन्द है। ख़ान की हत्या हो चुकी है। नौरू फ़रार है। जसवन्त और प्रीति अब भी कारतूस के ख़ाली ख़ोल को ओढ़े हुए पड़े हैं। सुबह की रोशनी सब पर पड़ रही है, लेकिन सभी अपने में इतने सिमटे से है कि दरवाजे की आहट तक नही सुन पाते।

वेटिंग रूम के लोग और टूटी जिन्दगियाँ

"......वह नेता नहीं चाहता कि किसी मरीज़ के सिरहाने बैठकर उसका सिर दबाये। वह यह भी नहीं चाहता कि पट्टियों के अभाव में अपने पताके को फाड़कर इन डाक्टरों को दे दे जो अकल और योग्यता रखते हुए भी कुछ नहीं कर पा रहे हैं। उसके दिमाग़ में यह भी बात नहीं घुसती कि जंगल से कुछ खपाच्चियाँ तोड़कर ला दे और इन मरीजों के, इन घायलो के, जख्म के उपचार में मदद दे। यह तो वह जीता-जागता मुर्दा है जो हर मिनट, हर क्षण डेथ रिपोर्ट के लिए दौड़ा-दौड़ा आता है और फिर बाहर जाकर भीड़ से कहता है, एक औ र मरा...एक और मरा...अब एक और मरा और जब कोई मर जाता है तो जोर से चिल्ला कर कहता है : इन्क़लाब जिन्दाबाद। जैसे सारा परिवर्तन, सारी क्रांति वह स्थिति है जो मौत की भयानकता लेकर आ रही है......"
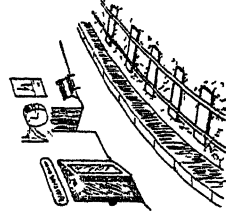
सर्दी या ठण्डक ज़िन्दगी को जमा देती है। लगता है यह तेज़ हवायें, यह तूफान, यह गला देने वाली तीखी सर्द फुफकारें, ज़िन्दगी के मुर्चे को साफ़ कर देंगी, यहाँ तक कि कोई चेतन जीव इससे नहीं बच सकेगा। हर ख़ोल चाहे तेज़ाबी ज़ंग के समान हो, चाहे एक फौलाद की सख़्त प्लेट के समान हो, सर्दी की चोट से ठनक जाना स्वाभाविक है। सुबह पौ फटने के साथ महिम की लाश पोस्टमार्टम के लिए चली गई। लाश के सिरहाने मरीज़ की हिस्ट्री शीट भी थी। वह हिस्ट्री शीट जिसका सम्बन्ध ज़िन्दगी से कणमात्र भी नहीं है, जो हर डाक्टर केवल इसलिए तैयार करता है ताकि जब उस पर अविश्वास किया जाय, उसकी लापरवाही की शिकायत की जाय तो वह एक काग़जी सबूत अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए पेश कर सके। यही नहीं, वह तनकर यह कह सके कि मरीज़ को मरना था वह मर गया, उसके मरने या जीने में डाक्टर का कोई हाथ नहीं था। लेकिन शायद डाक्टर वनडोले, या अपाहिज डाक्टर नवाब या वह मोटी, भद्दी नर्स, मर्ज़ की गहराई तक नहीं पहुँच सके, शायद वह उस बच्चे की चीख़ और लगातार रोने की आवाज़ समझने में असमर्थ रहे जो बार-बार अपनी दर्द भरी आवाज़ में यह कह रहा था...'मुझे ज़िन्दगी दो'... 'मुझे ज़िन्दगी चाहिए'...'मुझे मौत से बचाओ।'

शाम हो चुकी है। इस वक़्त तक तमाम डाक्टर, नर्स और दवाइयाँ आ चुकी हैं। उनमें से प्रत्येक डाक्टर सामान के अभाव की शिकायत कर रहा है। मलहम है, ज़ख़्म भी है लेकिन पट्टियों की कमी है। टूटी हड्डियों को जोड़ने के लिए सारा सामान है। लेकिन वे स्प्लिन्टर्स नहीं हैं जिनके सहारे टूटी हड्डियों को जोड़ा जाता

है, उखड़ी हुई हड्डियों को बैठाया जाता है। प्लास्टर्स, टिंक्चर हैं, सुईयाँ हैं, लेकिन कुछ अजीब स्थिति है, चोट कुछ इस प्रकार है, कि यह सब दवाएँ बेकार हैं। डाक्टरों के पास केवल वही दवाइयाँ नहीं हैं जिनकी ज़रूरत है। लेकिन अब भी हवाई जहाज़ से डाक्टरों और दवाइयों की भीड़ चली आ रही है। जीवन की ऐसी स्थिति वह लाचारी की स्थिति कहलाती है जब मर्ज़ पहचानते हुए, तशख़ीश जानते हुए भी आदमी कुछ नहीं कर पाता। केवल अभाव का ही नाम लेता है। जो नहीं है उसी की अबाध्य आवश्यकता ही अनुभव करता है, और यह स्थिति कुछ ऐसी होती है जिसे अकर्मण्य न कह कर भी कर्मण्य कहा जा सकता है।

इस समय मैं वेटिंग रूम और टिकट कलेक्टरों के कमरे के बाहर बरामदे में पड़ी हूँ। स्थिति भी कुछ अजीब है। भीतर का भारीपन जैसे बाहर के भारीपन से इतना मिलता-जुलता-सा है कि मानसिक चेतना और भी बोझिल हो गई है। सोचती हूँ आज अगर यह सूखी, नीरस, लकड़ी न होकर मैं केवल एक फटा-पुराना कपड़ा होती तो भी शायद इतने घायलों और पीड़ितों के ज़ख़्मों में से किसी एक के ज़ख़्म से चिपककर उसके दर्द को अपना लेती। थोड़ी देर तक के लिए ही सही लेकिन उनकी आँखों की खोई हुई नींद को वापस बुला लेती और क्षण, दो क्षण वे अपनी वेदना, पीड़ा भूलकर आराम पाते। लेकिन जीवन का यह भी एक व्यंग्य है कि सद्भावनाओं और सच्ची अनुभूतियों के होते हुये भी जाति-भेद, वर्ग-भेद, व्यक्ति-भेद के कारण कोई कुछ करने में समर्थ होते हुए भी अपने को असमर्थ पाता है।

लेकिन सर्व समर्थ यह नेता है जो इन घायलों और पीड़ितों के सिरहाने अपना झंडा-पताका लेकर आ डटा है और एक भारी मजमा जमा करके चिल्ला रहा है। जिसका नारा है : इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ..जिसकी आवाज़ है इस सड़ी-गली सरकार को एक ठोकर दो...जिसका मन्तव्य है कि इस दुर्घटना को लेकर वह एक पताका को नीचे गिरा दे, पैर से एक नारे को मसल कर दूसरे नारे को, पताके को इतना ऊपर उठावे, इतना ऊपर कि वह आकाश को भी फाड़कर निकल जाय। यह नेता यह नहीं चाहता कि किसी मरीज़ के सिरहाने बैठकर उसका सिर दबाये। वह यह भी नहीं चाहता कि पट्टियों के अभाव में अपने पताके को फाड़कर इन डाक्टरों को दे दे जो अक़्ल और योग्यता रखते हुए भी कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। उसके दिमाग़ में यह भी बात नहीं घुसती कि जंगल से कुछ खपाचियाँ तोड़कर ला दे और इन मरीजों के, इन घायलों के, ज़ख़्म के उपचार में मदद दे। यह तो वह जीता-जागता मुर्दा है जो हर मिनट, हर क्षण डेथ रिपोर्ट के लिए दौड़ा-दौड़ा आता है और फिर बाहर जाकर भीड़ से कहता है, एक और मरा...एक और मरा...अब एक और मरा और जब कोई

मर जाता है तो जोर से चिल्ला कर कहता है : इन्क़लाब जिन्दाबाद। जैसे सारा परिवर्तन, सारी क्रांति वह स्थिति है जो मौत की भयानकता लेकर आ रही है।

सुबह ही से पिकनिक के लिए गये हुए यह दो व्यक्ति, प्रतिभा और जसवन्त एक दर्जन चिड़ियों को बन्दूक से मारकर हाथ मे लटकाये चले आ रहे है। जैसे यह सारी घटना उनके लिए कोई महत्व नही रखती। यह सारी पीड़ा और वेदना से भरा हुआ कोलाहल, यह चीख, यह पुकार इनके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता। जैसे इनकी बन्दूक़ और इनकी कारतूस जीवन से भी बढ़कर है। चाल मे एक अन्दाज़ है जो हर गँवार को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। फ़ौजी अफ़सर जसवन्त जिसे खूब पहचानती हूँ, सिर्फ अपने कंधों पर बन्दूक रखना जानता है, और प्रतिभा जिसे मैंने काफी निकट से देखा है, समझती है, उसकी पत्थर जैसी शरीर की बनावट सदा एक-सी रहेगी। काश कि इनके सिर ज़िन्दगी का एक झटका ऐसा पड़ता कि इनकी सारी कलई खुल जाती। काश कि इस बन्दूक का लोहा इतना तंग हो जाता कि इसकी नली फट जाती और तब शायद इसके कुन्दे की लकड़ी भी किसी घायल के के काम आ जाती। लेकिन दुनिया के आसपास की घटनाओं से प्रभावित न होने वाले के वह निर्भीक जीवित शव है जो किसी की मौत को भी जशन बनाकर मानते हैं।

यह कैलाश है। वह पत्रकार जो जब से यह रेल दुर्घटना हुई है तब से तार पर तार दिये जा रहा है। उसका केवल एक ही मन्तव्य है और वह यह कि दुर्घटना को जितना भी रोचक ढंग से अख़बार में दिया जायगा अख़बार की बिक्री उतनी ही ज़्यादा होगी। उसका मतलब उन मानवीय संवेदनाओं के प्रति नहीं है जो यहाँ आहत हो चुकी है। उसका मन्तव्य इतना है कि इस ख़ौफ़नाक दुर्घटना में आदमी की कैसी-कैसी दुर्दशा हुई...वह केकड़े की तरह रेंगता है या पर कटे चींटे की तरह, वह दीमक की तरह पिस गया है या सिर्फ एक सैन्डविच बन कर रह गया है। उसकी दिलचस्पी आदमी में नहीं है, वह टूटे हुये रेल के डिब्बों की तस्वीर ले रहा है, टूटे हुये पुल की तस्वीर ले रहा है...सुबह से अब तक वह नदी के किनारे केवल इसलिए बैठा रहा है ताकि वह उन लाशों की तस्वीरें ले सके जो कल रात अंधकार में पुल के किनारे के के साथ बीच नदी में गिर गई हैं। अब तक वह इस प्रकार के पचासों चित्र ले चुका है, और डा० वनडोले का वह लड़का जिसने एक नई तस्वीर की दुकान खोली है उसके यहाँ उन तस्वीरों को एनलार्ज कर रहा है...जैसे इन तड़पते हुये आदमियों से बढ़कर ज़िन्दगी उन लाशों में है जो मर चुकी है...ढेर हो चुकी है...मैं इस कैलाश को ज़्यादा दोषी नहीं ठहराती क्योंकि गलत मन्तव्य ही सही हो सकता है, तस्वीरें किसी दूर के रिश्तेदार की चिन्ता दूर कर सकें और वह निश्चिन्त होकर उनका शोक मना सके जिनका

मित्र या सम्बन्धी इस दुर्घटना में मर गया है...

मगर मैं इसको क्या कहूँ जो कारनेगी की किताब के सूत्रों के अनुसार आई हुई नर्सों के बीच महज़ इसलिए घूम रहा है ताकि वह उनके हाव-भाव, बातचीत के लहजे से प्रभावित हो जायँ और उससे प्रेम करने लग जायँ। उसका यहाँ भी एक रोमांस हो जाय और वह अपने मित्रों के बीच बैठ कर यह डींग हाँक सके कि अमुक परिस्थिति में मैंने कार्नेगी का फ़लाँ फ़ार्मूला लागू किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि एक नहीं, तीन-तीन नर्सें उससे इश्क़ करने लगीं थी और वह उन तीनों को कार्नेगी के फ़ार्मूला के हिसाब पर लगातार चर्के देता रहा।

और यह वह साहित्यकार है जो दुर्घटना में केवल रसबोध के लिए उलझ गया है, जिसने अपनी उभरती हुई जवानी केवल नई उक्तियों को ढूँढ़ने में ही बिता देने का निश्चय किया है, लेकिन इसे यह नहीं मालूम कि ज़िन्दगी उक्तियों की भूखी नहीं, सहानुभूति चाहती है। वह संवेदनशील सहानुभूति जो आदमी को आदमी बना सके...केवल उक्तियाँ लेकर आदमी क्या करेगा, कहाँ जायगा? लेकिन कौन कहे इससे...यह भावुक भी है, रसपूर्ण भी है, संवेदनशील और मानव भावनाओं के प्रति श्रद्धावान् भी है, लेकिन इसके दिमाग़ में एक कीड़ा है जो रेंगता है, दिमाग़ में खुजली पैदा कर देता है...भावनाओं पर पंजा गड़ा देता है, आँखों के सामने पर्दा डाल देता है और वह दर्द की गहराई में न जाकर केवल दर्द की अभिव्यक्ति और उसके रूप के प्रति आकृष्ट हो जाता है। भावनाओं को तिलांजलि देकर केवल बुद्धि पर जीवित रहना चाहता है...लेकिन बुद्धि का भी क्या दोष...यह बुद्धि और भावना का समन्वय नहीं स्थापित कर पाता।

लेकिन फिर वही चीख़...वही दर्द भरी चीख़...रोने की आवाज़...वही मेजर, नवाब की धीरज भरी बातें...वही मरीज़ों से भरे हुए कमरे से कराहने की ध्वनि में दर्द का भयानक विस्तार...समस्त वातावरण को अपने में डुबो लेने की क्षमता...

मेरा वह दर्द...उस टूटी हुई टाँग का दर्द, हड्डियों के जोड़ में समाया हुआ दर्द, आज फिर तेज़ी से उभर आया है...जी में आता है अपने इन लुंज हाथों को बढ़ाकर उस चीख़ते हुए बच्चे को अपनी गोद से लिपटा लूँ...अपने सीने से लगाकर उसके कान में कहूँ...इन आदमियों की पहचान लो। इनकी शक्लें देख लो। इनसे घबराओ नहीं। अपनी नई ज़िन्दगी शुरू करो। नई मान्यतायें बनाओ। ये आदमी कहीं ज़रूरत से ज़्यादा सड़ गये हैं...कहीं ये इतने अपाहिज हैं कि एक इंच क्या एक सूत भी नहीं खिसक सकते।

अभी मैं इन्हीं विचारों में डूबी थी। सहसा वेटिंग रूम के बाहर जो लगेज रखा

है, उसके सामने एक झगड़ा हो रहा। वही लँगड़ा, अपाहिज डाक्टर, सबके बक्स तोड़कर धोतियों की सारी गठरी पीठ पर लादे कमरे में घुस रहा है और बाहर जसवन्त और प्रतिभा खड़े हुए उसको पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं और वह कह रहा है—

"मैं इन कपड़ों को नहीं दूँगा। ये सब चीर-फाड़ कर पट्टियों के रूप में बदल दिये जायँगे...मैंने तुम्हारे बक्स से केवल उतना ही सामान लिया है जितना तुम्हारे काम से फ़ाज़िल था।"

"यह चोर है, इसे पकड़ कर पुलिस के हवाले करो," जसवन्त कह रहा है।

कैलाश खड़ा हुआ उस अपाहिज नवाब चाचा की तस्वीर ले रहा है, सनसनी-ख़ेज़ ख़बर बनाने का राइट अप सोच रहा है, कार्नेगी वाला व्यक्ति खड़ा-खड़ा फ़ार्मूला बना रहा है और वह नेता जिसने मुझे तीन रुपये साढ़े बारह आने में ख़रीदा है और जो अभी बाहर इन्क़लाब के नारे लगा रहा था अपाहिज डाक्टर को देख कर हँस रहा है। ठाकुर ज्वाला प्रसाद ड्राइवर और दिव्या देवी जो अभी देर से पहुँचे हैं इस शोर वो गुल का रहस्य पूछ रहे हैं...लेकिन वह डा० उस गठरी को नहीं छोड़ रहा है...आवेश में कह रहा है...

"जसवन्त...प्रतिभा...इस गठरी को छोड़ दो। मेरे नज़दीक मत आओ। मुझसे मत उलझो। मुझे जाने दो। जाने दो मुझे।"

सारे डाक्टर और नर्सें भी आकर खड़े हो गये हैं। डा० इस अपाहिज नवाब को पागल बता रहे हैं। नर्सें ईडियट कह कर डाँट रही हैं। कुली-कबाड़ी लँगड़ा है कह कर मज़ाक उड़ा रहे हैं। ज्वाला भी कुछ कह रहा है। शायद वह विश्व चेतना की बात है। लेकिन वह डाक्टर नवाब चाचा अब भी अपनी गठरी नहीं छोड़ रहा है। आजिज़ आकर जसवन्त सिंह उस पर लात और घूँसे लगा रहा है। उसके नाक और मुँह से खून गिर रहा है लेकिन फिर भी वह उस गठरी को पकड़े है उससे चिपटा हुआ बैठा है। लेकिन गठरी भी उसके हाथ से छूटती जा रही है। कपड़े तितर-बितर हो रहे हैं और अपाहिज नवाब बेहोश सा हो गया है।

धीरे-धीरे यह झगड़ा भी शान्त हो गया। मेजर नवाब चाचा वहीं बेहोश पड़ा सिसकियाँ भरता रहा। अपनी असमर्थता पर स्वयम् अपने को कोसता रहा। मरीज़ों के पास कोई डाक्टर है जो मरीज़ को डाँट कर कह रहा है—

"शोर क्यों करते हो। और भी तो मरीज़ हैं। उनकी हालत और भी ख़राब हो जायगी।"

"स्प्लिन्टर्स नहीं हैं तो मैं क्या करूँ, चीख़ने दो। मरने दो कमबख़्तों को।"

"बैन्डेज ख़त्म है डाक्टर।"

"तो मैं क्य करूँ। क्या अपनी कमीज़ फाड़ डालूँ या कोट।"

और यह सब आवाज़ें वह अपाहिज नवाब सुनाता रहा। फिर धीरे-धीरे उठा। खिसकता-खिसकता वह मेरे पास आया। नज़दीक से, ग़ौर से देखने पर यह कुछ पहचाना हुआ सा लगता है। लेकिन यह क्या? इसने तो मेरे उखड़े हुये हाथ को मेरे जिस्म से अलग कर दिया। दोनों हाथ टखनों से अलग करके वह मरीज़ों के कमरे की ओर जा रहा है, चला ही जा रहा है...जाकर डा० से कह रहा है...

"लो...लो यह स्प्लिन्टर्स...जोड़ी हुई हड्डियाँ बैठाओ। उखड़े हुये जोड़ों को मिलाओ..."

सरकारी डाक्टर मुड़ कर नवाब को घूर-घूर कर देख रहा है। बे हाथ-पैर के इस आदमी को दोनों दाँतों के बीच स्प्लिन्टर्स लिए हुये देख कर वह कुछ आवेश में आ गया। घृणा भरी दृष्टि से देखते हुये बोला—"यू ईडियट...क्या कहता है, क्या इन लकड़ियो ने कहीं कोई हड्डी जुड़ी है? किसने दिया है यह लकड़ी?"

यह कहते हुये उसने नवाब के दाँतों के बीच से उस लकड़ी के टुकड़े को खींच कर फेंक दिया। नाक, कान, मुँह से खून उगलते हुये नवाब केवल उसे घूर-घूर कर देखता रहा। उसकी आँखें भी क्रोध से लाल हो गई। अपने बाँये हाथ की उँगलियों को मुट्ठियों में मींजते हुये और अपने होठों को दाँतो के बीच पीसते हुये वह सरकारी डा० की ओर देखने लगा। सरकारी डा० भी कोई फ़ौज़ी था। अपने जूते की ठोकर से नवाब की मुट्ठियों पर एक ठोकर मारते हुये बोला—

"काऊवर्ड, मेरी तरफ क्या घूर-घूर कर देख रहा है। निकल यहाँ से। किसने तुझे अन्दर घुसने की इज़ाज़त दी। जानता नहीं यह अस्पताल का वार्ड है। यहाँ मरीज़ रहते हैं..."

"सब जानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे इस जूते की ठोकर में और इस वर्दी में एक ऐसी शान है जिसमें ग़ैरत नाम मात्र को भी नहीं रह गई है। जिसमें ढोंग है बस।"

नवाब की इतनी-सी बात सुन कर उस डाक्टर को और भी आवेश आ गया। क्रोध में खीझ कर बोला—"डाक्टर...निकालो इस लुंजे अपाहिज को यहाँ से। किसने इसे यहाँ भेज दिया है। मेरा भी दिमाग़ ख़राब करता है और मरीज़ो का भी।"

और डाक्टर के इस आदेश के साथ ही दो डाक्टर और दो चपरासियों ने नवाब को घेर लिया। हाथ पकड़कर उसे बाहर निकालने लगे, लेकिन उसने अपने हाथ, पैर और सारे शरीर को कुछ इस प्रकार एक में लपेट लिया कि उनसे उसका उठना

भी मुश्किल हो गया। वह बच्चा जिसे नवाब पिछली रात सीने से लगाये-लगाये चुमकारता था, जिसे उसने अपने लुंज और घायल हाथों से उठा कर अपनी गोद में लेकर सुलाया था, वह एक दम चीख़ पड़ा। फूट-फूट कर रोने लगा। फ़ौजी डाक्टर ने उस बच्चे को डाँटते हुये पूछा..."तू कौन है...क्यों रोता है...डाक्टर इस बच्चे को भी बाहर करो...यह क्या मेला लगा रखा है। यहाँ मरीज़ों को क्या आराम मिलेगा, इनसे...हटाओ.. हटाओ इन सबों को यहाँ से। न जाने कहाँ के कूड़ा-कबाड़ भर लाये हैं...यहाँ इनकी क्या ज़रूरत है।"

डाक्टर वूनडोले अभी तक मौन रूप से फ़ौजी अफसर की यह सारी बातें सुन रहा था। नवाब की वह दुर्दशा भी देख रहा था जिसके कारण काफ़ी देर से गुल-गपाड़ा मचा हुआ था। जब उसने देखा कि नवाब को घसीट कर निकाला जा रहा है और बच्चे को ज़बर्दस्ती कमरे के बाहर उठा कर फेंकने की कोशिश की जा रही है तो वह अपने स्थान पर से सख़्त आवाज़ में डाँटते हुये बोला...

"कौन है? ख़बरदार जो नवाब पर हाथ लगाया...क्या कुसूर किया है बिचारे ने...क्यों निकालते हो उसे.. "

"कप्तान साहब का हुक्म है..."

"कौन है कप्तान साहब...यहाँ दवा करने आते हैं या हुकूमत करने...छोड़ दो उसे वहीं...मैं कहता हूँ छोड़ो उसे..."

"डाक्टर वनडोले की यह आवाज़ फ़ौजी अफ़सर के कान में पहुँची। कड़क कर वहीं अपने ही मेज़ के पास से बोला..."तुम कौन होते हो जी? मेरा हुक्म है..."

"तुम्हारा हुकुम है तो ग़लत है डाक्टर...आख़िर इस आदमी का कुसूर क्या है? बिना कुसूर के ही इसे इस तरह बाहर उठाकर क्यों फेंका जा रहा है। क्या कुसूर है...मैं भी जानना चाहता हूँ," डाक्टर वनडोले ने डाँट कर पूछा।

"यह गुस्ताख़ है...मेरा जवाब देता है...न जाने कहाँ से दो खपच्चियाँ लेकर आया है, कहता है यह स्प्लिन्टर्स का काम दे सकती है..."

"तो क्या बुरा कहा कप्तान साहेब...इसमें इतना बिगड़ने की क्या बात थी... क्या यह किसी काम नहीं आ सकती है..."

"तुम्हारे लिये काम की होंगी...इस से जानवरों की हड्डियाँ जोड़ी जा सकती हैं...आदमी की नहीं..."

"आदमी और जानवर की हड्डियों का अन्तर इतना महत्वपूर्ण नहीं है...महत्व की चीज़ है आदमी और जानवर की बुद्धि का अन्तर...समझे..."

और यह कह कर उसने मेरे उन टूटे हुये चौड़े हाथों को उठा लिया। उन्हें

आरी से काट कर काम लायक़ बनाया और फिर उन्हें एक मरीज़ के टूटे हुये हाथ में जोड़ कर बैठा दिया। ऊपर से बैन्डेज बाँध उसने टूटे हुये हाथ को लटका दिया। थोड़ी देर में मरीज़ को आराम मिल गया। वह सो गया।

जब डाक्टर वनडोले यह पट्टियाँ बाँध रहा था उस समय नवाब का हाथ पकड़ कर वह छोटा किन्तु रोता हुआ बालक उस अस्पताल के बाहर आ रहा था। घिसिट-घिसिट कर डाक्टर वेटिंग रूम के बाहर बरामदे में आकर पड़ रहा। अपने फटे हुये कपड़े से उसने निकले हुये खून को पोछ डाला और अपने सीने पर छाती से चिपकाकर उस बच्चे को लेट गया। जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था लेकिन नवाब के पास कोई बिस्तर नहीं था क्योंकि उसका बिस्तर उस मरीज़ की बेंच पर बिछा हुआ था जिसकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी और जिसके कारण उसका उस नंगी बेंच पर लेटना असंभव हो रहा था। चेस्टर और बेसाखी वह हवल्दार लेकर चला गया था जो इस दुर्घटना के कारण मुक्ति पा गया था, छुटकारा पा गया था, लेकिन फिर हवालात में बन्द हो गया था।

नवाब को अब भी नींद नहीं आ रही थी। ख़ान के क़तल और नीरू के ग़ायब होने से उसने प्रत्येक सम्भावना का अन्दाज़ लगा लिया था। नीरू जो एक जीती जागती घृणा है, जिसके पास न साहस है न बुद्धि, जो केवल पैसा चाहती है...पैसे के लिए जो सब कुछ कर सकती है...नवाब से प्रेम भी कर सकती है और नवाब की हत्या भी कर सकती है। नवाब यह जानता था पिछले कई महीनो से वह इस कोशिश में थी कि अपाहज नवाब की हत्या करके उसका सारा पैसा ख़ुद ले ले। वह यह भी जानता था कि नीरू के माध्यम से ख़ान भी अपनी दुश्मनी का बदला लेना चाहता है . . उस दुश्मनी का जिसे वह अपनी ज़िन्दगी में भुला नहीं सकता। नवाब ने उसके जीवन का रस ले लिया था क्योंकि ख़ान नीरू को चाहता और नवाब नीरू को नौकर रखे हुये था और इस नौकरी में नीरू नवाब का ज्यादा ध्यान रखती थी ख़ान का कम क्योंकि ख़ान जंगली था। वह नीरू को महज़ औरत मानता था.. वह कभी यह नहीं अनुभव कर पाया था कि औरत में औरतपन के सिवा भी कोई और चीज़ हो सकती है...औरत कहीं और भी कुछ है जिसे न तो नवाब जान पाया था और न ख़ान

यही कारण था कि नीरू ने नवाब का खून करने के बजाय ख़ान को मार डाला था क्योंकि इधर वह नवाब को केवल पैसे वाला नहीं मानती थी.. उसने कई बार नवाब से कहा था . . "न जाने क्यों तुमसे भय लगता है...शायद इसलिए कि तुम मुझे ज़रूरत से ज्यादा अच्छे लगने लगे हो . . मैं जब तुम से सख़्त लफ़्ज़ों में बोलती हूँ तो बाद में मुझे पछतावा होता है। क्यों होता है यह मैं ख़ुद नहीं समझ पाती हूँ।

"शायद इसलिये कि मैं अपाहज हूँ..." नवाब ने कहा।

"नहीं सिर्फ़ इसलिये कि तुममें आदमियत है, इन्सानियत है और इन्सानियत भी ऐसी जो दिल वो दिमाग़ दोनों को अपनी ओर खींच लेती है..."

नवाब को नीरू की यह बात बनावटी लगी थी क्योंकि उसका यह पूरा विश्वास था कि नीरू के पास या ख़ान के पास दिल वो दिमाग़ नाम की कोई चीज़ नहीं है। शायद नवाब यह भी जानता था कि नीरू और ख़ान उसे जानबूझ कर इस निराले पहाड़ी स्टेशन पर ले आये हैं। उनका यह निश्चय था कि वह यहीं कहीं मिल कर नवाब की हत्या करेंगे और उसकी लाश को पहाड़ी जंगलों में फेंक कर वापस लौट जायँगे। उस दिन वे दोनों मिल कर साथ-साथ शराब पियेंगे। सिकी हुई कबाब को मुँह में रख कर शराब की तलख़ी उतार जायेंगे और फिर तमाम ज़िन्दगी एक नशे की हालते में हँसते, खेलते, झूमते हुये बिता देंगे। लेकिन इस पाँच छः साल की जिन्दगी मे लगातार साथ रहने के नाते नीरू के हृदय मे नवाब के प्रति श्रद्धा और थोड़ी-थोड़ी सहानुभूति की भावना भी जाग गई थी। उसके मन में कहीं यह भावना भी थी कि नवाब में वह सच्चाई है जो खान मे नही है और न उसकी मनःस्थिति में है।

एक सर्द हवा का झोंका जैसे हाड़-हाड़ को गला गया। नवाब ने बच्चे को अपने सीने से चिपका लिया। अपने शरीर की सारी गर्मी नवाब उस बच्चे के ऊपर एक खोल की भाँति चढ़ा देना चाहता था ताकि पहाड़ की सर्द हवाये उसकी नर्म हड्डियो को गला न पायें। और लेकिन वह कुछ न कर पाया। इसी स्थिति में, इसी मानसिक विक्षिप्तता में वह सारी रात करवटें बदलता रहा। वेटिंग रूम से छन कर आती हुई आवाज़ें सुनता रहा। मरीज़ों की चीख और कराहने की आवाज़ें सुनता रहा। दुःख और तकलीफ़ से भरे हुए इस वातावरण में डूबा रहा। होमियोपैथी की बीमारी की सिटेम्स...हाई डाईल्यूशन की दवाइयों की भी स्मृति दिमाग़ में आई और वह अपने आप बड़बड़ाते हुये बोला

"आज आदमी की बीमारी हाई डाईल्यूशन की दवाइयों से नही ठीक होगी,

आज उसे स्पेसिफ़िक डोज़ चाहिये और वह भी काफी लो डाईल्यशन की, ३० पावर की इस से ज़्यादा किसी हालत में नहीं

अभी वह यह सोच ही रहा था कि उसी के पास 'कार्नेगी' का अनुयायी आकर खड़ा हो गया। वह बार-बार घड़ी देख रहा था। वक़्त हो चुका था। आधी रात से ऊपर समय हो चुका था। भीतर की काली, मोटी नर्स भी बार-बार घड़ी देख रही थी। दरवाज़ा खोल कर उसने झांका भी और दूसरे ही क्षण वह बाहर आ गई। हँसती हुई बोली...

"जस्ट वेट डियर...जस्ट वेट"

"तुम यहाँ आ गया था। साहब बोला, किटी तुझे रात भर डियुटी देनी है। समझी...आदमियों की कमी है। मैं चक्कर में पड़ गई। मैंने सोचा फ्रेन्ड आयेगा। एप्वाइन्टेड टाइम पर न मिलने स ना उम्मीद हो जायगा। मैं ने फौरन साहब से कहा...साहब तबियत ठीक नही। फीलिग अनईज़ी साहब...फ़ीलिंग डाउजी...वेरी, वेरी डाउजी...बाहब ने मेरी ओर देखा हँसा, बोला—"किटी तुम जा सकता है।" मैं चली आई तुम्हार पास।"

"ओह यू आर सो गुड किटी, सो चर्मिंग...न जाने कैसा शहर है। तमाम दिन मैं शहर घूमता रहा...कहीं एक भी बार नहीं है। नहीं तो मैं और तुम बैठते और फिर बाते होती।"

"ओ डियर...क्या कहता है। तुम है न, बस मेरे लिये यही ड्रिंक है। अब और क्या ? चलो...स्टेशन के बाहर चलें। यहाँ तो जी नहीं लगता डियर...सन्नाटा मुर्दों के अडडे सा यह स्टेशन।"

और यह कहती हुई वह आगे बढ़ी और नवाब की लँगड़ी टाँग को कुचलती हुई निकल गई। बोली..."यह भिखारी भी अजीब है। तुम्हारा हिन्दुस्तान कैसा है डियर, कैसा लोग रहता है यहाँ...हमारा तो जी घबरा गया। गँवार...रैस्केल।"

काली, मोटी नर्स जब यह, कह रही थी तो नवाब के क्रोध की सीमा नहीं रही। वह कुड़मुड़ा कर रह गया। आज पाँच-छः साल के बाद उसे पंगु होने पर ग्लानि हुई। आज उसके पास हाथ-पैर होता तो शायद वह उसे पकड़ता और उसकी काली भद्दी शक्ल से पूछता—"क्या है तुम मे जो तुम अपने को हिन्दुस्तानी कहने में झेपती हो ?" लेकिन आज वह अपने को उस स्थिति में नहीं पा रहा था। और वे दोनों भद्दी हँसी हँसते हुए, हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के प्रति घृणा प्रदर्शित करते हुये चले जा रहे थे।

प्लेटफार्म की रोशनी में कैलाश उस फोटो का राइट अप बना रहा है, जिसे

वह कल सुबह ही डाक से बाहर अख़बार में भेजना चाहता है। उसके पास नवाब की वह एनलार्जड फ़ोटो भी मिली है जो उसने अभी आज शाम को जसवन्त सिंह के साथ मारपीट करते हुये ली थी। उसी के बग़ल में उस रोते हुये बच्चे की भी फ़ोटो है जो नवाब को बचाना चाहता था और जो उसके पंगु पैरों पर अपना सिर रक्खे सो रहा है। और इस तस्वीर के कारण ही वह सोचता है उसके अख़बार की हज़ारों प्रतियाँ चुटकी बजाते बिक जायँगी।

भीतर चार-पाँच रोगियों की हालत ज्यादा ख़राब होने के कारण असाधारण दौड़धूप हो रही है। जनार्दन गार्ड जो कल ही से बेहोश था और जिसके दिमाग़ की नस में खून ज्यादा भर गया था, अब आख़िरी साँसें गिन रहा है। डाक्टर वनडोले हर तरह से उसको होश में लाने की कोशिश कर रहा है। एक तरफ़ एक औरत है जिसकी रीढ़ की हड्डी टूट गई है और अब वह भी अपनी आख़िरी साँसें गिन रही है। दूसरी ओर एक सेठ जी हैं, जिनका दिल ज़रूरत से ज्यादा धड़क रहा है और उनकी भी आखिरी साँसें आ-जा रही हैं। जनार्दन गार्ड जिसके बचने की काफ़ी उम्मीद लिये डाक्टर वनडोले हर आफ़त से लड़ रहा था अब निराश हो चुका है। सहसा डाक्टर वनडोले कमरे के बाहर दौड़ा-दौड़ा आया। नर्स-नर्स कर के चिल्लाने लगा लेकिन वहाँ कोई नहीं था। वहाँ केवल वह बूढ़ा स्टेशन मास्टर ही दौड़ा हुआ आया। डाक्टर वनडोले के उत्सुकता पूर्ण पूछने लगा—

"जनार्दन की क्या हालत है डाक्टर..."

"नर्स कहाँ है ?"

"मैं नहीं जानता ? क्या जनार्दन की हालत ज्यादा ख़राब है ?"

"हाँ...उसी के लिये नर्स चाहिये। दवा चाहिये। आज बारह मरीज़ों की हालत ख़राब है। लगता है रात नहीं पार कर सकेंगे बेचारे।"

"डाक्टर, जनार्दन को सिर्फ़ दस मिनट के लिये होश में लाओ। उसका एक बयान लेना है डाक्टर...नहीं तो इस दुर्घटना के कारण मैं फाँसी पर लटका दिया जाऊँगा। कल रेलवे आफ़िसर्स आ रहे हैं।"

"कैसी बातें करते हो मास्टर बाबू...जनार्दन गार्ड नहीं बच सकता...बस दो-चार मिनट का मेहमान है।"

और यह कहता हुआ वह फिर कमरे मे चला गया। जनार्दन गार्ड की नब्ज ठंढी हो चुकी थी। उसने उसे चादर ओढ़ा दी और दूसरे मरीज़ को देखने लगा। औरत जिसकी रीढ़ की हड्डी टूट चुकी थी और जिसकी सारी देह प्लास्टर मे डूबी थी वह भी अन्तिम हिचकियाँ ले रही थीं। डाक्टर वनडोले उसकी नब्ज़ पकड़े खड़ा

था। उसकी एक भी साँस सही-सलामत नहीं थी। दिल का धड़कन जैसे धीरे-धीरे बैठा जा रहा था। आँखें धँसी जा रही थीं। सेठ की छटपटाहट भी अब शान्त हो चुकी थी। कहीं भी वह तड़प नहीं थी, वह सोज़ नहीं था जिससे बेचैन होकर वह अभी कुछ घन्टे पहले राम-राम कह रहा था।

इस भयानक वातावरण से जैसे मेरा कलेजा और दिमाग़ दोनों निकले आ रहे हैं। लगता है जैसे इन सब का दर्द, इन सबकी तकलीफ़ मैं ही भुगत रही हूँ। टूटे हुये हाथों के अलग होने का भी ग़म नहीं है क्योंकि मैं जानती हूँ कि वह उस दर्द पर चिपके हुये हैं जिनमें इन्सान का लोहू है। और अगर आदमी की टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने में वह काम आ गईं तो मैं समझती हूँ कि मेरे शरीर के उस हिस्से की हड्डी अस्सी साल की थी। उस में हर दर्द को ठीक करने की क्षमता न सही लेकिन दुःख में, वेदना और पीड़ा में, साथ देकर झेलने की शक्ति अवश्य है और शायद मुझ जैसे निर्जीव निश्चेष्ट और पंगु व्यक्तित्व के लिये इतना ही काफ़ी है।

लेकिन हर मौत के साथ चौंक उठने वाला यह नवाब ख़ामोश होकर क्यों बैठ गया है? क्या सोच रहा है? ज़िन्दगी की वह कौन सी थकान थी जिसने इसको इतना चूर कर दिया है? इस की कटी हुई टाँग, कटे हुए हाथ इस बात को बताते हैं कि इसने जीवन के किसी क्षण में, किसी अप्रत्याशित प्रत्याशित क्षण में, ज़िन्दगी की कोई गहरी वेदना अनुभव की है। कहीं इसको इतनी गहरी चोट लगी है जिसने इसको इतना दयनीय बना दिया है। लेकिन वह अपने जीवन की इस निरीह परिस्थिति को स्वीकार नहीं करता...इस पराजय के सामने वह नत-मस्तक नहीं होना चाहता... इसकी कहानी भी दर्द से भरी होगी।

सहसा नवाब की गोद में सोया हुआ बच्चा चीख़ पड़ा। नवाब ने उसे थप-थपाना शुरू किया लेकिन वह सोये हुए हालत में भी चीख़ रहा था। उसकी चीख़

बन्द नहीं हो रही थी। वह कहता जाता था। बचाओ...बचाओ...बाबू जी...बाबू जी को ये लिए जा रहे...हैं। ये काली-काली शक्ल वाले कौन हैं?"

और जब नवाब ने उसे जगा कर बैठा दिया। तब उसने कहा...

"मैंने एक भयानक सपना देखा है, ये रेलवे के कुली बाबू जी को उठाये जा रहे हैं। बाबू जी को..."

नवाब कुछ विशेष चिन्ता मे पड़ गया। इसके बाबू जी का नाम महिम है। महिम को देख कर नवाब-चाचा वेटिंग रूम में भी चौंक गया था। इसलिए वह दुबारा उसके पास नहीं गया। उसने केवल उसे दूर से ही देखा। वह दूर ही से उसे दवा बताता रहा और इस प्रतीक्षा में था कि उसके होश आते ही वह उस कमरे से बाहर चला जाय। लेकिन महिम को होश नही आया। फिर उसने सोचा हो सकता है यह बच्चा भी महिम का हो...और उसने उसको गोद में उठा लिया था, सीने से लगा कर रखा था। उसे थपकियाँ देकर सुलाने की चेष्टा की थी, और जब वह सो गया तब उसने देखा महिम की लाश को पोस्ट मार्टम के लिए लाश भेजी जा रही थी महिम की याद आते ही नवाब जैसे गम्भीर हो गया। एक बार उसने फिर बच्चे की ओर देखा। महिम और उसकी शकल मिलाने की चेष्टा की...ऐक्य स्थापित करने की कोशिश की लेकिन रंग-रूप से लेकर बोल चाल और आवाज़ तक नही मिली तब वह ख़ामोश हो गया।

प्लेटफ़ार्म पर लाइन क्लियर की घंटियाँ बज चुकी है। अभी दूसरी तरफ़ से कोई नई गाड़ी आने वाली है। सुना जाता है इस गाड़ी से बहुत से लोग अख़बारों में ख़बर पढ़ने के बाद महज़ दुर्घटना को देखने के लिए आ रहे हैं। दो बोगियो में दवाइयाँ आ रही हैं। घायल और पीड़ितों के नाते-रिश्तेदार आ रहे हैं। कुछ विदेशी पत्रकार आ रहे हैं। दुर्घटना की इन्क्वायरी के लिए हज़ारों रुपये का भत्ता बनाने वाले बड़े-बड़े आफ़िसर आ रहे हैं। इनके साथ एक इन्जीनियर भी आ रहा है जो टूटे हुए पुल को देखेगा। उसकी गिरी हुई हालत को देख कर यह अन्दाज़ा लगायेगा कि यह पुल अकस्मात् टूट गया है या यों ही रेलवे वालों की लापरवाही से टूटा है। खुदाई करने वाले मज़दूर आ रहे हैं जो ज़मीन में दफ़न की हुई लाशों को खोदकर निकालेंगे। एक जज भी आ रहा है जो मुसाफ़िरों के लावारिस सामान का ज़ामिन बनेगा... डाक्टरों के बड़े साहब और फ़ौज के कप्तान भी आ रहे है।

पता नही यह लोग आकर क्या करेंगे। रेलवे वाले इस बात की कोशिश करेंगे कि वह अपनी ज़िम्मेदारी से बच जायँ, उन्हें हरजाना न देना पड़े। डाक्टर के आफ़िसर हमेशा अपने मातहत डाक्टरों की रक्षा करेगा। इन्जीनियर और नक़्शे वाले महज़

नक़शा बनाना जानते हैं किन्हीं रेखाओं में उलझाना जानते हैं। फिर यह सब आके करेंगे क्या ?

बूढ़ा पैटमैन लाइन क्लियर देकर वापस आ गया है। उसके साथ का नवजवान पैटमैन अँगीठी मे आग सुलगा कर चिलम चढ़ा रहा है। हरी लाल बत्ती वाली लालटेन सामने ही जल रही है। झंडियाँ लपेट के बगल में दबाये बूढ़ा पैटमैन कह रहा है—

"जनार्दन गार्ड मर गया रे। कितना भला आदमी था। जब उसके कपड़े उतारे गए तो जानता है उसके जेब से क्या निकला।

"कुछ निकला ही होगा बाबा...मुसाफिरों के किराये के रुपये होंगे उसमें और क्या होगा ?

"नहीं रे। जो भी हो, आदमी अच्छा था। कम से कम भगवान को तो मानता था। मरते दम तक उसकी जेब में हनुमान की मूर्ति थी। स्टेशन मास्टर कहता था १५० रु० और एक हनुमान जी की लोहे की मूर्ति उसके जेब में थी। देख न यह रही...मुझे बाबू ने उसके घर भेजने के लिए कहा है।"

"उसके घर की भी तो बड़ी बुरी हालत है बाबा...गार्ड बाबू की बीबी अभी अच्छी भी तो नहीं हुई।"

"हाँ रे...भगवान की माया है। और क्या कहूँ..."

यह कहते हुए उसने अपने हुक्के पर चिलम रखी और अपने पोपले मुँह से खींचने लगा। दो-चार कश खींचने के बाद उसने एक ठंढी साँस ली। झंडी को ज़मीन पर रख दिया। ज़रा इत्मीनान से बैठ कर बोला...

"ठीक पैंतिस साल हो गये हैं नौकरी करते लेकिन ऐसी दुर्घटना मैंने नहीं देखी थी। मास्टर बाबू कल ही से बहुत परेशान हैं। नौकरी की बात है न...आग बरसा रहा था यह स्टेशन मास्टर, मुझे ज़बर्दस्ती नौकरी से निकाल रहा था कहता था तू बूढ़ा हो गया है, घर बैठ।"

"अरे दादा तुम ने सुना नहीं...आज पुलिस वाले उस मास्टर दादा को थाने पकड़ कर ले गये हैं। उसे हवालात में बन्द कर रखा है। पुलिस वालों का कहना है कि यह सारी रेल की दुर्घटना उसके कारण हुई हैं।"

"किसके उस पगले मास्टर दादा के कारण..."

"हाँ हाँ दादा...उसी मास्टर दादा के कारण..."

"मास्टर दादा से और इस रेल की दुर्घटना से क्या काम रे...?"

"अब यह पेचपाँच मैं नहीं जानता ? लेकिन...

"अरे होगा...चिलम चढ़ा...यह तो पुलिस वाले हैं। इन्हें तो मैं लाल बुझ-क्कड़ कहता हूँ...यह ऐसी ही बिना सिर पैर की बात करते हैं।"

अभी यह चिलम पी ही रहा था कि गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ गई। सहसा सारे प्लेटफ़ार्म पर शोर वो गुल मचने लगा। कुली, ठेले वाले, स्टेशन मास्टर, डाक्टर विदेशी अख़बार वाले सभी एक ओर से आ गये। स्टेशन पर जैसे बाढ़ सी आ गई।

लेकिन जसवन्त और प्रतिभा इस शोर वो गुल के बावजूद भी आराम से सो रहे है। रात उन शिकार की गई चिड़ियों का गोश्त उन्होंने किसी मज़दूर के घर बनवाया गया था, इसलिए काफ़ी देर से यह लोग सोये हैं। सोते भी कैसे न दिन भर तालाबों और जंगलों में मारे-मारे फिरे थे। दर बदर की ठोकरें खाई थीं उन चिड़ियों के लिए। आख़िर वह हज़म कैसे होता।

कैलाश भी वहीं राइट अप लिखते-लिखते सो गया है। पता नहीं उसके आँखों के सामने ज़िन्दा आदमी की तस्वीरें नाच रही हैं या मुर्दा लाशों की। हँसते हुए दूसरी ओर से वह मोटी काली नर्स और कारकार्नेगी का अनुयायी वह युवक भी आ रहे हैं। दोनों के चेहरों पर एक बेहयाई की सी मस्ती है। दोनों ही थक कर चूर-चूर से मालूम पड़ते है।

और इस भीड़-भाड़ में जल्दबाज़ी में बूढ़ा पैटमैन लोहे की मूर्ति उसी कुर्सी के पास यानी मेरे पास छोड़ कर चला गया है। मैं इन भगवान की शकल देख कर इनकी भविष्य की बात सोचता हूँ। माना दिन दो दिन के लिये यह हज़रत भी भगवान बन गये थे लेकिन अब आगे क्या होगा? यह कैसे अपनी मान-प्रतिष्ठा सँभाल सकेंगे? क्योंकि अब इनके ठंढे जिस्म और दिमाग़ मे ऐसा लगता है कि जनार्दन गार्ड के जेब मे, हनुमान चालीसा मे लिपटे-लिपटे इनके अन्दर जो भगवान के नाम पर ख़ामोश रहन के प्रति विद्रोह था वह अब समाप्त हो चुका है। उसके जेब में ठनकते हुए पैसों ने इनके संस्कार को भ्रष्ट भी बना दिया है। और अब चूँकि इनके अन्दर न तो विद्रोह है और न अपनी असलियत इसलिये यह केवल एक ठंढे लोहे के ढेर मात्र हैं और रहेंगे। हो सकता है कल सुबह इन्हें कोई उठा कर इस प्लेटफ़ार्म के बाहर फेक दे, लेकिन अच्छा तो यह होता कि इन्हें यह सोता हुआ छोटा बालक अपने पास रख लेता...अपने घरौंदे में रखकर खेलता और इनको फिर से नई ज़िन्दगी देता।

लेकिन डा० वनडोले जो अभी भी कमरे से बाहर निकले हैं उन्होंने इस लाल और हरी रोशनी में इस मूर्ति को देख लिया है। वह इसे उठा कर बड़े ग़ौर से देख रहे हैं। दूसरी ओर से बूढ़ा पैटमैन मेरे पास आकर उस मूर्ति को ढूँढ़ रहा है और डाक्टर वनडोले उस पैटमैन से पूछ रहे हैं।

"क्यों जी जनार्दन गार्ड का भगवान कहाँ है ?"

"यहीं रख कर चला गया था हुजूर...भूल हो गई...उसी को तो ढूँढ़ रहा हूँ।

"ऐसा ही काम करते हो तुम...बड़े लापरवाह मालूम पड़ते हो..."

बूढ़ा पैटमैन चुप रहा। कुछ भी नहीं बोला। सिर नीचे किये खड़ा रहा। इधर उधर आँखें फाड़-फाड़ कर उस लोहे की मूर्ति की तलाश करता रहा और तब दयनीय मुद्रा बना कर वह डाक्टर का वनडोले से बोला—

"हुजूर जनार्दन गार्ड का भगवान तो मुझ से खो गया। क्या करूँ हुजूर... बूढ़ा ठहरा...अब दिमाग़ काम नहीं करता।

"अच्छा-अच्छा जाओ मुर्दा ढोने वाली गाड़ी बुलवा लाओ। पौ फटने के पहले ही यहाँ से लाशें हट जानी चाहिए।"

और वह बूढ़ा पैटमैन उस अँधेरी रात में चन्दनपुर शहर के दूसरे छोर पर दौड़ा-दौड़ा गया। थोड़ी देर बाद वह स्वयम् मुर्दा ढोने वाली गड़ी लेकर वापस आया। डाक्टर वनडोले के पास जाकर सूचना दी। मुर्दे एक-एक कर के गाड़ी में भरे जाने लगे। पहले जनार्दन गार्ड...फिर वह औरत जिसकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। फिर वह सेठ...फिर वह मरीज़ जिसका दिल ही सूज आया था। एक-एक कर सब की हिस्ट्री शीट भी रखी गई। सब के गले में एक तख़्ती भी लटका दी गई। तख़्ती के साथ नम्बर भी चिपका दिया गया।

मुर्दा ढोने वाली गाड़ी जब मुर्दों को लेकर चली गई तो बूढ़े पैटमैन ने डा० वनडोले का पैर पकड़ लिया। रोने, गिड़गिड़ाने लगा। बोला—

"स्टेशन मास्टर से न कहना हुजूर नहीं तो वह मेरी नौकरी ले लेगा। अभी कल ही कह रहा था कि तुझे नौकरी से निकाल दूँगा तू बूढ़ा हो गया है। तुझ से अब काम नहीं हो सकता।

"मैं तो तेरी शिकायत स्टेशन मास्टर से ज़रूर करूँगा। इस तरह भी कोई करता है। आख़िर जनार्दन गार्ड तुम्हारे रेलवे ही का आदमी था। आज भगवान की जगह तुम्हें और कुछ क़ीमती चीज़ वहाँ पहुँचाने के लिए दिया जाता तो भी तू इसी तरह फेंक देता।

बूढ़ा पैटमैन चुप रह गया। केवल दाँत निकाल कर रोने लगा। अपने साफे में अपना मुँह ढँक कर बोला।

"आप मालिक हैं...जो चाहे कहें हुजूर..."

और तब डा० वनडोले ने अपनी जेब से जनार्दन गार्ड का भगवान निकाल कर बूढ़े पैटमैन के हाथ पर रख दिया। आदेश देते हुए बोले—

"अब इस भगवान को, जनार्दन गार्ड के यहाँ ज़रूर पहुँचा देना। भूलना नहीं समझे..."

पौ फट रही है और वह नेता जिसने मुझे जनार्दन गार्ड से नीलाम में ख़रीदा है वह तमाम स्टेशन को सिर पर उठाए हुए है, और उस हालत में एक व्याख्यान दे रहा है जिसमें बार-बार इन्क़लाब ज़िन्दाबाद के नारे लगाये जा रहे हैं और वह कहता जा रहा है—

"साथियों यह ज्यादती है। ये डाक्टर और ये नर्सेस, ये सरकार के बड़े-बड़े अफसर बेईमान हैं। इन्हों ने मेरी कुर्सी तोड़ डाली है। इसका हाथ निकाल कर इन्होंने रिफलन्टर्स निकाल डाले हैं। साथियों यह हमारे ऊपर ज्यादती की गई है। हम से हमारा हक़ छीन लिया गया है। यह सरकार जिसने यह रेलवे दुर्घटना कराई है जो सैकड़ों आदमियों की जान रोज़ लेती है, इसी सरकार ने जानबूझ कर हमारी कुर्सी भी तोड़वाई है। यह समझती है कि इस प्रकार की ज्यादती करके यह ज़िन्दा रह सकती है। मैं कहता हूँ तुम लोग साथ मिल कर कहो..."इनक़लाब ज़िन्दाबाद"।"

और यह भीड़ भी उसी नारे को उसी ज़ोरशोर के साथ लगा रही है। पता नहीं यह लोग इस नारे का मतलब समझते हैं कि नहीं। पता नहीं यह लोग इस नेता की भीतरी बात जानते हैं कि नहीं। लेकिन ये नारे लगा रहे हैं। यह भी नेता की बात दुहरा रहे हैं और अपनी सारी ताक़त के साथ इन्क्लाब ज़िन्दाबाद की तहरीक चलाये जा रहे हैं।

काश कि यह नेता समझता कि टूटे हुए ज़ख्मी, घायल कराहते हुए इन्सानों के पास जा कर उनसे हमदर्दी की बातें करता...काश कि उनके पास बैठ कर कोई ऐसा गीत गाता कि इनका दर्द भूल जाता। काश कि यह नेता यह समझता कि मेरे

हाथ उस ज़ख्मी आदमी के हाथ से चिपका दिए गये है जिसका मतलब न तो इन नारो से है और न इस तहरीक से ही।

मैं जिसकी नस-नस मे, रेशे-रेशे में असह्य, वेदना और पीड़ा का अजस्र स्रोत यों ही टूटा पड़ता है, लगता है इन समस्त संदर्भों से च्युत, केवल रक्तहीन, अर्थहीन-सी पड़ी हुई हूँ। मेरे पास शायद वे शब्द नहीं जिसमे दुनिया वाले बात करते हैं, जीते-जागते, रेंगते, चलते हुये भी जो सब कुछ सहन करने की उपेक्षा में टूटते हैं। सहन करके टूटना उसका अर्थ शायद कोई नही समझेगा...कोई नहीं...कोई नही...

आदमी और चूहे
एक प्रयोग

······लौह पुरुष और इन लोहे के खिलौनो को किसी स्टील फैक्टरी में भेज दो, ऐसी स्टील फैक्टरी में जहाँ इनका सद उपयोग हो सके। यह लोहे के खिलौने गल सकें...इनके बीचो-बीच एक ऐसा शिगाफ पैदा किया जा सके कि यह किसी सदुपयोग मे आ सके...और यह ख़ाली कुर्सी मै तुम्हे देता हूँ...ताकि तुम इस पर बैठ कर अपने विक्षिप्त क्षणों में कुछ सोच सको कुछ विचार सको...यह मिट्टी की मूर्तियाँ यहीं रहने दो...शायद मुझे वापस आना पड़े...तो मै इनकी आँखो की गहराइयो मे डूब सकूँ। बस...अलविदा......

"ऐसे जीव को जो सोच सकता हो, समझ सकता हो, लेकिन जिसमे दिखाने के लिए चेतना न हो, क्रियाशीलता का अभाव हो, निष्क्रियता हो, सदैव दूसरे के कन्धों पर लद कर जीवन व्यतीत करता हो, उसे कोई कुछ भी कहे, वह केवल जीवित कहा जा सकता सजीव नहीं। और यही गति मेरी है। दूसरों के कन्धों पर लदते-लदते जीवन जैसे मात्र अपाहिज जैसा रह गया है। ऐसा जीना भी क्या जो दूसरों के सहारे गतिशील हो। ऐसी चेतना भी क्या जो सदैव दूसरों की क्रियाशीलता पर आधारित हो और वह क्रियाशीलता भी क्या जिसमें स्वत्व न हो, आत्म-उपलब्धि न हो..." यही सब विचार मेरे मस्तिष्क में उथल-पुथल मचा रहे थे, जब सहसा सारथी ज्वाला प्रसाद ने मोटर से उतार कर मुझे माली के कन्धे पर रखा और साथ में मूर्तियों और लोहे के खिलौनों को मेरी छाती पर लाद दिया। लेकिन बेबस और मजबूर-सी मैं डाक्टर सन्तोषी के घर तक किसी की उधार टाँगों पर चलती रही। दरवाज़े पर पहुँचते ही ज़बरी कुतिया भी भूँकने लगी। जंज़ीर टूट जाने से वह सीधी बूढ़े माली पर हमला कर बैठी। सर से मैं खिसक गई। खिलौने भी जमीन पर जा गिरे। कुतिया मेरी छाती पर खड़ी होकर बूढ़े माली पर भूँकने लगी। किसी तरह से वह उठ कर भागा। रास्ते में तीन-चार ठोकरें खाईं, घुटना, कुहनी सब कुछ छिल गया लेकिन जब वह हाते के बाहर चला गया तो वह ख़ामोश होकर मेरी छाती से नीचे उतरी। उतरते ही उसकी टाँग लौह पुरुष से उलझ गई। भों-भों भूँकते हुये उसने आसमान उठा लिया। लेकिन लौह पुरुष मुँह बाये निष्प्रभ और मतिमन्द-सा उसकी सारी उत्तेजनाएँ सहता रहा और इसी बीच जब उसने दूसरी ओर नज़र गिराई तो कई मिट्टी की मूर्तियाँ और लोहे के बन्दर, गीदड़ और रीछ को देखकर अजीब आवाज़ से गुर्राने लगी और उसका सारा आक्रोश तब शान्त हुआ, जब डाक्टर संतोषी की टूटी हुई

मूर्ति का मस्तक अपने मस्तक में दबाकर वह लान के एक कोने में कल्लोल करने लगी।

कुतिया के भूँकने की आवाज़ सुन कर एक शुभ्र नवयुवती बाहर आई। बरामदे के सामने इतनी लावारिस चीजों को देखकर पहले तो वह विस्मय में पड़ गई, लेकिन जब वह दुबारा भीतर से निकल कर बाहर आई तो उसने नौकर को आवाज़ दिया और इस प्रकार हम सबो को उस घर में प्रवेश मिला। चूँकि हालत काफ़ी खस्ता हो चुकी थी इसलिए डाक्टर सन्तोषी ने मुझे अपनी लाइब्रेरी में रख लिया। खिलौने और मूर्तियाँ भी वहीं रख ली गईं और इस प्रकार हम सब को समुचित स्थान प्राप्त हो सका।

शाम को नवयुवती और डाक्टर सन्तोषी कमरे में बैठे पार्टी का मिन्यू तैयार कर रहे थे कि सहसा एक नवयुवक ने प्रवेश किया। वही ढीला-ढाला कुर्ता, कुछ अजीब-सा पायजामा, बे लोस रिश्तेदारों की तरह बिखरे हुए बाल, उखड़े नशे की तरह टूटी-फूटी चप्पल, साँवला गंदुमी रंग। उसके प्रवेश करते ही जैसे कमरे में जान आ गई। डाक्टर सन्तोषी कुर्सी से यानी मेरी छाती पर उचक कर खड़े हो गये, फिर धीरे-धीरे कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने कहा—

"ठीक है महिम...तुम बिल्कुल ठीक समय पर पहुँचे, नहीं तो हम लोग थोड़ी देर में मिन्यू का आइटम बिना डिस्कस किये ही रख देने वाले थे। मेरे समझ में नहीं आता खाने के बारे मे आरती के ख़्यालात इस तरह के क्यों हैं ?"

"किस तरह के...?" महिम ने पूछा—

"यही छप्पनों प्रकार के व्यंजन की भावना। मुझे लगता है आरती डिस्पेपटिक है, नहीं तो खाने के बारे में उसके ऐसे विचार न होते..."

"हो सकता है...वैसे आरती बहुत सूक्ष्म भोजन करती है।"

"सूक्ष्म ! तुम इसे सूक्ष्म कहते हो...सुबह टोस्ट, चाय, आमलेट...दोपहर को चार-पाँच चपातियाँ, चावल...फिर तीसरे पहर को फल...शाम को चाय...रात को फिर वही चपातियाँ, चावल-दाल वगैरह-वगैरह..."

"यह तो साधारण खाना हुआ प्रोफेसर, इसमें असाधारणता क्या हुई..."

"तुम समझे नहीं...खाना एक प्रकार का मर्ज है...मर्ज इसलिए कि यह इन्सान को इतना छोटा बना देता है, इतना कृत्रिम बना देता है कि बस...उसमें सत् नाम की चीज ही नहीं रह जाती...अगर आदमी इससे मुक्त हो जाय तो फिर क्या ? उसकी सारी समस्या हल हो जाय..."

"आप कहना क्या चाहते हैं ?"

"महज़ इतना कि खाना-खाना उतना ही बुरा कर्म है जितना चोरी, डाका, व्यभिचार..."

"तब तो हम-आप रोज़ ही चोरी करते हैं...डाका मारते है, व्यभिचार करते हैं।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं, लेकिन हम लोग नहीं, तुम करते हो, आरती करती है। मैं खाना कहाँ खाता हूँ ? मैं तो केवल जीवित रहने के लिए ही कुछ खा लेता हूँ। आत्मा को खूराक देना चाहिये, शरीर को क्या यह यदि नाश होता है तो होने दो...आत्मा और शरीर का एक सम्बन्ध है...और शरीर के तन्तु स्नायुओं को संचालित करने के लिए कुछ रसायनों की आवश्यकता होती है। इसलिए शरीर और आत्मा के समनवय को बनाये रखने के लिए कुछ रस-प्रधान स्थूल शाक की आवश्यकता है...उतना प्राप्त कर लेने के बाद भी जो खाने के लिए सोचते हैं वह पाप करते है। घृणा के पात्र हैं..."

"और जिसे आप सूक्ष्म शाकाहार कहते हैं -उसमें पालक, चौराई के साग को लेकर टमाटर, सलाद, अनन्नास, नासपाती, सन्तरे, सेब सब कुछ आ जाते है... कहने का मतलब यह कि जो चार आने में भर पेट चावल-दाल को खाने की चेष्टा करता है वह पापी है और जो दस रुपये रोज का फल खाने की योजना बनाता है वह धर्मात्मा है..."

इतनी बात कह कर महिम खामोश हो गया। अंजलि ने अपने मुँह में आँचल ठूँस लिया। महिम चुपचाप किताब के पन्ने उलटने लगा। अंजलि खामोश होकर अपनी चूड़ियों की सुनहली पालिश खरोंचने लगी और डाक्टर सन्तोषी ने भावावेश में खाने के ऊपर व्याख्यान देना जारी रखा..."खाना खाना बड़ा फ़िज़िकल कार्य है। निरा फ़िज़िकल। दाँतों के बीच में किसी भी वस्तु को पीसना, चबाना, कुरकुराना और फिर खाने की नली में ठूँस कर पेट की थैली में पहुँचाना, सब बड़ा अनऐस्थिटिक है क्योंकि इसमें कल्पना नहीं है, सौन्दर्य नहीं है—प्रेरणा और प्रणय नहीं है..."

इतना कह कर डाक्टर सन्तोषी फिर खामोश हो गये। पेन्सिल से मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ पर उन्होंने बैलून के बराबर एक सर बनाया जिसमें बिजली की स्विच सरीखी आँखें और वनकौए की दुम की तरह कान। अजीब मोटे और भद्दे ओंठ, पेट पीठ की जगह केवल एक सीधी रेखा। कमर के स्थान पर एक हल्की डाट, पैर जैसे सूखे हुए भिण्डी के पौधे, और यह सब बना चुकने के बाद उसके नीचे उन्होंने बड़ी आसानी से लिख दिया "GOD" और तब GOD पर पेन्सिल फेरते हुए उन्होंने कहा—इफ़ गाड एक्जिस्ट्स एण्ड ही नीड्स ए रेगूलर डाइट ही उड सिम्पली स्मेल फ़ूड एण्ड नाट च्यू इट..."महिम बड़ी ध्यान से उनकी बातें सुनने लगा।

प्रोफेसर कहता जाता था—"भगवान वह मज़दूर है जो दिन-रात मज़दूरी करता है। लेकिन उसे न पसीना होता होगा और न वह किसी पर यकीन ही करता है...भगवान एक भूखा मजदूर है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म भोजन करके बिना पसीना बहाये संसार की रचना करता है"...फिर महिम की ओर देखकर बोला—"कैन यू ड्रीम आफ ए पर्सपायरिंग गाड !"

और यह बात महिम के राजनैतिक जीवन के उस पहलू को छूती थी, जहाँ वह साहित्यिक होते हुए भी अपने व्यक्तित्व को केवल साहित्य की सीमाओं तक बाँधने में असमर्थ था। डा० सन्तोषी की बात काटते हुए उसने कहा—"क्या भगवान के बारे में इस क़दर दिमाग़ परीशान करना सोचना जरूरी है...मैन नीड्स नो गाड... गाड इज ऐं मोरेल सेल्फ डिसेपशन !

"ठीक है...ठीक है...यह सब बातें ठीक हो सकती हैं लेकिन बात महज़ इतनी ही नहीं है...तुम्हारी बात को सही मानते हुए भी मैं जिस प्रकार सोचता हूँ और वह यह है कि..."

"मैन इज़ ए हैल्यूसिनेटेड बीइंग, सो दिज़ गाड इज़ आलसो ए सेल्फ डिसेपशन...सेल्फ़ डिसेपशन इज़ ए कान्सिक्वेन्स..."

अंजलि इन सब बातो में सिर नहीं खपाना चाहती थी, इसलिए वह गुल्दस्ते के सूखे हुए फूलों को निकाल कर बाहर फेंक रही थी। और फ़र्श पर पड़ी हुई फूल की पंखुरियाँ ठीक उन सूखे और नीरस विचारों के समान थी जिस पर सिर धुनते-धुनते अन्त मे आदमी अपने को उखाड़ कर फेंक देता है, ठीक उसी तरह जैसे वह किसी जानदार नये चमड़े पर सख्त खोल के समान चढ़ी हों।

महिम ने अधिक तर्क-वितर्क करना उचित नही समझा। बात वहीं समाप्त हो गई। अंजलि वहाँ से उठकर पास वाले कमरे में चली गई। थोड़ी देर बाद अँग्रेजी की एक जासूसी पत्रिका लेकर आई और खामोश होकर बैठ गई। अपने जी में उसने सोचा डा० सन्तोषी यह क्यों नही सोचते कि भगवान भी राबर्ट्स ब्लेक की तरह का एक एक्सपर्ट डिटेकटिव है जिसे कोई भी नहीं देख पाता और न ही कोई समझ पाता, लेकिन वह सब कुछ देखता है, समझता है और सब के काले पर्दे देखता रहता है।

डाक्टर सन्तोषी जीवन को रस जैसी तरल वस्तु मानते थे। उनका कहना

था कि समस्त स्थूल परिस्थितियों के बीच जो तत्व जीवित हैं, शाश्वत एवम् शक्तिमान् हैं, वह सब एक रस है, तरल है, स्निग्ध हैं...शायद इतने स्निग्ध कि उनमें सब को यहाँ तक कि अपने को भी डुबो लेने की शक्ति है। जीवन में जो कुछ भी स्थूल है वह केवल उस तरल रस की रक्षा के लिये है जो प्रत्येक स्थूल के अन्तर में विद्यमान है।

आदमी के बारे में उनका यह मत था कि मनुष्य सौन्दर्य का भूखा होते हुये भी असुन्दर का उपासक है। उसके दोनों हाथों में चाहे कमल के फूल हों या कीचड़, दोनों ही समान हैं, लेकिन फिर भी कमल के फूलों से कीचड़ अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि कीचड़ से उस कमल के फूल का आभास मिलता है जो सुन्दर है, सरस है और लोकप्रिय है। दरअसल वह समझते थे कि आज के आदमी की तस्वीर उस लाचार अस्तित्व की तस्वीर है जिसमें वह किसी भयंकर दलदल में फँसा पास ही पड़े हुए उस कमल को ग्रहण करना चाहता है जो उसके निकटतम होते हुए भी इतना दूर है कि जिसके पाने का हर प्रयास एक नई मौत की निकटता का परिचय देता है। इसीलिए मौत के निकटतम पहुँच कर ही मनुष्य जीवन की सार्थकता को समझ पाता है, अथवा असुन्दर को स्वीकार कर लेने से ही सुन्दर के सभी भाव स्वयम् ही जाग्रत हो जाते हैं लेकिन मौत की हर मंज़िल को छिन-छिन पार करना अचानक मौत को स्वीकार करने से कहीं अच्छा है।

यही कारण था कि डाक्टर सन्तोषी को अपने जीवन में केवल तीन चीजें अधिक पसन्द थीं, या यूँ भी कहा जा सकता है कि डाक्टर सन्तोषी के जीवन में केवल इन्हीं तीन वस्तुओं का अधिक महत्व था। पहली चीज़ तो उनकी वह प्रयोगशाला थी जिसमें तरह-तरह के चूहों और खरगोशों को पाला गया था और जिस पर वह तरह-तरह के प्रयोग करके उनके निष्कर्षों के आधार पर आदमी और उसके व्यवहार सम्बन्धी नई खोज की वस्तुयें निकाला करते थे। दूसरी चीज़ उन्हें अपनी वह भावना प्रिय थी जिसके माध्यम से वह सौन्दर्य की गहराई में डूबना चाहते थे। सौन्दर्य उनकी भूख थी, ऐसी भूख जिसे वह प्रत्यक्ष रूप में कभी भी स्वीकार नहीं करते थे लेकिन जिसकी क्षुधा उनमें इतनी थी कि उसके लिए वह हर उस कूड़ा-करकट की टोकरी की भी छानबीन कर कर सकते थे जिसमें कण मात्र भी रस की सम्भावना नहीं होती। यही कारण था कि उनके जीवन में तीन स्थितियाँ साथ-साथ चलती थीं। पहली तो यह कि वह सौन्दर्य को तोड़-मरोड़ कर पी जाना चाहते थे। इस स्थिति में वह प्रेम करते थे, साधना करते थे और सौन्दर्य के प्रति एक

तीव्र जिज्ञासा रखते थे। दूसरी स्थिति में वह सौन्दर्य के आधार पर कुरूपता का अनुमान लगाते थे और कुरूपता में रस खोजने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम था कि वह सहसा उच्च कल्पना को कहीं इतने गहरे गर्त में ला कर छोड़ देते थे कि वह कुरूपता से भी भयंकर लगती थी, वीभत्स और भयंकर भी मालूम होती थी। तीसरी स्थिति में वह सौन्दर्य के रस को निचोड़ कर उसको अंगीकार करना चाहते थे। यह तीनों स्तिथियाँ ऐसी थीं कि जिनमें उनका बौद्धिक तर्क, उनकी भावनात्मक जिज्ञासा और निर्मम ग्रहण तीनो सम्मिलित थे।

सौन्दर्य को भूख मान कर चलने वाले वैज्ञानिक डाक्टर सन्तोषी उन समस्त भावनाओं के प्रतीक थे जिसमें बौद्धिकता के बनावटी आधार पर स्नेह, रस, गन्ध, उन्माद, भावना और स्वप्नों का ताना-बाना बुना गया था। अपने मूरु क्षणों में डाक्टर सन्तोषी ने यह अनुभव किया था और शायद काफी गहराई से अनुभव किया था कि उनके भीतर जो कुछ भी जिज्ञासा, भावना के नाम पर है वह कहीं से भी ठोस नहीं। लगता कि एक मामूली सी आवाज़ उसके खोखलेपन को ध्वनित कर देती है...यद्यपि भीतर का खालीपन इतना भयंकर है जो उनके एकाकीपन मे उनके मस्तिष्क में सूइयाँ सा चुभो देता है। लगता है यह मोटी-मोटी किताबें, यह प्रयोग, यह जिज्ञासा इनमें कोई तत्व नहीं है...सब निरर्थक हैं...तत्वहीन और सारहीन है...लेकिन जो स्थापनायें वह बना चुके थे, जो सत्य और तथ्य यह निश्चित कर चुके थे उनको काटने की क्षमता अब उनमें शेष नहीं थी, इसीलिये उनके जीवन में कहीं असंगत का इतना बड़ा अंश था कि जिससे वह स्वयम् परीशान ही नहीं भयभीत रहा करते थे।

बात जो भी हो, सत्य केवल इतना था कि डाक्टर सन्तोषी में सौन्दर्य के प्रति एक अनिश्चित भूख थी। यह जानते हुए कि सौन्दर्य केवल एक भावना है, केवल एक व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसको वस्तुवादी की भाँति अपने जेब में रख लेना चाहते थे। इस सम्बन्ध में एक घटना है जो डाक्टर सन्तोषी के इस भूख का पूर्ण चित्रण कर देती है। बात उन दिनों की है जब डाक्टर सन्तोषी प्रकृति की हर वस्तु में सुन्दरता खोज निकालने के मूड मे थे और यह मानते थे कि संसार केवल (Positive) मूल्यों पर आधारित है। बरसात के दिन थे। बारिश हो चुकी थी। डाक्टर सन्तोषी अपने नियमानुसार घूमने जा रहे थे। पानी से भरे हुए मैदानों में इकट्ठा सैकड़ों मेढको को बोलते हुए सुन कर वह रुक गये। हरे-पीले मेढकों की पंक्तियों को देख कर उनमें कुछ अजीब प्रकार की भावना जाग्रत हुई। एक साथ ही पचास मेढकों को पकड़ने की कोशिश करने लगे। मुश्किल से दस-पाँच हाथ लगे। उन सबको अपने जेब में रख कर वे जेब का मुँह पिन से बन्द कर सारा शहर घूमते

रहे। भाग्य की बात उसी दिन उन्होंने अपनी प्रयोगशाला के लिए काँच के कई पिंजड़े बनवाये थे। उन्हें बाज़ार की दूकान से प्रयोगशाला तक ले जाना था। दूकान से पिंजड़ों को लेकर जब वह घर वापस जा रहे थे तभी उन्हें दिव्या देवी मिल गयीं। उन्होंने दिव्या देवी को भी ताँगे में बैठा लिया। रास्ता काफ़ी लम्बा था, इसलिये बात छिड़ गई। इस बीच मेढकों की लगातार उछल-कूद से पिन खिसक गयी और लगातार छलाँग मार-मार कर सभी मेढक दिव्या देवी की स्थूल शरीर पर कूदने लगे। यह सब देख कर दिव्या देवी चौंक पड़ीं। कुछ इस क़दर घबराईं कि ताँगे से भी उचक पड़ीं और इस उछल-कूद में वह सरक कर नीचे जा गिरीं। ताँगे पर से मुँह के बल गिरते ही दिव्या देवी के माथे और घुटनो में जख्म आ गये। साथ ही शीशे के पिजरे भी ज़मीन पर जा गिरे, सारा का सारा सामान चकनाचूर हो गया। दिव्या देवी बीच सड़क पर गिर जाने से फफक-फफक कर रोने लगीं। डाक्टर सन्तोषी ने उन्हे किसी तरह उठाया। सड़क पर भीड़ लग गयी और एक-एक करके सभी लोगों ने देखा कि डा० सन्तोषी की बरसाती से लगातार मेढकों का झुण्ड कूदा जा रहा है, किसी के समझ में नहीं आया कि आया यह डाक्टर सन्तोषी हैं या कोई जादूगर। लेकिन दिव्या देवी ने खीझ कर कहा—

"यह बरसाती की जेब मे मेढक भर कर चलने की कौन-सी आदत है"—पहले तो डाक्टर सन्तोषी चुप रहे, फिर बोले—"अरे यह तो मैंने अपनी सौन्दर्य भावना को परिष्कृत करने के लिए किया था...उफ़...बहुत चोट लगी आप को..."

"जी हाँ...लेकिन यह मेढक कौन-सी बला है? कौन-सा सौन्दर्य है इसमें।" डा० सन्तोषी ने बड़े बलपूर्वक कहा—" मेढक! ...मेढको में वही सौन्दर्य भावना है देवी जी जो इन्द्र धनुष मे है...मुझमें है, आप में है...देखिए न... "एक मेढक की टाँग पकड़ कर उन्होंने दिव्या देवी को दिखाना शुरू किया— "यह हरी, पीली और काली, धवल धारियाँ, यह बटन होल-सी आँखें...यह आवाज़...आखिर आप इन्द्र धनुष, ऊषा और बादलो में ही वह अखण्ड सौन्दर्य क्यों देखना चाहती हैं... यह मेढक क्या कम खूबसूरत है...इनमें कम सौन्दर्य है..."

और जब डा० सन्तोषी यह बातें कर रहे थे तो दिव्या देवी का स्थूल शरीर मारे क्रोध से काँप रहा था। उनके जी में रह-रह कर आता था कि वह सन्तोषी को गाड़ी पर से ढकेल दें.. नीचे कर दें लेकिन वह सब कुछ सुनती जाती थी : खामोश और मौन।

इस प्रकार की सौन्दर्य उपासना की एक और घटना है। जिन दिनों डाक्टर सन्तोषी दिव्या देवी के साथ प्रेम साधना और सौन्दर्य साधना के साथ-साथ प्रकृति

की रहस्यात्मक जिज्ञासा को शान्त करने की चेष्टा कर रहे थे, उन दिनों कुछ अजीब हालत थी। प्रकृति की विभूतियो के प्रति उनकी जिज्ञासा एवम् कौतूहल बड़ा स्वाभाविक था। बादलों में घुल-मिल कर उड़ जाने का जी चाहता था। कोयल को आम्र मंजरियों में ढूँढने की इच्छा होती थी, लपलपाती धूप में जलते हुए रेतीले मैदानों में बिना प्रयोजन दौड़ने का जी चाहता था, यहाँ तक कि रात-रात भर जुगनुओं को दिव्या देवी के साथ बैठ कर देखते रहते थे। जुगनू की सुलगती हुई दुब-दुब करती हुई दुम को देख कर दिव्या देवी कहतीं—"जिस अनन्त और अखण्ड ज्योति का शतांश इस जुगनू को मिला है क्या तुम कभी उसकी कल्पना कर सकते हो, संतोषी। अणु-अणु में जो दिव्य आभा बिखरी हुई है...जिसके कण-कण में अनन्त सौर मण्डल नृत्य करते रहते हैं...उसी का प्रतीक है यह जुगनू जो इस अन्धकार में अपनी निखिल ज्योति को प्रसारित करके उसका परिचय देता है—"

डा० सन्तोषी उस ज्योति को घूर-घूर कर देखते रहते। उसकी सुन्दरता में डूब जाते...जी करता उसके पीछे दौड़ते जायँ...दौड़ते जायँ...शायद उस सीमा तक जहाँ वह अपनी अप्रतिभ आभा लिये दुबुक-दुबुक करता पेड़ों की फुनगियों से लेकर नाली के कीचड़ तक में बैठ जाता है। ऐसा ही हुआ। एक दिन किसी विशेष भावावेश में डा० सन्तोषी ने एक जुगनू का पीछा किया। पहले उसे घास पर पकड़ने का प्रयास किया लेकिन वह अनन्त और अखण्ड ज्योति राशि का पिण्ड मुट्ठियों में बन्द होकर भी उँगलियों की दराज़ से निकल भागा। घास पर से उड़ कर वह बेला और गुलाब के पौदों पर जा बैठा। सन्तोषी ने वहाँ भी उसे पकड़ने की कोशिश की लेकिन वह उस पर से उड़ कर फिर एक बड़ी डाल पर जा बैठा। वहाँ पर भी डा० सन्तोषी ने अपना हाथ फैलाया लेकिन वह वहाँ से भी उड़ गया और पास में लगे हुये केले के पत्ते पर जा बैठा। इस बार सन्तोषी ने उसे अपनी मुट्ठियों में अचूक रूप से पकड़ने के लिए केले के पेड़ पर चढ़ना शुरू किया लेकिन जुगनू तो जुगनू, वह प्रतिक्षण और आगे की और भागता ही गया। लेकिन अब की बार डा० सन्तोषी ने हाथ बढ़ा कर जो उसे ज़ोर से पकड़ा तो फिर धड़ाम से केले के पेड़ के तने के साथ नीचे आ गिरे। नीचे एक छोटा सा नाला था और उस नाले में डा० सन्तोषी थे, उनके ऊपर केले का मोटा पेड़ था और पेड़ों के बोझ से दबे हुए डा० सन्तोषी की मुट्ठियों में जुगनू था। डा० सन्तोषी की मुट्ठियाँ कसी थीं लेकिन उनका सिर कीचड़ में धँसा था। आँख, नाक, कान, मुँह सब कुछ उसी नाबदान में पड़ा था। लेकिन डा० सन्तोषी इस स्थिति में भी यह सोच रहे थे कि सौन्दर्य साधना के पथ में शारीरिक और मानसिक कष्ट चाहे जितना हो आत्मा के सुख की ओर सदैव ध्यान

रखना चाहिए और शायद इसीलिए वह इतना सब होने पर भी अपनी मुट्ठी खोलने का साहस नहीं करते थे, क्योकि उनके हाथ में उस अखण्ड ज्योति की किरण थी जिसके लिए वह आज वर्षों से साधना कर रहे थे। ज्यों-त्यों कर के वह वहाँ से उठे और कीचड़ से लतफत दिव्या देवी के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपनी मुट्ठी खोली और तब पता चला कि वह अनन्त ज्योति पिण्ड का शतांश न जाने कहाँ उड़ गया। निष्प्रभ, क्लान्त से वह अपने कीचड़ से सने मुखमण्डल को खोलने का प्रयास करके लगे। आँख में कीचड़ धँसा था और वह उस अनन्त ज्योति राशि को अपनी मुट्ठियों में कसे हुए थे।

डा० सन्तोषी की यह दशा देख कर पहले तो दिव्या देवी अपनी हँसी नहीं रोक सकीं लेकिन जब उन्होंने देखा कि सन्तोषी के नाक, कान और मुँह में सब जगह कीचड़ ही कीचड़ धँसा हुआ है तो फिर उन्होने अपनी साड़ी के आँचल से उनका मुखमण्डल साफ़ किया। जुगनू के उड़ जाने पर भी वह अपने को धन्य समझ रहे थे क्योंकि जो स्पर्श सुख उन्हें दिव्या देवी की गोद में मिल रहा था वह उस अखण्ड अनन्त ज्योति राशि से कहीं सुखद और रोमान्चकारी लग रहा था, जिसके लिए उन्होंने स्वयम् इतना कष्ट सहन किया था। लेकिन सहसा उन्हें याद हो आया और दिव्य ज्ञान की तरह सहसा उन्होंने अनुभव किया कि इस सूक्ष्म सौन्दर्य साधना से वह स्पर्श सुख कही अच्छा है, क्यों कि इसमें न तो दैहिक ताप है और न भौतिक। इसमें एक अनन्त सुख है जिसका रस उस सूक्ष्म तत्व से कहीं सुन्दर और कहीं अच्छा था जिसके लिए दिव्या देवी और उन्होंने अब तक का अपना जीवन बिताया था। इधर बातें हो रही थीं और उधर मुट्ठियों में पिसी हुई जुगनू की लाश डा० सन्तोषी की उँगलियों के बीच पड़ी सड़ रही थी।

लेकिन यह सारा व्यंग्य अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुँचा जब डा० सन्तोषी ने उस अखण्ड सौन्दर्य को इतना विस्तृत रूप दे दिया कि तितली, कोयल, कौआ, चूहा, बिल्ली, यहाँ तक छछून्दर तक में वह सौंदर्य की कल्पना करने लगे। इसी धुन मे उन्होने अपने घर को एक छोटा-मोटा ज़िन्दा अजायबघर बनाना चाहा। सारे बँगले के चारो ओर तार और जाली लगाये गये और उस मे यह सब जानवर पाल कर रखे जाने लगे। धीरे-धीरे सारा घर एक अजायबख़ाना बन गया। तमाम चन्दन-पुर में इसकी चर्चा होने लगी। लोग सोचने लगे क्या हुआ है इस डाक्टर को जो इस तरह का अजायबख़ाना बनवा कर तरह-तरह के जानवर इकट्ठा कर रहा है। लेकिन लोगो को इसका सार उस समय मालूम हुआ जब दिव्या देवी ने डा० सन्तोषी का साथ छोड़ दिया और सारथी ज्वाला प्रसाद के साथ रहने लगीं।

डा० सन्तोषी भी अब सौंदर्य साधना से ऊब चुके थे। अब वह सूक्ष्म सौंदर्य की अपेक्षा स्थूल सौंदर्य के सम्पर्क के क़ायल थे, उसके स्पर्श सुख को भोगना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस अजायबघर को ऐसे प्रयोगशाला के रूप में बदल दिया था जिसमें वह प्रयोग और अध्ययन तो बन्दरों और चूहों का करते थे लेकिन उसके निष्कर्ष मानव जीवन पर आरोपित करते थे। इसकी सब से बड़ी विडम्बना यह थी कि जो भी निष्कर्ष डा० सन्तोषी निकालते थे वे मान्य होते थे और लोग उन्हें स्वीकार भी करते थे।

सारी प्रयोगशाला विभिन्न भागों में विभाजित थी लेकिन डा० सन्तोषी ने अपने प्रयोग के लिए दस-बारह जोड़े चूहे और खरगोश ही बना रखे थे। रोज़ सुबह वे चूहे शीशे के पिंजड़े में बन्द करके डा० सन्तोषी के अध्ययन कक्ष में जाते थे और फिर वापस लाकर प्रयोगशाला में छोड़ दिये जाते थे। इस काम के लिए कई आदमी प्रयोगशाला में नौकर थे जिनको सैकड़ों रुपया तनख्वाह दी जाती थी। वैसे डा० सन्तोषी अगम पण्डित के पागलखाना के संचालक बन कर वहाँ आये थे लेकिन धीरे-धीरे अपने उस पागलखाने, प्रयोगशाला और वैयक्तिक खोज के आधार पर वह समस्त देश में ख्याति पा चुके थे। जहाँ कहीं भी जाते-आते थे वहाँ उनका सम्मान होता था और लोग बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे।

आहार-व्यवहार में भी सन्तोषी का अपना अलग ढंग था। मिसाल के लिए उन्हें कोई भी ठोस खाना पसन्द नहीं था। वह केवल फलों का रस पीकर ही रहते थे और रस को भी इस प्रकार पीते थे कि दाँत तक उसमें नहीं छू जाता था यानी शर्बत का गिलास उठाकर अपनी गर्दन के बीचोबीच नली में एक अटूट धार के रूप में डाल देते थे और पी जाते थे। उनका कहना था कि भोजन, खाना असुन्दर है, अनुचित है और अस्वाभाविक है। यही नहीं, वह प्रत्येक उस कार्य की निंदा करते थे जिसमें बुद्धि की अपेक्षा हाथ-पैर काम में लाये जायँ। उनका यह मत था कि संसार का सारा काम केवल बैठ कर सोचने मात्र से चल सकता है।

आगे चलकर उन्होंने एक नया सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार वह यह कहा करते थे कि आने वाले युग में संसार में केवल एक चूहे के बराबर शक्ति इन्सान के पास रह जायगी जिसे वह एक डिबिया में बन्द करके अपनी जेब में रखे रहेगा और केवल उसको सूँघकर अथवा उसके गन्ध मात्र से वह अपनी हर प्रकार की क्षुधा शान्त कर लिया करेगा क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं के भीतर केवल शक्ति ही है जो सुन्दर और असुन्दर, शोभन और अशोभन होती है। यहाँ तक कि यह कहना कि हम चलते हैं अथवा

तुम चलते हो उतना ही ग़लत है जितना कि आजकल शक्ति और सौन्दर्य की अव-हेलना करके यह कहना कि गाड़ी चलती है, पंखा चलता है, बिजली जलती है। कभी-कभी अपने उच्च कोटि के भाषण में डा० सन्तोषी यह कहा करते थे कि—वह दिन दूर नहीं है कि जब आदमी केवल उस शक्ति को पहचान कर अपनी ग़लतियाँ सुधार लेगा। वह दिन भी दूर नहीं है कि जब इन्हीं शक्तियों के आधार पर आदमी अपने भाग्य का निर्णय किया करेगा। आपस में विरोध होने पर वह अपनी-अपनी शक्ति को एक मेज पर या एक मैदान पर छोड़ देगा और वह शक्तियाँ आपस में लड़ते-लड़ते पराजित अथवा विजयी हो जाया करेंगी...और उनके जय-पराजय को स्वीकार करके आदमी अपना निर्णय आधारित कर लिया करेगा। तब यह एटम बम नहीं चलेंगे. .यह हाहाकार, भीषण हाहाकार, नहीं मचेगा...युद्ध और शान्ति का झगड़ा नहीं रहेगा। मार-काट से मुक्ति मिली रहेगी...और यह स्थिति इस बात को सिद्ध करेगी कि आदमी शारीरिक श्रम के बिना केवल शक्ति और सुन्दर की भावना पर ही जीवित रहेगा।

यों तो चन्दनपुर के निवासी डा० सन्तोषी को पागल और अर्द्ध-विक्षिप्त समझते थे लेकिन चन्दनपुर के बाहर उन्हें बड़ा विद्वान समझा जाता था। चूहों की नसलों और व्यवहारों के आधार पर उन्होंने आदमी के विषय में जो निष्कर्ष निकाले थे उससे एक तहलका मच गया था और चन्दनपुर मे लोग महज इन चूहों और खरगोशों की कलाबाजियाँ देखने के लिए सैकड़ों रुपया खर्च करके आते थे।

डाक्टर सन्तोषी का मनोविज्ञान शास्त्र में काफी नाम था लेकिन उनके आचार-विचार को देखते हुए लोग उनके व्यक्तित्व पर सन्देह करते थे, कहीं-कहीं उनको अपमानित करने की भी चेष्टा करते थे। कहते हैं चन्दनपुर में आते ही उनकी और दिव्या देवी की मूक प्रेम साधना चलती रही, साधना इसलिए कि डाक्टर सन्तोषी और दिव्या देवी दोनों ही उन दिनों प्रेम को एक साधना के रूप में स्वीकार करते थे। दिव्या देवी की कविताओं मे "प्रेम-साधना करते बीते प्रियतम मेरा सारा जीवन" गीत डाक्टर सन्तोषी को बहुत पसन्द आ गया था और यहाँ से उनका औरदिव्या देवी का सम्पर्क बढ़ना प्रारम्भ हो गया था। दोनों ही एक दूसरे के प्रेरणा स्रोत थे। मिथ्या वाद-विवाद, प्रेम की सूक्ष्मता तक पर दोनों का तर्क चलता रहता था। इसी बीच सहसा डा० सन्तोषी को ज्ञात हुआ कि प्रेम को साधना मान कर चलना मिथ्या भ्रम है और तब वह इस बात के प्रति अधिक तत्पर रहने लगे कि प्रेम का प्रायोगिक रूप स्वीकार करना ही उचित है। अत्यधिक आदर्शवादिता में पलायन-वादी प्रवृत्तियाँ निहित हैं। उनको ज्ञात हुआ कि प्रेम स्थूल है और बिना स्थूल तत्व

के मिथ्या प्रेम केवल विडम्बना है। दिव्या देवी भी इस स्थूलत्व को मानने लगी थीं लेकिन दोनों में मतभेद का कारण था : दिव्या देवी स्थूलत्व को स्वीकार करते हुए भी चाहती थीं कि संसार उन्हें प्रेम का साधक और सूक्ष्म तत्वधारी आत्मा के रूप में स्वीकार करता रहे, लेकिन डा० सन्तोषी स्थूलत्व का दर्शन सिद्धान्त लिखना चाहते थे और यही एकमात्र कारण था कि दिव्या देवी और डा० सन्तोषी का सम्बन्ध विच्छेद हो गया और एक परित्यक्ता नायिका की भाँति दिव्या देवी को सारथी ज्वाला की शरण लेनी पड़ी।

इसी स्थूलत्व की खोज में डा० सन्तोषी का एक नाटकीय विवाह भी हुआ। अपने आदर्श प्रेम के पचड़े को तिलांजलि देने का मुख्य कारण यह भी था कि डा० सन्तोषी का परिचय प्रतिभा से हो गया था। प्रतिभा उन दिनों चन्दनपुर के विख्यात सुन्दरियों में से थी। और उसका रूप उस दहकते हुए लाल लोहे के समान था जिसका अरुणाभ इस्पाती ठोसपन उन समस्त आदर्शों को जलाने के लिए पर्याप्त था जिसे डा० सन्तोषी ने अपनी दार्शनिक गुत्थियों में उलझा रखा था। सर्व प्रथम डा० संतोषी का और श्रीमती प्रतिभा का परिचय मनोविज्ञान शाला में हुआ था। प्रतिभा चन्दनपुर घूमने जसवन्त के साथ आई थी और जसवन्त मनोविज्ञान शाला देखने के लिए प्रतिभा को साथ लिवा गया था। नयी मनोविज्ञान शाला थी। कहीं लकड़ी के चौबंद घेरे में ख़रगोश बन्द थे तो कहीं लोहे की जाली मे सफेद चूहे। एक स्थान विशेष पर आकर प्रतिभा ने डाक्टर सन्तोषी से पूछा—"आप ने यहाँ इस पिंजरे में एक सफ़ेद और एक काले चूहों का जोड़ा क्यों छोड़ रखा है..."

"यह सन्तान प्रयोग है..." कहते-कहते डाक्टर सन्तोषी रुक गये।

"सन्तान प्रयोग..." प्रतिभा ने दुहराते हुए प्रश्न किया।

"जी हाँ, सन्तान प्रयोग...सन्तान जिसका बहुत कुछ माता-पिता पर निर्भर है..."

और इसके बाद डा० सन्तोषी ने बताया कि किस प्रकार काला पिता और सफेद माता अथवा काली माता और सफेद पिता की सन्तान अक्सर अपने-अपने व्यवहार मे भिन्न और पृथक् होते हैं और किस प्रकार इनके प्रेम-प्रदर्शन, भाव-व्यंजना में अन्तर पड़ जाता है। प्रतिभा ख़ामोश होकर उनका व्याख्यान सुन रही थी और जब डा० सन्तोषी ने बतलाते-बतलाते यह बतलाया कि प्रेम वास्तव में स्थूल शारीरिक भूख की एक प्रज्ञा है, तब जैसे प्रतिभा को क्रोध आ गया, लेकिन कुछ न कहकर उसने उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर दिया। जसवन्त ने मन ही मन डा० सन्तोषी की तर्कपूर्ण बातों को ध्यानपूर्वक सुना, फिर उसका सन्तुलन करते हुए बोला—

"शारीरिक भूख भी सत्य है, डाक्टर साहब।"

"भूख, भूख ही है...भूख केवल पाशविक वृत्ति है, सत्य भी है और कृत्रिम भी।"

"कृत्रिम क्यों ?"

"महज़ इसलिए कि केवल भूख के स्तर पर पहुँच कर, प्रत्येक वस्तु में विकृति आ जाती है। बाग़ के पेड़ों में लगे हुए सन्तरे छुरी से काटकर निचोड़ने से कहीं अधिक सुन्दर और स्वादिष्ट होते हैं—भूख सौन्दर्य को जीवन से निचोड़ लेती है और किसी भी वस्तु को पंजो मे लेकर मसल डालना, रौंद डालना, तोड़-मरोड़ डालना केवल कृत्रिमता है..."

जसवन्त उन दिनो नवयुवक था, डा० सन्तोषी की बातों में उसे विशेष आकर्षण मालूम हुआ। किन्तु उसे स्वीकार करते हुए भी अपनी अस्वीकार की मुद्रा बनाये रहा। प्रतिमा डा० सन्तोषी के तर्क में उतनी ही रस पा रही थी—शायद उतनी ही तीव्रानुभूति के साथ जितनी कि बाह्य रूप से उसे घृणा मालूम हो रही थी, लेकिन उसे लगता था इस जघन्य घृणा में कहीं कुछ स्नेह, मोह या आकर्षण का इतना तीव्र अंश है जिसकी अवहेलना करना उसके लिए कठिन है। दोनों ही उस रोज अधूरी बात करके वापस चले गये। रास्ते भर प्रतिभा के सामने केवल दो चित्र ही रह-रह कर आते रहे, चूहों के पिंजड़े में सफेद और काले चूहे, डा० सन्तोषी का तर्क...जसवन्त की तीखी मांसल प्रेम गाथा...जसवन्त तमाम रात केवल एक ही बात सोचता रहा—डा० सन्तोषी की बात चाहे जितनी सत्य क्यों न हो उसमें कुछ भ्रांति है, सौन्दर्य को निचोड़ना पौरुष है...सौन्दर्य को केवल देखते रहना कायरता...

जसवन्त और प्रतिभा को चन्दनपुर में रहते कई दिन बीत गये थे। बात कुछ बदलती-सी जा रही थी। प्रतिभा और सन्तोषी की घनिष्टता स्थूलत्व को प्राप्त कर रही थी। डा० सन्तोषी अब यह अनुभव करने लगे थे कि सौन्दर्य को देखने में जितना सुख और आनन्द है, उसे छूने में उससे अधिक और स्निग्धता मिल सकती है। सुबह का समय था। वह अपने घर ही पर बैठे प्रतिभा के साथ सन्तरे का रस पी रहे थे, वही सन्तरा जिसे वह वृक्ष में टँगे-टँगे सड़ने देने में अधिक सौन्दर्य समझते थे। प्रतिभा की नशीली आँखों में जैसे सारी मादकता उभरी आ रही थी, सन्तरे का रस डा० सन्तोषी को फीका लग रहा था। प्रतिमा का मुख-मण्डल उन्हें बासी गुलाब के फूल के समान लग रहा था और न जाने क्यों डाक्टर सन्तोषी को प्रतिभा की बासी गुलाब वाली मुद्रा आकर्षित कर रही थी। वह कह रहे थे—

"जसवन्त के साथ तुम्हें वापस चला जाना चाहिये था...इस प्रयोगशाला में तुम्हारा जी नहीं लगेगा ?"

"जी...लेकिन आपकी इस प्रयोगशाला में मुझे बड़ा रस मिला।"

"लेकिन जसवन्त क्या कहेगा ?"

"क्या कहेगा ? जसवन्त की और मेरी ज़िन्दगी केवल एक समझौते की है। वह फौज में भर्ती होना चाहता है। महज़ इसलिए ताकि मनुष्य का वह रूप देख सके जिसमें वह एक नंगा नाच करता है...वह मेरा पति नहीं है...मेरा मित्र भी नहीं है...शत्रु का प्रश्न भी नही उठता...वह मेरे जीवन का वह न्यूट्रल फोर्स है जिसे मैं जब चाहती हूँ अपने मतानुसार चार्ज कर लेती हूँ...और फिर उपयोग करने के बाद छोड़ देती हूँ क्योकि स्थायित्व देना एक "डिके" का लक्षण है और यही कारण है कि हम सदा नये बने रह सकते हैं...चिर नवीन...

डा० सन्तोषी अब तक रस भरा गिलास आधा पी चुके थे। उन्हें लगा प्रतिभा कोई इन्टेलेक्चूअल है। उसका तर्क भी जटिल है। उसकी प्रेरणा शक्ति में स्फूर्ति है, बल और विद्रोह भी है। कुछ तीखा लगते हुए भी डाक्टर सन्तोषी ने उसकी प्रशंसा की और बोले—

"लेकिन यदि तुम्हारा न्यूट्रल फोर्स केवल जसवन्त है, तब तो तुमने अब तक जो कुछ कहा वह ग़लत है क्योंकि पति-पत्नी को भी न्यूट्रल फोर्स के रूप में ही स्वीकार करता हूँ...यह बंधन समाज के नपुंसकों का बन्धन है...क्योंकि इसमें उदारता नहीं है...एक से बँधे रहने की ठीक वह परम्परा तुम्हारे भी तर्क में है जिसे तुम न्यूट्रल कहती हो मैं उसे पति-पत्नी का धर्म मानता हूँ।

"जी नहीं..." प्रतिभा ने तेज़ी से डा० संतोषी की बात काटते हुए कहा—"मेरी कोई सीमा नहीं है...यह लीजिये...यह मेरा हाथ है...यह शरीर है...लीजिये न...मेरा हाथ पकड़िये, देखिये तो इसमें चिकनाहट के साथ-साथ कितनी गर्मी है...ठीक उतनी ही जितनी कि बर्फ़ की सिल में...

डा० संतोषी ने प्रतिभा का हाथ पकड़ लिया। क्षण भर के लिए उन्हें लगा जैसे सौंदर्य, प्रेम, साधना मात्र नहीं है, केवल देखने से संतोष भी नहीं मिलता, केवल छू लेने से जो रसोद्रेक होता है वह भी पर्याप्त नहीं होता...सौंदर्य और प्रेम की अभिव्यक्ति केवलस्थूलत्व में है, केवल उपभोग में है...प्रेम और सौंदर्य केवल संवेदना नहीं है, वह भूख है। वहीं फ़िज़िकल भूख, वहीं चबा जाने की भूख, तोड़-मरोड़ देने की भूख...

भूख जो ज़बान से लार टपका देती है...जिसमें सूखे, नीरस जबड़े एक दूसरे से भिंच जाते हैं...दाँत कुड़मुड़ा जाते हैं...जीभ चटखने लगती है...कहते-कहते उसने उस हाथ को मुट्ठियों में कस लिया और इतने जोर से कस लिया कि उँगलियों की सारी नसें तन गईं...शुष्क हड्डियाँ चटखने लगीं...और धीरे-धीरे वह सारी संवेदना ढीली पड़ने लगी। वह आवेश एक मुर्दा लाश-सा झूलने लगा...एक निर्जीव शव के टुकड़े के समान डा० संतोषी की मुट्ठियों से छूट कर प्रतिभा का हाथ गिर पड़ा...मेज पर पड़ी शीशे की क्यूब फ़र्श पर गिर पड़ी, शीशे के दो-चार टुकड़े चमक गये...खून बहने लगा। और फर्श पर वह घूर-घूर कर चिपके हुए बेकार धब्बो को देखने लगे अपनी समस्त गम्भीरता को तोड़ते हुए प्रतिभा ने कहा—"ब्रूट...कायर...क्या हुआ तुम्हारा तर्क ? कहाँ है तुम्हारा दर्शन ? क्या हुआ तुम्हारा साहस और पुरुषार्थ..

डा० संतोषी चुप रहे। उसके पास कोई उत्तर था न... [illegible] यद वह जानते थे कि स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता की सीमा तक पहुँचते-पहुँचते नपुसक हो जाती है, जिसे वह भूख कह कर इतना कृत्रिम और निन्दनीय संज्ञा देते हैं। उसको निभाने के लिए, उसे स्वीकार करने के लिए छोटे साहस की नहीं बहुत बड़े साहस की आवश्यकता है—ऐसे साहस की जो भय, आतंक, उपेक्षा, अपवाद, अपमान को सहर्ष स्वीकार कर सके। भूख चाहे पेट की हो चाहे सौंदर्य की, चाहे प्रेम की भूख हो चाहे वासना की, अपने चरम उत्कर्ष पर मूलतः सब एक हैं...सब श्रम स्वेद से लतफत...आग और पानी से शराबोर। यही कारण था कि अपने उस पुरुषत्व की स्थापना के लिए डा० संतोषी ने सौंदर्य का उपभोग किया और भोग-उपभोग के स्थूल रसाविधान में उन्होंने उस तीखेपन का स्वाद लेना चाहा जिसका एक खास महत्व होता है जो दूसरों को बदबू-सी लगती है, कटु और अपवादयुक्त लगती है किन्तु भोगने वाला उसी का रस की परिपक्वता समझता है...उसी को आनन्द की असीमता मान लेता है।

परिणाम यह हुआ कि जो प्रतिभा की जिज्ञासा थी वही डाक्टर सन्तोषी के स्थूल रस की स्वातंत्रिभी बन गई। प्रतिभा ने अपने को सन्तोषी का आहार बना कर छोड़ दिया...शायद सिद्ध करने के लिये कि भोजन अथवा भूख की रस स्निग्धता केवल आत्मा तक ही सीमित नहीं। जो स्वाद अथवा जो साल्वा भूखे मनुष्य की ज़बान पर चाशनी की भाँति चढ़ जाता है वही आहार की स्वाभाविक प्रकृति है। उसका पृथकत्व कोई अर्थ नहीं रखता। जिसके मुँह में साल्वा बन जाता है वह चाहे दान्तों का प्रयोग करे अथवा न करे...आहार खाए या न खाए उसे रस वही मिलेगा और खाने का अपराध उसे लगेगा ही। डा० सन्तोषी अब भी सारी वस्तु-स्थिति को

स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं थे। उनके सम्मुख प्रतिभा थी, प्रतिभा का अपूर्व सौन्दर्य था...उसकी बौद्धिक सरसता थी...लेकिन इस सौन्दर्य से भी बढ़ कर, इस सरसता से भी ज्यादा प्रिय प्रतिभा का पठार जैसा पुष्ट शरीर था... रूप था...आँखों की ऊब-डूब भाषा थी...नर्म केवाँच जैसे रोये थे...वह बर्फ़ जैसा माथा था जिस पर उसके जलते ओंठ छन से नाच कर रह जाते थे...चन्दन की लेप-सी कपूरी देह की आभा थी और सन्तोषी इन सब को अनुभव करते हुए उनके सरस भावों को ग्रहण करने पर भी अतृप्त था...असन्तुष्ट था...उसे गहरे से गहरे क्षणों में अपनाने पर भी उसका पृथकत्व नहीं हटा पाता था। शायद यह अभाव दिव्या देवी के साथ प्रेम साधना के क्षणों के अभाव से भी अधिक था...ठीक वही अभाव जो साधना से पृथक सौन्दर्य के स्पर्श के बाद भी शेष था...संवेदनाओं मे भी अभुभूतियाँ तीव्र थी किन्तु उनको शान्ति नहीं मिलती थी। यह सारा रस, स्थूल और सूक्ष्म रस, स्वास्थ्य और शरीर का रस, जीवन और उत्कर्ष का रस सब का सब, सारहीन, निरर्थक और रसहीन लगता था। उन्होंने प्रतिभा के सूक्ष्म सौन्दर्य की स्थूल अभिव्यक्ति को अपने बाहों में कसना चाहा था...उसको पी लेना चाहा था लेकिन वह प्रत्येक क्षण उसके बन्धन से फिसला जाता था। ऐसे ही किसी क्षण में डा० सन्तोषी ने शादी की भी बात सोची थी और सौन्दर्य के उन तत्वों को अपनी मुट्ठियों में समेट लेना चाहा था जो बिखरे हुए पारे के समान चुटकियों को छूकर निकल जाती थी...निरर्थक, विवश...चेतनाहीन डा० सन्तोषी शायद यह नहीं जानता था कि पारा शोध कर हज़म किया जाता...सौन्दर्य को सहज रूप में अंगीकार किया जाता है, सौन्दर्य पकड़ने की चीज़ नहीं है, अनुभूति की मार्मिकता है...जिज्ञासा ही उसकी साँस है, उसकी आत्मा है।

विवाह भी कुछ अजीब ढंग से हुआ। एक रोज़ प्रतिभा और सन्तोषी ने बैठ-कर एक नियमावली के प्रकार का कान्ट्रैक्ट फार्म लिखा। डा० संतोषी ने कहा... हम विवाह के आजन्म बंधन को स्वीकार करेंगे। लेकिन यह बंधन केवल व्यावहारिक होगा...मैं शरीर की पुण्यता अथवा उसके पापमय होने की सम्भावना को नहीं स्वीकार करता...हमारा विवाह बन्धन आजीवन रहते हुए भी हमें एक दूसरे से अनि-वार्य रूप से बाध्य नहीं करेगा, और फिर यह तो संसार है...कल हो सकता है तुम्हें मुझ में कोई सुन्दरता दीख पड़े...मैं तुम में कोई सौन्दर्य न देख पाऊँ...इस-लिये अपनी रुचि के अनुसार भोग करने की स्वतंत्रता हम दोनों को होगी..."

प्रतिभा डाक्टर सन्तोषी की ओर देख कर मुस्कराई लेकिन फिर कुछ सोच कर बोली...

"यों कहिए जब हम पुरानी मशीन की तरह माडल नं० १० की चिप्पी चिपका लेंगे तो फिर एक दूसरे से अलग रहेंगे...बिल्कुल अलग, लेकिन मैं आपको पति कहूँगी...और आप भी मुझे पत्नी की संज्ञा देंगे...यही न..."

"एस...एस ? यूँ सोचो न प्रतिभा...क्या धरा है इस शरीर की पवित्रता में। प्रत्येक सुन्दर वस्तु पर एकाधिपत्य बनाये रखना कायरता है...अन्याय है। किसी भी सुन्दर फूल को तोड़ कर मैं अपने जेब में क्यों रख लूँ। यह विकृति है, केवल विकृति।"

प्रतिभा कुछ भी नहीं बोली। दूसरे दिन शादी हुई। लोगों ने समझा डाक्टर संतोषी के विचारों में परिवर्तन आ गया है। उन्होंने अपना जीवन दर्शन बदल दिया है। प्रतिभा के मित्रों ने समझा, "औरत है...ज़ात ही कमज़ोर है। और अधिक कर भी क्या सकती थी।" शादी के कुछ दिन बाद जसवन्त आया। उसको यह सूचना मिली तो कुछ भी खिन्न नहीं हुआ। वह केवल हँसता रहा। जी खोल कर हँसता रहा, फिर बोला—

"ठीक है। मैं भी कायल हूँ। संगीनों, तोपों, बारूदों के बीच मैंने जो इंसान की शक्ल देखी है वह भी कुछ कम दिलचस्प नहीं है। ...वहाँ भी आदमी सौन्दर्य की बात करता है...घायल सिपाहियों को ज़िन्दा दफनाते हुए भी धर्म की पुस्तकें पढ़ता है।"

"बिना धर्म के मौत भी तो पूरी नहीं होती।"

"मौत तो बिना इन सब झगड़े-टन्टों के भी पूरी हो जाती है। लेकिन इसको क्या करोगी, आदमी जीता है तो रस्मन और मरता है तो भी रस्मन ही मरता है। बिना रसमों के ज़िन्दगी कुछ भी नहीं है।"

"तो क्या वह सारी बग़ावत, वह सारा विद्रोह जिसके अजीर्ण में तुम पल रहे थे वह भी रस्म ही था।"

"और क्या आजकल के ज़माने में विद्रोह की बात करना, विद्रोही बनना भी एक रस्म है। ठीक उतना ही सटीक, उतना ही दुरुस्त जितना कि प्रतिक्रियावादी होना, रूढ़िवादी होना। रही तुम्हारी बात मिसेज़ सन्तोषी सो शादी कर लिया यह भी तुमने अच्छा किया। अब तुम भी रस्मन पत्नी हो, रहोगी भी। वैसे लाइसेन्सेज़ अब तुम्हारे पास शायद पहले से ज़्यादा हैं।"

प्रतिभा के कान के बुन्दे हिल रहे थे। बिजली की तीखी रोशनी बुन्दे के डाईमण्ड पर पड़ के और अधिक चमक रही थी। जूड़े में लगा हुआ फूल कुम्हला कर लटक गया था। माथे की बिन्दिया जैसे लिप-पुत गई थी। हल्की आस्मानी रंग

की साड़ी पर बैंगनी रंग का बार्डर आवश्यकता से अधिक खिल रहा था। वस्तुतः प्रतिभा का सारा शरीर उसमें डूबते-उतराते हुए उस उदास लेकिन प्रत्येक लहर को स्वीकार करते हुए फूल के समान था जो झूम कर हर आती लहर चूमता है और उसको अपने बंधन से भी आगे बढ़ा देता है। जसवन्त उस पिटे हुए मोहरे के समान था जो बिसात पर से हटाकर नीचे खड़ा कर दिया जाता है। खामोश, निष्प्रभ, गंभीर और भीतर से कुछ अधिक खिन्न। लेकिन प्रतिभा के चेहरे पर कोई शिकन नहीं था। वह दाँतों तले एक चीविंग गम दबाए बात कर रही थी। सहसा पास वाले कमरे से उठकर डाक्टर संतोषी भी उसी कमरे में आ गये। बातें और तेज़ी के साथ चलने लगीं। डाक्टर संतोषी ने कहा—

"आज कुछ सर्दी अधिक है। कमरे में हीटर लगाना पड़ेगा और यह सर्दी भी क्या चीज़ है। आदमी को कँपा देती है, लेबोरेटरी के चूहे ख़रगोश, सभी ख़ामोश पड़े हैं, जैसे जान ही नहीं है। सर्दी यानी, ठण्ढक..." कहते-कहते डाक्टर संतोषी पास वाली आराम कुर्सी पर बैठ गये। पाइप जला कर लम्बी कश खींचने लगे। जसवन्त भी ख़ामोश ही बैठा रहा। उसने सोचा डाक्टर संतोषी से कुछ अपने विषय में या आदमी के विषय में बात करने से कहीं अच्छा तो यह होगा कि चूहों और ख़रगोशों के विषय में बात की जाय। बात अभी शुरू ही होने वाली थी कि नौकर ने कहा—

"पेयर नं० ५— के चूहों ने बच्चा दिया है।"

डाक्टर संतोषी कुछ चौंक गये, बोले..."पाँच का मतलब नर काला और मादा सफेद। सम्भालो उन बच्चों को। रोशनी से हटा कर रखो, नहीं तो आँख खराब हो जायगी।"

कहते-कहते डाक्टर संतोषी फ़ौरन कुर्सी पर बैठ कर लेबोरेट्री की ओर चले गए। प्रतिभा भी वहाँ से उठकर रिकर्ड रूम में चली गई, वहाँ से उन चूहों की हिस्ट्री शीट उठा लाई। अब तक डा० संतोषी फिर वापस आ गए थे। प्रतिभा ने जो हिस्ट्री शीट सुनाई वह कुछ इस प्रकार थी—

उद्देश्य	—	सन्तान प्रयोग
नाम	—	आडम—ईव
जन्म	—	१० जनवरी—१९५३
वज़न	—	२ पाउण्ड
होलिया	—	आडम सफेद—ईव काली

स्वाभाविक प्रवृत्ति—अस्थिरता, व्यग्रता, सीखचों पर सर पटकना, दोनों में.

अनुभूति	—	रोशनी से डरने के कारण रोटी के सारे शरीर को ढँक कर रखते हैं...जब दूसरी रोटी मिलती है तब पिछली रोटी खाते है।
जिज्ञासा	—	युद्ध और रोमान्स के अनुभव।
प्रयोग	—	बुद्धि-शून्य कर दिया जाता है ताकि बुद्धि-शून्य माता-पिता की सन्तान का अध्ययन किया जा सके।

प्रयोग काल की आदत— अन्तर्द्वन्द्

निष्कर्ष —अभी प्रयोग के अन्तर्गत है।

सारा सब कुछ पढ़ने के बाद प्रतिभा ख़ामोश हो गई। जसवन्त ख़ुद डाक्टर संतोषी का अध्ययन करने लगा। सोचता क्या आदमी है यह भी। चूहों के ऊपर प्रयोग कर के आदमी के व्यवहार, उसके आचार-विचार का पता लगाना चाहता है। लेकिन बिना कुछ बोले ही उसने उस हिस्ट्री शीट को उठा कर एक बार पढ़ा, फिर उसे वहीं रख दिया। रखने के समय के हाव-भाव, मुद्रा ने डाक्टर संतोषी पर यह बात अधिक स्पष्ट और साफ़ झलका दी कि जसवन्त महज़ मज़ाक के रूप में इन सब को लेता है। डाक्टर संतोषी कुछ कहने ही वाले थे कि लेबोरेट्री के असिस्टेण्ट ने आकर फिर कहा—"चूहा नम्बर १० ने पज़ल साल्व कर लिया।"

"क्या वह रास्ता पा गया..."

"जी..."

"एक्सीलेण्ट...अच्छा उसे पज़ल नम्बर २० के घेरे में बंद कर दो...हाँ यह नोट कर लिया कि नं० १९ का पज़ल उसने कितनी देर में साल्व किया है..."

"यही १५ मिनट...२० सेकेण्ड..."

"काफी बुद्धिमान मालूम पड़ता है। इसी वक्त उसे नये पज़ल में डाल दो नहीं तो उसकी इच्छा शक्ति और सुस्त हो जायगी, स्टेमिना क़ायम रहे, तभी तो प्रयोग भी सिद्ध हो सकता है..."

असिस्टेण्ट चला गया। पीछे-पीछे डा० संतोषी, प्रतिभा और जसवंत भी वहाँ पहुँच गये। चूहा पज़ल के आख़िरी कोने पर बैठा हुआ संतरे का रस पी रहा था। जालियों से बंद दूसरे डिब्बों में चूहे, ख़रगोश सभी उछल-कूद मचाये हुए थे। डा० संतोषी ने मौनता भंग करते हुए कहा—"इसको केवल अनाज न देकर फल का रस भी दिया जाता है...महज़ इसलिए कि स्थूल और सूक्ष्म प्रधान तत्वों के आनु-

पातिक मेल का आचार-व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसका भी अध्ययन साथ-साथ चलता जाय...

"तो क्या प्रभाव पड़ा," जसवन्त ने पूछा।

"यह कि यह पेयर औरों से अच्छा है...वैसे एक पेयर को केवल रस-प्रधान तत्वों पर ही छोड़ दिया गया है लेकिन उसका परिणाम एकमात्र यह निकला है कि सूक्ष्म बुद्धि में वे सबसे बड़े तेज हैं लेकिन उनमें कोई शक्ति नहीं है..." केवल रस-प्रधान तत्व सूक्ष्मता बढ़ाते हैं। ठोसपन उनमें कुछ नहीं होता। रस में भी ठोसपन का अनुभव स्वाद बढ़ाता है..."

और यह कहते-कहते डा० संतोषी केवल व्यंग्यात्मक हँसी हँस कर रह गये। जसवंत ने भी मर्म को ग्रहण कर लिया। लेकिन कुछ भी प्रत्युत्तर देने की अपेक्षा मौन रह गया। डा० संतोषी अपने काम में व्यस्त हो गये। प्रतिभा और जसवंत लान में चले आये और टहलने लगे—

जसवंत ने कहा—"ये ताड़ के पत्ते ऐसे लगते हैं जैसे किसी भारी रैक के नीचे पिस कर चिपटा किया हुआ शरीर..." प्रतिभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। जसवंत ने फिर कहा—"और यह फूल रक्त से भरे हुए फोड़े-से लगते हैं..." प्रतिभा अब भी चुप रही। जसवंत ने फिर कहा—"और यह आकाश गंगा किसी अस्पताल में खुला हुआ बैण्डेज का बण्डल..."

"और मैं," प्रतिभा ने खीझ कर कहा।

"और तुम, टिंक्चर आईडीन की ते गन्ध वाली बोतल...और मैं...मैं वह भयंकर दर्शक हूँ जिसके सामने यह भयङ्कर आपरेशन हो रहा है...जिसको देख-कर जी में आता है इन सब चीज़ों पर थूक दूँ...अपनी आँखें बन्द कर लूँ। लेकिन सोचता हूँ देखना चाहिए। इस भयङ्करता और वीभत्स को भी देखना चाहिए।"

"ओ हो...साधुवाद...साधुवाद, कहो तो...पहाड़ घूमने चलोगे।"

"नहीं।"

"जंगल घूमने..."

"नहीं..."

"मैं भी रहूँगी...यानी सिर्फ हम तुम..

"नही..."

"चलो स्वीमिंग हो जाय..."

"नहीं..."

"तो सुनो..."

"सुनते क्यों नहीं।"

"कहो न..."

"मुझसे प्रेम करोगे...वही...वही प्रेम जिसे एक एक्के वाला करता है... कोढ़ी जो भीख माँगते हैं करते हैं...प्रेम ही तो है, वह...जो शराब पीकर गन्दी सीड़ सी लदी गलियों में चिक के पीछे स्वर ताल के साथ होता है।"

"तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है।"

"सो तो कभी का हो चुका...उसी दिन हुआ था जब तुमने मेरी गोद में अपना सिर रख कर कहा था, "मैं तुम्हारी धड़कन सुनना चाहता हूँ।" जब तुमने मेरे ओठों को अंगूर के दाने की संज्ञा देकर चबाना चाहा था।"

"और तुम..."

"और मैं क्या ? मैं ने विरोध कभी नहीं किया यही न। लेकिन फिर तुम आज विरोध क्यो करते हो ? क्यों चिढ़ते हो। खैर जाने दो। अच्छा यह तो बताओ कैसे कटे ये चार महीने।"

जसवन्त फूल तोड़ कर नोचने लगा। फ़ौजी वर्दी पर बने स्टार्स की गदराई सज्जा पर उसकी उगलियाँ अकस्मात् ही फिरने लगी। धीरे-धीरे उसकी मनः-स्थिति जैसे शान्त होने लगी। अपनी पूर्व स्थिति मे आने पर जसवन्त ने नुचे हुए फूलों को प्रतिभा के जूड़े से लगा दिया। प्रतिभा ने कोई विरोध नहीं किया। जसवन्त ने मुर्झाये हुए फूल को जूड़े से निकाल कर फेंक दिया। इस पर भी प्रतिभा कुछ नहीं बोली। जसवन्त ने फिर पूछा—"और क्या किया तुमने इन दिनों में..."

"एक ख़ास काम किया...?"

"वह क्या ?

"जिस ने भी मुझे घूर-घूर कर देखा उसको अपने घर बुला लाई। अपनी एक फोटो की प्रति उन्हें दी। एक प्याली चाय अपने हाथ से पिलाई और फिर घूर कर देखने की बदतमीज़ी पर डाँट कर वापस कर दिया।"

"डाँटा क्यो ? क्या तुम सुन्दर भी है ?"

"हाँ बहुत ज़्यादा...इतनी कि डा० सन्तोषी मेरे उभरे हुए शरीर को पठार कहता है। अलकों से पलकों तक को वह स्वर्ग मानता है। लेकिन कहता यही है, यह शरीर भाग ही सौन्दर्य का परिचय करायेगा, साधना नहीं।"

"हूँ..." जसवन्त एक बार फिर ख़ामोश हो गया। प्रतिभा घास पर बैठ गई।

हरी घास के बीचोबीच सफ़ेद घास के चकत्ते थे। जसवन्त लेटा था...प्रतिभा बैठी थी।

"और क्या किया तुमने ?

"डा० संतोषी से विवाह किया...इस समझौते पर कि हम दोनों का मात्र सौंदर्य सम्बन्ध रहेगा और उसमें उदारता यह रहेगी कि जो चाहे वह इस स्थूल रस का उपभोग करे...चाहो तो..."

"लेकिन तुम यह जानती हो न कि मैं फ़ौज़ी आदमी हूँ... मैं अधिकार देता नहीं, ले लेता हूँ।"

बात वातावरण में डूब कर रह गई। भीतर घण्टी बजी। दोनों चले गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब जसवन्त सोकर उठा तो उसका बदन टूट रहा था। भोगे हुए सौंदर्य पर जो एक दैहिक स्निग्धता पसीज जाती है उससे शराबोर प्रतिभा पास ही के सोफे पर पड़ी थी। केशों के बीच के फूल जो पिछली शाम को जसवन्त ने लगा दिये थे चकनाचूर हो कर बिखरे पड़े थे। साड़ी की सिल्वटों के बीच से वासना लिप्त अंगों की रसमसाहट खौलते हुए भाप के समान चारों ओर अज्ञात वृत्त बनाये थीं। जसवन्त तकियों को अपने हाथों में कसे पलँग पर औंधा पड़ा था। दोनों ही ख़ामोश थे जैसे उन दोनों के बीच कोई आवरण हो, कोई पर्दा या हिचकिचाहट हो—

"तो फिर क्या सोचा तुमने," प्रतिभा ने बात छेड़ते हुए कहा।

"कुछ तो नहीं...सोचना चाहता भी नहीं।"

"सच और झूठ के विषय मे भी नहीं सोचना चाहते..."

"सच क्या है इसे भी मैं क्या सोचूँ...सभी कुछ जो सच या झूठ है सापेक्ष है। फिर क्या..."

"सच-झूठ...क्या है ? सापेक्षता। सच और झूठ में...जो सच है उसे झूठ बताकर ही तो हम देखते हैं, नहीं तो जानते हो रसातिरेक में तुम्हारा सर फट जाता... तुम सहन नहीं कर सकते थे यह रस...यह भाव और यह जीवन।' आज की वेदना कल से भिन्न है। आज तुमने अपने सत्य को झूठ बना डाला है। मैं अपने सत्य पर आज भी क़ायम हूँ। तुम संतोषी से द्वेष करते हो, मैं सन्तोषी को सहानुभूति देती हूँ और वह मेरी सहानुभूति के कारण मुझे भोगने का अधिकारी है। तुम मुझे पराजित करते हो...तुम्हारी कठोरता, बर्बरता, एक दम तोड़ डालने की तुम्हारी आकांक्षा, मुझे प्रिय है, इसलिए मैं तुम्हें भोगती हूँ और...और।"

प्रतिभा यह सब बातें आवेश में ही कहे जा रही थी। जसवन्त ने उसका हाथ पकड़ लिया। कलाई को उमेठते हुए बोला, "बंद करो यह बकवास...तुम्हारी बौद्धिकता में एक रिक्तता है जो शायद बहुत भयंकर है। आवश्यकता से अधिक···"

प्रतिभा कुछ कहना चाहती थी कि सहसा चीख़ पड़ी। जसवन्त उसका हाथ उमेठ कर उसे ख़ामोश कराना चाहता था लेकिन जब वह सहसा चीख़ पड़ी तो उसने छोड़ दिया और बाहर चला गया। कहते हैं तब से प्रतिभा और जसवन्त में आजीवन बहस-मुबाहसे नहीं हुए। एक का निमन्त्रण दूसरे का आत्म-समर्पण बन कर रह जाता था।

अंजलि आज सबेरे से ही काम में व्यस्त थी। पिछली रात पार्टी के शोर-शराबा का नकशा उसके सामने रह-रह कर नाच जाता था। प्रतिभा के गम्भीर रूप, आकार-प्रकार की प्रतिछाया, श्रीमती दिव्या देवी और डा० सन्तोषी के व्यंग्य, जसवंत, उसकी मार्मिक दृढ़ता, डा० वनडोले की समय से आबद्ध याचनाएँ, ठाकुर ज्वालासिंह का सतरंगी टी शर्ट और ट्रॉपिकल पैन्ट, धूप का चश्मा और "बिस्व चेतना दिगभ्रांत दरसन" डा० संतोषी का मनोविज्ञान, महिम की राष्ट्रीय भावनायें—राजनीति, कविताएँ, इन सबका एक मिला-जुला प्रभाव पड़ रहा था। आते ही दिव्या देवी ने डा० सन्तोषी पर एक कटाक्ष किया। बोली—"सारा सब कुछ स्थूल है। रस...गन्धहीन—क्यों डाक्टर..."

डा० संतोषी ने इस व्यंग्य को पी लिया। श्रीमती दिव्या देवी ने सारथी ज्वाला प्रसाद की ओर संकेत करते हुए फिर कहा—"इसमें श्रीमती प्रतिभा संतोषी का क्या दोष है? उनके स्थूल आत्म-समर्पण से क्या होता है...डा० को तो कोई सूक्ष्म प्रणय के लिए मिली। बिचारी अंजलि की माँ...

अंजलि को अब तक की दिव्या देवी की बातें सह्य थीं लेकिन सहसा मृत-माता की स्मृति आते ही जैसे उसके आवेश की कोई सीमा ही नहीं रह गई। उसने एक बार दिव्या देवी को ऊपर से नीचे तक देखा...स्थूल... कुरूप...केवल दाँत निकाल कर वीभत्स हँसी हँसने वाली, देखने में सभ्य किंतु भीतर से विरूप, नग्न और जघन्य। अंजलि को बार-बार घूर के देखते हुए ज्वाला ड्राइवर ने कुछ और व्यंग्य किया—"क्या धरा है इस सत्य में देवी जी...आज के बिस्व में नैतिकता कहाँ है? बिस दंस देस के सैल मालाओं से लेकर सर-सरिता तक में वितरित हो रहा है। युग के

मानव के सामने यह बड़ी समस्या है। हमारे सामने ही नहीं बिस्व चेतना के सामने है...बिस्व...बिस्व..."

अंजलि "यह विश्व दर्शन" नहीं समझ पायी। दिव्या देवी तो समझ गईं कि ज्वाला कोई व्यंग्य करना चाहता है। डा० वनडोले भी समझ गये कि इसमें भी कोई रहस्य है लेकिन अंजलि इस मूर्खता से केवल यह निष्कर्ष निकाल सकी कि ज्वाला उस मूर्ख व्यक्ति का नाम है जिसके जीवन का सब से बड़ा व्यंग्य यह है कि वह स्वयम् ही एक व्यंग्य बन कर जीवित है। वह कुछ कहने ही वाली थी कि श्रीमती प्रतिभा संतोषी ने कहा—

"कहिये ठाकुर साहब मिजाज़ तो अच्छा है।"

अपना दाँत निकालते हुए ज्वाला ने कहा—"जी, सब आपकी कृपा है।"

वास्तव में दिव्या देवी और डा० संतोषी की साधन गोष्ठियाँ समाप्त हो चुकी थीं, इसलिए सारथी ज्वाला प्रसाद को जहाँ एक ओर यह सोचने का अवसर मिला कि उसने डाक्टर संतोषी को पराजित कर दिया है वहाँ दूसरी ओर डाक्टर संतोषी प्रतिभा से विवाह कर के यह सोचते थे कि उन्होंने ज्वाला और दिव्या देवी के मुँह तमाचा मारा है। ज्वाला अपने ऊपर पड़े इस व्यंग्य को स्वीकार करते हुए प्रति-शोध की भावना भी रखता था। निश्चित ही वह प्रतिभा को दिव्या देवी से अधिक सुन्दर और प्रभावशाली मानता था। प्रतिभा के सौंदर्य में एक तीखापन था जो असह्य होते हुए भी आकर्षक, और विक्षुब्ध होते हुए भी सहज ही डुबा लेता था। प्रतिभा जब भी सारथी ज्वाला प्रसाद से मिली है उसने उसका मज़ाक़ ही बनाया है लेकिन ज्वाला उसे अपना अहो भाग्य समझता रहा। अक्सर वह अपने से कहता, "आख़िर यह क्या कम है? प्रतिभा मुझे इतना स्थान तो देती है" और ज्वाला के लिए इतना ही पर्याप्त था।

पार्टी समाप्त होने के बाद जब ज्वाला और दिव्या देवी जाने लगे तब प्रतिभा ने ज्वाला को रोक लिया। अपनी मोटर से दिव्या देवी को निहारिका भेजवा दिया और स्वयम् ज्वाला के साथ बैठ कर बात करने लगी। डाक्टर संतोषी बैठे किताब पढ़ रहे थे। अंजलि बैठी-बैठी ऊन की लच्छियाँ सुलझा रही थी और प्रतिभा ज्वाला की मूर्खता को कुरेद कर मज़ा ले रही थी। बात चूहों पर चल रही थी। प्रतिभा भी चूहों पर अपना तर्क-वितर्क प्रस्तुत कर रही थी। बात के सिलसिले में प्रतिभा ने कहा—"गवर्नमेण्ट को चाहिए खाने के विषय में कुछ विशेष ध्यान दे। मैं तो कहती हूँ चोर बाज़ार वालों को सज़ा देने के पहले उन्हें वन महोत्सव की तरह "चूहा मार दिन" भी मनाना चाहिए। चूहे अनाज के दुश्मन हैं...क्यों ठाकुर ज्वाला प्रसाद जी..."

"यह तो मैं बहुत दिनों से कहता आ रहा हूँ, बात यह है प्रतिभा जी। आज का संसार घोर पतनाग्रस्त, जघन्य रौ-रौ नर्क वाला है। बिसय की गूढ़ता को कोई नहीं पकड़ता। लेकिन नहीं सासन व्यवस्था हर तरह से आदमी को ही परेसान करती है। कौन कहे इनसे, इंगलैण्ड में तो "चूहा वीक" तक मनाया जाता है। और देवी जी कहती थीं कि वेदों में भी..."

कहते-कहते ज्वाला प्रसाद की मुखाकृति उस दिव्य आभा से आलोकित प्रतीत होने लगी जिसको वह दैविक अथवा आत्मबल के नाम से पुकारता था। बात चूहों से शुरू हुई थी लेकिन चूहों तक टिक नहीं सकी और आगे बढ़ी। दाल्दा तक पहुँचते-पहुँचते ठाकुर ज्वाला प्रसाद बोले—"और प्रतिभा देवी...यह भी बिस्व की विडम्बना है कि गाँधी जी के मना करने के बावजूद भी दाल्दा खाया जाता है। यह दाल्दा भी क्या है? देवी जी कहती थी...घासलेटी घी है। सारे राष्ट्र को यह नपुंसक बनाने का षडयंत्र है। आप मानें या न मानें, सरकार चाहती है हम नपुंसक हो जायँ, तभी तो वह सासन करेगी..."

प्रतिभा ने सहसा बात मोड़ दी। दाल्दा की गर्मागर्म बात से उन्होंने प्रेम की बात छेड़ दी। ज्वाला गदगद् हो उठा। लगा जैसे वह इस के लिए उत्सुक बैठा था। छूटते ही बोला—

"प्रेम वह वस्तु है देवी जी..."

"वस्तु नहीं भाव है..." डाँटते हुए डाक्टर संतोषी ने कहा!

"भाव-ताव की बात मैं नहीं जानता। यह सब अश्लील है। क्या प्रेम कोई बिकने की चीज़ है जो उसका भाव-ताव किया जाय।

"कमरे में बैठे हुए सभी लोग हँस पड़े। ज्वाला समझा शायद उस से कोई बेवकूफ़ी हो गई हो लेकिन फिर सहसा वातावरण शांत हो गया। ज्वाला प्रसाद ने कहना प्रारम्भ कर दिया—

"देवी जी प्रेम वह दिव्य विभूति है जिसकी आभा में विश्व-चेतना विकसित हो कर आत्मा को प्रकाशमान कर देता है।"

"ईडियट!" कह कर डाक्टर संतोषी कमरे से उठकर चले गये।

"तो फिर प्रकाशमान होकर प्रेम क्या करता है?" प्रतिभा ने पूछा...

"क्या करता..." कहते-कहते ज्वाला प्रतिभा के ओर निकट चला आया... फिर उसने प्रतिभा की ओर देख कर कहा...

"पढ़ो...पढ़ो न देवी जी मेरी आँखों में क्या लिखा है!"

"पढ़ती हूँ...लिखा है तुम बड़े ईमानदार हो...सच्चे हो...अलौकिक हो..."

और बस यह कहते-कहते प्रतिभा ने और फिर कसकर एक तमाचा देते हुये बोली—
"प्रेम कड़ुआ है, तीता है... कटु है... विश्व बिडम्बना का प्रतीक है।"

ज्वाला चौंक पड़ा। उसे लगा जैसे वह थप्पड़ सहसा वज्र सा टूट पड़ा हो। अंजलि कोने मे खड़ी यह सब नाटक देख रही थी। थप्पड़ की आवाज़ सुन कर डाक्टर संतोषी ने अपने कमरे से आवाज़ दी—

"देखना तो... लेबोरेट्री में... चूहा नं० १० क्या पज़ल के बाहर जा गिरा है।"

ज्वाला झनझनाते हुए स्वरों के आरोह-अवरोह को सुन कर विस्मित हो गया। क्या कुछ उसके आँखों के सामने से नहीं गुजरा। लाल, पीले तारे... अरुण-बाण सी तीखी ज्योति रश्मियाँ... चलते-चलते डाक्टर संतोषी के वाक्य जो वास्तव में व्यंग्य नहीं थे उसे व्यंग्य के रूप में स्वीकार करने पर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसके जी में आया वह सीधे डा० संतोषी के कमरे में जाकर उसके भी गाल पर दो तमाचा लगा दे लेकिन फिर कुछ सोच कर वह वापस हो गया। ताँगा स्टार्ट किया। ताँगा की उखड़ी हुई साँस में आज भी वही वेदना थी जिसको वह वर्षों से अनुभव कर रहा था लेकिन जिसका कोई उपचार नहीं था। साथ ही साथ समस्त वातावरण से प्रतिध्वनित होती हुई एक वाणी उसके कानों की पर्तों को कुरेदे डाल रही थी और वह थी...

"कौन? ज्वाला के बारे में कहती हैं, अरे वह तो राख का पुतला है राख का।"

गियर पर गियर बदलने पर भी ज्वाला दो आवाज़ों से बचने में असमर्थ था। पहली आवाज़ उस दर्द की थी जो ताँगा के साथ सम्बद्ध थी और दूसरी आवाज़ उस वातावरण की थी जिसमें राख के पुतले की संज्ञा रह-रह कर गूँज जाती थी।

प्रतिभा के पास रूप था, यौवन और सौन्दर्य था। सहज ही आकर्षित कर लेने की शक्ति थी लेकिन उसके साथ-साथ उसमें गर्व था, आत्म-लोभ और आत्म-प्रतिष्ठा की लिप्सा थी। एक मोह का आवरण था, तीव्र अहंकार था, जिसके कारण

वह केवल रस भोगने की वास्तविकता को स्वीकार करती थी लेकिन उसमें बँधना नहीं चाहती। उसकी बौद्धिकता उस स्वतन्त्रता को नहीं मानती थी जिसमें प्रत्येक बन्धन एक विराम बन कर वह स्थित हो जाता है, जिसमें गति तो है लेकिन जिसमें नवीनता न होकर पुनरावृत्ति ही अधिक है। यही कारण था कि वह डा० सन्तोषी की बौद्धिकता को स्वीकार तो करती थी लेकिन उस बौद्धिकता में बँधना नहीं चाहती थी। डाक्टर सन्तोषी की "भूख" उनका सौन्दर्य सम्बन्धी रसातिरेक, केवल सुनने में अच्छा लगता था लेकिन जिस बन्धन में वह बँधना चाहती थी वह था जसवन्त का जिसमें भूख शान्त करने की क्षमता थी—भूख की वास्तविकता थी।

डाक्टर संतोषी को विवाह के बाद से लगने लगा कि उनके जीवन का वह ख़ालीपन जो रोज़ नये-नये प्रकार की ध्वनियाँ, नई-नई आवाज़ों का सचेत संगीत बन कर उनके मन को लहरा जाता था वह बेजान-सा हो रहा है और अब उनके जीवन में केवल एक गहरा ख़ालीपन है जिसकी पूर्ति न तो प्रतिभा कर पाती है और न उनकी प्रयोगशाला। प्रतिभा उसके बौद्धिक जीवन की उत्कण्ठा मात्र थी जो उसके मन को आन्दोलित कर देती थी...जो उसके बाहुपाशों में तड़पने मे ही सुख-शान्ति की उपेक्षा करके थोड़ी देर के लिये अपनी जिज्ञासा शान्त कर लेती थी लेकिन उस में वह रस नहीं था जिसे वह ढूँढ़ रहा था...शायद यही एक कमी उसके सम्पूर्ण जीवन में सब से बड़ा व्यंग्य बन कर छा गई थी।

इधर डा० संतोषी की चिन्तन क्रिया की क्रमबद्ध श्रृंखला में कई प्रकार की नई चिन्तायें पनपने लगी और इन सबसे बचने के लिए वह अपना अधिक से अधिक समय प्रयोगशाला में व्यतीत करने लगे। अपनी मानसिक विक्षिप्तता, असन्तोष, आन्तरिक ख़ालीपन, उदासी और विह्वलता को दूर करने के लिये वह अपने को अत्यधिक व्यस्त रखने लगे। चूहों और ख़रगोशों की कई और नसलें भी शीशे के पिंजड़े में बन्द करके प्रयोगशाला में रख ली गई। उनके आचार-विचार, व्यवहार के विषय में अध्ययन किया जाने लगा लेकिन यह सब करने पर भी सन्तोषी को आत्म-तुष्टि नहीं होती थी...भीतर का खोखलापन जैसे उसकी समस्त आत्मनिष्ठा को खाये जा रहा था। उसके समस्त व्यक्तित्व को निगले जा रहा था। कभी-कभी वह स्वयम् अपने ही से प्रश्न करता—यह प्रयोग...यह खाली प्रयोग मुझे किस सीमा पर ला के छोड़ेगा कभी-कभी उसे ऐसा लगता कि वह मानवीय संवेदनाओं की अपेक्षा चूहों और ख़रगोशों की सीमा तक ही सीमित हो गया है...आदमी से अपरिचित और अनभिज्ञ हो गया है...शायद उनकी मूल भावनाओं से बहुत दूर चला गया है...बहुत दूर...

और इसी अवकाश में प्रतिभा और डा० संतोषी के बीच तनाव भी बढ़ता जा रहा था क्योंकि प्रतिभा अब उस गिलास के छलके हुए रस के समान थी जो किसी रोगी के कँपते हुए हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ता है...अब सारा रस... सारी मधुरिमा छलक कर बह गई थी। गिलास चकनाचूर हो गया था और रोगी की समस्त क्षुधा, सारी भूख उस बिखरे हुये रस और अन्तरात्मा की विक्षुब्धता के बीच भटक रहा हो जो अप्राप्य है, अग्राह्य है और साथ ही जिसमें आत्म-निवेदन और आत्म-प्रवंचन दो में एक भी न रह गया हो जाता...केवल वह तिक्तता ही बची थी, वह कटुता ही बची थी जो हर मीठी वस्तु की तलछट में शेष रह जाती है।

शायद यह वही बची तलछट थी जिसकी कड़ुवाहट की सहन करने की शक्ति न तो प्रतिभा में थी और न डाक्टर संतोषी में। डा० संतोषी को दुनिया की मामूली-मामूली चीजें भी बहुत बड़ी मालूम पड़ती थीं यहाँ तक कि यदि किसी की आँख में किरकिरी पड़ जाय तो किरकिरी को 'ऐटम' अणु का एक लघुतम कण मान कर वह कहते 'यह तो अणु समस्या है...अणु युग का चक्कर है।' बात यहाँ भी समाप्त नहीं होती, उस किरकिरी का विश्लेषण करते-करते वह रोगी के मन, अन्तर्मन, अन्तर्मन के अन्तर्मन की तहों मे जितनी पर्तें होतीं उन पर्तों के अन्दर जितने शिकन होते उन शिकनो में, जितने टेढ़े-मेढ़े विन्दु होते, उन विन्दुओं में जितनी सम्भावनायें होतीं वह सब उधेड़-उधेड़ कर देखते, उनको जानने की कोशिश करते चाहे। इस बीच आँख की किरकिरी वाले मरीज़ की आँख ही क्यों न फूट जाये लेकिन उस किरकिरी के निकालने से बढ़कर उपयोग उस तत्व को जानने में होता जिसके कारण इतना विराट, भयङ्कर, दुष्परिणाम एक विडम्बना बन कर उसकी आँख में जा गिरता और डाक्टर संतोषी को दिमागी कसरत करने के लिये बाध्य करता। अक्सर वह कहा करता कि प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है। यदि वाह्य और स्थूल कारण नहीं मिल रहें हैं तो फिर कोई सूक्ष्म अन्तर्मन का कारण अवश्य होगा और किसी भी रोग का उपचार उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उसको समूल नष्ट करने की चेष्टा न की जाय और अपने इसी एक तथ्य के आधार पर वह निष्काम कर्म के अनुरूप अपनी प्रयोगशाला में चूहों और ख़रगोशों की दौड़-धूप देखता रहता।

सहसा एक सूझ उनके दिमाग़ में आई। उसने सोचा कि चूहों के रक्त का निरीक्षण करना चाहिये। आख़िर मनोविज्ञान की नई-नई बातें जो नित्य प्रति ही आविष्कार करके मैं सब से कहता फिरता हूँ और जब इन चूहों के आधार पर मैं आदमी के बारे में इतनी बड़ी-बड़ी बातें कह जाता हूँ तो फिर इन चूहों के रक्त

पर मनुष्य के रक्त के प्रभाव की परीक्षा भी होनी चाहिए, उसकी तुलना मनुष्य के रक्त तत्वों से भी करना चाहिए ताकि असली सिद्धांत प्रतिपादित हो सकें। उनकी असलियत जानी जा सके। और हुआ भी यही। चूहे के जितने जोड़े थे सब का रक्त निकाल-निकाल कर विभिन्न ट्यूबों में रखा गया। नर चूहों के रक्त अलग और मादा चूहों के अलग और उनका अध्ययन किया गया, उनके तत्वों का विश्लेषण भी किया गया। फिर डा० संतोषी ने अपना और प्रतिभा का भी रक्त लिया। उसका भी विश्लेषण किया और निष्कर्ष यह निकाला कि चूहों के और आदमी के रक्त में मौलिक अन्तर है...चूहों का रक्त मनुष्य के रक्त से भारी है, साथ ही साथ चूहों के रक्त में एक प्रकार के कीटाणु हैं जो प्लेग को अपनाते हैं, ग्रहण करते हैं और इसी तत्व के कारण उनका अन्धकार में पनपना ज्यादा स्वाभाविक होता है लेकिन आदमी के रक्त तत्व ज़रूरत से ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं तत्वों के आधार पर वे नपुंसक होते है, कायर होते हैं, वे ही तत्व धीरे-धीरे करके एक ऐसे भयंकर प्लेग में बदल जाते हैं जिसमें मनुष्य अपना ही रक्त चूसने लगता है...अपनी ही हत्या करने लगता है।

इन निष्कर्ष के बाद डा० संतोषी ने दो लड़ाकू चूहा-चुहियों को लिया। सोचने लगे कि यदि उनके रक्त में प्रतिभा का और स्वयम् अपना रक्त मिला दें तो परिणाम क्या होगा ? और इसके लिये जोड़ा नम्बर पाँच लिया। उसको दो-तीन दिन तक दूध-भात खिलाया और फिर एक निश्चित समय पर उनमें रक्त मिलाने को तत्पर हुये। काफ़ी सोच-विचार के बाद यह निश्चय किया कि इनमें बिल्कुल ताज़ा ख़ून इन्जेक्ट किया जाय। प्रतिभा ख़ामोश प्रयोगशाला में बैठी थी। डाक्टर संतोषी ने चूहों को निकाल कर मेज़ पर छोड़ दिया था। इन चूहों का नाम आडम और ईव था। हिस्ट्री शीट खोल कर देखा गया, पता चला कि इनको सन्तान प्रयोग के लिये सुरक्षित रखा गया था किन्तु केवल रस पर रहने के कारण इनमें खीझ आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है। सफेद आडम ईव से नफ़रत करने लगा है। इनकी अस्थिरता, व्यग्रता इतना बढ़ गई कि आक्रोश में सिवा सीखचों पर सिर पटकने के अब यह और कुछ नहीं कर पाते। कभी-कभी दोनों में द्वन्द्व होता है। यह दोनों रोशनी से डरते हैं। अब जब कभी भी इनके सामने रोटी का टुकड़ा फेंका जाता है तो यह उसे सारे शरीर में ओढ़ लेते हैं। यह युद्ध रोमान्स से बहुत कुछ अनुभव सीखना चाहते हैं किन्तु इनका अन्तर्द्वन्द्व इतना विषद है कि रोमान्स भी युद्ध में परिवर्तित हो जाता है।

इतना सब पढ़ने के बाद डा० संतोषी ने हिस्ट्री शीट का रजिस्टर बन्द कर दिया। थोड़ी देर कुछ सोचते रहे कि प्रतिभा ने कहा—"मुझे किस लिए बुलाया है ?"

"मुझे आज फिर तुम्हारा रक्त लेना है..."

"रक्त..." प्रतिभा ने दुहराया।

"हाँ...हाँ रक्त...रक्त ही तो।"

"क्या आपको मेरे रक्त पर विश्वास नहीं है..."

"रक्त पर विश्वास...क्या रक्त विश्वास करने की वस्तु है..."

"रक्त ही पर विश्वास किया जाता है।"

"हूँ...तो...तो तुम्हारा मतलब तुम...परम्परा में विश्वास करती हो·यही तो मेरा प्रयोग है...आदमी के रक्त में जानवर के रक्त में अन्तर कितना है...यही तो मैं भी जानना चाहता हूँ...खैर...मुझे ज्यादा नहीं एक पन्द्रह बीस बूंद रक्त चाहिए।"

प्रतिभा ने कोई विरोध नहीं किया। डा० संतोषी ने अपने इन्जक्शन ट्यूब में पर्याप्त रक्त ले लिया। फिर चूहों को क्लोरोफ़ार्म दे कर प्रतिभा का रक्त ईव में और अपना रक्त आडम में प्रविष्ट कर दिया। फिर दोनों को होश में लाने के बाद शीशे के पिंजड़े में एक साथ बन्द कर के छोड़ दिया। प्रयोगशाला से उठ कर बाहर लान में आ कर बैठ गया। बैठा-बैठा वह उस रक्त के धब्बे को ग़ौर से देख रहा था जो उसकी कमीज़ पर चमकीले टीके के सामान चमक रहा था। प्रतिभा भी बैठी हुई कोई किताब पढ़ रही थी। वातावरण की गम्भीरता को तोड़ते हुए डा० संतोषी ने कहा—"तुमको अपने रक्त पर बड़ा गर्व है...शायद मुझ पर भी..."

प्रतिभा ने कोई उत्तर न दिया। डा० संतोषी ने थोड़ी देर तक उत्तर की प्रतीक्षा की, फिर प्रतिभा को उकसाते हुए बोले—"लेकिन शायद तुम नहीं जानतीं, आज आदमी में वह रक्त नहीं रह गया है...उसके रक्त में केवल प्लेग के जर्म्स को पालने की क्षमता रह गई है, बस..."

प्रतिभा अब भी ख़ामोश थी। शायद वह यह जानती थी कि डा० सन्तोषी जो कुछ कह रहे हैं वह मात्र एक आवेश का उफ़ान है। वह डा० सन्तोषी को अपने से कमज़ोर आदमी मानती थी, इसीलिये वह चुपचाप सारी बातें सुन रही थी, उसका उत्तर होते हुए भी देना नहीं चाहती थी। उसका ध्यान किताब पर था...केवल किताब पर। डा० सन्तोषी फिर भी कह रहे थे—

"तुम्हारे रूप में, तुम्हारे सौन्दर्य में समस्त शरीर का संवेत प्रभाव है। उसमें रक्त से बढ़ कर संतुलन है। संतुलन से भी बढ़ कर वह सूक्ष्म आभा जो कपूर की छाया-सी तुम्हारे शरीर पर एक आवरण के रूप में मौजूद है और

जिस किसी को भी सन्दिग्ध करने की शक्ति रखती है वही तुम्हारी आकर्षण शक्ति है—प्रेम सन्दिग्धता दुविधा का ही एक रूप है।

प्रतिभा बिना उत्तर दिए ही वहाँ से उठ कर चली गई। आज पहली बार वह यह अनुभव कर रही थी कि डा० सन्तोषी एक महान मानसिक रोग से त्रस्त है... उसके दिमाग़ में कोई भयकर कीड़ा है जो दिन-रात रेंगता रहता है और जो आजीवन रेंगता रहेगा।

डा० सन्तोषी को रात भर नींद नहीं आई। वह केवल दो ही बातें सोच रहे थे। प्रथम तो यह कि आदमी के खून का असर जानवरों पर क्या पड़ता है और दूसरी यह कि वह दिन पर दिन प्रतिभा से दूर होता जा रहा है, बहुत दूर...

रात में वह कई बार अपनी चारपाई से उठ कर प्रतिभा के कमरे में गये। प्रतिभा को सोते हुए देख कर उसके माथे पर अपने कँपते हुए हाथ फेरे और फिर अपने हाथों में मुँह छिपा कर घड़ी दो घड़ी सोते रहे, अपने दिल की धड़कनों को सुनते रहे, संगीत की वह छोटी-छोटी लहरियाँ गिनता रहा जो उठ-उठकर टूट जाती थीं, बिखर जाती थीं। उन्हें लगा जैसे प्रतिभा नींद में ही कह रही थीं—

"एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब आदमी केवल लगातार प्रश्न चिह्नों की रेखा मात्र रह जाय...उसमें से उसका अस्तित्व, उसकी जिज्ञासा, उसका कौतूहल सक कुछ नष्ट हो जाय।"

"जब सब नष्ट हो जायेगा तो बचेगा क्या—डा० सन्तोषी के मुँह से अकस्मात ही यह शब्द निकल पड़े और प्रतिभा की नींद टूट गई। बचेंगे केवल वह जो जीवन की साधारणता में विश्वास करते हैं...जिनके पास केवल जीवन बिताने की समस्या है...जिनकी बुद्धि संकुचित नहीं है...जो केवल इसलिए जीते हैं क्योंकि उन्हें जीना पड़ेगा।

डाक्टर सन्तोषी फिर ख़ामोश हो गये। एक बार उन्हें फिर ऐसा मालूम हुआ जैसे वह जो कुछ कर रहे हैं वह मिथ्या है...सारहीन है। उनका अस्तित्व मनुष्य से बढ़ कर नहीं है और अब वह फिर एक नवीन द्विविधा में कुछ खिन्न सा हो गये। चुपचाप उठ कर अपने कमरे में चले गये। काफ़ी देर तक मोटी-मोटी किताबों का पन्ना उलटते रहे और उन्हीं किताबों को तकिया बनाकर सो गये केवल इस प्रतीक्षा में कि कल सुबह वह मनुष्य की रक्त शक्ति का परिणाम देखेंगे कि उन चूहों पर जो आवश्यकता से अधिक हो गये हैं उन पर आदमी के रक्त-चाप का क्या प्रभाव पड़ता है।

नींद नहीं आती थी। डा० सन्तोषी के दिमाग़ में रह-रह कर एक ही प्रश्न गूँजता रहा। एक ही समस्या समाधान पाने की चेष्टा में बार-बार पनपती रही और

वह प्रश्न था—"जब सब कुछ नष्ट हो जायेगा तो फिर बचेगा क्या ? और यह एक बहुत बड़ा प्रश्न था। रात भर बेचैनी में जब कभी वह करवट बदलते तो कमरे की ईंट-ईंट उनसे यही प्रश्न पूछती प्रतीत होती थी—यही एक प्रश्न जिसके भीतर, उसका उत्तर, उसकी समस्याओं का उत्तर, उसकी द्विविधाओं और अनास्थाओं का उत्तर भी मिलता लेकिन वह बार-बार अपना सिर झटक कर इस प्रश्न से अपना दामन छुड़ा लेता और इस निष्कर्ष पर पहुँचते थे कि सब कुछ नष्ट होने पर भी कुछ बच रहता है। हो सकता है वह केवल न्यूट्रल ही बच रहे लेकिन यह न्यूट्रल फ़ोर्स भी अपने में सम्पूर्ण है—केवल संपूर्ण।"

सुबह को जब उसकी नींद खुली तो उन्होंने देखा महिम पास ही बैठा "संवेद-नाओं" की थीसिस का पहला अध्याय लिख रहा था। अंजलि ऊन की लच्छियाँ लिए कुछ बुन रही थी। डा० सन्तोषी ने देखा कि अंजलि बार-बार सारगर्भित नेत्रों से महिम को देख कर पलकें नीची कर लेती थी। जैसे वह आशा कर रही हो कि महिम उसकी ओर ध्यान दे, कुछ उस ओर भी आकर्षित हो। जानबूझ कर या स्वभावतः अपने मन से, महिम अंजलि की ओर ध्यान नहीं दे रहा था। अपने को जागरूक अवस्था में पाकर डा० सन्तोषी ने महिम को अपने पास बुलाया और कहा—

"क्या कर रहे हो..."

"थीसिस का पहला चैप्टर लिख रहा हूँ..."

"थीसिस का विषय भी मालूम है"

"जी ? क्यों नहीं..."

"तुम्हें कुछ नहीं मालूम है। तुम्हें कुछ नहीं मालूम...तुम्हारी थीसिस भी दो कौड़ी की होगी ?"

"जी...वह क्यों..."

"वह अपने जी से पूछो..."

और डा० सन्तोषी इतनी सी बात कह कर बाहर चले गये। महिम ठिठका सा थोड़ी देर तक वहीं खड़ा रहा। उसने जितना लिखा था उसे उलट कर पढ़ने की

चेष्टा की जब दो-चार पन्ने पढ़ डाले तब अंजलि ने कहा..."संवेदना कहते किसे हैं ?"

सहसा महिम की तन्द्रा टूटी। उसने सामने देखा। एक सिकी हुए रोटी के रंग की प्रतिमा, सफेद लेकिन कुछ हल्दिया रंग से आविष्ट सुन्दर किन्तु कुछ खुरदुरी सी अंजलि सोफे पर बैठे-बैठे यह वाक्य बोल पड़ी थी। उसे लगा जैसे उसने एक मुट्ठी रेत फाँक ली हो। किरकिरा-किरकिरा-सा कुछ उसके दाँत के नीचे किरकिरा गया। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर अपने लिखे हुए चैप्टर को पढ़ने लगा। पढ़ता जा रहा था। शायद डूब कर पढ़ने की चेष्टा कर रहा था। थोड़ी देर तक मौनता छाई रही लेकिन अंजलि ने फिर कहा..."बताया नहीं आपने...संवेदना कहते किसे हैं ?

"संवेदना...संवेदना, संवेदना को कहते हैं...आप क्या करेंगी जान कर ?"

"संवेदना क्या किसी किताब का नाम है ?"

"हाँ...हाँ किताब का भी नाम हो सकता है ?"

"वैसे तो ज़िन्दगी भी एक किताब ही है। बहुत लोगों की ज़िन्दगी एक खुली किताब की तरह भी होती है। लेकिन..."

अंजलि ने ऊन की लच्छियों को उधेड़ना बंद कर दिया था। वह केवल महिम के हाव-भाव को देख रही थी। साथ ही यह भी अनुभव कर रही थी महिम उसके लगातार प्रश्नों की बौछार से घबड़ा रहा है। बात करने के लिये उसने विषय बदल दिया। महिम को सम्बोधित करते हुए उसने कहा..."कुछ अजीब बात है...इस घर का प्रत्येक आदमी एक टाइप है।"

"हर आदमी अपने में एक टाइप ही होता है।"

"वही तो...एक टाइप आप हैं, एक डाक्टर साहब हैं, एक प्रतिभा जी हैं, जो कुछ बचा-खुचा था उसे मैं ने आकर पूरा कर दिया।

"तो बुरा क्या है ?"

"बुरा तो कुछ भी नहीं है लेकिन अच्छाई के सामने बुराई ही टिकती है। और.. मैं बुरी सही।"

"मैंने आपको तो बुरा नहीं कहा..."

"नहीं कहा होगा लेकिन प्रतिभा जी कह रही थी..."

"कि आप बुरी हैं ?

"नहीं, यह तो नहीं लेकिन कहती थीं...ज़िन्दगी एक समझौता है जिसे हम जान-बूझ कर करते हैं। करते हैं तो फिर निकलने का सवाल नहीं पैदा होता...हाँ समझौते को खींचा जा सकता है। जहाँ तक खिंच जाय..."

"और क्या कह रही थीं..."

"और कहतीं क्या...उदास थीं..."

"उदास नहीं, मेलांकोली कहो। रोमांस की एक स्थिति यह भी होती है।

"रोमान्स की स्थितियाँ भी आप जानते हैं? वैसे प्रतिभा जी कह रही थीं...

"क्या..."

"यही कि रोमांस नाम की कोई चीज़ नहीं है। डा० सन्तोषी भी कह रहे थे कि रोमांस रस की भूख है। सूक्ष्म रस की...केवल रस तत्व की।

अभी यह बातचीत चल ही रही थी कि सहसा प्रतिभा कमरे में आई। अपना हाथ अंजलि को दिखाते हुये बोली—

"देखो तो...यह ज़ख्म पक आया है क्या।"

"जी हाँ..." ज़ख्म को देखते हुए अंजलि ने बताया। फिर बोली..."आख़िर यह ज़ख्म कैसे हुआ...पका कैसे?"

"कल रात सुई ग़लत लग गई...मांसपेशियों को बेध कर निकल गई है। क्या कोई ऐसी भी सुई हो सकती है जो पठार को, पत्थर को भी बेध दे?"

अंजलि ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। शायद वह सन्दर्भ से अपरिचित थी। महिम को लग रहा था कि जैसे प्रतिभा की सारी मस्ती, अस्तव्यस्तता, सारे जीवन को जैसा-तैसा प्रवाहित कर देना और फिर तेज़ गति वाले प्रवाह को जहाँ से जी चाहे वहाँ से मोड़ देने की आस्था समाप्त हो चुकी है। उसने यह भी अनुभव किया कि प्रतिभा धीरे-धीरे एक आधार ढूँढ़ने के प्रयास में है। एक स्थायित्व जो केवल दिखावा न होकर यथार्थ हो...सत्य हो, और सत्य हो चाहे न हो...सत्य लगता हो। यद्यपि वह मिसेज़ सन्तोषी ही कहलाती है और मिसेज़ में काफ़ी स्थायित्व और सत्य का भास है, फिर भी वह स्थायित्व से भी आगे जाना चाहती थी लेकिन उसे ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह ऊब जाने की शक्ति खो चुकी हो...सब शक्तियाँ समाप्त हो चुकी हों।"

"तुम दोनों क्या सोचते हो?"

"सोचने की क्या बात है? सोचते तो बूढ़े लोग हैं।"

"हाँ, वह बूढ़े लोग जो जवानी में सोचना मज़ाक़ समझते हैं। वैसे ज़िन्दगी में सोचने का बड़ा महत्व है। देखती नहीं डा० सन्तोषी ने सोच-सोच कर ही आदमी और चूहों को एक स्थिति पर ला खड़ा किया है। प्रेम की जगह इन दोनों में कामन फैक्टर प्लेग है, प्लेग के कीड़े हैं।"

सहसा दरवाज़ा खटका। नौकर ने सुबह की डाक मेज़ पर रख दी। प्रतिभा

एक-एक कर के ख़तों को उलटने लगी। उन्हीं में एक जसवन्त का भी ख़त था। काफ़ी दिनों बाद लिखा था। युद्ध का विवरण भी बड़ा भयानक था। उसने लिखा था "ऐसा लगता है आदमी के खून की कोई क़ीमत ही नहीं है, आदमी के खून की क्या बात है, स्वयम् आदमी की कोई क़ीमत नहीं है। चूहों की तरह आदमी मारे जा रहे हैं। तुम ने डी. डी. टी का प्रयोग किया होगा ? उस ज़हरीली दवा में कीड़ों को छटपटाने का मौक़ा दिया जाता है लेकिन यहाँ कहाँ मौक़ा है ? हर छटपटाती हुई लाश क्रान्तिकारी मानी जाती है, इसलिए उसे फौरन हेवी बूटों से मसल दिया जाता है।"

यह अंश प्रतिभा ज़ोर-ज़ोर से पढ़ गई। पढ़ चुकने के बाद वह महिम की ओर देखने लगी। महिम कुछ उत्तेजित था। अंजलि निष्क्रिय थी। प्रतिभा आदमी के खून और चूहों की बात में उलझ गई थी। उस ने भी अपने सामने आदमियों को मरते देखा था, ठीक उसी प्रकार...कीड़े-मकोड़ों की तरह चाहे-अनचाहे ढंग से। मनमाने तरीक़े से..."हर तड़पती हुई लाश एक क्रान्ति है" यह शब्द उसे खटक रहे थे। उसे लगता था "हर तड़पती हुई लाश आस्थाहीनता है।"

महिम सोच रहा था लाश...अंजलि के माँ की लाश...पिता की लाश... उस सारी बस्ती के लोगों की लाश जो केवल इसलिए छुरी से मारे गये क्योंकि वह आस्तिक थे और उनकी आस्तिकता औरों की आस्तिकता से भिन्न थी। उनका भगवान एक नहीं, अनेक था...वाहिद नहीं था...मुतलक़ नहीं था। रब्बुलाल्मीन न होकर दयावान था। उनकी भी लाश थी। लाश उनकी भी थी जिन्होंने किसी को मार कर रब्बुलाल्मीन की हत्या जैसा सन्तोष स्वीकार किया है, लाश उनकी भी है जो अब खुदा को, परमात्मा या परमेश्वर को बर्ख़ास्त नहीं करना चाहते। आदमी आदमी का खून बहाकर ही उसे क़ायम रखना चाहते हैं।

प्रतिभा ने कहा..."लेकिन ज़िन्दा रहने पर भी ज़िन्दगी लाश सी लग सकती है। क्योंकि लाश का तड़पाना क्रान्ति माना जायगा...क्रान्ति जो गतिशील होते हुए भी एक विराम है, ऐसा विराम जिस पर सैकड़ों मसीहा बन कर लटक जाते हैं लेकिन फिर भी दुनियाँ पुरानी होने से बाज़ नहीं आती।"

महिम को प्रतिभा की यह बात चुभ गई। उसने आवेश में कहा..."नवीनता के प्रति जागरूक रहना ही क्रान्ति है।"

"क्रान्ति की ज़रूरत भी क्या है ?" अंजलि ने प्रश्न किया।

"क्रान्ति की ज़रूरत नहीं हुआ करती...क्रान्ति हो जाती है। इसलिए कि ज़िन्दगी का ठहराव मौत है और हर वह वाक्य, हर वह साँस जो उस ठहराव के ख़िलाफ़ उभरती है वही क्रान्ति है।"

इसी वाद-विवाद में लोग उलझे थे कि सहसा डा० सन्तोषी बाहर ही से बोले..."क्रान्ति नाम का तो कोई शब्द ही नहीं है। यह केवल राजनीति का नारा है। जिज्ञासा ही क्रान्ति है। उत्सुकता ही विद्रोह है...नहीं तो बाक़ी सब भक्ति है। अन्धकार है।"

डा० सन्तोषी के आते ही प्रतिभा ने अपने ज़ख़्मों को ढक लिया। उसे अनुभव हुआ जैसे उसे बोख़ार हो आया है। वह वहाँ से उठकर दूसरे कमरे में चली गई। महिम ज़रा झिझका। सहज ही डा० सन्तोषी की बात काटने की हिम्मत नहीं हुई, लेकिन फिर हिम्मत करके बोला—"यह आस्थाहीनता है। भक्ति भी क्रान्ति है।"

"तो फिर क्रान्ति क्या है?" डा० सन्तोषी ने पूछा?

यह बहुत बड़ा प्रश्न था। महिम समझता था लेकिन कह नहीं पाता था। मन ही मन डा० सन्तोषी भी. क्रान्ति का मतलब समझते थे...उसकी अनुभूति को स्वीकार करते थे लेकिन "क्रान्ति" शब्द से वह घबरा गये थे, क्योंकि इसका कोई सार्थक रूप नहीं बन सका था। जुए के अड्डे पर बैठा हुआ जुआड़ी भी परिवार को भूखा रख कर जुआ खेलने की प्रवृत्ति को क्रांति कहता है, चोर बाजार का महाजन मोल-तोल कर के पैसा बढ़ाने मे व्यवसाय की परम्परा मे क्रांति करता है, धर्म के नाम पर युद्ध करने वाले भी अपनी नृशंसता को क्रांति कहते हैं, दिमाग़-फ़रोश पताकों के नीचे अपनी बुद्धि बेच कर क्रांति के नारे लगाते हैं...जैसे कोई कबाड़ी अपनी टूटी-फूटी मूर्ति के नीलाम में हर बढ़ती हुई बोली को क्रांति कह कर पुकारता है।"

"क्रांति वह भावना है जो..."

"क्रांति भावना नहीं है...केवल नारा है...ऐसा नारा जो परिचित आवाज़ बन कर मिट चुका है...जिसमें न शक्ति है...न सन्देश...न मुक्ति है...न सन्तोष जिसमें केवल एक लाश को ढोने की व्यग्रता है, एक ऐसी पेटेन्ट दवा है जिसे मर्ज ने हजम कर लिया है...पचा लिया है।"

डा० सन्तोषी जब यह वाक्य कह रहे थे तो दरवाजे पर कुतिया जोर-जोर से भूँक रही थी। उसकी हर आवाज़ एक विप्लव की भाँति पक्की इमारत में गूँज कर रह जाती थी। डा० सन्तोषी ने देखा सामने की लान में एक बिल्ली बैठी मुँह धो रही थी और कुतिया उसी के विरोध में भूँक रही थी। बग़ल वाले कमरे से किसी के कराहने की आवाज आ रही थी। अंजलि की तबियत इस वाद-विवाद से खीझ उठी थी। महिम की बौद्धिक चेतना के मुँह पर कस-कस के थप्पड़ पड़े थे। डा० सन्तोषी यह सब कह चुकने के बाद भी अधिक विक्षिप्त थे...कमरे की मोटी-मोटी किताबें दाँत निकाले

गिड़गिड़ा रही थीं। अंजलि प्रतिभा के कमरे में चली गई...घाव को खोल कर उसने देखा...प्रतिभा के बुखार को थर्मामीटर से नापा...बुखार तेज था...दर्द से प्रतिभा का मुँह काला पड़ गया था...जब वह दोबारा डा० सन्तोषी के कमरे में लौट कर आई तो महिम और डा० सन्तोषी दोनों ही मौन, चुपचाप बैठे थे। अंजलि ने प्रवेश करते ही कहा—

"प्रतिभा जी को बड़ा तेज बुखार है..."

"बुख़ार...क्यों ? बुखार कैसे हो गया ?"

"उनके हाथ पर एक ज़ख़्म है जो पक गया है।"

डा० सन्तोषी चुप हो गये। महिम डाक्टर बुलाने चला गया। अंजलि फिर प्रतिभा के कमरे में चली गई। उसने हीटर जला कर पानी गर्म किया और ज़ख़्म को सेंकने लगी। प्रतिभा को होश नहीं था। उसका सारा शरीर धधकती हुई अँगीठी के समान जल रहा था।

आज तीन दिन हो चुके थे। आडम और ईव को होश नहीं आया था। जिस दिन से उन दोनों को आदमी के खून का इन्जेक्शन दिया गया था वे बेहोश थे। उनकी बेहोशी की दशा में डा० सन्तोषी की कई प्रकार की चिन्तायें बढ़ गई थीं। कभी वह सोचते, "क्या आदमी के खून में इतना ज़हर है ?" लेकिन फिर उनको अपनी रक्त परीक्षा पर विश्वास हो जाता और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि उन चूहों में बेहोशी ज़हर के कारण नहीं हो सकती और चाहे जो कारण हो। जहर विक्षिप्त बना सकता है बेहोश नहीं। कभी सोचते यह सब प्रयोग ख़तरनाक है। फिर सोचते ख़तरनाक होना भी तो एक निष्कर्ष हो सकता है। फिर प्रयोग भी झूठा क्यों हुआ ? उन्होंने आडम और ईव दोनों के हृदय के पास का थोड़ा सा रक्त ले कर उसका विश्लेषण किया। उन्हें लगा कि वे प्लेग के कीटाणु जो मनुष्य के रक्त में केवल प्लेग को प्रश्रय देते हैं चूहों के रक्त में पहुँच कर प्लेग के कीड़े पैदा करने में व्यस्त हैं। उन्हें लगा जैसे आडम और ईव दोनों के रक्त में और दोनों की प्रकृति में, कोई विशाल परिवर्तन हो रहा है लेकिन इस परिवर्तन का क्या परिणाम होगा इससे वह अनभिज्ञ थे।

चौथे दिन चूहों को होश आया। अब तक प्रतिभा का घाव भी फूट चुका था। उसके भीतर का सारा खून और पस बह गया था। लोगो की राय थी कि ज़ख्म सूख रहा है लेकिन डा० सन्तोषी को इस पर विश्वास नहीं होता था। वह बार-बार यही कहते थे—"हम लोगों का खून कहीं इतना ज़हरीला तो नहीं कि उसकी पूर्ति करने के लिये जो भी नया खून बन रहा हो वह कमज़ोर पड़ रहा हो?"—एक बार क्या कई बार उनके दिमाग़ रह-रह कर यह प्रश्न उठ चुका था।

आडम और ईव के होश आने पर डा० सन्तोषी ने उन दोनों में बड़ा परिवर्तन पाया। आडम और ईव अब एक दूसरे से घृणा करते थे। घृणा ही नहीं, वह एक दूसरे को अपने से तुच्छ समझने लगे थे। उनकी आपस में लड़ने की, खीझने की, पिजरे के तीलियों पर सर पटकने की आदत में भी कमी हो गई थी। वह केवल अपना ही शरीर नोचते थे। अपने ही ऊपर खीझते थे, दाँत पीसते थे...कटकटाते थे और जब डा० सन्तोषी को या किसी भी आदमी को अपने पास देखते थे तो उस पर बार-बार हमला करते थे, बार-बार चोट करने की कोशिश करते थे। आडम और ईव जो पहले डा० सन्तोषी के इशारे पर नाचते थे उनके व्यवहार में सहसा यह परिवर्तन आश्चर्यजनक मालूम पड़ता था।

अब भी उनको फलों का रस दिया जाता था, चपातियाँ दी जाती थीं, उनकी शून्य बुद्धि को शून्य रखने के लिये ख़ास किस्म के कसरत करवाये जाते थे लेकिन अब चूहों को यह बात बहुत नीचे स्तर की मालूम पड़ती थी। फलों के रस को वे पीते नहीं थे अलबत्ता उनसे स्नान करते थे। रोटियों को वे अब ओढ़ते नहीं थे। रोशनी से बचने की कोशिश अवश्य करते थे लेकिन रोशनी से भागने के बजाय रोशनी को ही काले पर्दे में बदल देना चाहते थे। उनमें पिन-पिनाहट बहुत बढ़ गई थी। दिन-रात फुन-फुन लगाये रहते थे। उछलने-कूदने के बजाय वह एक जगह ख़ामोश बैठ कर कुछ सोचते रहते थे...

एक हफ़्ते तक लगातार देखते रहने के बाद डा० सन्तोषी उनको मुक्त करके, शीशे के पिंजड़े से अलग कर के, उनका अध्ययन करना चाहते थे। जब वे मुक्त किए गए और एक बड़े घेरे में छोड़ दिए गए तो उनकी प्रवृत्ति और भी उद्दण्ड हो गई। सबसे पहले तो उन्होंने डा० सन्तोषी के ऊपर आक्रमण किया। उनके शरीर पर कई ज़ख्म किये और उन घावों से निकले हुए रक्त को पीने की चेष्टा भी करने लगे। रक्त पी लेने के बाद उन्होंने मैदान में दौड़ना शुरू किया। अपने शरीर को अपने ही दाँतों से काटना शुरू किया और थोड़ी ही देर में लोगों ने देखा कि आडम खून से लत्त-फत्त शराबोर था। उसकी साँसें उखड़ रही थीं। उसकी आँखों के सामने

अँधेरा छा रहा था और जब आडम इस स्थिति में था, तो ईव उसके ऊपर आक्रमण करने में लगी थी, उसने उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए थे, और फिर उन मांस की बोटियों को अपने मस्तक के नीचे रख कर वह भी सो गई। उसी सुप्त अवस्था में ही वह मर भी गई।

इस घटना के बाद डा० सन्तोषी अपनी प्रयोगशाला में बैठे किसी चिन्ता मे डूबे हुए थे। चिन्ता थी इस प्रयोग के परिणाम और निष्कर्ष पर। उन तथ्यो पर जो अकस्मात ही अपने आप निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत हो उठे थे। चिन्ता थी मनुष्य और मनुष्य के रक्त की मूलभूत प्रवृत्तियो की...प्रवृत्तियाँ जो एक साधारण जीव पर घटित हुई थीं। काफ़ी डूब कर सोचने के बाद डा० सन्तोषी आडम और ईव की हिस्ट्री शीट पर अपने किए गए प्रयोग के निष्कर्षों को लिखने लगे। कई प्रकार के वाक्यों के बाद उन्होने जो निष्कर्ष लिखे थे वे इस प्रकार थे :—

पहली बात तो यह कि बौद्धिक शून्यता की स्थिति केवल कल्पना मात्र है। मनुष्य शून्य-बुद्धि होकर जीवित नहीं रह सकता। बुद्धि का विकास होता है। बुद्धि मारी नहीं जा सकती।

दूसरी चीज़ थी मनुष्य के रक्त के विषय में। उन्होंने लिखा मनुष्य के रक्त में प्लेग के कीड़ो को छिपा कर रखने की प्रवृत्ति है। उसका खून दूषित है। केवल अपने ही खून का दुश्मन है। वह अपने ही से अपना शरीर काट कर, नोच कर जर्जर बनाने मे समर्थ है लेकिन उसकी ऐसी स्थिति उस समय होती है जब वह अपने समान रक्त वाले को छोटा समझ कर उस पर आक्रमण नहीं कर पाता। हर आदमी अपनों पर हिंसात्मक आक्रमण करने के लिए स्वभावतः विवश होता है। अपनों से लेकर अपने तक में एक विशद क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला है जो टूटती है, बनती है और हत्यारे से आत्म-हत्या...आत्म-हत्या से हत्यारे तक फैली हुई है।

तीसरी बात रस-प्रधान तत्व के विषय मे थी। डा० सन्तोषी ने लिखा था रस केवल कल्पना है...स्वयम् रस भी स्थूल है... प्रत्यक्ष स्थूल...

और चौथी बात यह कि ईव की भाँति प्रत्येक नारी जिज्ञासा पुरुषत्व को तोड़ देती है और उस बिखरे हुए पुरुषत्व को ही अपने सिर का तकिया बनाती है।

इतना लिखते-लिखते डा० सन्तोषी का हाथ रुक गया। उन्होंने फिर एक और सादा काग़ज़ लिया। कुछ देर तक मौन रूप में बैठे रहे और इस मौन विराम में उनके तर्कों-वितर्कों ने उन्हें काफी लताड़ दी। लगा जैसे यह सारा निष्कर्ष, सारा प्रयोग एक जीती-जागती अनास्था है जिसमें अस्तित्व कुछ नहीं है...अपने ही से प्रश्न करने लगे...आख़िर यह जिज्ञासा आदमी को अनास्था की दिशा में क्यों ले

जाती है ? उन्हें लगा जैसे वह आस्था का सूत्र, वह अज्ञानता का विश्वास जिसमें मनुष्य और उसके उच्च महत्व को सुरक्षित रखा गया है इस प्रयोग से कहीं अच्छा है लेकिन दूसरे ही क्षण उन्हें अपनी वैज्ञानिकता पर गर्व की भावना प्रवाहित हो उठी। उन्होंने अकड़ कर, कमर सीधी करके उस अन्धेरे में टहलना शुरू किया। तमाम रात टहलता रहे। सोचते रहे। कुछ निष्कर्ष निकालते रहे, और उन निष्कर्षों पर अपने को कसते रहे।

सुबह हो चुकी थी। डाक्टर सन्तोषी ने लाइब्रेरी में प्रवेश किया। टाइप राइटिंग मशीन में एक कागज़ लगाया। कागज़ पर अलग-अलग चार पैरा लिखे :

मैं अपने सिर को बेचना चाहता हूँ। कोई भी ख़रीदार किसी भी क़ीमत पर ले सकता है, क्योंकि जब तक मैं इसे नहीं बेचूँगा तब तक मुझे नींद नहीं आयेगी, नींद जो कि लगातार जागने के बाद एक जिन्दगी देती है। लगातार जागने के बाद मैं सोना चाहता हूँ और मुझे नींद तभी आ सकती है जब मैं यह महसूस कर लूँ कि मेरा सिर और मेरा दिमाग़ मेरा अपना नहीं है...किसी दूसरे का है।

मैं अपनी प्रयोगशाला को बेच देना चाहता हूं। इसमें पाले हुये तमाम पशुओं को मुक्त नहीं कर सकता क्योंकि इनके लिये मुक्त होकर जीना असम्भव है। इनको मैं किसी आस्तिक के हाथ बेचूँगा ताकि वह इनकी रक्षा कर सके।

आदमी का ख़ून ज़हरीला होता है इसे मैं आदमी को नहीं बताऊँगा। क्योंकि यह ज़हर इतना ख़तरनाक होगा कि लोग मुझे ज़िन्दा दफ़ना देंगे। मेरे निष्कर्ष मेरे पास रहेंगे, मेरे मरने के बाद दुनिया जानेगी कि मैंने अमृत का पता लगाते-लगाते अमृत की तलछट में उस ज़हर को अपना लिया है जो अब तक उससे छिपा था... ज़हर जो अपने ही को काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े करने में समर्थ है।

मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि मैं अब ज़िन्दा रहूँ या आत्म-हत्या कर लूँ, क्योंकि मेरे लिये ज़िन्दा रहना उतना ही कठिन है जितना कि मरना।

और इतना सब लिखने के बाद डाक्टर सन्तोषी ने एक ठंडी साँस ली, ऊब कर कमरे के बाहर चले गये। जब वह उठ कर जाने लगे तो एक बार वह मुड़ कर कमरे की हर चीज़ पर आँख गड़ा-गड़ा कर देखने लगे। मोटी-मोटी किताबों के टाइ-टिल्स, कमरे में टँगी हुई दिव्या देवी की तस्वीर, प्रतिभा का बड़ा चित्र...अंजलि का फोटोग्राफ, इन सब पर वह आँख गड़ा-गड़ा कर देखते रहे। फिर वे उस खाली कुर्सी को भी देखते रहे। फिर उन्होंने उस ख़ाली कुर्सी को भी देखा जिसे वह दिव्या-देवी के यहाँ से लाये थे। वापस आकर थोड़ी देर के लिये वह उस पर बैठ गये। सामने लोहे का बौना आदमी लौह पुरुष की प्रतिमा थी, बन्दर, गीदड़ और रीछ लोहे की मूर्तियों मेज़ पर उल्टी-पुल्टी पड़ी थी। दिव्या देवी की बनाई हुई टैगोर, टाल्स्टाय, गाँधी, डा० संतोषी और ज्वाला की मूर्तियाँ भी अपनी आँखों की गहराइयाँ लिये हुये उन्हें घूर रही थीं। सहसा अपनी मूर्ति के गले पर पड़ी हुई दरार उन्होंने देखी। उसका टूटा हुआ सिर उन्हें याद आ गया। उन्होंने सोचा अपनी मूर्ति को वह तोड़ डाले लेकिन फिर न जाने क्या सोच कर उन्होंने अपना विचार बदल दिया। उन्होंने उठकर अपनी मूर्ति का सिर अपने चेस्टर की जेब में रख लिया और लाल स्याही से एक कागज़ पर उन्होंने आखिरी सन्देश लिखा...

"महिम ! लौह पुरुष और इन लोहे के खिलौनों को किसी स्टील फैक्टरी में भेज दो, ऐसी स्टील फैक्टरी में जहाँ इनका सद्उपयोग हो सके...लोहे के खिलौने गल सकें इनके बीचोबीच एक ऐसा शिगाफ़ पैदा किया जा सके कि यह किसी सदुपयोग में आ सकें...और यह ख़ाली कुर्सी मैं तुम्हें देता हूँ...ताकि तुम इस पर बैठ कर अपने विक्षिप्त क्षणों में कुछ सोच सको, कुछ विचार सको...यह मिट्टी की मूर्तियाँ यहीं रहने दो...शायद मुझे वापस आना पड़े...तो मैं इनकी आँखों की गहराइयों में डूब सकूँ... बस...अलविदा..."

और दूसरे दिन सुबह जब महिम ने प्रतिभा को यह कागज़ पढ़ कर सुनाया तो वह हँस रही थी। बार-बार इसी कागज़ को पढ़वा रही थी। महिम ने तीन-चार बार पढ़ने के बाद पूछा "आख़िर इस पत्र के पढ़वाने से क्या फ़ायदा है? डाक्टर सन्तोषी की तलाश होनी चाहिये...तलाश-तलाश"

"तलाश...लेकिन वह खोये कहाँ हैं जो उनकी तलाश की जाय..."

"आप मज़ाक कर रही हैं...कहीं उन्होंने आत्म-हत्या कर ली हो तो..."

"बस, बस...फिर मत कहना...डाक्टर सन्तोषी सब कुछ कर सकते हैं...वह आत्म-हत्या ही नहीं कर सकते..."

प्रतिभा उठ कर भीतर चली गई। उसने स्नान किया, साफ़ कपड़े पहने।

अपने ज़ख़्म पर दवा लगाई। माँग में सिंदूर भरा। माथे पर सोहाग बिन्दी लगाई और फिर महिम से बोली..."कल इस प्रयोगशाला का नीलाम होगा। किसी डुग्गी वाले को पैसे देकर इसका ऐलान कर दो...ताकि इसकी ज़्यादा से ज्यादा क़ीमत मिल सके।"

दूसरे रोज डा० सन्तोषी के प्रयोगशाला का नीलाम हो रहा था। ख़ाली कुर्सी और लोहे के खिलौने, और मिट्टी की मूर्तियाँ ही शेष बच रही थीं। डा० सन्तोषी के प्रयोगशाला के चूहे, खरगोश, गिलहरियाँ, किताबें, मेजें, कुर्सियाँ सब कुछ बेचा जा रहा था। चूहों और खरगोशों को खरीदने वाले तोल रहे थे। किताबें थोक भाव से एक कबाड़ी ने खरीद ली थीं। फर्नीचर एक नये व्यक्ति ने खरीद ली। और जब नीलाम खत्म हो गया तो कोई दो आदमी आपस में बात करते जा रहे थे। उनमें से एक कह रहा था—"पूसी इन विलायती चूहों और खरगोशों को पाकर बड़ी खुश होगी।"

"लेकिन मैंने तुम्हारे घर पर तो कोई बिल्ली नहीं देखी...फिर तुम क्या करोगे इसका।"

"हूँ...मैंने इसे अपने आफिस के लिए खरीदा है।"

"आफिस में बिल्ली ?"

"जी हाँ...मेरे आफिस में दो बिल्लियाँ पाली गई हैं। रिकार्ड रूम में चूहे इतने ज्यादा हो गये थे सारे कागज़ कुतुर-कुतुर कर खाये जा रहे थे। फिर मेरे आफिसर ने सरकार को लिखा—सरकार ने फौरन दो विलायती बिल्लियों को पालने का आदेश दिया। अख़बारों में इसकी विज्ञप्ति हुई और फिर एक सेलेक्शन बोर्ड बैठा, एक्सपर्ट बुलाये गये...बिल्लियों का इन्टरव्यू हुआ...मेडिकल टेस्ट की रिपोर्ट पढ़ी गई और तब इन बिल्लियों को १५० रु० प्रति बिल्ली फी मास के हिसाब से नौकर रखा गया...इस पाँच रुपये रोज में से तीन रुपये रोज इनको खाने के लिए दिया जाता है, १ रुपये रोज दवा के लिए, ताकि ज्यादा चूहे खा लेने से अगर बदहज़मी हो गई हो तो वह स्वयं ठीक हो सके। १ रुपये रोज उस नौकर को दिया जाता है जो रोज इनकी देखभाल करता है। दवा-दरमद करता है...नहलाता-धुलाता है...अब सब चूहे मर चुके हैं, इसलिये ४० रुपये महीने पर मैं रखा गया हूँ ताकि मैं उनके खाने की ठीक व्यवस्था कर सकूँ।"

जब वह यह कह रहा था तो पिंजड़े में बन्द तमाम चूहे और खरगोश एक साथ शोर मचा रहे थे। एक ओर क्रांति के समान उनकी चीं-चीं गूँज रही थी... और दूसरी ओर वह आदमी ख़ामोश था क्योंकि वह जानता था कि इनकी चीख महज़ इन सीखचों तक ही है, इसके बाहर इनकी आवाज न जा सकती है और न उसका कोई मतलब है। नहीं...

जिस कमरे में अभी कल रात तक चहल पहल थी तर्क-वितर्क की गुत्थियाँ थीं, अभी तक जहाँ सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में किताबें थीं, रिकर्ड्स और फाईलें थीं वही कमरा आज रात सुनसान था। शाम को एक लोहा ख़रीदने वाला कबाड़ी उन लोहे की मूर्तियों की क़ीमत लगा गया था। उनका मूल्य निश्चित करके बयाना बट्टा दे गया था। इसलिए एक अजीब उदासी और ख़ामोशी में सारा वातावरण ही डूबा हुआ था। ख़ाली कुर्सी चुपचाप ख़ामोशी की हालत में अपने जीवन के इन कटु अनुभवों को भी ग्रहण कर रही थी। मिट्टी की मूर्तियाँ उदास तो अवश्य थीं लेकिन उनके चेहरों पर न तो कोई परेशानी थी और न चिन्ता। अपनी सतत गम्भीरता में शराबोर वे आज भी ख़ामोश थीं।

रात घनी और अन्धेरी थी। कमरे में कहीं भी प्रकाश नहीं दीख पड़ता था फिर भी लोहे के खिलौने बिना एक दूसरे को देखे हुए भी बातचीत करने में व्यस्त हो गये। आज भी वह लौह पुरुष पर व्यंग्य करना नहीं भूले थे। सैम्पसन फ़ैक्टरी के ढले हुए इन्सान की क़ीमत पर आज भी उन्हें क्षोभ और आक्रोश था। आदमी के बारे में सोचने और समझने की हिम्मत भी उन्हें इसलिए हुई क्योंकि आज आदमी अपने सम्भावित मूल्यों से गिर चुका था। शायद उसका खोखलापन इतना ख़तरनाक और व्यंग्यमय नहीं था जितना कि मूल्यों से विस्थापित होने की स्थिति। सभी जानते थे कि उनको कल ही, लौह पुरुष के साथ ही किसी लोहार की धौंकनी के नीचे भट्टी में गलना है लेकिन फिर भी आज इस कमरे में वह उस पृथकत्व को स्थापित ही रखना चाहते थे जो जाने कब से शायद सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही थी।

गीदड़ ने कहा..."कहो लौह—देवता, आदमी के बारे में तुम्हारी राय अब क्या है? देख लिया न उसका खोखलापन।"

"खोखलापन नहीं, उसके भीतर का ज़हर कहो ज़हर। जिसने बे कुसूर चूहों की जान ली। उनको भी तोड़ डाला...उफ़ कितना ज़हरीला खून आदमी का होता है," बन्दर ने कहा।

"आदमी का खून ज़हरीला नहीं है दोस्त, उसका दिमाग़ जहरीला होता है। वह दिमाग़ जिसका सौवाँ और हज़ारवाँ हिस्सा भी तुम में नहीं है," अपनी कटी हुई ज़बान को ऐंठ-ऐंठ कर, प्रत्येक शब्द को चबा-चबा कर लौह पुरुष ने कहा।

"तो-तो क्या हुआ ज़हरीले दिमाग़ से बिना दिमाग़ का होना कहीं अच्छा है," धुधुआते हुए रीछ ने कहा।

"दिमाग़ के बिना तुम भी क्या बात करोगे कि रिक्षराज...दिमाग़ में दोनों पहलू होते हैं। ज़हर का भी पहलू उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि अमृत का। मनुष्य के दिमाग़ में यह दोनों पहलू साथ-साथ चलते हैं"...बात काटते हुए लौह-पुरुष ने प्रत्युत्तर दिया।

"अब भी तुमको आदमी और उसकी आलोचना असह्य है, लौह पुरुष। यह मत भूलो कि आज तुम्हारी ज़ात बिरादरी के लोग हम लोगों के स्तर की ही बात सोचते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हम लोग जिस बात को सीधे-सादे ढंग से सोचते हैं और कहते हैं आदमी उसको घुमा-फिरा कर कहता है। पेचीदा बना कर सोचता है।"

लौह-पुरुष ख़ामोश हो गया। उत्तर सोचने की कोशिश भी उसने नहीं की। थोड़ी देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करने के बाद गीदड़ ने फिर बन्दर को सम्बोधित करते हुए कहा..."क्यों मियाँ...तुम तो कहते थे कि आदमी की उत्पत्ति ही तुम से हुई है। फिर चुप क्यों हो? भई बात दरअसल तो यह है कि लगता है तुम्हारे खून में भी वह ज़हरीले तत्त्व होंगे जो आदमी में है।"

बन्दर इस एक बात से थोड़ा परीशान हो गया। उत्तर सोचने की चेष्टा में उसे पसीना सा होने लगा। कई तरह से अजीब-अजीब पैंतरे की बातें उसने सोचीं और अन्त में बोला—

"आदमी बन्दर रह कहाँ गया? वह तो कुछ और ही हो गया है, न आदमी ही है न देवता...क्या तुम लोग डा० सन्तोषी को आदमी मानते हो?"

"मानने न मानने का सवाल ही नहीं उठता। वह तो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है..."

"अधिकार ही नहीं, पहचान है," रीछ ने उत्तर दिया।

लौह-पुरुष से यह बातें नहीं सहन हुईं। कुछ खीझ कर हकलाते हुए बोला...
"तुम्हारी प्रतिक्रिया में हीनता है। तुम्हारी हीन प्रवृत्ति आदमी की महानता से आक्रांत है। यही कारण है कि तुम सदैव आदमी को अपने से नीचा दिखाने की चेष्टा करते हो।

तुम आदमी की अक़्ल का अन्दाज़ नहीं लगा सकते। अपनी अक़्ल ही के बते पर वह ग़लतियाँ भी करता है और उन्हें सुधार भी लेता है।

"सुधारता नहीं क्रान्ति करता है अपने खून को ज़हरीला बना कर क्रान्ति करता है। लेकिन शायद उसे यह नहीं मालूम कि प्रत्येक क्रान्ति एक पिछड़ी हुई चीख़ है। ऐसी चीख़ जो थक कर, खीझ कर, समस्त असमर्थता के साथ व्यक्त होती है"

रीछ की इन आवाज़ों में तेज़ाबी छींटों की सी जलाने की ताक़त थी। कमरे का समस्त वातावरण यहाँ तक कि ईंट-ईंट अपने स्थान पर चीत्कार कर उठी। बन्दर दाँत निकाल कर हँसने लगा। गीदड़ आत्म-प्रसन्न होकर अपनी दुम हिलाने लगा। लौह-पुरुष का खोखला दिमाग़ सन्नाटे में आ गया। उसके पास भावनायें थीं लेकिन उनको व्यक्त करने के शब्द नहीं थे क्योंकि क्रान्ति, विप्लव, बुद्धि, भावना से लेकर आदमी और आदमी की क़िस्मत तक के शब्द खोखले मालूम पड़ने लगे। उसने चाहा कि इन शब्दों के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे शब्दों में वह अपनी भावना व्यक्त करे लेकिन आज की स्थिति कुछ अजीब थी। प्रत्येक शब्द अपनी स्थिति से गिरा हुआ मालूम होता था और यही अवसर था कि वह चुपचाप सिर नीचे किये मौन रूप से हर बात को सुनता रहा। कभी घूर-घूर कर वह मिट्टी की मूर्तियों की ओर देखता। टैगोर, टाल्स्टाय, गान्धी की ओर याचना भरी दृष्टि से देखता लेकिन उनकी आँखों में छिपे विस्मय को देखकर वह सिर नीचा कर लेता। और इसी स्थिति में मौन रूप से सारे विष को पीकर बैठ जाता।

मुझे! ख़ाली कुर्सी की आत्मा को। इससे बढ़ कर दयनीय स्थिति देखने को नहीं मिली थी। लौह-पुरुष का एक महत्वपूर्ण अस्तित्व था। उसकी जिज्ञासा में एक ऐसा चमत्कार था जो सदैव नये शब्दों को सृजन करने की क्षमता रखता था लेकिन आज जैसे उसका सारा बल, सारी शक्ति ही नष्ट हो गई थी। उसकी आत्म-भावना को भी ठेस लगी थी और साथ ही साथ उसे एक दर्द भी अनुभव हो रहा था क्योंकि उसके दर्द में आत्म-पीड़ा से कहीं अधिक आत्म-प्रवंचना की भावना थी, ऐसी प्रवंचना जो शायद उसे नीचे ले जा रही थी। प्रत्येक तृण, कण-कण उसे अपने ऊपर व्यंग्य सा लग रहा था। लेकिन इसी बात को लेकर बन्दर ने कहा...

"तुम चुप क्यों हो गये, लौह-पुरुष...कुछ कहते क्यों नहीं।"

"कहने की कोई बात हो तब न कही जाय...ज़ात बिरादरी की बात ठहरी... और भई असलियत भी यही है, आदमी आदमी ही है। चाहे चूरन बेचने वाले की थाल में बैठा हो...या किसी पंडित की सन्दूकची पर बैठा हो...चाहे नाब्दान में पड़ा

हो या कहीं और किसी और बुरी स्थिति में हो ..आदमी आदमी ही है...हम लोगों से सदैव ही अच्छा रहेगा।"

और तब सहसा कमरे में एक बिजली सी कौंध गई...मेज़ पर पड़े हुये लोहे के खिलौनों के आगे एक चकाचौंध सी हो गई। सब के हृदय की धड़कन तेज़ गति से चलने लगी...आत्म-मन्थन की आवाज़ें अवाक् सी हो गई...वाणी जैसे पथरा सी गई...सब के सब दुबुक कर आधी जान के हो गये। सारा कमरा झनझना गया। सारी दीवालें काँपने लगी और तब सहसा एक आवाज़ उन मिट्टी की मूर्तियों से धीरे-धीरे उभर कर उठने लगी। पहले उन समस्त खिलौनो को उठाती हुई आवाज़ केवल एक गूँज सी प्रतीत हुई। उन्हे लगा जैसे आकाशवाणी के समान कोई ध्वनि कमरे की छतों से लेकर फ़र्श तक गूँज रही है...और वह आवाज़ थी...

"आदमी अपने जीवन की हर ग़लती से बड़ा है...प्रत्येक सफलता उसके सम्पूर्ण जीवन से उतनी ही छोटी है जितनी कि प्रत्येक असफलता छोटी है...आदमी का प्रत्येक प्रयोग, उसकी प्रत्येक जिज्ञासा व्यापक सत्य का एक अंश है...और व्यापक सत्य से बढ़ कर क्रान्तिकारी वस्तु कोई नहीं है क्योंकि वही जीवन है... उसको स्वीकार करना ही क्रान्ति है।"

और फिर कमरा शान्त हो गया। थोड़ी देर तक सब खामोश रहे। सब लौह-पुरुष को भयभीत दृष्टि से देखते रहे। उस आवाज़ के रहस्य को जानने की कोशिश करते रहे लेकिन जब उन्होंने उस आवाज़ की गहराई में डूबना चाहा तो उन्हें लगा कि यह आवाज़ कहीं बाहर से प्रेषित नहीं की गई है। वह स्वयम् उनके भीतरी, मन की आवाज़ थी...लेकिन फिर भी वह उस आवाज़ को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने बिना सोचे-समझे ही इस पर तर्क-वितर्क शुरू कर दिया। बन्दर ने कहा...

"यह आवाज़ जो सहसा कभी-कभी हम लोगों के मन में उठ जाती है वह "डिकेडेन्ट" है "बुर्जेवा काम्पलेक्स" है..."

"यही नहीं, लगता है हम लोग हताश, हतप्रभ हो गये हैं...हममें से प्रत्येक डिमोरेलाईज़्ड और डिजेनेरेटेड है।"

"नहीं जी यह अमरीकन डालर का ज़ोर है...याद रखो यहाँ जब तक इस डालर का ज़ोर रहेगा आदमी इसी प्रकार उल्टी-पुल्टी बातें करता रहेगा।"

लौह-पुरुष ने आज बुद्धि के साथ-साथ स्वास्थ्य-वर्द्धक घोषणाएँ कीं। अब तक जिस लौह पुरुष पर सैकड़ों व्यंग्य और कटाक्षों की बौछारें पड़ रही थीं, जिसके सामने सिवा सहन करने के और कोई चारा नहीं था, वह भी उस उठती हुई आवाज़ के

विरुद्ध हो गया। अपनी सारी दुर्गति को भूल कर वह बिना कुछ समझे, उस नारे का साथ देने लगा। खोखला व्यक्तित्व, भीतरी आवाज का मतलब ही उसके समझ में नहीं आ सका। कुछ आवेश में बोला—

"आदमी हमेशा भीतरी आवाज़ की बात करता है। यह भीतरी आवाज़ क्या है? एक मज़ाक है...मैंने आदमी को खूब नज़दीक से देखा है...जिसे वह भीतरी ठोसपन कहता है वह कुछ नहीं है, दूसरों को मूर्ख बनाने की एक कला है...क्रान्ति भीतरी आवाज़ नहीं, बाहरी परिवर्तन है। आदमी कोई देवता नहीं, हमीं लोगों की तरह जीता-जागता एक जीव है...बल्कि उस से बढ़ कर शक्तिमान मैं हूँ...वह मिट्टी का है...मैं लोहे का हूँ..."

गीदड़, बन्दर और रीछ ने संवेत रूप से लौह-पुरुष की बात पर एक ठहाका लगाया। लौह पुरुष सब व्यंग्यों को समझते हुए इस व्यंग्य को नहीं समझ सका। उसने समझा यह सब उसके समर्थन में कहा जा रहा है। उसे लगा जैसे वह अपनी बातों द्वारा आदमी की मिट्टी को एक नई चोट में ढाल रहा है..."आदमी...जिसने लौह पुरुष के लोहे का सदा अपमान किया है, उसे चूरन के थाल में रख कर उसका मज़ाक़ उड़ाया है, नाब्दान में डाल कर अपमानित किया है...हज़ारों बरस पुरानी बता कर अजायबघर में रखने की कोशिश की है वही आदमी...आदमी...आदमी।

बूढ़े रीछ ने उठ कर कहा..."कामरेड्स! आदमी की इस भीतरी आवाज़ के ख़िलाफ़ हमें मोर्चे क़ायम करने हैं...उसके विरुद्ध हमें आवाज़ उठानी है...और यह सौभाग्य की बात है कि हमारे बीच लौह पुरुष जैसा व्यक्ति मौजूद है। आने वाली घटनायें बता रही हैं कि अभी-अभी कुछ क्षणों में हमें एक कबाड़ी अपनी टोकरी में भर कर ले जायेगा...जाने किन स्थितियों में रखेगा। फिर हम लोगों को एक साथ भट्टी में डाल कर गला देगा...यद्यपि इस स्थिति से बचने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी हम को एक होकर लौह पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए, उसके स्वत्व को स्वीकार करना चाहिए।"

और अब तक रात का अंधकार मिट चुका था। रोशनी कमरे में छन-छनकर आने लगी थी। बाहर अपनी टोकरी लिए कबाड़ी खड़ा था। प्रतिभा बरामदे में उससे मोल-तोल कर रही थी, कह रही थी—"आजकल लोहे का भाव काफी मँहगा है... तुम इतने सस्ते में क्यों खरीदना चाहते हो?"

कबाड़ी कह रहा था—"कौन कहता है मेम साहब...जब से लड़ाई खत्म हुई लोहा कौड़ी सेर हो गया है...बाप-दादों से यही कबाड़ी का ही पेशा होता आया है, नहीं तो आग लगा देता इस पेशे को। हुजूर क्या है इसमें?"

प्रतिभा खामोश हो गई। थोड़ा सोच कर बोली—"तो बस इतने वज़नी लोहे के खिलौनों को इसी भाव पर ले जाओगे, कुछ तो और दो।"

"क्या कहती हैं बीबी...आप ने देखा नहीं है...कहिये तो इन खिलौनों को तोड़ कर दिखा दूँ। भीतर से इतना ज़ंग लगा होगा कि आधा लोहा चट गया होगा। खोखले तो हैं सब बीबी जी।"

प्रतिभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। कबाड़ी ने लोहे के सभी खिलौनों को उठा लिया। अपनी रद्दी अखबार वाली टोकरी से सेर-तराज़ू निकाला, तौला, प्रतिभा को वज़न बताया, पाँच सेर छः छटाँक। और एक रुपये साढ़े सात आने में सब बटोर ले गया।

ख़ामोश और गम्भीर मुद्रा में प्रतिभा मेरे ऊपर आकर बैठ गई है। देखने से लगता है जैसे उसका अंग-अंग शिथिल हो गया है। शरीर छूने से उसके तापमान का अन्दाज़ लगता है। हाथ का घाव अब भी वैसा ही है। रह-रह कर उस के शरीर में एक प्रकार का कम्पन छा जाता है। लगता है अब न तो उसे अपने ऊपर विश्वास है न उन तर्कों पर जिनको उसने सत्य मानकर अपने जीवन को इस स्थिति में छोड़ दिया था। कमरे में डा० सन्तोषी की पाली हुई कुतिया बार-बार उसकी साड़ी का छोर अपने दाँत से खींचती है लेकिन जाने क्यों वह इतनी टूटी हुई-सी है कि उसका मन न तो एक क़दम चलने को कहता है न उसकी शक्ति उसके अन्दर कोई प्रेरणा ही भर पाती है। सोचती है अंजलि का क्या होगा?...महिम का क्या होगा? जसवन्त जो उसके जीवन का न्यूक्लिअर फ़ोर्स है, क्या उसके पास अपने से जाना उचित होगा? कभी-कभी वह बिल्कुल शून्यवत हो जाती है, लेकिन फिर उठ कर बैठती है और एक सिरे से सोचना शुरू करती है। महिम का क्या होगा? अंजलि का क्या होगा? क्या जसवन्त के पास जाना उचित होगा?

इस समय डा० सन्तोषी की प्रयोगशाला में मैं अकेली हूँ। खटमल मेरी दायें हाथ की हथेली पर निकल कर बैठ गया है और अपनी खूनी आँखों से एक बार

वह फिर मेरी शुद्ध स्पाल की हड्डियों को करौंदने की चेष्टा कर रहा है। सहन शक्ति शायद मजबूरी को प्रौढ़ बना देती है। उसके अनेक प्रयासों से परिचित होने के नाते मेरे ऊपर उसके इस भयानक आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मेरे जी में आता है कि मैं इससे पूछूँ कि आदमी के रक्त के स्वाद का तुम्हारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है, लेकिन फिर हिम्मत नहीं होती, क्योंकि जो कुछ अभी-अभी मेरे आँखों के सामने घटित हुआ है वह इतना दर्दनाक है कि फिर उसको दुहराने की हिम्मत करना कठिन है। मैं चुप हूँ, और वह मेरी हड्डियों को बेधने में लगा है। इसी प्रयास में अब वह नीचे आ गिरा है। नीचे गिरकर वह चीख-चीख कर कह रहा है—

"कौन कहता है कि आदमी का खून जहर से भरा है...आदमी के खून पर जीवित रहने वाला मैं...सजीव, सचेत, सप्राण हूँ...कोई मुझसे पूछता क्यों नहीं कि आदमी का खून कैसा है...मै कहता हूँ कि आदमी का खून चाहे जितना जहरीला हो, चाहे जितना कटु हो लेकिन यह सत्य है कि यह दुनिया बिना आदमी के उस ज़हरीले तत्व के चल नहीं सकती...जिन्दा नहीं रह सकती।"

जब यह खिलौने कबाड़ी की टोकरी में पड़े-पड़े सारे शहर की परिक्रमा कर रहे थे तो उसी टोकरी मे पड़े हुए अखबार के टुकड़ों को पढ़कर लौह पुरुष अपने साथियों को सुना रहा था। खबरें कुछ अजीब थीं लेकिन सनसनीखेज़ स्थितियों में उनका एक महत्व था। ख़ासकर उस समय जब वे किसी भट्ठी में गला कर नया जन्म दिये जाने वाले थे। खबर एक महीने पुरानी थी...लौह पुरुष ने पढ़ा...

"कल रात स्थानीय अस्पताल में एक नये क़िस्म का रोगी दाख़िल हुआ है। उसके माथे से लेकर गाल तक तलवार का एक गहरा घाव है। रोगी कहता है कि उस घाव को अच्छा हुये कई महीने हो गये है लेकिन उसकी पीड़ा अभी भी शान्त नहीं हुई है। जब डाक्टर ने परीक्षा करके उसे बतलाया कि वह अस्पताल में भरती नहीं किया जा सकता तो उसने अपनी जेब से एक पिस्तौल निकालकर डाक्टर को धमकी दी। जब डाक्टर ने पूछा ऐसा करने से उसे क्या फ़ायदा होगा तब उसने बतलाया कि उसकी जन्म-पत्री में यह लिखा था कि ४५॥ वर्ष की आयु में वह एक खून करेगा। लेकिन कल से वह ४६वें वर्ष में प्रवेश करेगा और आज रात के दस बजे तक किसी का खून नहीं कर सका है। उसका यह भी कहना है कि जन्म-पत्री की कोई बात ग़लत नहीं हुई है, इसलिए यह भी बात सत्य होनी ही चाहिये। रोगी को जेल भेज दिया गया है।"

लौह पुरुष ने जब यह सूचना पढ़ कर सुनाई तो टोकरी में कुड़मुड़ाते हुये बन्दर, रीछ, गीदड़, सभी को अपनी विस्मृत स्थितियाँ याद आ गईं। स्वयम् लौह पुरुष को अपनी दुर्दशा पूर्ण रूप से आँखों के सामने नाच गई। जीवन के विभिन्न अनुभवों की संचित थाती जैसे कहीं इतनी तीखी होकर उन सब के मन में डूबी थी कि वे उसकी पैनी और आर-पार कर जाने वाली गति को सँभाल नहीं पा रहे थे। लौह पुरुष का स्प्रिंग ख़राब हो गया था, टोकरी में उसका सिलने-टुलने वाला हाथ बेकार, बेलाग सा उस से अलग रखा था नहीं तो उस ज्योतिषी की भाँति वह आज अपनी हथेली की रेखाओं को देखता, भाग्य-चक्र में विश्वास करता, उसके व्यंग्यों को तार्किक रूप से समझने की चेष्टा करता। यद्यपि सैम्सन फैक्टरी में जब लौह पुरुष और ये लोहे के खिलौने ढाले गये थे तो इन में निश्चित रेखाये थीं लेकिन समय के चक्र ने, अगम पण्डित की पूजा विधि से लेकर सारथी ज्वाला प्रसाद के पाण्डु रोग तक के विस्तार में उनकी समस्त रेखाओं को चिकना कर दिया था...आज वे इतने चिकने हो गये थे कि उन पर न तो अपनी रेखा थी और न वह रेखायें थीं जो समय अंकित करके छोड़ देता है। उनके सामने एक धधकती भट्टी के रूप में वह भविष्य था जिस में लौह पुरुष के साथ ये सब खिलौने गला दिये जाने वाले थे...इसीलिये वे उस भविष्य और अपने बीच उन हस्त रेखाओं को ढूँढ रहे थे...रेखाये जो केवल अटकाव पैदा करती हैं, उस भाव को जन्म देकर शान्त हो जाती है...और बस...

लौह पुरुष की काया यद्यपि जीते-जागते मनुष्य के सिर पर रद्दी अखबारों में दबी थी, फिर भी वह अपने भविष्य को ठीक-ठीक देखने में समर्थ था...खौलती भट्टियों का वेग, साँचे के खोखले रूप, विभाजित संस्कारों की दबोच, कटु यथार्थ का खरौंच, और...ओह...और वह सब जो अभी भविष्य के अन्तराल में सोया पड़ा था...लेकिन जो अपने आतंक से उसकी समस्त चिन्ताओं को दूर करने की क्षमता रखता था...

अधूरा आदमी और कैक्टस के फूल

"......आग, बुझी हुई आग को जेब में बन्द करके रखने की आदत मेरी नहीं है, ऐसा करना कायरता और बुज़दिली है। आग अगर रखनी है तो जलती हुई आग रखो...अगर नहीं रख सकते तो किसी से माँग लो, ज़िन्दगी मे आग की कमी नहीं है। वह तो इतनी सुलभ है कि तुम जब चाहो तब ले सकते हो। आसपास, अगल-बगल आग ही आग तो है। अगर महसूस करो तो लगेगा कि तुम खुद एक आग के पिंड में तिनके के समान जल रहे हो निरन्तर हर... घड़ी...हर खुशी और हर ग़मी में......"

पाँच साल तक अकेली डा० सन्तोषी के बन्द कमरे में पड़ी रहने के बाद सहसा एक दिन जब महिम मुझे उस बन्द कमरे से उठा कर अपने घर ले गया तो मुझे लगा जैसे बन्द जीवन में और खुले जीवन में एक मौलिक भेद है। आज मेरी स्थिति एक यादगार बन कर रह गई है। महिम की बेतरतीब ज़िन्दगी में, बेसिलसिला, बेरोज़गार ज़िन्दगी में मेरा महत्व केवल एक स्मृति के रूप में रह गया है। आदमी की बेबसी, उसकी मजबूरी कभी-कभी उसके साथ ऐसा मज़ाक कर बैठती है कि वह खुद अपनी शकल आईने में देख कर हैरान रह जाता है। डा० सन्तोषी की यादगार मेरे जीवन के अस्तित्व पर क़ायम हो सके यह भी एक प्रकार का मजाक ही है जो आदमी की ज़िन्दगी से काफ़ी मिलता है। यह भी मेरी मजबूरी ही है कि मैं न तो अपनी इस स्थिति का विरोध कर पा रही हूँ और न इसका समर्थन ही सम्भव हो पा रहा है। महिम के कमरे में पड़ी-पड़ी मैं केवल इसलिए इन उखड़ी हुई साँसों और मजबूरियों को सहन कर रही हूँ क्योंकि मेरे हटने से शायद है कि क्षण दो क्षण का वह आराम जो विक्षिप्त महिम को मेरे नजदीक बैठने से मिल जाता है वह भी समाप्त हो जाय। उसका जीवन और उसकी उलझन उसे इतना तोड़ दे कि फिर वह अपनी संतुलित जिज्ञासा को फिर उभार ही न पावे। मेरे न रहने पर कहीं ऐसा न हो कि वह पात्रों का निर्माण ही बन्द कर दे, मास्टर दादा, नवाब जैसे पात्रों का निर्माण, उनके जीवन की सारमय कहानियों का विकास, सैकड़ों, व्यंग्य और अपवाद कहीं उसे आस्थाहीन न बना दें। वह घूँसे जिन्हें वह मेरी छाती पर मार-मार कर अपने संचित आक्रोश को शान्त करता है कहीं खाली, लक्ष्यहीन होकर मर न जायँ। शराबी शायर ने भी अपने बहस के दौरान में कई घूँसे लगाये थे। एक दिन काफी बहस-

मुबाहिसे के बाद जब वह थक चुका था तो अपनी रेंकती हुई फटे बाँस की आवाज में एक अँग्रेजी कविता पढ़ने लगा था। आज चूँकि दर्द ज्यादा है, घुटन आवश्यकता से अधिक है इसलिए वह कविता रह-रह कर याद आ रही है। कविता भी इसलिए क्योंकि कविता में रोने का मतलब होता है साहित्य और पता नहीं लोगों का यह ख़्याल है कि साहित्य से अन्तरात्मा शान्त होती है...होती है या नहीं ? मैं नहीं कह सकती। हाँ इतना अवश्य होता है कि जोर-जोर से पढ़ने से दर्द का अनुभव कम हो जाता है। आज जो दर्द की बाढ़ उभड़ आई है उसको रोकने के लिए मैं फिर वही कविता पढ़ती हूँ...वही

The giant fists of the sea
Pound on the rocks like man against his fate
Crying, crying, this cannot be, this may not be !
The massed winds hurt their, their weight
Against the walls and the doors
Thrusting, thrusting like man against his fate
Raging with tears, It cannot be, it may not be.
Until exhausted
The fists open, the palms of the see be spread
The bleeding winds slump under tor and tree
And the rocks and the walls and doors
Are heard repeating through distance and through silence
Monotonously
This must be, let it be, this has to be.

लेकिन इस भाग्य को भी घूँसा तोड़ नहीं पाता। ये घूँसे बड़े ही असफल होते हैं क्योंकि इनमें लाचारगी, परीशानी, आक्रोश, आवेश और बौखलाहट के सिवा और कुछ नहीं होता। महिम के प्रत्येक घूँसे इसी असफल भाग्य की तरह होते हैं। फ़ाक़ा करके जब वह रोमान्स की कहानी लिखने बैठता है तो उसकी कृतियों से रोमान्स की भूख ही चित्रित होती है। और जब वह यथार्थवादी रोमान्स लिख चुकता है तो उस कहानी की प्रत्येक पंक्ति से भूख की भयंकर आँखें उसे घूर-घूर कर निगलने लगती है। उसके जी में आता कि उसने जो कुछ भी लिखा है उसे फाड़ कर फेंक दे, लेकिन मैं उसे किसी बहाने रोक देती थी और तब वह मजबूर होकर

अपनी भूख की आँच में दो-चार पात्रों की रचना करता, फुल्के के समान उसमें गैस भर कर खूब फूला कर काग़ज़ पर उतार देता। अजीब-अजीब नक्शे खींचता, लेकिन जब उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता तो फिर मुझ ही पर टूट पड़ता। खीझ कर अपने भाग्य की चोट की तरह मेरे ऊपर दो-चार घूँसो का प्रहार करता। मैं सहन कर लेती। सोचती बेचारा है। अगर इसके दुःख-दर्द मे मैं सहानुभूति नही प्रकट कर सकती तो कम से कम दो-चार घूँसा खाकर ही अपना योग दूँ। सोचती भूखे को और अधिक क्यों न थका दूँ। एक किनारे क्यों न लगा दूँ। लेकिन महिम भी कुछ अजीब आदमी है। वह जितना ही थकता है उतना ही तेज़ गति से लिखता है। जिस अन्तिम पात्र की रचना करके उसने लिखना बन्द कर दिया है वह भी एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है जिसके पास हर चीज़ की दवा थी। वह दवा को दवा न कह कर हिकमत कहा करता थे यहाँ तक कि वह इस हिकमत से भूख नाम के शाश्वत रोग की भी दवा बता देता था। जब कोई पूछता तो फ़ौरन कह देते..."अमाँ इसमें क्या है। पेट मे घूसा मार लो और सो जाओ..."लेकिन यह बँधी मुट्ठियाँ ये घूँसे...थपेड़ो के विकृत रूप—...थपेड़े भी ज़िन्दगी के, चोट के ..खरोंच के...कहता इन थपेड़ों को कौन नहीं सहन कर सकता। हँस कर या रोकर सहना ही पड़ता है। लहरे चट्टानों से टकराती है चूर-चूर होकर भी, बूँद-बूँद बिखर कर भी जीवन को संचालित करती रहती है। टूटती भी है तो एक नये अर्थ के लिये...यह नया अर्थ...यह जीवन...यह भूख ...यह मज़ाक़...यह पेट में घूँसा मार कर लेट जाने की बात...मुझे लगता महिम जितना ही टूटता जाता है उतना ही वह असंगत तथ्यों को सत्य मानता जाता है। लेकिन महिम से कहता यह भी कौन? वह कलाकार जो था?

जब मैं महिम की बन्द कोठरी मे पहली बार आई तो उस वातावरण का देख कर मुझे बड़ी खिन्नता हुई। लगा जैसे यह आदमी तरतीब में विश्वास नहीं करता। हर चीज़ अस्तव्यस्त, मेज़ पर धूल, चारपाई की चादर पर अजीब तरह के शिकन, किताबों से सुराही का पानी ढँका हुआ, फाइल पर लाई, चने के दाने, खिड़की, आल्मारी पर एक परत धूल, फ़र्श से सीड़ की गन्ध आती हुई सी गमक, दीवारों पर कुछ अजीब प्रकार के चित्र...किसी में हनुमान जी पहाड़ उठाये जा रहे हैं, कहीं कोई सिनेमा ऐक्ट्रेस मुँह में सिगार लिये सिग्रेट की प्रशंसा कर रही है। कहीं लक्स साबुन की टेबुलेट पर बैठी हुई कोई दूसरी ऐक्ट्रेस अपने त्वचा का रहस्य बता रही है। एक ओर उसकी निज को तस्वीर कील से खिसक कर बेड़ी हो गई है। एक दूसरी ओर एक वेस्ट पेपर बास्केट जिसमें कुछ फल रखे हुये हैं। एक केटली जिसका टूटा हुआ ढक्कन इस बात का परिचय देता है जैसे उसे कई कर्कश ठोकरों

का सामना करना पड़ा है। एक चाय की प्याली जिसमें दाढ़ी बना कर साबुन का गाझ वैसे ही छोड़ दिया गया है। पास में पड़ी एक टूटी हुई तिपाई पर कुछ बिखरे पन्नों वाली एक मोटी कापी, जिस पर लाल स्याही से केवल "अधूरा आदमी" लिख कर छोड़ दिया गया है। पैताने के नीचे एक धुँधली-धुँधली-सी तकिया जिस पर कुछ मुर्झाये हुये फूल पड़े हुये हैं और इन सबके बीच एक तस्वीर जो अँजलि की है और जिस पर इत्मीनान से नमक और हरी मिर्च रखी हुई है। मुझे लगा जैसे इन सब को मिला-जुला कर एक संकेत इस कमरे के मालिक का मिलता है। लेकिन फिर मैं चुप हो गई और अपनी संवेदनाओं को अपने तक मसोस कर रह गई।

रात हुई तो उस अँधेरे में एक बिल्ली खिड़की से कूद कर कमरे में आई। पहला टक्कर तो बिस्तर से हुआ, उससे सम्भली तो तिपाई पर आ गिरी और तिपाई की किताबें लुढ़क कर मेरे हाथों पर आ पड़ी और तब मैंने उस "अधूरे आदमी" से पूछा...

"कहीं चोट तो नहीं आई..."

"कैसी बातें करती हो बी जी...चोट और मुझको चोट ही सहते-सहते तो इस दशा को पहुँचा हूँ..."

"किस दशा को? मैं समझी नहीं।"

"अजी यही इस कमरे की दशा को..."

"क्यों बात क्या है। क्या महिम अपने कमरे की चीज़ों के साथ इतना दुर्व्यवहार करता है कि वह दुर्दशा को पहुँच जाती हैं..."

"यों ही समझिये। क्या अब भी आप को महिम के बारे में कुछ नहीं मालूम हो सका?"

"मैं क्या जानूँ...कुछ तुम्हीं कहो..."

अभी यह बात हो ही रही थी कि सहसा नीचे की गटर से दुर्गन्धपूर्ण हवा का एक झोंका कमरे में भर गया। मेरे रोंगटे खड़े हो गये। जब होश आया तो मैंने देखा अधूरे आदमी का कवर उड़ गया था और मेरे सामने एक तस्वीर थी। कोई माने न माने लेकिन यह भी एक आदमी की तस्वीर थी। लगता था जैसे कोई राहगीर किसी सन्नाटी सड़क पर सारी दुनिया को अपने से कहीं छोटा, कहीं तुच्छ मानकर, उसके चहल-पहल से विरक्त, अकेला, अविराम लेकिन मन्द गति से चला जा रहा है। उसके कन्धे पर एक बड़ा भारी लोहे का राड है जिसके भार से उसके वक्ष में उभार नहीं आ पाता। राड के सिरे पर एक ज़ंग लगी हुई टुटी-पिचकी केटली और एक मग बँधा हुआ है और दूसरे सिरे पर एक काग़ज़ी क़न्दील में टिमटिमाती रोशनी जिसकी छाया

उसके पैरों के नीचे पड़ती है और सामने केवल एक चट्टान-सा अन्धकार है। एक भारी चट्टान जिसकी सख़ती आँखों में धँसी जाती है लेकिन राहगीर स्वप्न बुनता चलता है। जब वह थक जाता है तो अपने कन्धों पर लदी हुई मोटी राड को सहलाता है। पिछले सिरे पर लटकती हुई ख़ाली ठंडी केटली की ओर देखता है, पैरों के नीचे पड़ी हुई रोशनी में बनते बिगड़ते उदास फूलों को देखता है। लगता है उसकी नज़रों मे प्यास है, मन में विकलता है, मिज़ाज में उतावलापन है, दृष्टि में तेज़ी है, लेकिन लौह भार से उसके कन्धे धसकते जा रहे है, रीढ़ की हड्डियाँ झुकी जा रही हैं, मस्तिष्क केटली के गर्म पानी की तरह उबल रहा है उसकी भाफ, उसकी समस्त ऊष्णता उसका मस्तिष्क तोड़ कर निकल जाना चाहती है। लेकिन वह सब कुछ पिये जा रहा है क्योंकि यदि वह उस उबाल को अपने मस्तिष्क से निकाल दे तो उसके पास बचेगा क्या ? केवल झुके हुये कन्धे, टूटी हुई रीढ़ और ख़ाली दिमाग़ ...केवल ख़ाली दिमाग़।

मैं उसी चित्र को देखने में डूबी थी कि अधूरे आदमी ने पूछा...

"देख लिया ? मेरे अन्तर की सैकड़ों पर्तों को तुमने देख लिया..."

"लेकिन यह सब क्या है ? क्या तुम महिम को यही समझते हो...इसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं है। क्या यही आदमी की तस्वीर है ?"

"महिम की बात मत पूछो...वह जब कभी भी आदमी के बारे में बात करता है तो वह सैकड़ों तरीके से इसी एक तस्वीर को प्रस्तुत करता है। कभी-कभी वह कहते-कहते रुक जाता है। उसके बिखरे बाल, बेतरतीब वेष भूषा, काले नंगे पाँव और लड़खड़ाती हुई ज़बान जैसे रुक रुक जाती है। जब वह यह वर्णन समाप्त कर लेता है तो सिगार जलाता है और दियासलाई ढूँढ़ते हुये कहता है... माफ़ कीजियेगा...आग...बुझी हुई आग को जेब में बन्द करके रखने की आदत मेरी नहीं है, ऐसा करना कायरता और बुज़दिली है। आग अगर रखनी है तो जलती हुई रखो...अगर नहीं रख सकते तो किसी से माँग लो ज़िन्दगी में आग की कमी नहीं है। वह तो इतनी सुलभ है कि तुम जब चाहो तब ले सकते हो...आसपास, अग़ल-बग़ल आग ही आग तो है। अगर महसूस करो तो लगेगा कि तुम ख़ुद एक आग के पिंड मे तिनके के समान जल रहे हो, निरन्तर...हर घड़ी...हर ख़ुशी और हर ग़मी में...यह सब कहते-कहते वह ख़ामोश हो जाता है सिगार जला कर दो-चार कश खींचता है और फिर बड़बड़ाने लगता है... कहता है...

"लेकिन आदमी...दिन ब दिन पत्थर बनता जा रहा है। नहीं तो यह आग की लपटें उसकी साँस-साँस को जलाकर फेंक देती, उससे उसका सब कुछ छीन

लेतीं।...बची-खुची चेतना अहंकार, स्वाभिमान, सत्ता जो कुछ भी उसके पास है वह शायद इसीलिये है क्योंकि वह आग और अपवाद के अस्तित्व का सशक्त विरोध अकेले करता है। वह उस ज़िन्दगी को जो नीरस, बेस्वाद, मरे हुये जानवर की खाल सी है, उसे झेलता है, ओढ़ता है, नहीं तो उसकी साँस घुट जाय, आवाज़ बन्द हो जाय और वह मर जाय..."

इसीलिये वह अन्धाधुन्ध सिगार पीने वाला महिम हर सेकेन्ड सिगार पीते रहने पर भी आग अपने पास नहीं रखता...आग माँगता फिरता है...और आज के आदमी को इन्हीं बिखरे हुये तत्वों में देखता है। इसी बिखराव को सत्य मानता है। अधूरा आदमी कहता जाता था...

"जिन दिनों महिम ने आदमी की यह तस्वीर बनाई थी उन दिनों उसकी स्थिति कुछ अजीब थी। उन दिनों उसकी अटूट श्रद्धा आदमी में थी। वह नेक और ईमानदार बन कर रहना चाहता था। लेकिन जब उसने ज़िन्दगी को अपने से तटस्थ करके देखा तो लगा जैसे ज़िन्दगी केवल हलचल ही नहीं है। वह केवल सद्भावना पर ही नही चलती...चलते-चलते रुक भी जाती है और यह रुकावट भी उतना ही बड़ा सत्य है जितना कि हलचल। इसलिये कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे ज़िन्दगी एक रेंगते हुये केंचुये के समान है जो कीचड़ में रेंग-रेंग कर अपनी ज़िन्दगी का प्रमाण देने में संलग्न है।

महिम की यह धारणा भी अधिक दिनों तक नहीं टिक सकी। ज्यों-ज्यों उसकी भावुकता पर जीवन के कटु यथार्थ प्रहार करते त्यों-त्यों उसे लगता..."अब यह ज़िन्दगी केवल एक केंचुये के समान भी नहीं है, वह उस केंचुये के समान है जिसे काले कुरूप कौंये ने अपने सख़्त चोंचो से दबा रखा है और ज़िन्दगी है कि हर मिनट ऐंठ-ऐंठ कर अपना परिचय देना चाहती है। अपनी चेतना की घोषणा करना चाहती है। लेकिन उसकी हर हरक़त में विवशता है, विक्षिप्तता है, आतंक और अपवाद है... और यह सत्य शायद वह कौआ जानता है जो सख़्ती से उसे पकड़ता है। बेरहमी से उसे दो टूक कर देता है...

एक दिन ऐसी ही किसी स्थिति में महिम ने मेरा निर्माण करते हुये लिखा था..."तड़पती हुई ज़िन्दगी मेरे लिये मौत से भी बदतर है। ज़िन्दगी तड़पने के लिये नहीं है, सहन करने के लिये है...केवल सहने के लिये है, उसकी प्रतिक्रिया के लिये नहीं है..."

और जिस दिन महिम ने यह लिखा था, उस दिन वह अधिक विक्षिप्त था क्योंकि जब जब उसने स्पष्ट रूप से कहा..."मैं भूखा हूँ...मुझे भूख लगी है" तो दुनिया

ने उसे अपमानित करने की चेष्टा की। उसकी सच्चाई को, उसकी पुंसत्वहीनता कह कर उसकी खिल्ली उड़ाई। लेकिन जब उसने भूखा होने पर भी बदहज़मी की शिकायत की तो दुनियाँ ने उसकी इज़्ज़त की...उसका आदर किया। जब तक उसने मेहनत करके इमान्दारी से जी कर मज़दूरी करके अपना पेट भरना चाहा तब तक औरों ने उसे निकम्मा और नाकारा समझा...लेकिन जब मेहनत से जी चुराने लगा, दूसरों को धोखा धड़ी देने लगा तो लोगों उसे विद्वान समझा, उसका आदर किया सिर आँखों पर बिठाया। सख़्तियाँ इस पर भी आसान नहीं हो सकी और भी सख़्त होती गईं... सख़्त बिल्कुल सख़्त। और ज़िन्दगी तड़पती रही। महिम का प्रयास जारी रहा। यहाँ तक कि कौये के चोंच के नीचे दब कर, दो टूक होकर भी कीड़ों की भाँति मर नहीं पाती। अपनी पराजय नहीं मानता अब वह अपने को केवल नीलाम होने वाली चीज़ मानता है। कहता है दो टूक ज़िन्दगी भी नीलाम होती है। दुनिया हर चीज़ को नीलाम करती है। जो इस तथ्य को स्वीकार करके अपनी दो टूक ज़िन्दगी की पाई-पाई क़ीमत चुका देता है और हर नीलाम की आवाज़ को भर पूर इस्तेमाल कर लेता है वह होशियार है, और जो केवल उस आवाज़ को सुनता रहता है वह बेवक़ूफ़ है, मूर्ख है, वह न तो दुनिया को समझता है और न ज़िन्दगी को।

कारण है कि वह जब कभी भी अपना ख़ाका या आदमी का ख़ाका खींचने की चेष्टा करता है तो बस वह एक नीलाम में बिके हुये खिलौने के सिवा और कुछ नहीं सोच पाता। अधिक सोचने पर उसके सामने केवल इन्हीं लोहे की राडों, जंग लगी हुई केटलियों से घिरे हुये आदमी की तस्वीर ही उसके सामने आ पाती है कभी-कभी वह कहता भी वह कहता भी है..."अकेले चलने वाले आदमी को अकेला मत समझो। उसके आँखों में सपने हैं, दिमाग़ में उबलते हुये विचार हैं। शब्दों में नई, बिल्कुल नई ध्वनियाँ हैं जिसे दुनिया समझ नहीं पाती। आज का आदमी अगर दूसरे को तकलीफ़ में देख कर चीख़ता नहीं, तड़पता नहीं, तो यह मत समझो कि उसके दो टूक जीवन में दर्द नहीं है। ज़िन्दगी दो टूक ही सही, यथार्थ की कठोरता उसे अधिक दिनों तक नहीं दबाये रख सकती...दिमाग़ ठंढे आटे का पिन्ड नहीं है। उसमें बार-बार अपनी उँगलियाँ मत खोंसो लेकिन यह भी सत्य ही है कि दिल की हर धड़कन ज़िन्दगी नहीं है। घटनाओं को दिल और दिमाग़ से टकराकर लौट जाने दो...ज़िन्दगी बहुत बड़ी है...बेहद्..."

अधूरा आदमी अभी अपनी पूरी बात समाप्त भी नहीं कर पाया था कि कैक्टस के फूल ने मेज़ ही पर से अपने पन्ने फड़फड़ा कर कहा..."क्या बातें करते हो मियाँ...इसे मत भूलो कि हर आदमी को एक घटना ही तोड़ने के लिये काफ़ी है...

मुझे देखो...मैं उस घटना की देन हूँ जिसने महिम को तोड़ ही नहीं दिया बल्कि टूक-टूक कर के छोड़ दिया...शायद उसके जीवन से आस्था और विश्वास हटाने का एक मात्र कारण मैं हूँ...मैं...जिसके अन्तर में रंगीनी के साथ-साथ वह कटुता भी है जिसे सहन करने के प्रयास में ही वह टूट गया है।"

मैं ख़ामोश होकर सुन रही थी। "कैक्टेस के फूल" नामक हस्तलिपि मुझसे थोड़ी दूर थी लेकिन मैं उसकी रँगीन और हाव-भाव से उसकी अन्तरात्मा से परिचित हो गई थी। अधूरा आदमी मेरा मुँह देख कर बोला..."आख़िर तुम कहना क्या चाहते हो...जो भी तुम्हें कहना हो वह कह लो तब फ़िर मैं जपनी बात शुरू करूँ..."

"मुझे कहना कुछ नहीं है। मैं महिम के जीवन के उन क्षणों की यादगार हूँ जब वह श्रद्धावान था...आस्था और विश्वास को स्वीकार कर के चलना चाहता था। तुम्हारी बात को काट कर मैं केवल उसी तथ्य को कहना चाहता हूँ..."

"तो शुरू करो...तुम्हीं कहे जाओ..."

और कैक्टेस के फूलो ने कहना शुरू किया...अभी कैक्टेस के फूल कुछ कहने ही वाले थे कि मैंने पूछा..."तुम हो कौन ? तुम्हारा परिचय क्या है..."

"मैं...मैं...तो केवल कैक्टेस का फूल हूँ और मैं जो कुछ देखता हूँ उसे चित्रित करता हूँ और जो चित्रित करता हूँ वह स्वयम वस्तु स्थिति की अपील से चित्रित करता हूँ...उसमें मुझे छू लेने की शक्ति है, इसलिये मैं उसे अपना लेता हूँ... वैसे मेरे अन्दर क्या है...मैं स्वयम् नहीं जानता...कुछ सोच कर उसने कहा।

"और मेरा यह वाक्य महिम के जीवन से बड़ा गहरा-सा सम्बन्ध रखता है।"

अंजलि और महिम का परिचय एक आकस्मिक घटना थी। क्योंकि दोनों एक दूसरे के काफ़ी निकट थे। महिम में वाह्य-प्रदर्शन कुछ नही था। यही कारण था कि काफी दिनों तक प्रायः साथ-साथ रहने पर भी दोनो के बीच एक दूरी थी। अंजलि उस दूरी को तोड़कर निकट आना चाहती थी लेकिन वह अपने हर प्रयास में असफल रही। धीरे-धीरे यही दूरी अंजलि की श्रद्धा बन गई और वह महिम को अपनाने के बजाय उसकी पूजा करने लगी। फिर पूजित मूर्ति के सामने तन की आकर्षण की क्या बात हो सकती थी। वहाँ तो मस्तक झुक जाता है। मूर्ति की ओर देखने की इच्छा तो रहती है, साहस नहीं रहता। महिम की स्मृति में आज भी वह चित्र सजीव है, जब वह पहली बार डाक्टर सन्तोषी के यहाँ अंजलि से मिला था। अंजलि डा० सन्तोषी यहाँ आकर ठहरी थी। कलकत्ते के साम्प्रदायिक दंगों में उसके माता-पिता धर्म के नाम पर मार डाले गये थे। अंजलि ने अपनी आँखों के

सामने मनुष्य का ताण्डव नृत्य देखा था। उसका कोलाहल और उसकी भयंकर परिणति ने उसे मानसिक रूप से कुछ कठोर बना दिया था। वह आदमी के आदर्शवादी रूप से घृणा करने लगी थी लेकिन यथार्थ की कटुता उसके गले भी नहीं उतरती थी। इसीलिए वह मौन पूजा के गम्भीर क्षणों में भी एक उचाट का अनुभव करती थी।

महिम और अंजलि का मिलन भी बड़ा नाटकीय था। शाम का समय था। कमरे में बैठे हुए डा० सन्तोषी, वनडोले और दिव्या देवी के साथ चाय पी रहे थे। महिम को थीसिस का एक अध्याय पढ़कर सुनाना था लेकिन वह समय नहीं पा रहा था। डा० सन्तोषी किसी गहरी बातचीत में डूबे थे। काफी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद महिम उठकर प्रोफेसर की लाइब्रेरी में जाकर बैठा। शेल्फ़ से कोई किताब निकालकर पढ़ने लगा। कमरे के एक कोने मे सोफे पर पड़ी हुई अंजलि खिड़की के शीशे से छनकर आने वाली एक किरण मे नाचते हुए असंख्य कणों को ग़ौर से देख रही थी। महिम को देखते ही उसके जी मे आया कि वह उससे इस प्रकार बिना सूचना के कमरे मे आने के व्यवहार की आलोचना करे, लेकिन सर्वथा अपरिचित समझकर वह चुप रह गई। महिम मौन रूप से किताब पढ़ने में ही व्यस्त रहा। वह पन्ने पर पन्ने उलटता जा रहा था और जब से बैठा था तब से उसने कमरे की और किसी भी वस्तु की तरफ नज़र ही नही उठाई। अब सूरज भी डूब चुका था, इसलिये अंजली का कार्य भी समाप्त हो चुका था। धूप में यद्यपि कण थे लेकिन वह रोशनी नहीं थी जो उनके संघर्ष की पर्त उधार कर रखती। वे कण तब भी नाच रहे होंगे, लेकिन वातावरण के अन्धकार को बेधकर कौन देख सकता था। शायद प्रकाश के अन्तर को चीर कर देखना कहीं सरल है, किन्तु अन्धकार की गहनता में पैठकर उसके संघर्ष को देखना उसे कहीं कठिन और दुर्गम है।

सहसा एक हवा का झोंका आया। महिम की थीसिस का अध्याय सारे कमरे में बिखर गया। अब भी महिम का ध्यान पुस्तक से नहीं उलटा। सारे का सारा कागज़ बिखरा-बिखरा कमरे की मेज, आलमारी और सोफे से टकराता रहा। अंजलि मौन रूप से यह सारी घटना देखती रही। थोड़ी देर बाद वह चुपचाप उठकर पन्नों को बटोरने लगी और जब उन बिखरे हुए कागज़ो से लदी हुई उसकी उँगलियाँ मेज पर चमकीं और महिम ने यह अनुभव किया कि उन उँगलियों में प्राण है, चेतना है, बिखरे हुए को समेटकर रखने की क्षमता है तो वह कुछ ठिठक-सा गया। कुछ बोलने की कोशिश में मुँह से कुछ नहीं निकला। वह केवल कागज़ को समेटकर रखने में

व्यस्त हो गया। इसी बीच भीतर से प्रतिभा की आवाज आई। अंजलि भीतर चली गई।

महिम फिर भी बैठा पढ़ता रहा.. पढ़ने की कोशिश करता रहा। लेकिन इस एक छोटी सी घटना के सामने उसका सारा प्रयास व्यर्थ सा मालूम हो रहा था। न जाने क्यों वह अपने को पराजित-सा अनुभव कर रहा था। थोड़ी देर बाद महिम ने किताब बन्द कर दी और आँखें बन्द करके कुछ सोचने लगा। उसे प्रतीत हुआ जैसे कोई सनसनीखेज़ घटना अभी-अभी उसे छूकर निकल गई है, लेकिन वह उससे इतना दूर था कि उस घटना के विशेष झटके ने उसे टूक-टूक कर दिया है। और फिर उसी मुद्रा में वह न जाने क्या-क्या सोच गया। उसकी नींद उस समय खुली जब अंजलि ने कमरे में प्रवेश करके उसकी बिजली जलाई। स्विच की टिक-टिक ध्वनि मोम और सोने की सजीव प्रतिमा-सी अंजलि, हाथ में एक ट्रे लिये हुये खड़ी थी। एक क्षण तक वह मंत्र-मुग्ध-सा दरवाजे की ओर देखता रहा, फिर बिना कुछ बोले अपनी थीसिस का पन्ना उलटने लगा। अंजलि ने चाय की ट्रे मेज पर रख दी। एक प्याली चाय बनाई। नाश्ता की प्लेट उसके सामने रख दी और फिर सोफे पर बैठकर अपने ऊन की लच्छियों को सुलझाने लगी। महिम निश्चिन्त और मौन होकर चाय पीने ने व्यस्त हो गया। इस बीच उसने कई बार अंजलि की ओर देखा, लेकिन फिर अपने काम में लग गया। अंजलि इसी प्रतीक्षा में बैठी रही कि महिम अब बात करेगा, कुछ पूछेगा...कुछ उत्सुकता दिखलाएगा, लेकिन जब वह कुछ भी नहीं बोला तो वह वहाँ से उठकर दूसरे कमरे में चली गई।

अंजलि की नारी सुलभशीलता और महिम का संकोच दोनों ही ने एक दूसरे को तटस्थ रखा लेकिन एक दिन यह भावना भी बन्धन मुक्त हुई और बात उस कुत्ते से शुरू हुई जिसको स्थानीय अँग्रेज फौजी अफसर कैप्टेन हैवलाक ने प्रोफेसर को भेंट के रूप में दिया था और देते समय यह बतलाया था कि यह एक खास किस्म के एल्सीशेयन ब्रीड की है, उसे अन्य जाति के कुत्तों से घृणा है, इसलिये कि उसका रखना उसके लिये ज़हमत हो गया है। उसने अपने एक हवल्दार का नाम बताते हुये यह भी बतलाया कि लूसी की आदत खराब करने में सबसे बड़ा हाथ उस फौजी हवल्दार का था जो कुतिया से प्रेम करने लगा था और जो इसी प्रेम में जाने कहाँ-कहाँ की ठोकरें खाते-खाते अब अपनी असली औक़ात को पहुँच गया होगा। डा० सन्तोषी ने कैप्टेन हैवलाक की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। चूँकि उसे इस नसल के कुत्ते बहुत पसन्द थे इसलिए उसने उस कुतिये के उपहार को सहर्ष स्वीकार कर लिया और फिर एक लम्बे खत में धन्यवाद भी लिख

कर भेज दिया। डा० सन्तोषी कहा करते थे—"इस जात के कुत्ते आदमी से भी ज्यादा समझदार होते है, क्योंकि यह केवल अपने मास्टर को पहचानता है और बाकी दुनिया को दुश्मन समझने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। उस दिन भी बात उसी लूसी के विषय में छेड़ी थी। डा० संतोषी ने कहा था—"ये कुत्ते कम से कम एक मास्टर को तो ईमानदारी से मानते है लेकिन आज का आदमी तो एक के भी प्रति ईमानदार नहीं रह पाता।"

इस वाक्य से महिम को थोड़ा धक्का लगा था और जब बात के सिलसिले में कुत्तों की नसल, उनके स्वास्थ्य और उपयोग की सीमा पार करके डा० सन्तोषी ने कहा—"आज के लोग वफादारी की बात पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, लेकिन उनकी हर बात "प्रेक्टिकल" होने के नारे पर उतर कर खोखली साबित हो जाती है" तो महिम ने डा० सन्तोषी की बात काटते हुए कहा—"ख़ालीपन आदमी में नहीं है डाक्टर। मुझे लगता है आदमी और उसके साथ आप आज की धारणाओं को देखिये, समाज के नियम तो वही पुराने चले आ रहे हैं लेकिन आदमी जहाँ था वहाँ से बहुत आगे बढ़ गया है...न तो उसके साथ वह मान्यताएँ हैं और न वह जीवन..."

"क्या बात करते हो महिम। सत्य का रूप हर ज़माने में एक ही रहा है और आगे भी एक ही रहेगा। कुछ चीजें स्थायी मूल्यों पर टिकती हैं और वह सदैव वैसी ही रहेंगी।"

"जी हाँ, मेरे दादा भी यही कहा करते थे," महिम ने कुछ व्यंग्य में कहा और फिर कुछ रुककर बोला—"वह कहते थे बहुत से मूल्य स्थाई हैं और स्थाई रहेंगे जैसे जात-बिरादरी की बात, भेद-भाव, आदमी के पूर्वजन्म के संस्कार की बात, चूल्हे-चौके की बात, भूख-रोटी की बात वह करते थे। यही सब बातें रहेंगी चाहे वह राजनैतिक बिरादरी के रूप हों या धर्म के सम्प्रदायों के रूप में रहें। उनके ज़माने में राजनीतिक बिरादरी की बात तो कम थी वह इसे सोच नहीं पाते थे लेकिन जब उन्हीं के सामने ज़ात-बिरादरी के बन्धन ढीले होने लगे तो मैंने देखा कि वह उस परिस्थिति से भी समझौता करने में नहीं चूके, वह उस समय स्थायी मूल्यों की हर दशा भूल जाते थे। फिर स्थाई और अस्थाई मूल्य की क्या बात डाक्टर साहब...कुत्ता चाहे एल्सेशियन ब्रीड का हो या हाउण्ड.. वह मालिक को इसलिए पहचानता है क्योंकि वह रोटी देता है, उसके सामने रोटी का मूल्य है, मालिक का नहीं...हर रोटी देने वाला उसका मालिक हो सकता है।"

बात बढ़ती गई थी। बात के साथ-साथ अंजलि यह अनुभव कर रही थी कि

प्रोफेसर आदमी और कुत्ते की बहस में जिस चमत्कार का प्रयोग करना चाहता था उसमें सफल नहीं हो सका और महिम जिस बात को कह रहा था उसमें तेज़ी थी, तीखापन था, एक असाधारण स्थिति का परिचय था। उसकी जिज्ञासा महिम की कटु और सख़्त बातों की ओर अधिक थी। दोनों के मौन हो जाने पर वह बोली—

"आदमी और कुत्ते में जाति-भेद ही नहीं वर्ग भेद भी है। आदमी शोषण करता है...कुत्ता शोषित परित्याग हाड़-मांस में ही सन्तुष्ट रहता है...आदमी चिपकता है तो स्वार्थ के लिए...कुत्ता चिपकता है स्वाद के लिए..."

अंजलि की बात सुनकर महिम केवल मुस्करा कर रह गया। अंजलि उसके इस थोड़ी-सी अनादरसूचक मुद्रा से खिन्न हो गई, फिर बोली—

"आप लोगों के इतना दिमाग़ मेरे पास तो नहीं है, लेकिन मैंने जो कुछ कहा है, आप उसकी अवहेलना भी नहीं कर सकते। आपने उस वर्ग का वर्गीकरण नहीं किया है जो शोषित होकर भी शोषित के हाड़-मांस से सन्तुष्ट हो जाय।"

प्रोफेसर और महिम दोनों ही खिलखिला कर हँस पड़े। प्रोफेसर की हँसी में भी अनादरसूचक अवहेलना थी। अंजलि ख़ामोश होकर अपने ऊन की लच्छियों की बुनाई में लग गई। प्रोफेसर बाहर टहलने चला गया। महिम अपनी किताबों के पन्ने उलटने लगा। और अंजलि ऊन के धागों को सलाई के ऊपर चढ़ाते-उतारते किसी विशेष चिन्ता में डूब गई थी। थोड़े समय बाद पढ़ते-पढ़ते महिम को ध्यान आया कि उसने जान में या अनजान में एक ग़लती की है...शायद वह ग़लती अनायास ही हो गई है...अंजलि कुछ उपेक्षित सी अनुभव कर रही है और तब वह अपनी किताब के बीच लाल, नीली, पेन्सिल रखते हुये बोली—

"तुम लोगों की भी क्या आदत है...इन ख़ानों के उतार-चढ़ाव में अक्सर औरतें इतना डूब जाती हैं कि जैसे और कुछ संसार में है ही नहीं..."

"आप लोगों का दिमाग़ तो बड़ा तेज़ है न..." अंजलि ने छूटते ही कहा—"कुत्ते से लेकर आदमी तक की बात आप लोग एक साँस में कर सकते हैं लेकिन हम लोगों को क्या...हमें तो इन्हीं खानों में ही सन्तोष करना पड़ता है, अपनी दुनिया जितनी ही छोटी हो उतना ही अच्छा है.. फ़ुज़ूल की बकवास से जान तो बची रहती है..."

महिम को यह स्पष्ट हो चुका था कि अंजलि पर प्रोफेसर की बातों का ख़ास कर उसकी हँसी का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। उसने यह भी अनुभव किया कि कहीं किसी कोने में अंजलि को महिम की बात भी बड़ी अप्रिय मालूम हुई है। उसने बात

बदलते हुए कहा—"छोटी दुनिया की बात में तुमने बहुत बड़ी बात कह दी है अंजलि...छोटे-छोटे लोगो की छोटी दुनिया इस बड़ी दुनिया से, इस भयङ्कर उत्पात और मार-काट से तो कहीं अच्छी होगी। इनमें कितना सुख, कितनी शान्ति होगी... आखिर क्या धरा है इस खोज-बीन में...इन पुरानी किताबों के सड़े हुए पन्नों में सिवा उलझन के क्या है...उलझन और एक भयङ्कर उलझन...

महिम को यह निश्चय हो गया कि अंजलि उसकी बात से प्रसन्न हो गई है। अंजलि को अपनी वाक्-निपुणता पर थोड़ा आत्म-विश्वास जमा। वह और निर्भीक होकर कुछ कहने के लिए उत्सुक होने लगी लेकिन अपनी बात को और अधिक प्रभाव-पूर्ण बनाने के लिए उसने पहले अपने दिमाग़ में उखड़ी हुई भावनाओं को जमाया... उनको क्रमबद्ध किया और फिर बोली—"आप लोग दर्शन और फ़िलासफ़ी की बात करते हैं...समझते हैं कि आप ज़िन्दगी को समझ रहे हैं लेकिन ज़िन्दगी एक सीधी लकीर नहीं है...उलझी हुई गुत्थी मे पड़कर भगवान भी नहीं साबित निकल सकता। आप आदमी और कुत्ते की पहचान बिना खुद को पहचाने करना चाहते है...

इतना कहते-कहते उसे लगा जैसे वह किसी नाटक मे रटे हुये कथोपकथन को दोहरा रही है और फिर बात वहीं समाप्त करके चुपचाप सोफे पर बैठ गई। उसके रूखे चेहरे पर बिना तेल के उदास बाल लहराने लगे। बड़ी विशाल आँखो में आँसू छलछला आये। नाक की लम्बी नोक और लाल हो गई, कपोलो के बीच रक्त उभर आया। अकस्मात् ही वह बिखरी-बिखरी-सी अपने आँचल के रंगीन सूतों को कुतरने लगी। उसके हाथ की सलाई टूट गई, ऊन उलझ गये और वह निष्प्रभ-सी हाथों में सिर गड़ाये बैठी रह गई।

महिम यह सब देख रहा था लेकिन ख़ामोश था। सामने पड़ी हुई किताब के पन्नो को उसने अपनी उँगलियो के बीच कई बार फड़फड़ा कर छोड़ देता था। क़लम की उल्टी नोक से उलझे बाल खुजलाने लगता था। कभी-कभी ऐश ट्रे में जली हुई राख पर अपनी उँगली से कुछ लिखने लगता था और इस बीच उसने न जाने क्यो उसी राख पर अनेक बार अंजलि को लिख कर छोड़ दिया था और जब उसे यह ध्यान आया कि वह अंजलि का नाम लिखता जा रहा है फिर उसने अपने लिखे हुए अक्षरों को मिटाया और इस बार विचारों के उतार-चढ़ाव में कई बार ज़िन्दगी-ज़िन्दगी ही लिख डाला और फिर खामोश बैठ गया।

महिम की वह अकस्मात् की संवेदना जो उस दिन सहसा ऐश ट्रे से उठ कर एक धुँधले सिहरन का रूप धारण कर चुकी थी सौहार्द्र और जिज्ञासा में बदल गई। उसका जी चाहता वह बार-बार अंजलि से ऐसे प्रश्न करे, उससे बातचीत किया

करे। उसके अन्तरमन की वह पर्त छू दे जिसमें उसकी सहजता, मार्मिकता, तीक्ष्ण बुद्धि और अकाट्य तर्क में परिवर्तित हो जाती है लेकिन घने और गहरे क्षण बहुत कम आते थे। साधारणतया जब महिम लाइब्रेरी में पढ़ने के लिए आता तो अंजलि चुपचाप वहीं सोफ़े पर बैठ जाती और कभी सलाइयों से, कभी किरोशिये से कुछ न कुछ बुनने लगती, दोनो के बीच यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। हाँ एल्सेशियन कुत्ता बार-बार आकर कमरे की ठंढी फ़र्श पर बैठ जाता और इधर-उधर निकलती चुहियों पर ज़ोर-ज़ोर से भूँकने लगता, लेकिन अब उसका विषय भी इतना घिस-पिट चुका था कि उसमें कोई नवीनता शेष नहीं रह गई थी। अब वह अंजलि से बात करने के लिए, उसकी गम्भीर मौनता को कुरेद कर उसकी गहरी भाव-मुद्राओं को जानने के लिए उतावला-सा रहता था।

अंजलि का भी आकर्षण स्वाभाविक था लेकिन यह आकर्षण बौद्धिक था। वह समझती थी और निश्चित रूप से जानती थी कि महिम उस से अधिक बुद्धिमान है और यही कारण था कि वह धीरे-धीरे महिम के अधिक निकट आ गई थी लेकिन यह बौद्धिक सहानुभूति किस सीमा तक है और कहाँ से वह बदल कर स्वाभाविक मोह और प्रेम का रूप धारण कर रही है इससे वह अपरिचित थी। शायद वह अपने अन्तर की उस आवाज़ को नहीं टटोल पाई थी जो इस बात का समर्थन करती थी कि स्त्री सदैव अपने से बुद्धिहीन व्यक्ति को ही चाहती है।

दिन बीतते गये। महिम ने मानवीय संवेदनाओं पर अपनी नयी किताब लिख डाली थी। अब उपसंहार मात्र शेष था। लेकिन न जाने क्यों उसे भीतर से प्रसन्नता नहीं हो रही थी। अंजलि की ममता के कारण उस से उपसंहार का अंश नहीं लिखा जा रहा था। वह रोज़ लिखने का निश्चय कर के आता और फिर बात-चीत में, घूमने-फिरने में इस प्रकार लग जाता कि बात कल पर टल जाती और वह वापस चला जाता। उसकी आँखों के सामने जीवन की वह स्थिति थी जब वह स्वयं यह नही जान पाता था कि सहसा उसके मन पर छा जाने वाली गहरी अशान्ति की पर्त क्या है। जब कभी भी उसके मन की ऐसी स्थिति होती तो उसके जी में आता वह उठ कर बाहर चला जाय...सामने के फूलों को तोड़ कर उनकी पंखुरियों को अपनी मुट्ठी में बन्द रखे और फिर छोड़ दे और जब पंखुरियाँ गिर जायँ, हरी घास पर बिछ जायँ तो फिर चुपचाप फूलों-पत्तियों से सुवासित हथेली से अंजलि का माथा और उसके केशों को अपने हाथ में ले ले ताकि उसके हाथों की गन्ध अज्ञात रूप से समस्त दिशाओं में गमक उठे।

एक दिन जब वह अंजलि के साथ लान में टहल रहा था तब सहसा

उसने धीमे से कहा, "तुम कब तक मौन रहोगी, न जाने क्यों तुम्हारा मौन मुझे बहुत बुरा लगता है।"

"यह तो मैं भी सोच रही हूँ कि आप के साथ रहने में सब से बड़ी कठिनाई यही है, शायद आप नहीं जानते या जानकर नहीं जान पाते कि मौनता की भाषा भी बड़ी सजग और सचेष्ट होती है।"

"होती तो है...और मैं जानता भी हूँ लेकिन न जाने क्यों तुमसे बात करने को जी चाहता है। जी चाहता है कुछ कहूँ ? कुछ सोचूँ ? कुछ..."

जब वह यह कह रहा था तो अंजलि अपनी हँसी के विस्फोट को न रोक पाई थी। वह खिलखिला कर हँस पड़ी। यह घटना कुछ यों ही हो गई। महिम को जैसे एक झटका सा लग गया और दूसरे हो क्षण वह चैतन्य होकर मौन हो गया। उसी मौनता में वह लाइब्रेरी में जा बैठा और अपनी पुस्तक का उपसंहार भी उसने लिख कर समाप्त कर दिया। सारी रात वह बैठा लिखता रहा। वहीं, उसी कमरे मे वह बैठी-बैठी ऊन की लच्छियों से बुनाई करती रही। आधी रात के बाद जब वह चाय की प्याली लेकर फिर कमरे में आई तो अंजलि को ऊपर से नीचे घूर-घूर कर देखने के पश्चात् बोला, "तुम जग रही हो...मैं बिना चाय के भी तो लिख सकता हूँ। फिर इस कष्ट की क्या ज़रूरत थी।"...अंजलि कुछ नहीं बोली। जब वह चाय पी चुका तो प्याली उठा कर चली गई और फिर सोफे पर बैठ कर बुनने लगी। बुनते-बुनते कभी वह चुपचाप सोफे पर लेट जाती थी, अपने दोनों हाथों से अपनी आँखें बन्द कर लेती थी और फिर करवट बदल कर सो जाती थी लेकिन जब वह ठीक एक घन्टे पर फिर उठती, हीटर जला कर पानी गर्म करने लगती और चाय की प्याली लेकर वह उसके सामने मौन अलसाई-सी मुद्रा लिए खड़ी हो जाती तो महिम की सारी संवेदनाएँ झकृत हो जातीं। अपना कार्य समाप्त करने के बाद महिम कुर्सी ही पर सो गया और जब वह नींद में था तभी अंजलि कमरे से उठ कर चली गई। रात के दो बजे थे। सारा वातावरण बर्फ़ की डली-सा ठंडा लग रहा था। उसने कमरे से निकल कर आकाश पर तारों की ओर देखा, घने कुहासों में कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ रहा था, चारों तरफ़ जैसे शीत बिखरी हुई थी केवल उनकी कल्पना तक ही सीमित नहीं रह पाती थी। हरी घास पर पैर रखने से जो ओस की बून्दें उसके नंगे तलवों में लगी और टूट गई और उसे उसने देखा और अनुभव किया, सर्द ठिठुरे हुए फूलों को उसने हल्की फीकी और जमी हुई चाँदनी में देखा, दो एक को अपनी अंजलि में बन्द कर लिया और फिर भीगी हथेली से अपने माथे को पोंछने लगी। काफ़ी देर तक एक विचित्र अलसित मुद्रा में

में नंगे कैक्टस को घूर-घूरकर देखती रही, और जब कुत्ते भूँकने लगे पथराई हुई रात की गलन उसके नंगे बाहों को छूने लगी, उसके नाक की पोर और कान के लौ के समीप शीत शून्य-सी पीली पड़ गई, तब वह धीरे-धीरे उठ कर अपने कमरे मे चली गई। काफ़ी देर तक वह अपनी चिन्ता में डूबी रही, जाने कब वह इस स्थिति में सो गई।

दूसरे दिन जब महिम बाहर जा रहा था तो डाक्टर सन्तोषी ने अंजलि को भी साथ ले जाने का आदेश दिया। वह दोनो चन्दनपुर की पहाड़ियो पर काफी देर तक घूमते रहे, चकवड़ और अन्य पहाड़ी पौधो के बीच, सूखी गिरी पत्तियों को कुचलते हुए वे दोनों उस झील के किनारे खामोश बैठे रहे जिस पर सैकड़ों आबी-चिड़ियायें लोट रही थीं। एक छोटी सुनहली चिड़िया को देखकर अंजलि ने कहा..."यह सोना चिड़िया है। कहते हैं उस जन्म मे यह गन्धर्व लोक की गन्धर्व कन्या थी...किसी मनुष्य के प्रेम में पड़ गई और तभी पदच्युत होकर इस संसार में पक्षी के रूप में आ गई। हमारे देश मे कोई भी शिकारी इसे नहीं मारता। लोग कहते है यह सिर्फ़ काई खाट कर रहती है, बस।"

महिम अब भी मौन था। अंजलि ने फिर कहा..."और वह धोबिन चिड़िया है...कितनी सफेद और सुन्दर...इसके बारे मे भी एक प्रचलित किम्वदन्ति है। कहते हैं यह वह धोबिन है जिसे किसी राजा ने अपनी सती साध्वी पत्नी का परित्याग कर के इसे रख लिया था और उसकी ब्याहता पत्नी को इसने इतना कष्ट दिया था कि उसके श्राप से यह पक्षी हो गई है। यह ज़िन्दा मछलियों को पानी में डूब कर निगल जाती है। देखने में बड़ी सुन्दर लेकिन बोलने मे बड़ी कटु लगती है।"

इस बार महिम ने एक कंकरी झील मे फेंक दी। सभी चिड़ियाँ एक दम से उड़ गई और सामने के अमलतास के वृक्ष पर बैठ गई। पानी की नन्हीं-नन्हीं लहरियाँ अन्तराल से उठ-उठ कर तट पर टकराने लगीं। काई की पर्तें यथा स्थान बिखर गईं और पानी की निर्मलता के बीच मछलियों के बुलबुले अधिक स्पष्ट दिखने लगे। महिम अंजलि की बातो का नया अर्थ देना चाहता था। अंजलि उस गम्भीरता को बेध कर उसके सम्पूर्ण सन्दर्भ को लेना चाहती थी लेकिन उसने यही सोचकर कहा—

"आप मुझ से शिकायत करते हैं कि मैं नहीं बोलती लेकिन असलियत तो यह है कि स्वयम् आप ही नहीं बोलते।"

"तो मैं क्या बोलूँ...मुझे चिड़ियों का कोई ज्ञान नहीं..."

"पेड़ों, पौधों, जानवरों में से किसी के भी बारे में आप कुछ नहीं जानते।"

"नहीं..."

"आदमी के बारे में बहस करना जानते हैं, हैं न..."

"सो भी नहीं जानता...शायद बहुत कम जानता हूँ..."

अंजलि चुप हो गई। उसने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। दोनों काफ़ी देर तक उस शान्त, स्तब्ध प्रकृति के परकोष्टों में डूबती हुई ज्योति और अन्धकार की संधि रेखा में बैठे रहे। आकाश से उतरता हुआ कोहरा नीचे दबने लगा और फिर दोनों मूर्तिवत् झील पर बिखरी हुई काई के अन्तर से उठती हुई हलचल को देखने लगे।

अंजलि की नारी सुलभ शालीनता एक सीमा तक आगे बढ़ सकती थी। महिम की उदार बौद्धिक सहानुभूति केवल सहानुभूति की सीमा तक ही रही। व्यावहारिकता में वह अपनी द्विविधा को निर्णय का रूप नहीं दे सकी। अंजलि का स्वयम् का जीवन काफी रिक्तता से ओतप्रोत था। वास्तव में वह दार्शनिक सन्तोषी से पहले बहुत प्रभावित थी और इसी प्रभाव मे आकर उसने यह निश्चय किया था कि वह उसी के साथ अपना जीवन बिता देगी लेकिन वह अपनी दार्शनिक उलझनों में उलझे रहने के कारण कुछ असाधारणता का ग्रास हो चुका था और अब उसकी बौद्धिक विलासिता इस कुंठा पर पहुँच गई थी कि वह उससे कह पड़ता...तुमको...तुमको देखकर मेरी पवित्र भावनायें जाग उठती हैं...तुम मेरी माँ हो। समस्त स्त्री जाति शक्ति की प्रतीक है, उस शक्ति की जो चिन्तन सत्य है जो सृष्टि को संचालित करती है, जो वास्तविक जिज्ञासा की शान्ति है, जो सार्वभौमिकता का प्रतीक है। तब उसके इस आदर्शवादी वातावरण में अंजलि का दम सा घुटने लगता...उसे एक खीझ सी होने लगती।

लेकिन उसे थोड़ा सन्तोष मिला था। महिम उससे भिन्न था। उसकी भावुकता मे एक मानवीयता थी। वह संवेदनशील था लेकिन, संवेदनाओं को एक तार्किक तुला पर रख कर तौलने की कोशिश करता था और यही कारण था कि वह प्रोफेसर दार्शनिक सन्तोषी के प्रति कुछ क्षोभ रखती थी। कभी-कभी कटु आलोचना भी कर देती थी। महिम के प्रति उसकी बढ़ती श्रद्धा से दार्शनिक सन्तोषी अपरिचित भी नहीं था और उस दिन जब उसने महिम का हाथ अंजलि के हाथ में देकर कहा था..."सृष्टि आदर्श पर टिकी हुई है किन्तु इस में गति है, इसलिए है क्योंकि इसमें अधिकांश यथार्थ है और यह सत्य है कि तुम दोनों यथार्थ के अधिक निकट हो, इसलिए तुम और अंजलि साथ-साथ रहो, मैं मुक्ति चाहता हूँ...केवल...कुछ प्रकृति को पढ़ना चाहता हूँ, कुछ समाज को, कुछ मनुष्य को...कुछ अपने किये पर पछताना चाहता हूँ... लेकिन एकान्त में...अकेले में..."

महिम इस सब के लिए प्रस्तुत नहीं था। अंजलि को भी सर्वप्रथम इसमें अपमान का भास मिला था लेकिन प्रोफेसर ने जो कुछ भी एक भावावेश में कह दिया था महिम ने उस पर ध्यान देना उचित नहीं समझा। इस सम्बोधन ने उसके अन्तर में

एक कोलाहल अवश्य पैदा कर दिया था। महिम की रागात्मानुभूति स्वकेन्द्रित थी। वह रोमांस में अपने ऊपर समस्त पीड़ा ओढ़ कर सुख का अनुभव करता था। अंजलि की शान्त चित्त अनुभूति, उसकी अर्द्ध विक्षिप्त, विकल आत्मा शक्ति के विपरीत थी। महिम की गम्भीर करुण मुद्रा उसमें एक प्रकार की श्रद्धा पैदा करती थी। वह कहती, महिम महिम मुझसे बहुत ऊँचा है...मैं उसके जीवन के सूत्रों को बिखेरना नहीं चाहती। वह उसकी पूजा करती थी लेकिन उस पूजा में केवल भक्ति थी आसक्ति नहीं। कभी महिम ने अपने जीवन की कथा बताते हुये अंजलि से कहा था—

"मैंने पीड़ा को अपना लिया है...लगता है यही मेरे जीवन का साथ देगी... कभी-कभी अत्यधिक सुख मुझे फीका लगने लगता है। मुझे वह स्वाद रहित लगने लगता है क्योंकि सुख की चरम परिधि सदैव एक दुःख और अवसाद की स्मृति दिलाने लगता है..." आगे उसने कहते-कहते कहा था..."मैं नास्तिक हूँ लेकिन एक बात मानता हूँ और वह यह कि प्रत्येक क्रमिक विकास की एक पृष्ठभूमि है और उस पृष्ठभूमि का अविराम सिरा अज्ञात है। जो अज्ञात है मैं उसे अज्ञात न कह कर भगवान ही क्यों कहूँ...मुझे दूसरों का स्नेह ही क्यों मिलता है...स्नेह भी अपवाद है? क्या है?"

यही कारण था कि वह अंजलि के निकट आते-आते झिझक जाता था और उसे अपने जीवन से निकाल फेंकने की बात सोचने लगता था। अंजलि जहाँ उसके चिन्तन और बौद्धिक शक्ति की क़ायल थी वहीं वह महिम को भी समझती थी... अत्यधिक भ्रमित लेकिन जब उसके जी में अनेक प्रकार की बातें उठने लगती थी तो वह अपने को यही कह कर शान्त कर लेती थी कि..."हो सकता है भ्रमपूर्ण जिज्ञासा ही उसे उठाती हों तो वह अपने को यही कह कर शान्त कर लेती थी कि..." हो सकता है भ्रमपूर्ण जिज्ञासा ही मनुष्य को ऊपर उठाये...उसका विकास करे, उसके विचारों को नई चमक दे और वह अपने आज के सहारे कल वह किसी ख़ास मन्तव्य को संसार के सामने रख सके..."

महिम स्वयं निम्न मध्य वर्ग का था। विद्वता के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करना ही उसका ध्येय था। उसे उसने प्रायः प्राप्त कर लिया था लेकिन फिर भी उसे मानसिक शान्ति नहीं मिल पाई थी। चलते-फिरते, उठते-बैठते वह अपने घर की पीड़ा, कलह, उपवास और अभाव को देखता था। सड़क पर चलते-फिरते नंगों, भूखों को देखता था। उस समय वह सोचा करता था कि एक आदर्श बेगर्स होम बनवाया जाय, इन भिखारियों को भीख माँगने से मुक्ति दिलाया जाय। लड़ाई के दिन थे। फौजी अफसरों का जोर था। स्टेशन, सड़क, रास्तों में वे घूमा करते थे और अनायास ही लोगों को परेशान किया करते थे। यद्यपि उन दिनों वह चन्दनपुर के एक कालेज में पढ़ा

करता था, फिर भी उसमें एक अदम्य साहस था। आवेश में वह देश की हर बुराई का कारण वह विदेशी आधीनता ही मानता था। यही कारण था कि उस रोज़ जब एक गोरे फ़ौज़ी अफ़सर ने स्टेशन पर एक भिखमंगे बच्चे को ठोकर मार दी थी तो वह उससे उलझ गया था। घर लौटकर इस घटना का उल्लेख करते हुये उसने प्रमुख नागरिकों के पास पत्र लिखे, दरवाज़े-दरवाज़े, घर-घर चन्दे के लिये दौड़ा और अन्त में एक छोटा-सा भिक्षुकों का आश्रम भी उसने बना दिया लेकिन जब वह उनको एकत्रित कर एक स्थान पर जमाने की चेष्टा करने लगा तो अपनी समस्त योजनाओं के बावजूद विफल रहा। उसने देखा कि कोई भी भिखारी उसके साथ रहने को तैयार नहीं था। धीरे-धीरे उसका वह स्वप्न भी खंडित हो गया और तब वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह भी सब सदियों की दासता के कारण ही हुआ है। शायद इसी नाते उन भिखारियों में न तो तनिक भी आत्म-सम्मान बचा है और न लेशमात्र बुद्धि ही है। उसने इसको दूर करने के लिए कांग्रेस आन्दोलन में भाग लिया, उनके साथ रहा। गांधी, टालस्टाय, रस्किन, गीता, बाइबिल, कुरान सब कुछ पढ़ने की चेष्टा की। जवाहर लाल नेहरू की आत्म-कथा पढ़ी। चन्द्रशेखर आज़ाद, अरविन्द की विद्रोही किताबें पढ़ी लेकिन उसे वहाँ भी मानसिक शान्ति नहीं मिली। घर के लोगों ने समझा लड़का गँधिया गया है...पागल हो गया है...ख़ान्दान का नाम डुबो देगा।

इसी बीच सन बयालिस का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और वह उसमें शामिल हो गया, दर-बदर की ठोकरें खाईं। हिंसा और अहिंसा के द्वंद में पड़ गया। सत्य और असत्य, गांधीवाद और मार्क्सवाद के दार्शनिक, व्यावहारिक संघर्ष में पड़ गया। अन्य विद्रोहियों की भाँति वह भी जेल गया और जब जेल से निकला तो उसने देखा वह पीड़ा, वह दुःख जिसको दूर करने के लिए वह जेल में गया था, जेल के बाहर वह और भी कठिन और कठिनतर हो गया है। चारो ओर अकाल, दमन, भूख और अपमान का दृश्य अपने भयानक रूप में वर्त्तमान है। देश में सैकड़ों आदमी रोज़ भूखों मर रहे थे। भूख...भूख...चारों ओर इसी का वातावरण था। चारों ओर भूखे आदमियों की सहानुभूति के बल पर झण्डों और नारों की सृष्टि की जा रही थी। एक बार उन विभिन्न राजनैतिक झंडों के नीचे बटी मानवता के नारों को देख कर कुछ घबरा सा गया। उसने सोचा क्या बिना इन झंडों, पताकों के, इन नारों और प्रचारों के आदमी ज़िन्दा नहीं रह सकता...लाल, पीले, सफ़ेद, झण्डों का

कफ़न ओढ़ कर ही इन्सान क्यों ज़िन्दा रह सकता है ? क्या इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता ? यही कारण था कि वह ईश्वर, भगवान, दया, ज़िन्दगी, मौत इनमें से वह एक-एक को बहुत निकट से देखना चाहता था, समझना चाहता था, शायद इनका वास्तविक रूप और ज्ञान भी प्राप्त करना चाहता था।

शाम का समय था। घूमने के लिये निकलने पर वह अंजलि के साथ तरह-तरह की बातें करता हुआ चला जा रहा था लेकिन सब बातों में उदासी थी, भयंकरता थी, आतंक था और अपवाद था। उसकी शंकायें थीं जिनमें से उसका अविश्वास टपक रहा था। चलते-चलते एक ख़ामोश टीले पर बैठ कर अंजलि से कहा.. "क्या है तुम्हारी इस सुन्दरता में...? इस पर चढ़ा हुआ रोग़न...इसकी कोमलता...यह सब कुछ इसलिए हैं क्योंकि तुम भूखी नही हो...क्योंकि तुमको कोई चिन्ता नही है... शायद दुनिया की सारी चमक-दमक उनकी उपजाई है जो पेट भर खाने के बाद भी ज़िन्दा रहते हैं..." उसकी बात सुनकर अजलि ने कहा..."आप फ़िज़ूल की बातें क्या सोचते हैं...ज़िन्दगी इस प्रकार से सोचने के लिये नही बनी है...आख़िर इस सबसे फ़ायदा ?"

"दुनिया में हर काम फ़ायदे के लिये नहीं किया जाता अंजलि...ज़िन्दगी एक भयानक परिस्थिति है। हमारा तुम्हारा वास्तविक अस्तित्व इस भयानकता के परे नहीं हैं। ज़िन्दगी एक वहम-सी, निरर्थक और निष्प्रयोजन-सी लगती है...मुझे तो मेरे अन्तर की उदासी खाये जा रही है लेकिन मुझे लगता है जो इस वर्त्तमान उदासी को दबा कर प्रसन्न रखने का प्रयास करते है वह मिथ्या आडम्बर करते हैं।"

अंजलि ने उस से बहस करना उचित नहीं समझा। टीले पर उगे हुये बेर के वृक्ष की ओर वह चली गई और पंजे के बल खड़ी होकर उसने तीन-चार बेर तोड़कर अपनी मुट्ठी में बन्द कर लिए और उसके समीप आकर बैठ गई। एक-एक करके बेर कुतरने लगी। तीन-चार बेर खाने के बाद उसने कहा..."अभी यह कच्चे है, इनमें स्वाद नहीं है।" और वह उठ कर दूसरे बेर तोड़ने चली गई। वह बार-बार प्रयास कर रही थी लेकिन उसके हाथ वहाँ तक पहुँच नहीं रहे थे। महिम यह देख रहा था। वह चुपचाप जाकर उसके बिल्कुक निकट खड़ा हो गया और हाथ बढ़ा कर बेर तोड़ने लगा। इसी प्रयास में उसका हाथ छूट गया और वह अंजलि के कन्धों पर जा पड़ा। इस प्रथम स्पर्श से जैसे उसके समस्त शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। उसने अपने हाथों को इतने ज़ोर से पीछे खींच लिया जैसे उसने आग की चिनगारियाँ छू ली

हों लेकिन फिर भी वह अपने को रोक नहीं सका। अंजलि के रूखे बालों का जूड़ा झाड़ियों में उलझकर छूट गया। महिम को लगा जैसे उसके अन्तर के तार-तार बिखर गये। महिम ने अंजलि का हाथ अपने हाथ में लिया। तब इस कोमल स्पर्श और घने नैकट्य से उसकी समस्त पीड़ा, विक्षिप्तता और उद्विग्नता जैसे ठंडी हो गई उसकी आत्मवेदना जैसे थक कर सो गई। उसके जी में आया वह अंजलि को अपने बाहों में भर ले...उसे अपने निकट इतना लाद दे कि उसके अन्तर की विकलता, उसका भारीपन उसी में घुल-मिल जाय और वह थोड़ी देर तक अर्द्ध चेतन, मूर्च्छित-सा होकर सब कुछ भूल जाय। उन झंडों-पताकों को भूल जाय जिसमें बटी हुई मानवता उसे विष-सी लग रही थी, वह आत्म-प्रवंचना समाप्त हो जाय जिसके कारण उसका समस्त जीवन फीका, स्वादहीन बबूल के फल-सा शुष्क लग रहा था। लेकिन उसी क्षण उसे अपना काम याद हो आया...उसे अपने और अंजलि मे दो विभिन्न व्यक्तियों की स्मृति हो आई...उसे लगा जिस चेतना को अपने हृदय में लगा कर वह अपनी समस्त पीड़ा भूलना चाहता है वह उसकी निज की चेतना नहीं है और उसके हाथ ढीले पड़ गये। उसने अंजलि को अपने से दूर हटा दिया और फिर बोला—

"यह सब ग़लत है...यह सब पलायन है...संसार के किसी भी मनुष्य को सुख भोगने का अधिकार नहीं है। संसार की पीड़ामय वातावरण में भी इन्सान कैसे सुखी जीवन बिता पाता है। कैसे वह क्षण भर के लिये भी अपने ही ज़ख्मों की पीड़ा भूल जाता है...यह सब व्यर्थ है...मिथ्या है...बिल्कुल मिथ्या।" और उसने अपने दोनों हाथों से अंजलि के संलग्न शरीर को अपने से दूर कर दिया और फिर बोला... "अंजलि ! मुझे क्षमा करना मैं क्षण भर के लिये अपने को भूल गया था...अपनी सीमा को नहीं पहचान रहा था ..और सच मानों सीमायें प्रत्येक मनुष्य के साथ होती हैं...मेरे साथ भी है...शायद...शायद क्या निश्चय ही तुम्हारे साथ भी होगी।"

सूर्यास्त हो चुका था। टीले पर घना अँधेरा और कुहासा छा चुका था और वे दोनों उस टीले के ढलवान से उतर कर घर की ओर बढ़े आ रहे थे। अंजलि के मन मे भी एक बड़ा गहरा क्षोभ था। उसे अपने प्रति लज्जा और ग्लानि थी किन्तु साथ ही महिम के प्रति क्रोध भी था।

महिम अपने घर पर आकर ख़ाली कुर्सी पर बड़ी देर तक बैठा रहा। आज जो कुछ हो चुका था उससे वह विक्षिप्त था। उसे यह क्रोध आ रहा था कि आख़िर वह अपने इस आन्तरिक संघर्ष को अपने से दूर क्यों नहीं कर पाता। यथार्थ और आदर्श के बीच उसके अन्तरमन मे जो कायरता और पुंसत्वहीनता पनप रही है उसे नष्ट

क्यो नहीं कर डालता। अजलि जो उसके लिये अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पण करने को प्रस्तुत है, जिसकी प्रत्येक भावना उसके जीवन की प्रेरणा बनती जा रही है उसे स्वीकार क्यों नही करता। इसी भावावेश मे उसने अपनी डायरी उठाई। उस पर लिखा।

"वास्तव मे मैं वह हूँ जो मैं नही कर पाता और जो मै करता हूँ वह मै नहीं हूँ...उसमे कहीं न कहीं मेरी कायरता है। मेरी पुसत्वहीनता है..." इतना लिखने के बाद उसने फिर कई डाट के चिह्न लगा दिये और ठीक उन्ही वाक्यो के नीचे उसने लिखा—

"अंजलि मेरी है . और शायद मेरी ही होकर वह रह भी जाय लेकिन विश्वास नहीं होता...अंजलि को अपना समझने पर भी मैं उसे पराया क्यों समझता हूँ, क्यों? आख़िर क्यों...और कब तक समझता रहूँगा।"

महिम का यह विश्वास धीरे-धीरे आत्महीनता और उपेक्षा की ओर बढ़ने लगा। इसी बीच वह हृदय रोग से पीड़ित हो उठा। उसके जीवन मे अप्रत्याशित घटनायें तीव्र गति से बढ़ने लगी। उसका विश्वास भ्रम में पड़ तो गया लेकिन अब भी वह मानवात्मा की कुत्सित प्रवृत्तियो की अपेक्षा सद्वृत्तियों के प्रति अधिक श्रद्धावान था। लेकिन दिन पर दिन उसमें एक तीखापन बढ़ता जाता था। उसने अपनी जिन्दगी को अधिक अपने ही बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास भी किया। संस्कार...निष्ठा...विश्वास सब को उसने अपने अन्तर से नोच कर बाहर फेंक दिया और एक दिन इन्हीं स्थितियों में उसने अपने डायरी के पृष्ठों मे लिखा—

"मुझे लगता है कि जिन्दगी की कई पर्तें हैं। उसमे से कुछ तो ऐसी हैं जिनको हम जीते हैं झेलते हैं...लेकिन कुछ एक खोल के समान हैं जो एक खोल बन कर हमारे ऊपर इस प्रकार चिपकी हुई हैं कि लाख चाहने पर भी नहीं छूटतीं और और अगर छूटती हैं तो फिर जीवन से कोई महत्वपूर्ण तत्व लेकर अलग होती है... इन दोनों के बीच जीना कितना दुस्तर और कठिन है...सारा वातावरण कितना भयानक लगता है।

"आज मैं कुछ दूसरी उलझन में पड़ गया हूँ...यह सत्य है कि मैं गरीब हूँ लेकिन इस गरीबी का मज़ाक उड़ाने का अधिकार किसी को नह: है...डाक्टर सन्तोषी आज कुछ मज़ाक ही तो कर रहा था...कहता था तुमको दिमागी ऐयाशी में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं...तुम्हारे जीवन का सब से बड़ा सत्य रोटी है, रोटी के लिये लड़ना है। अगर तुम इसके प्रति ईमानदार रहोगे तो सबके प्रति ईमानदार रह सकोगे। अपने प्रति इमानदार रहोगे। अगर तुभ ऐसा नहीं करते तो तुम अपने प्रति बेईमान हो। तुम्हारी ज़िन्दगी किसी दिमागी काम के लिये नही बनी है...तुम या तो नेतागीरी कर सकते हो या रोटी कमा सकते हो बस...

लेकिन न जाने क्यों उसके मन के भीतर से एक आवाज़ बार-बार उठती रही। वह बार-बार अपने मे सोचता रहा। आदमी केवल रोटी के लिये ही तो नहीं बना है। उमे कुछ और भी तो करना है। किसी और चीज़ के लिये भी जीना है। रोटी के बाद भी सन्तोष नहीं मिलता, आदमी की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। उसकी आत्मा सन्तुष्ट नही होती...यह सत्य है मैं रहस्यवादी भगवान का उपासक नहीं होना चाहता लेकिन जो कुछ वस्तु सत्य है, यथार्थ है वह भी तो जीवन को शान्ति नहीं पहुँचा पाती। रोटी के बाद भी, यथार्थ को स्वीकार करने के बाद भी तो लगता है जीवन में बहुत कुछ रह गया है। बहुत कुछ शेष है...लेकिन वह शेष क्या है। शायद वह एक दबी हुई पीड़ा है जो समूचे जीवन को अपने चंगुल में दबाये हुये है। शायद इस पीड़ा की तह में भी मनुष्य की कल्पना शक्ति है, उसकी जिज्ञासा है। वह श्रद्धा और सहानुभूति है जिसके अभाव में वह खोखला और सारहीन निरर्थक सा लगता है'

उस दिन वह घर से बाहर नहीं निकला। अंजलि से भी मिलने नहीं गया। चुपचाप कमरे के तमाम दरवाजे बन्द करके तरह-तरह की चीजें लिखता रहा... किताबें पढ़ता रहा...राजनीति के उस नेता की बातें पढ़ता रहा जिसने रोटी को ही जीवन का सम्पूर्ण केन्द्र मानकर उसको जीवन से लेकर विचार तक का प्रधान तत्व बताया था। लेकिन उसे वह सब नीरस लग रहा था। वह सारी व्याख्या कहीं बीच से टूटी हुई मालूम पड़ती थी। तब उसने उस पुस्तक को बन्द कर दिया और बच्चों की नर्सरी कवितायें पढ़ने लगा, उनकी छोटी-छोटी तुकों में अनहोनी काल्पनिक उक्तियों में उसे अधिक रस मिलने लगा। शायद वह उन भावनाओं को ज़्यादा पवित्र और ज्यादा सुगम समझता था। क्षण भर के लिये अपने तमाम दिमागी बोझ से उसे मुक्ति मिल गई और वह सो गया।

रात के ८-नौ बज चुके थे। अंजलि ने काफी देर तक रहिम की प्रतिक्षा

की और उसके न आने पर वह स्वयम् महिम के घर की ओर चल पड़ी। कहाँ और किस ओर जा रही थी, किन स्थितियों से, किन गलियों और सील से लदे मकानों को पार करके वह महिम के दरवाजे तक पहुँची थी इसका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं था। सहसा जब वह महिम के दरवाजे पर खड़ी हुई, कमरे के अन्धेरे वातावरण और सील से भिने और महकते दुर्गन्ध की बू उसके नाक में फट पड़ी तो उसे ध्यान आया कि वह किसी ऐसे स्थान पर आकर रुक गई है जहाँ से आगे बढ़ना उसके लिये कठिन हो गया है। उसने खिड़की से झाँक कर कमरे के भीतर देखा। उस तमाम टूटे-फूटे वातावरण को देखा जिनमें महिम शान्त और निस्तब्ध होकर सो रहा था। जिस बाँस की कुर्सी पर अपनी आधी टाँग नीचे की ओर बेरहमी से फैलाये महिम सो रहा था उसकी प्रत्येक गाँठ जोड़ से मुक्त हो रही थी। कमरे की हर एक चीज़ पर धुँआ, गर्द और कालिख की तहें जमा थी और उस घुटते हुये वातावरण में यदि कहीं भी स्वास्थ्य या सौन्दर्य या स्वस्थ हँसी की आभा दिखलाई पड़ती थी तो वह उन कैलेन्डरों की प्रतिमाओं में थी जो दीवार पर खामोश और निरीह सी चिपकी हुई थी। उस घुटते हुये वातावरण में केवल बगल की खिड़की से सड़क के म्यूनिसिपल लेम्प पोस्ट की रोशनी छनकर भीतर प्रवेश कर रही थी। उस धुँधली रोशनी में टिक्का छाप की दियासलाई की डिबिया कुछ अजीब उदासी लिये चमक रही थी।

अंजलि ने बहुत धीमे से कमरे का दरवाजा खोला। दियासलाई जलाकर उस टेढ़ी चिमनी वाले लालटेन को ढूँढा जिसकी जर्जरता के प्रकाश में महिम ने अपनी थीसिस से लेकर अधूरे उपन्यासों की अनगिनत प्रतिलिपियाँ लिख कर छोड़ दिया था। लालटेन जलाने के बाद वह थोड़ी देर चुपचाप खड़ी रही। फिर उसने रद्दी काग़ज़ों को इकट्ठा करके चाय बनाई...और जब चाय बना चुकी तो उसने महिम को जगाया। महिम ने आँखें खोली। सामने अंजलि को देखकर वह कुछ विस्मित हो गया। फ़िर चाय को हाथ में लेकर वह बिना कुछ बोले ही चाय की चुस्कियाँ लेने लगा। थोड़ी देर बाद बोला—"अंजलि क्या तुम समझती हो कि यह समाज... हमारा तुम्हारा व्यक्तित्व यह सब स्वीकार कर सकता है। यह सब जो कुछ हो रहा है।"

"इसका सवाल ही कहाँ उठता है। हर जगह समाज को लाकर खड़ा करने की क्या ज़रूरत है...समाज है जहाँ है...यहाँ उसकी कोई जरूरत नहीं है।"

"ऐसा कहने से तो काम नहीं चलेगा। उसके सामने हमें तुम्हें कभी न कभी उत्तर देना पड़ेगा। उसके चंगुल से बचकर निकलना कठिन है असम्भव है।"

"खैर! अभी सिर्फ चाय पीना ज़रूरी है। अगर इस बीच में आप के निकट समाज आता है तो मुझे बताइये मैं उसका कान पकड़ कर निकाल दूँगी। इस कमरे के बाहर...इस गली कूचे के बाहर..."

महिम चुप हो गया। चाय पी चुकने के बाद वह अपनी ढीली-ढाली बाँस की चारपाई पर पैर फैला कर लेट गया। अंजलि पास वाली कुर्सी पर बैठ गई। दोनों काफी देर तक एक दूसरे को देखते रहे। महिम की दृष्टि बार-बार अंजलि के उन हाथों की ओर जा रही थी जिसमें रंग-बिरंगी चूड़ियाँ पड़ी थी। उसके समस्त शरीर से जैसे कोई मूक आमन्त्रण उसे बार-बार अपनी ओर खींच रहा था। अंजलि भी मौन, निरपेक्ष सी बैठी महिम के इस अस्तव्यस्त जीवन के बीच उस गहराई को देख रही थी जिसमें कहीं पर कोई ऐसी शक्ति थी जो उसे बार-बार अपनी ओर बुला रही थी। दोनो ने एक क्षण तक एक दूसरे की ओर देखा...और फिर महिम एक झटके के साथ चारपाई से उठा और उठकर कमरे मे टहलने लगा। टहलते-टहलते उसने अपने कमरे का दरवाजा खोला और कुछ तेज़ आवाज़ में बोला, "जाओ? अभी-अभी इस कमरे के बाहर निकल जाओ, नही तो..."

"नही तो...? कहते-कहते रुक क्यों गये। कुछ कहो। मैं जानती हूँ इस समय भी तुम्हारे दिमाग में कोई छोटी बात नही होगी ... कोई बड़ी ही बात कहोगे। हर बड़ी बात में कहीं कुछ ऐसा ही थोथापन होता है..."

"जानती हो तुम्हारे यहाँ रहने का क्या मतलब है।" और यह कहते-कहते वह अंजलि के बिल्कुल निकट आ गया। उसने अपने दोनों हाथों से अंजलि के कन्धों को पकड़ लिया। उसे खड़ा कर दिया। फिर उसने उसके खुले हुये केशों को उसके मुख के चारो ओर लपेट दिया। बड़ी देर तक वह जाने क्या उसकी निश्चल सी गम्भीर आँखों में पढ़ता रहा। अंजलि के कम्पित ओठों और उसके लाल पड़े हुये कपोलों पर अपना हाथ रख कर अनुभव करता रहा। उसे लगा अंजलि एक ठंडी बर्फ की सिल है जो उसके हाथों के बीच गलती जा रही है। दूसरे ही क्षण उसे लगा जैसे वह अपने दोनों हाथों में आग के दहकते हुये अंगारे लिये हुये है...जैसे उसके हथेलियों में कोई गहरी आँच है जो उसके दिल और दिमाग दोनों को पिघलाती जा रही है और तब अंजलि को छोड़ दिया। एक निराधार...निरावलम्ब गतिहीन जीवन की भाँति अंजलि चारपाई पर गिर पड़ी...और तब उसने अपना चेस्टर पहना। जेब में सिग्रेट का पैकेट रखा और कमरे के बाहर चला गया...शहर से दूर...एक पुलिया पर चुपचाप, खामोश बैठा हुआ वह वातावरण के शान्ति स्वरों में अपने को और अपने जीवन के तथ्यों को टटोलने लगा।

उसे अपना राजनैतिक जीवन याद आने लगा। जेल के सीखचों के भीतर की ज़िन्दगी, उपवास, भूख, ताड़नाओं और विद्रोह के दुखते हुए संस्मरण याद आने लगे। उसे लगा उस समय उसमें विद्रोह की शक्ति अधिक थी। वह किसी भी व्यवस्था का खंडन कर सकता था...आग और पानी के साथ खेल सकता था...जीवन को किसी भी दिशा में मोड़ सकता था...आज उसे अनुभव हो रहा था जैसे वह कही, किसी स्थल पर ज़रूरत से ज्यादा सख्त हो गया है...आवश्यकता से ज्यादा जकड़ गया है। कहीं कोई जंग है जो उसकी समस्त चेतना को कुन्द बनाये जा रही है। लेकिन फिर उसे राजनीति की अनैतिकता भी साफ़ दिखलाई दी...जहाँ केवल नारो तक मनुष्य की प्रतिभा काम करती है...केवल झंडों तक उसकी अनुभूति सीमित है...दर्द की उपयोगिता पर दर्द से अधिक आस्था है। बनावटी दर्द पैदा किया जाता है...भाषणों में शत प्रतिशत नहीं तो ५० प्रतिशत झूठ बोलना जायज़ समझा जाता है। संघर्ष, विरोध...क्या इनसे पृथक् राजनीति सम्भव नही थी। आदमी का स्वर कहाँ था उसमें? अन्तर पीड़ा की स्वाभाविकता कहाँ थी? सारा सब कुछ प्रदर्शन था, केवल प्रदर्शन...प्रदर्शन, इसलिए और भी क्योंकि उससे सामाजिक अहम् की तृष्णा शान्त होती थी।

महिम अभी इन्हीं, किन्हीं उलझनों में खो-सा गया था। अंजलि की भी स्मृति उसके सामने नही थी। उसके सामने केवल उसका ही जीवन था .. उसका यथार्थ रूप उसकी कटुता के साथ-साथ उसकी अर्द्ध चेतन भावनाओं के भीतर जमी हुई तहें थीं। रात अँधेरी थी। चारों ओर सन्नाटा था। नदी के उस पार वाले गाँव से हँकवारे की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। इस जीवन में जिस विराम के सहारे वह बैठा था वह ढहाता हुआ सा प्रतीत होता था। अभी वह इनहीं चिन्ताओं में मानसिक उथल-पुथल में शून्य रिक्त सा बैठा था कि सहसा किसी ने बग़ल में आकर कहा...

'हियर इज़ लाइट...हैव यू ए सिग्रेट...लाइट इट इफ़ यू लाइक।'

महिम की तन्द्रा सहसा टूट गई। सिग्रेट की याद के साथ-साथ उसने देखा कि उसके बगल में कुछ अजीब सा आदमी खड़ा है। पहले-पहल उसको देख कर वह कुछ भयभीत सा हो गया लेकिन फिर जब उसने गौर से देखा तो लगा कोई पागल है, सनकी, झक्की की तरह लग रहा था। महिम ने चुपचाप अपने जेब से सिग्रेट निकाला। एक सिग्रेट उसकी ओर बढ़ाते हुए बोला...

"सिग्रेट..."

"व्हाट नाट?" इतनी सी आग ले करके हम क्या नही कर सकते। सिग्रेट की भी एक एथिक्स है कामरेड...इतिहास के महान् से महान् घटना के पीछे सिग्रेट ने

एक स्टिमुलेन्ट का पार्ट अदा किया है। प्रत्येक विद्रोह सिग्रेट से सम्बन्धित है।"

महिम आश्चर्य चकित सा उसकी ओर देखने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह बहुत कुछ खोकर के भी कुछ पा रहा है। आदमी महज पागल या सनकी नही है। पढ़ा-लिखा पागल है। पढ़ा-लिखा सनकी है। उसको बिना छेड़े ही वह उसकी बातों का रस लेने लगा। सिग्रेट के दो चार कश खींचने के बाद वह बोला...

मैं इस देश का राष्ट्रपति हूँ। जानते हो आज मैं इस हालत में हूँ तो क्या हुआ...कल मैं क्या करूँगा इसे तुम नहीं जान सकते और अपने चेस्टर की फटी जेब से उसने एक सरकारी लिफ़ाफ़ा निकाला। कटा-फटा, सड़ा-गला लिफाफा जिसमें एक कागज़ों का पुलन्दा भरा था। फिर उसने एक मोमबत्ती निकाल कर जलाई और कहने लगा...

"आग की कसम खाकर कहो कि जो कुछ भी मैं कहूँगा या दिखाऊँगा उस पर तुम विश्वास करोगे...उसे झूठा नहीं मानोगे। महिम ने ऐसा ही किया और तब उसने एक-एक करके तमाम, कागज दिखाने शुरू किये। उसके लिफ़ाफे में अखबार के टुकडे, नई-पुरानी तस्वीरें, नक्शे ओर इसी प्रकार के हकीम के नुस्खे से लेकर कूड़े-करकट में पड़ी हुई धोबी की किताब तक उसने उन सबको महिम के सामने रख दिया। साथ ही साथ वह जाने क्या-क्या शुद्ध अंग्रेजी में बकता रहा। जब महिम कुछ नही बोला तो खीझ कर उसने कहा—

"अंग्रेजी नहीं जानता...क्या करेगा दुनिया में?" महिम फिर भी खामोश रहा। अपने पुलिन्दे को समेटते हुए उसने कहा—

"नवजवान! स्कूल से भागना छोड़ो, पढ़ो-लिखो, काम-काज करते जाओ—यह अच्छा है...थोड़ी देर तक मौन रह कर वह बोला...तुमको ग्रामर आती है—आई मीन. लैंग्वेज...लेग्वेज मीन्स कैनोटेशन्स सिण्टैक्स, आर्टिकिल्स डेफिनिट एण्ड इनडेफिनिट बाथ...पार्टसिपल्स, कंजक्सन्न्स—"

"मैंने मास्टरी की है। उस जमाने की मास्टरी की है। जब अंग्रेज हेड मास्टर हुआ करते थे। नेस्फील्डड ग्रामर पढ़ाया जाता था। आजकल तो मज़ाक होता है... मज़ाक और यह सब जो हो रहा है यही भगवान की माया है।"

अपनी बात को कहते-कहते वह उत्तेजित हो गया। अजीब किस्म की लाल-पीली टोपी निकाल कर उसने अपने सर पर रख लिया। सरकन्डे की बनी हुई ऐनक नाक पर रख ली। गन्दे, बदबूदार पेन्ट की सिकुडी हुई क्रीज को झाड़ पोंछ लिया। कोट की जेब से एक गन्दी किनारी निकाल कर उसने अपने गले में बाँध लिया और फिर तन कर बोला—

"डू यू नो, ? गाड इज वन, एबस्ल्यूट, इन्डिविजिबिल...एबस्ल्यूट लाइक सावरेन्टी इन्डिविजिबिल लाइक ए स्पार्क।"

यह वाक्य उसके लिए काफी महत्वपूर्ण था। प्रत्येक शब्द पर प्रत्येक उच्चारण पर दाँत पीस-पीस कर जोर दे दे कर वह यह कहता जा रहा था। बहकते-बहकते वह पेड़ो पर, चीटियों और सड़कों तक आ पहुँचा। बोला—

"यह सड़क जिसके किनारे यह मोमबत्ती जला कर हम तुम बैठे हैं यह लार्ड चेम्सफौर्ड के जमाने में बनी थी। इस सड़क का नाम भी डिक रोड है। डिक यहाँ का कलेक्टर था। आई हिट हिम। ही वाज ए सिनिक। मैंने उसे ठीक कर दिया। ही वाज सफरिंग फ्राम मेन्टल मेटामारफोस। तिलक, गाँधी आल आफ देम वेयर माई डिसाईपिल्स...आई एम दि परमानेन्ट क्वेश्चन मार्क...दे रेड मी एण्ड वेन्ट अवे फ़ार ए परमानेण्ट सल्यूशन आफ़ माई क्वेश्चन। फिर वे कभी वापस नहीं आये...मे दे बी इन पीस...बट ह्वाट पीस...पीस हैज़ बिकम डेविल्स डलनेस, एण्ड आइ से डेविल्स इज़ मोर पावरफुल दैन गाड...ही कैन नेवर बी डल।"

रात काफी हो चुकी थी। सड़क का सन्नाटा गहरा हो गया था। उसकी लम्बी दाढ़ी, लम्बे बाल, गुदड़ियों का लबादा और बोलचाल...सब भय उत्पन्न कर रहे थे। महिम वहाँ से उठकर चलना चाहता था लेकिन उसने हाथ पकड़ कर बैठा लिया। बोला—

"तुम जाओगे कहाँ बेटा...इस ज़मीन का इंच इंच मेरा है क्योंकि मैं ऐबस्ल्यूट हूँ...इनफ़िनिट हूँ...आल पार्वडिंग हूँ.. आई ऐम ए क्वेशचन मार्क... परमानेन्ट क्वेशचन मार्क।"

लेकिन इतने में दो कुत्ते हाँफते हुए आये। उनकी आवाज़ सुनकर वह वहाँ से उठकर भागने लगा। जलती हुई मोमबत्ती को उसने अपने जेब में रख लिया। कागज का लिफाफा उठाकर हाथ में ले लिया और चलते-चलते बोला—

"यह आवाज़, यह कुत्तों की आवाज़ बड़ी खतरनाक होती है। भागो...भाग जाओ..." और यह कहकर वह दौड़ता हुआ पुल के उस पार चला गया। दूसरी ओर से बड़ी तेज़ी के साथ कुत्ते उसे दौड़ा रहे थे...वह कहता जाता था...आई विल नेवर एग्री टू योर वार्डक्ट आफ रिवोलियूशन। आई ऐम ए परमानेण्ट एग्रेवेशन आफ योर बर्किंग साऊण्ड।

और जब महिम उठ कर खड़ा हुआ तो उसने देखा...उस पागल और सनकी आदमी के जेब में आग लग गई थी। लपटें तेज़ हो गई थीं और कुत्ते उसके ऊपर बार-बार हमला कर रहे थे। और वह बार-बार चिल्लाता हुआ—"बचाओ...बचाओ के

नारे लगा रहा था। महिम तेज़ गति से दौड़ता हुआ उसके पास पहुँचा। कुत्तों को उसने अलग किया। उसका जलता हुआ कोट बचाया। फिर खामोश होकर दूर खड़ा हो गया। थोड़ी देर तक वह पागल, सनकी व्यक्ति खामोश होकर कुत्तों को देखता रहा लेकिन फिर उसने महिम की ओर मुड़ कर कहा—

"तुम कौन हो...क्या मसीहा बनना चाहते हो...मुझे आग से बचाने का अधिकार तुम्हें किसने दिया था...तुमने इन कुत्तों के भूँकने की आवाज़ को बन्द क्यों कर दिया...यू काउवार्ड।" और दूसरे ही क्षण उसने महिम के गाल पर कसकर एक तमाचा लगा दिया। महिम को क्रोध तो जरूर आया लेकिन कुछ बोला नहीं। चुपचाप उलटे कदम अपने घर की ओर वापस हो गया।

रास्ते भर उसके दिमाग़ में एक तूफान-सा उठता रहा। उसे अच्छा, बुरा, नेक, बद यह सब जैसे निरर्थक-सा लग रहा था और जब वह उन तंग गलियों में से होकर गुज़र रहा था, उस सीड़ और बदबू में प्रवेश कर रहा था, तब उसे लगा जैसे वह स्वयम् से पूछ रहा हो..."तुम कौन हो...क्या मसीहा बनना चाहते हो...यू काउवार्ड।"

लेकिन कमरे का दरवाजा खोलकर जब उसने अन्दर प्रवेश किया तो देखा अंजलि अब भी चारपाई पर पड़ी जग रही है...लालटेन की रोशनी यद्यपि मद्धिम थी फिर भी म्यूनिसिपल लैम्प पोस्ट की छनती हुई रोशनी जो अंजलि के चेहरे पर पड़ रही थी काफ़ी गाढ़ी थी और अंजलि की भाव-मुद्राएँ इस प्रकाश में काफी उभर कर आ रही थी। कमरे की कुर्सी पर अभी वह बैठा ही था कि अंजलि ने कहा—
"क्या हुआ...अपना समाज तुम साथ लाये हो या उसे अब भी कमरे के बाहर छोड़-कर चले आये हो।"

महिम ने उत्तर नहीं दिया। अंजलि ने फिर पूछा—

"किस नतीजे पर पहुँचे...समाज जल्लाद है कि भगवान ? क्या कहा उसने तुमसे...तुम तो मेरी परछाईं से डर कर भाग गये थे न..."

और यह कहते-कहते वह चारपाई से उठ कर बैठ गई। अँगीठी अब भी जल रही थी। केटली में पानी उबल रहा था। पास में रखा हुआ चाय का पैकेट अपने चाँदी की वर्कों में दबी काली पुड़िया लिए निरीह-सी वातावरण में डूबा लगता था। महिम अपने दोनों कन्धों के बीच अपना सिर डाले जाने क्या-क्या सोच रहा था, उसके सामने वही पागल आदमी, उसकी बातें, कुत्तों के भूँकने की आवाज़ें, आग, गालों पर पड़े हुए तमाचे, उभरी हुई उँगलियाँ, तस्वीर बन कर नाच रही थीं। उसका जी नहीं हो रहा था कि अंजलि के किसी भी व्यंग्य का प्रतिकार करे। इसीलिए वह मौन

रूप से सारी बातें बिना किसी प्रतिक्रिया के सुनता जा रहा था। चाय की एक प्याली बनाकर सामने के स्टूल पर रखते हुए अंजलि ने कहा—"चाय पीजिये...डरने की कोई बात नहीं है...जब तक मैं यहाँ हूँ समाज की यहाँ आने की हिम्मत नहीं पड़ सकती।"

"क्यों ?"

क्यों का प्रश्न सुनते ही जैसे अंजलि की समस्त सुप्त वेदनाएँ जग उठीं। आवेश और आक्रोश में अपनी समस्त प्रतिक्रिया के विस्फोट को वह रोक नहीं सकी। बोली—

"इसलिए कि समाज का एकांगी व्यंग्य मैंने देखा है...जो असामाजिक हैं उनके वीभत्स और नंगे नृत्य को मैंने भोगा है, जो सामाजिक हैं उनकी भीरुता और कायरता का साक्षात्कार किया है। उन सामाजिक व्यक्तियों को क्या कहोगे जो दरवाजे बन्द करके दरवाजों की दराज़ से केवल देखते रहते हैं, तर्क-वितर्क करते रहते हैं जब कि ठीक उनके घर के सामने चौराहे पर अनेक प्रकार के पाशविक नृत्य हो कर आदमी को तोड़ देते हैं।"

"तुम्हारा मतलब मैं नहीं समझा।"

"मेरा मतलब ? वह तो बड़ा स्पष्ट है मेरे लिए। तुम्हें मालूम है न मैं बंगाल से आई हूँ।"

"हाँ तो।"

"हूँ...आ गये न अपनी पुरानी सीमा में। मेरा यह प्रश्न नहीं है। मैं स्वयम् प्रश्न चिह्न हूँ और तुमसे यह पूछना चाहती हूँ कि जब मैं रात भर विद्रोही गुण्डों के कमरे में बन्द थी...जब उनकी हिंसक आँखें मुझे दबोच लेना चाहती थीं। मेरे सारे शरीर को वह मसल कर रख देना चाहते थे...तो कहाँ था तुम्हारा समाज।"

"वहीं ठीक वहीं...जहाँ यह सब हो रहा था...जहाँ तुम बन्द थीं...अगर ऐसा न होता तो तुम आज यहाँ न होतीं...उन्हीं गुण्डों के साथ होतीं।"

"और जो अब भी वहाँ हैं...पशुओं से भी बढ़कर जो वेश्याओं की तरह जीवन बिताने के लिए मजबूर हैं क्या उनके साथ भी तुम्हारा समाज है...यदि समाज में इतना पुरुषार्थ है तो क्यों नहीं उन्हें यहाँ ले आता...क्यों नहीं तुम वहाँ जाकर उनकी रक्षा की बात सोचते।"

अब महिम बिल्कुल खामोश हो गया। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। रहा-सहा साहस भी टूटने लगा। उसके जी में बार-बार यही आता था कि वह कहे।

"मेरे पास इसका उत्तर नहीं है...क़तई नहीं है।" लेकिन मुँह से यह वाक्य नहीं निकल रहा था। उसके जी में आता था कि वह अंजलि की ज़बान बन्द करके

कहे—"आदमी की एक सीमा है अंजलि...आदमी कितना दौड़ता है पर उसे मिलता क्या है ? शायद आदमी यह चाहता तो जरूर है कि वह सारे यश, प्रेम और श्रद्धा को अपने में समेट ले, पर कितना, किस सीमा तक वह समेटे, आदमी एक नियमित अनुपात तक ही दौड़ सकता है...उसके आगे नहीं।"

लेकिन फिर भी महिम के मुँह से यह शब्द नहीं निकल रहे थे। वह चुपचाप निश्चेष्ट और निर्जीव-सा अंजलि की सारी बातें सुनता जा रहा था और अब अपने आवेश में अंजलि महिम पर कस-कसकर चोटें कर रही थी। बोली—

"कहिये दार्शनिक महोदय क्या सोच रहे हैं। आखिर दुनियाँ गोल है ... और सूरज के चारों ओर धरती ही नाचती है। फिर अब कौन-सी उलझन है ? कौन-सी परेशानी है ?"

यद्यपि अंजलि का यह व्यंग्य बड़े तीखे रूप से महिम को विक्षिप्त करता हुआ उतर गया लेकिन फिर वह कुछ झुँझला कर बोला—

"हाँ यह सच है कि धरती नाच रही है। दुनिया गोल है। लेकिन केवल इतने ही से आदमी को सन्तोष क्यों नहीं होता ? सब कुछ होते हुये भी वह अप्रत्याशित से इतना आतंकित क्यों है ? उसे भविष्य के प्रति विश्वास क्यों नहीं है ?"

"यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है महिम ! तुम जाने क्या क्या सोचते हो। मैं इतना नही सोच पाती। तुम मेरे साथ रहते हो। जाने क्या-क्या सोचकर मैंने अपने टूटे जीवन को फिर से तुम्हारे साथ प्रारम्भ करना चाहा था लेकिन विश्वास मानो मैं तुम्हारी तरह नहीं सोच पाती। कभी-कभी तुम्हारी बातों को सिर्फ सुनने का जी चाहता है। लेकिन कभी-कभी जी में यह भी आता है कि मैं तुम्हारी बातों पर जी खोल कर हँसूँ और इतना हँसूँ कि तुम चिढ़ जाओ और उठ कर चले जाओ।"

अंजलि जब यह बात कर रही थी तब सुबह हो चुकी थी। कुहासे से लदी हुई धरती पर अन्धेरा ज़रूर था लेकिन प्रकाश की तेज़ किरणें उनको विनष्ट करके आगे बढ़ती आ रही थीं। अंजलि कुछ और कहना चाहती थी लेकिन महिम ने उसे रोक दिया। बोला...

"तुम व्यवस्थाहीन हो अंजलि...केवल व्यवस्थाहीन..."

"तुम व्यवस्था की बात करते हो ? मैं पूछती हूँ कहाँ है व्यवस्था ? जीवन की किस दिशा में है व्यवस्था ? तुम्हारे जीवन में ? मेरे जीवन में ? डाक्टर सन्तोषी के जीवन में ?, तुम सब आस्थाहीन हो। मैं भी हूँ। अन्तर केवल इतना है कि तुम व्यवस्था तोड़ नहीं पाते...मैं उसे तोड़ना चाहती हूँ।"

और केवल इतनी-सी बात कह कर वह कमरे के बाहर चली गई। उसके जाने के बाद महिम की चिन्ता कुछ और बढ़ गई। उसका दिमाग़ कुछ अधिक खिन्न हो गया। वह उठकर कमरे में टहलने लगा। अंजलि के आरोपों का उत्तर ढूँढने लगा। अपने अन्तर-मन को टटोलने लगा और उसे लगा जैसे वह समाज से नहीं अपने से भयभीत है, अपने उस व्यक्तित्व से...अपने उस अस्तित्व से भयभीत है जिसे उसने समाज को समर्पित कर दिया है...जिसमें शेष कुछ भी नहीं बचा है।

उस दिन के बाद से अंजलि और महिम से फिर भेंट नहीं हुई। महीनों बाद वह फिर अंजलि के यहाँ गया। वही डाक्टर सन्तोषी का कमरा। ख़ाली सुनसान आलमारियों पर मिट्टी की मूर्तियाँ अकेले लुढ़की हुई थीं, शीशहीन खंडित डाक्टर संतोषी की मूर्ति भी औंधी पड़ी थी। कमरे में एक उदासी सी छाई हुई थी। कई बार "काल बेल" दबाने के बाद प्रतिभा बाहर आई। प्रतिभा को देख कर महिम कमरे से बाहर निकल आया। बरामदे में पड़ी हुई कुर्सियों पर दोनों बैठ गये। बड़ी देर तक बातें होती रहीं। महिम ने डाक्टर सन्तोषी के बारे में पूछा...फिर अंजलि के बारे में। प्रतिभा के स्वास्थ्य की बात चली...जसवन्त की छुट्टी तक आकर वे सारे विषय समाप्त हो गये जिन पर प्रतिभा से बातचीत की जा सकती थी। इसी सिलसिले में महिम को यह भी मालूम हुआ कि अंजलि किन्हीं "प्रकाश" के साथ पहाड़ों पर गई है और आज ही कल में वापस आने वाली है। बात बढ़ते-बढ़ते अंजलि के विषय पर आकर रुक सी गई। प्रतिभा ने कहा...

"अंजलि में सब कुछ ठीक है लेकिन उसमें जो व्यवस्था को न मानने की प्रवृत्ति है यही उसे एक दिन जोखिम में डाल देगी। यह आस्थाहीनता खतरनाक है।"

"उसका विश्वास ही आदमी के प्रति नहीं है। वह मेरे ऊपर विश्वास नहीं करती। उसे शायद अपने ऊपर भी विश्वास नहीं है। शायद वह हर आदमी को अपने से छोटा समझती है..."

"लेकिन प्रकाश भी वैसा ही है...कहने को तो अपने को बहुत बड़ा व्यक्ति कहता है लेकिन..."

महिम चुप रहा। अंजलि की बात समाप्त करके उसने डाक्टर सन्तोषी के विषय में पूछना शुरू किया। प्रतिभा ने इतना बतलाया कि वह किसी स्थान पर आत्म-हत्या करने का प्रयास कर रहे थे लेकिन वह प्रयास भी असफल रहा केवल घायल और जख्मी होकर रह गये हैं। अपना पता उन्होंने नहीं लिखा है। अज्ञात बनकर रहना चाहते हैं...

"लेकिन आपको उनका पता तो लगाना चाहिये था..."

"जब वह नहीं चाहते तो मैं ऐसा कर भी कैसे सकती हूँ। वैसे मेरा यह ख़्याल है कि अंजलि के आने के बाद मैं भी यहाँ से चली जाऊँ। अकेले रहते-रहते जी ऊब गया है।"

"कहाँ जायेगी?"

"जसवन्त के पास और कहाँ..."

महिम प्रतिभा से बात करते समय यह अनुभव कर रहा था कि प्रतिभा किसी विशेष मानसिक उलझन में है। लगता था उसने सोचना बन्द कर दिया था। एक विन्दु पर पहुँच कर वह स्थिर रहना चाहती थी। जैसे यह स्थायित्व जो उसने अपने ऊपर लाद लिया है, ठीक वैसे ही जैसे उसने वह व्यवस्था अपने ऊपर लाद लिया था जिसका कि वस्तु रूप ही उसे स्वीकार था तथ्य नहीं, उससे वह ऊब चुकी है। महिम यह अनुभव कर रहा था कि प्रतिभा अब केवल अपनी पूर्व स्थिति में ही रहना चाहती है और जसवन्त जैसे न्यूट्रल फ़ोर्स को फिर से सशक्त बनाने की चेष्टा में है। बात कुछ और आगे बढ़ने वाली थी कि सहसा ताँगे पर अंजलि और प्रकाश भी आ गये। माली ने सामान वग़ैरह उतारा। प्रकाश और अंजलि बरामदे में आकर महिम और प्रतिभा के पास बैठ गये। महिम ने प्रकाश को ऊपर से नीचे तक कई बार देखा। उसके चेहरे पर अङ्कित रेखाओं को वह गौर से पढ़ता रहा। भीतर से कुछ सन्देह उगते लेकिन वह उन्हें दबा देता। अंजलि बहुत थकी थकी-सी मालूम होती थी। उसकी उनींदी-सी आँखें जैसे झुकी-सी जा रही हैं...

"पहाड़ों की ज़िन्दगी भी तुमने देख ली अंजलि ..."

"जी हाँ...ऊसर, रेगिस्तानों से तो कहीं अच्छी होती है। खतरे हर कदम पर रहते हैं लेकिन वे खतरे फीके नहीं होते। वे खतरे किस काम के जो केक्टस के फूल से उगते हैं—हमारे बावजूद उगते हैं...रेगिस्तान में उगते हैं..."

"कोई भी खतरा फीका नहीं होता...भूखा अवश्य होता है। हर खतरा ज़िन्दगी का भूखा होता है।"

"ख़ैर तबियत तो ठीक है," अंजलि ने व्यंग्य से पूछा।

"खराब भी तो नहीं थी..."

इस बीच महिम और प्रकाश दोनों एक दूसरे को दूर से समझने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन दोनों ही एक दूसरे से अपरिचित थे। इसलिये ख़ामोश रहे...थोड़ी देर तक महिम वहाँ और बैठा रहा और फिर उसने प्रतिभा से कहा..."फिर कभी आऊँगा...ज़रूरत हो तो बुलवा लीजियेगा..."

"ठीक है...वैसे जब तक मैं यहाँ हूँ तुम अगर आते रहो तो ज्यादा अच्छा है..."

"कोशिश करूँगा..."

उसके बाद महिम केवल दो-चार बार प्रतिभा के यहाँ गया। थोड़े दिनों बाद प्रतिभा जसवन्त के साथ काश्मीर चली गई। अंजलि और प्रकाश ही वहाँ रह गये। महिम ने इस बीच वहाँ जाना उचित नहीं समझा। अंजलि के व्यंग्य उसे अप्रिय तो थे ही साथ ही साथ अशोभनीय भी लगते थे। प्रकाश को महिम विशेष रूप से नहीं जानता था। केवल इतना ही उसके लिये पर्याप्त था। उसने प्रकाश को अधिक जानने की कोशिश भी नहीं की लेकिन वह इतना ज़रूर जानता था कि एक न एक दिन अंजलि किसी भयानक संक्रामक परिस्थिति में पड़ेगी क्योंकि इस बीच अंजलि अपने प्रति भी ईमानदार नहीं थी। वह केवल परिस्थितियों द्वारा संचालित हो रही थी। परिस्थितियों का विरोध करने का उसमें साहस नहीं था।

इस घटना को बीते लगभग साल भर हो चुके थे। धीरे-धीरे वे मानसिक तूफ़ान जिन्हें अंजलि ने उठाये थे शान्त हो चुके थे। महिम ने इस बीच किसी अख़बार में नौकरी कर ली थी लेकिन उस नौकरी से जितना मिलता था वह केवल चाय-पानी के लिये ही काफ़ी था। मकान की वैसी ही हालत थी, साज़ वो सामान की भी वैसी ही दशा थी। इस बीच कुछ जासूसी उपन्यासों की प्रतियाँ अवश्य उसके कमरे में पड़ी थीं जिन्हें उसने नौकरी करने के बाद पढ़ना शुरू किया था। अब जाने क्यों उसकी रुचि बड़ी-बड़ी किताबों में नहीं थी। जासूसी किताबें वह इस लिये पढ़ता था क्योंकि झूठे आतंकों में अपने दिमाग़ को खपा कर उन अनावश्यक आतंकों से बचना चाहता था जो बार-बार उसको परीशान किया करते थे।

एक दिन काफी रात बीते वह आफिस से लौट कर घर वापस आ रहा था। न जाने क्यों उसे रह-रह कर अंजलि याद आ रही थी। अपने दिमाग को झटके दे-दे कर वह अंजलि की स्मृति अपने पास से दूर हटाता जाता था लेकिन फिर भी वह उन अपवादों से बचने में असमर्थ था। घर पहुँचते ही उसने बरामदे में अंजलि को बैठे देखा। आज उसके चेहरे पर आक्रोश या प्रतिक्रिया की भावना नहीं थी। उसके पीले चेहरे पर काली धारियाँ पड़ी हुई थीं और आँखों में एक भयानक उदासी-सी मालूम पड़ रही थी। सारा शरीर उबाले हुये घास-पात-सा लग रहा था। अंजलि को पहचानते हुये भी महिम ने अपरिचित बनकर पूछा...

"तुम कौन हो? यहाँ पर इतनी रात गये क्यों बैठी हो।"

"यों ही कोई खास बात नहीं। स्टेशन पहुँचने के पहले ही बारिश हो गई.. यहीं रुक जाना पड़ा..."

महिम का सन्देह और भी बढ़ गया। वह कुछ और पूछने वाला था कि उसने देखा बरसाती ओढ़े और आगे-आगे टार्च की रोशनी जलाये प्रकाश भी आ रहा था। महिम ने बहुत गम्भीर होकर पूछा...

"तुम भी आ गये...क्या प्रतिभा जी भी आ रही हैं..."

"नहीं..."

"क्यों, उन्हें भी तो आना चाहिये, इस देव-मन्दिर तक।"

"यह सब मत पूछो महिम... यह एक राज़ है...भयानक राज़..."

इतना कह कर प्रकाश उसे अलग ले गया। धीमे-धीमे स्वर में न जाने क्या कहा। महिम के चेहरे पर एक साथ कई रंग उतरते और चढ़ते रहे। कभी-कभी वह सूने आकाश क ओर देखने लगता और कभी बरामदे में दबकी और सहमी हुई अंजलि को देखता जिसके चेहरे पर न जाने कितनी पीड़ा, वेदना थी...शायद इतनी विक्षिप्त और परेशान थी कि सिवा दीवाल पर माथा टेकने के न तो कुछ कह पाती थी और न सुन पाती थी। महिम कुछ इन्हीं उलझनों में पड़ा था। प्रकाश कह रहा था...

"गलती तो हो ही गई है महिम...लेकिन गलतियों को छिपाना ही पड़ता है। हमें इस भूल को छिपाना ही पड़ेगा...अकेले अन्धकार में खून से रँगे हुये हाथों को दिन की रोशनी नहीं देख पाती...अगर इसे हम छिपा ले गये तो हो सकता है आने वाली जिन्दगी सुधर जाय..."

महिम की आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं लेकिन सारे आवेश और सारे आक्रोश को उसने दबा लिया और चुपचाप उसने। कमरे का दरवाजा खोल दिया और प्रकाश और अंजलि दोनों कमरे में चले गये। महिम काफी देर तक बाहर दरवाजे के पास ही खड़ा रहा। इस बीच उसने काफी सोचा, समझा, बार-बार अपनी हथेलियों पर मुक्की मार-मार कर अपने को सन्तोष दिलाने का प्रयास करने लगा... लेकिन फिर भी वह विवश-सा अनुभव कर रहा था...अपने को इस परिस्थिति में निष्क्रिय मानने के लिये तैयार नहीं था। बेचैन-सा कमरे के बाहर टहल रहा था...कम से कम उसने इस बीच पचासों चक्कर लगा डाले थे। आज उसके जीवन में ऐसी उलझन थी कि वह कहीं पर स्वयम् अपने को कमजोर पा रहा था। शायद इतना कम-जोर कि स्वयम् अपने को धिक्कारने के सिवा उसके पास कोई तर्क नहीं था...कोई भावना नहीं थी...यहाँ तक कि संगत-असंगत का ज्ञान भी नहीं था...और इसी बीच उसे अनुभव हुआ कि जैसे सारे वातावरण से दर्द पिघला पड़ रहा है, सारा अस्तित्व एक

चीख बनकर रह गया है...और तभी उसे एक आत्मग्लानि से भरे हुये उफ की आवाज सुनाई दी। एक बच्चे के रोने और चीख़ने की आवाज सुनाई दी। एक माँ के सिसकने की आवाज़ सुनाई दी। उसके साथ-साथ एक पुरुष का कठोर स्वर सुनाई दिया। सारा आतंक का वातावरण जैसे उसकी ओर उमड़ा पड़ रहा था। सहसा वह बड़े वेग से कमरे में घुस गया। प्रकाश के हाथ से उसने बच्चे को छीन लिया। उसे तौलिये में लपेट कर चुपचाप अपने बिस्तर पर लिटा दिया और फिर आवेश में बोला...

"भाग जाओ...तुम लोग भाग जाओ...अभी इस घर से भाग जाओ... तुम्हारे खून से रँगे हाथ रोशनी नहीं देखेंगे...तुम्हारे काले चेहरे की सफेदी अब भी बच जायगी...तुम जाओ...जाओ...जाओ..."

लेकिन प्रकाश और अंजलि दोनों छः-सात रोज़ तक उसी घर में बन्द रहे। उसके बाद एक रोज अन्धकार में वे घर से निकल कर चले गये और वह नवजात मांस का पिन्ड एक भयंकर अपवादों का संस्कार लिये महिम के पास रह गया और ज़िन्दा रह गया। वह उसे अपने सीने से लगाये रहा। लेकिन वह अपने अनुमान में ग़लत निकला...पुरुष होने के नाते वह जिस अपवाद को सहने का साहस रखता था वह भी उसके लिए असह्य हो गया। प्रत्येक अपवाद इतने भयंकर रूप में उसके सामने आने लगे कि उसका दिमाग़ चकराने लगा। लोगों ने उसे अनाचारी और व्यभिचारी कह कर पुकारना शुरू किया। सभी पूछने लगे...यह बच्चा किसका है? तुम्हें कैसे मिला? कहाँ से ले आए? क्यों ले आये? और वह घन्टों यही सोचता रह जाता कि वह उनको क्या उत्तर दे...यह सारे लोग जो उस से तर्क-वितर्क करने आये थे उन्हें कैसे सारी स्थिति समझा दे...कैसे...आख़िर क्यों और कैसे?

और धीरे-धीरे उसे समाज के इस रूप से घृणा-सी हो गई। पूछने वालों को वह खीझ कर उत्तर देता। कभी-कभी गालियाँ भी दे देता था। लोगों को अपने कमरे से बाहर निकाल दिया करता था। सोचता किसी भी व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करने वाले यह लोग कौन हैं? कौन हैं यह जो हमारे व्यक्तिगत जीवन में इतनी दिलचस्पी लेने के लिए तैयार हैं? किसी के दुःख, किसी की पीड़ा, वेदना, संवेदना में यह सहायता और सहानुभूति तो देते नहीं तो फिर इनको इस प्रकार प्रश्न पूछने का क्या अधिकार है? मैं स्वतन्त्र हूँ...चाहे जैसे रहूँ...चाहे जिस प्रकार जीवन व्यतीत करूँ, जब तक मैं किसी दूसरे मनुष्य के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं करता तब तक इन लोगों को इस प्रकार प्रश्न करने का कोई अधिकार भी तो नहीं है?

लेकिन अंजलि और प्रकाश के जाने के दो ही दिन बाद महिम के घर पर पुलिस वाले पहुँचे। पुलिस वालों ने भी महिम से उस नवजात शिशु के बारे में पूछ-ताछ की। घर की तलाशी हुई, कोना-कोना ढूँढ़ा गया। पूछा गया कि उस बालक के जन्म की सूचना म्यूनिसिपैलिटी को क्यों नहीं दी गयी? बालक के माता-पिता का नाम बताने से वह झिझकता क्यों है?

महिम ने पुलिस के इतने प्रश्नों में से एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दिया और तब पुलिस वाले उसे पकड़ कर जेल में ले गये। उसके ऊपर नाजायज बच्चों के अप-राध में सजा भी हो गई। पास-पड़ोस वालों ने गवाही दी। बच्चे की हत्या करने का अभियोग चलाया गया। बच्चा छीन लिया गया। पुलिस वालों ने उसके ऊपर आरोप लगाया कि यह अनधिकार रूप से इल्लीगल पैदा हुआ बच्चा है, न्याय वालों ने यह अनुमति प्रकट की कि यदि यह बालक महिम के पास रहेगा तो इस बच्चे की जान ख़तरे में रहेगी। वह नवजात शिशु फ़ौरन ही किसी अनाथाश्रम में भेज दिया गया। ख़तरा शब्द बहुत बड़े विस्तृत क्षेत्र का द्योतक है लेकिन जो सजा उसको भोगनी पड़ी वह महज़ इसलिए कि वह बच्चे को मार डालना चाहता था। उसकी हत्या करना चाहता था। इस सम्बन्ध में आँखों देखी गवाही के लिए पड़ोस के शराबी, जुआड़ी ही काफ़ी थे। अपने नये-नये जुर्मों को छिपाने के लिए उन्हें पुलिस को प्रसन्न करना था और पुलिस को अपनी कारगुज़ारी दिखलाने के लिए रोजनामचा भरने के लिए कोई न कोई नया अपराधी पैदा करना था और उसने वह किया, उसमें वह सफल भी रहा।

अदालत में महिम ने जो बयान दिया उसका सारांश यह था—

"ख़ूनी दोनों ही हैं, यह पुलिस वाले और वह प्रकाश और अंजलि। दोनों का अनियन्त्रित दुराग्रह है...अन्तर केवल इतना है कि एक ख़ून ख़ून को बचाने के लिए करता है, दूसरा ख़ून को रात के अँधेरे में छिपाने के लिये। लेकिन इसके बीच में मरता और खपता वह है जो अधिक भावुक होता है। अधिक संवेदनशील होता है।

उसने आगे कहा...

"म्यूनिसिपैलिटी में माता और पिता का नाम लिखने वाले या मरने-जीने की तारीखें लिखने वाले ख़ाना भर कर अपना फ़र्ज अदा कर देते हैं लेकिन इस जिन्दगी और मौत के बीच कितने और खाने हैं इसकी पैमाइश न उन्होंने की है और न उन्हें इसकी चिन्ता है।"

महिम को पाँच साल की सजा हुई। उसने अपने जुर्म की सफाई में कोई भी बात नहीं की। वह देखता रहा—यह न्याय, यह पुलिस, यह नैतिकता का उपचार... उसे लगा उसके चारों ओर विडम्बनाओं का एक भयङ्कर जाल है...आदमी से बढ़कर उसके यह नियम, यह भग्न रूप बड़े हो गये है...इन सब के सामने आदमी इतना छोटा-सा लगता है जैसे उसकी इकाई का कोई स्वत्व ही नहीं है...पुलिस को गवाह मिल जाते हैं लेकिन महिम को नहीं मिलते...अन्याय अपने को छिपा लेता है लेकिन न्याय को अपना ही प्रकाश नहीं मिल पाता...

कहते-कहते कैक्टेस के फूल ने कथा बन्द कर दी। मेरे हाथ पर बैठा हुआ अधूरा आदमी केवल कुनमुना कर रह गया। उसे कैक्टेस के फूलों की बातों में कहीं कुछ अटपटा-सा लगा, ऐसा लगा जैसे उसमें सब कुछ होते हुए भी महिम का वह रूप नही था जो आज है। उसने आगे कहा..."लेकिन महिम के जीवन का एक पहलू और भी है जिसे तुम नही जानते...और वह है उसकी अस्वाभाविकता...उसका वह टूटा हुआ व्यक्तित्व जिसने मास्टर दादा जैसे चरित्र का निर्माण करने का निश्चय किया है।"

"मास्टर दादा में सनक अधिक है तत्व कुछ नहीं," कैक्टेस के फूल ने कहा।

"हो सकता है उसके संकल्प में सनक अधिक हो तत्व कम हो लेकिन क्या यह सत्य नहीं है कि आज उस सनक का तत्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक आदमी में है।"

"लेकिन वह कोई बहुत बड़ी चीज़ नहीं।"

"हो भी सकती है...दुनियाँ में बड़ी कौन-सी चीज है...यह स्थितियों और परिस्थितियों पर निर्भर है..."

अधूरा आदमी

पाँच साल के ठहराव की स्थिति और मनःस्थिति के बाद मैं यह महसूस कर रही थी कि मुझ में वह ग्रहण शक्ति और स्मृति शक्ति आज शेष नहीं है जो आज से पहले मुझ में थी। आदमी का सन्दर्भ बदला हुआ है। इस बीच संसार में एक भयंकर युद्ध हो गया है। आदमी के हिंसक पंजों में सारे ग्लोब को दबा लेने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई है और आदमी की तस्वीर उस बेतहाशा शैतान की दौड़-सी मालूम हो रही है जो महज दौड़ना जानता है और दौड़ता रहेगा। उस समय तक उस घड़ी तक, जब तक कि वह अपनी इस शक्ति को खो नहीं देगा...इसे समाप्त नहीं कर देगा...जब तक वह अपने मस्तक पर रखे हुए बोझ को अपने ऊपर इतना नहीं भींच लेगा कि उसकी रीढ़ की हड्डियाँ ही चटख जायँ, टूट जायँ तब तक वह इसी विभीषिका पर नृत्य करता रहेगा। महिम जो मुझ से पहले से भी परिचित रहा है आज वह महिम नहीं है। लगता है वह न तो पूरा-अधूरा आदमी ही है और न कैक्टेस का फूल...वह उस बिखरे हुए सन्दर्भ का अंश है जो नष्ट होने के बजाय अपने को बिखेरने में ही ज्यादा सन्तुष्ट है।

और "मास्टर दादा"...जो एक भटकता सत्य है...उसे भी मैं खूब जानती हूँ। यह मेरी ही वक्ष पर उगा हुआ एक पात्र है जिस के निर्माण में मुझे भी कष्ट भोगना पड़ा है! वस्तुतः वह न तो अधूरा है और न टूटा हुआ, वह केवल बीच की एक खाँई है जिसे आज की कृत्रिमता और भावनाओं के गतिरोध ने जन्म दिया है...जो कुछ भी मास्टर दादा के बारे में महिम ने लिखा है वह इस प्रकार है :

उस दिन के बाद से न जाने क्यों महिम को पुलिया पर जा कर बैठने से बड़ा आराम मिलता है। पहले उसे देख कर मुझे डर लगता था लेकिन अब मैं उसकी बहुत सी बातें समझने लगा हूँ...वह अपने पागलपन में कभी-कभी बहुत बड़ी बातें कह जाता है। आज उसने महिम से पूछा...

"किस लिए आते हो यहाँ रोज...तुम्हारे पास कोई काम-काज नहीं है ..."

"काम-काज किसके पास है...हवाखोरी के लिये चला आता हूँ..."

"हवाखोरी," दोहरा कर मास्टर दादा बड़े जोर का हँसा फिर बोला, "खूब... हवाखोरी भी स्वास्थ्य के लिए बड़ा लाभदायक है...अंग्रेजी में तो हवा भरने से लेकर हवाखोरी तक पर अच्छे खासे निबन्ध पड़े हैं...नेचर क्योर तो इसका बड़ा क़ायल है।"

और वह कहते-कहते खामोश हो गया। कुछ गम्भीर होकर बोला, "लेकिन इस जमाने की हवा ही तो खराब है...लोगों ने तो झूठ के लिये हवा बाँध रखा है... लेकिन यह हवाई क़िले कब तक चलेंगे...एक दिन सब मिट जायगा, सारा बवाल ही खत्म हो जायगा और तब इन्सान-इन्सान का भूखा हो जायगा...आज तो केवल भूख का नाटक किया जा रहा है, नाटक..."

इतना कह कर मास्टर दादा खामोश हो गया। खामोशी के साथ-साथ उसका चेहरा भी उदास हो गया। वह गुमटी के पास जाकर बैठ गया। कुछ सोचने लगा, फ़िर बोला...

"तुम जाओ...तुम इस नाटक मे मत पार्ट लो...तुम्हें मालूम नहीं है मैं बड़ा भयानक नाटक खेल रहा हूँ...इतना भयानक कि तुम घबरा जाओगे। अब तुम कभी भी मेरे पास मत आना, मेरे अन्दर झाँकने की कोशिश भी मत करना...जाओ-जाओ......भागो यहाँ से भागो..."

महिम को मास्टर दादा की यह बात बिल्कुल नापसन्द थी। उसे बार-बार भाग जाने के लिए प्रेरित करना उसे बड़ा बुरा लगता लेकिन ठीक उसी समय मास्टर दादा कहता...

"तुम बुरा मान गये...लेकिन मैं फिर कहता हूँ...भागो...भागो...भाग जाओ क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि इस दुनियाँ का चक्र बड़ी तेजी से तुम्हारे ऊपर आ रहा है...और याद रक्खो वह तुम्हें पीस डालेगा...पीस..."

और तब महिम अपने चारों ओर देखने लगता। उसे कोई भी चक्र नहीं दिखलाई पड़ता। इसी हालत में एक दिन उसने मास्टर दादा से पूछा...यह कैसा चक्र है...कहाँ से चलता है...कौन चलाता है...क्यों चलाता है...और कैसे कोई इसमें पिस जाता है...और तब मास्टर दादा ने उसकी कमीज का कालर पकड़ कर सड़क के बीचोबीच बैठा दिया। खड़िया मिट्टी से एक गोला चक्र खींचा और बताया कि इस चक्र के भीतर वह एक तुच्छ कीड़े के समान है और यह चक्र स्थिर नहीं है, चलता रहता है और जो विंदु ऊपर है वह नीचे भी जाता है और जो नीचे जाता है

वह पिस जाता है...इसलिए इस दुनियाँ में वही साबित बचा है जो चक्र की गति के साथ-साथ स्वयम् भी गतिशील रहा है, जो इतनी भाग दौड़ कर सकता है कि कभी उसके चपेट में न आवे। सदैव अपना स्थान इस हिसाब से बदलता रहे कि उसका स्थिति चक्र के ऊपर ही रहे...नीचे कभी न जाय...क़तई न जाय...तू देखता नहीं तेरे पीछे-पीछे जिन्दगी दौड़ती आ रही है। और जिन्दगी का पंजा बड़ा ही सख्त होता है। इसकी सख्ती जब गला पकड़ती है तो दम घुटने लगती है आदमी मर कर भी छुट्टी नहीं पाता...कितनी सख्त है जिन्दगी...कितनी सख़्त।"

महिम ने समर्थन में केवल सिर हिला दिया और मास्टर दादा जैसे इस खीझ से कुछ असन्तुष्ट हो गये। कुछ कहने ही वाले थे कि उस पार से फिर कुत्तों के भूकने की आवाज आई और वह फिर वहाँ से उठ कर बड़े जोर से भागे। कुछ ही दूर गये होंगे कि फिर उनको उस आधी रात के अँधेरे में कुत्तों ने घेर लिया। एक बार फिर बचाओ बचाओ की ध्वनि वातावरण में गूँजने लगी लेकिन इस बार महिम नहीं उठा। उसके गाल पर की उभरी हुई नसें एक बार फिर दुखने लगीं। वह चुपचाप अपने घर को वापस चला आया।

जेल से छूटने के बाद से महिम बराबर यह कोशिश करता रहा कि वह सोचना बन्द कर दे और केवल एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन बितावे। वह कई वर्ष तक इसी मानसिक विक्षिप्तता में पड़ा रहा। इसी सन्देह और अविश्वास से परीशान रहा। कभी-कभी होटेल, रेस्टोराँओं में खाते समय सड़क के भिखारियों को सारा खाना दे देता स्वयम् भूखा रह जाता। जाड़े के दिनों में सोते-सोते वह अपना लिहाफ उठा कर फेंक देता, रात भर ठिठुरा पड़ा रहता और सोचता यह सब करने से वह उन सब के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट कर रहा है जो नंगे हैं, भूखे हैं और अपनी ज़िन्दगी का एक भी हिस्सा जीत लेने में असफल और असमर्थ हैं। भावावेश मे उसने ऊनी कपड़ा पहनना छोड़ दिया, छाता लगाना त्याग दिया, ठेले वालों को पैदल चिलचिलाती धूप में ठेला खींचते देख कर खुद ही नंगे पाँव तारकोल की सड़क पर चलने का अभ्यास करने लगा। उन्हीं दिनों उसने गीता, बाइबिल, कुरान और जाने कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़ डालीं लेकिन तब भी उसके चित्त को शान्ति नहीं मिली...नहीं मिल पाती।

इसी बीच वह अनाथ आश्रम गया। वहाँ से वह उस अनजान बालक को अपने घर ले आया जिसे पुलिस ने छीन कर अनाथाश्रम में डाल दिया था। उस बालक के साथ वह अपने को व्यस्त रखने की चेष्टा करने लगा, लेकिन वहाँ भी उसे शान्ति नही मिल पाती...वही विक्षिप्तता, वही चिन्ता, वही आतंक...वही अविश्वास उसके जीवन को खाये डाल रहा था।

काफ़ी दिनो बाद आज महिम उस बच्चे को लेकर शहर घूमने निकला था। दस बजे सुबह का समय था। नेता पार्क के पास पहुँचा ही था कि उसने देखा मास्टर दादा ठीक उसी पार्क के सामने चौरास्ते पर हाथ में झंडा लिये चिल्ला-चिल्ला कर कुछ कह रहे थे...काफ़ी भीड़ जमा हो गई थी...सुनने पर कुछ आवाजें बड़ी तेज़ स्वर में सुनाई पड़ीं। मास्टर दादा कह रहे थे...

"डैम दी ह्वाइट कलर्ड सिविलीज़ेशन। जो सभ्यता की बात करते हैं उन्हें कुछ नहीं आता। इन्हें तो महज़ चावल का माँड़ निकालकर कपड़ो को कड़ा करना आता है...चावल जिसे खाकर शरीर कड़ा किया जाता है उससे यह अपनी जिल्द कड़ी करते हैं ताकि उस पर किसी का असर न पड़े। हर घटना...हर अपवाद उससे फिसल कर गिर जाय...लेकिन इन कड़े कालर वालों की महज़ जिल्द कड़ी होती है...भीतर से ये पोले होते है...महज़...पोले...केवल पोले..."

और यह कहते-कहते वह बहक गया। अजीब मुद्रायें बनाकर कहने लगा, "इन पढ़े-लिखे बाबुओं को तो लैंगवेज तक नहीं आती। ये केवल नम्र होकर झूठी बातें करते हैं। हँसते हैं तो खुलकर नहीं ओठ दबा कर हँसते हैं। रोते हैं तो इनकी आँखों से आँसू भी नहीं निकलते केवल टियर गैस के माध्यम से रोते हैं।"

यह कहते-कहते मास्टर दादा लैम्प-पोस्ट के ऊपर सीमेन्ट की बनी हुई छतरी पर चढ़ गया। बड़ा पोस्टर जिसे उसने रद्दी अख़बारों से बनाया था और जिसे जगह ब जगह बाँस की खपच्चियाँ लगा कर जोड़ा था उसे अपने पीठ पर चिपका लिया। अपनी लम्बी रूखी दाढ़ी पर उसने एक बार हाथ फेरा, मोछों को उसने ऐंठा, फिर बोलने लगा। न जाने क्या-क्या बक गया। सतरंगी पेवन्द का चेस्टर, फटा हुआ जूता, रंगीन टूटा हुआ धूप का चश्मा, इन सब की मिली-जुली मुद्रायें...सिर पर गन्दा हैट...मुँह में एक गन्दी टूटी हुई पाइप...लम्बा शरीर, चौड़ी छाती, काँसे की प्लेट की भाँति काला किन्तु ठनकता हुआ माथा...यह सब कुछ मिल-जुल कर ऐसा लगता था कि जैसे कोई व्यक्ति आस्मान पर से इस चौरास्ते पर टपका दिया गया हो। सभी उत्सुकता और कौतूहल में डूबे हुये उस ओर देख रहे थे और वह झंडा लिये...और झंडा भी चीथड़ों का...मुट्ठी बाँधे, सीना ताने कह रहा था। नीचे भीड़ जमा थी। कुछ हँस रहे थे। कुछ गम्भीर थे और कुछ मज़ाक कर रहे थे। सहसा वह चीखती हुई आवाज़ में बोला—"हँसो नहीं, सोचो...समझो, अपने दिल के पर्दों में झाँक कर देखो। क्या समझते हो कि मैं बेवकूफ़ हूँ—"

"हूँ—हाँ।"

"नहीं—नहीं।"

"हूँ—हूँ।',

"मुझे तो लगता है तुम सब प्राइमरी स्कूल के बच्चे हो। तुमको बात-बात में लड़ना आता है, बात-बात में हँसी आ जाती है। और बिना बात के रोना भी खूब जानते हो लेकिन तुमको लड़ाई की कला भी नहीं आती।"

"लड़ाई की बात मत करो ? हम शान्ति चाहते हैं। शान्ति—"

"तुम शान्ति की खाल ओढ़ कर लड़ाई चाहते हो। शान्ति-शान्ति चिल्लाते हो ? चिल्लाने से शान्ति नहीं आती क्योंकि तुम लैंग्वेज नही जानते। भाषा नहीं जानते। तुम्हें तो न लड़ाई की भाषा आती है न शान्ति की। और यकीन मानों जब तक तुम्हें भाषा नहीं आयेगी तब तक तुम कुछ नहीं कर सकते। एक तिनका भी नहीं हिला सकते।"

और जब मास्टर दादा यह सारी बातें कह रहा था तब उसकी मुद्रायें अजीब ढंग से बन-बिगड़ रही थीं। उसके ओंठ काँपने लग गये थे। नथुने फूलने लगे थे। पैरों में विचित्र कम्पन आ गया था। वह बहुत कुछ कहना चाहता था लेकिन जाने क्यों कह नही पाता था। कभी-कभी रुक कर कहता—"इससे बड़ा मजाक क्या होगा कि मुझे अपने शब्द ही धोखा दे रहे हैं। हर लफ़्ज़ मुझे एक जाल-सा मालूम पड़ता है। लेकिन क्या करूँ कहना है मुझे कहना पड़ता है।" और नीचे की जमा हुई भीड़ तरह-तरह की आवाज़ें कस रही थी। कोई कहता पागल है। कोई कहता सी० आई० डी० है, कोई व्यंग्य में कहता, 'सठिया गया है ?'—लेकिन वह सब कुछ अन-सुनी करता जाता था और फिर तेज़ आवाज़ में अपनी बातें कह रहा था। कहता था—"तुम लोग ग्रामर पढ़ो...शब्दों की उत्पत्ति पढ़ो। शब्दों को प्रभावशाली बनाओ। जब तक तुम लोग शुद्ध भाषा बोलना नहीं सीखोगे तब तक तुम्हें बुद्धि नहीं आ सकती। सभ्यता की बात करते हो ? सब झूँठ है। सभ्यता मर गई। कल उस चौरास्ते पर वह अँधेरे में चली जा रही थी, अकेली निरीह-सी थी। उसे उस मोटर चलाने वाले ने मारा। ये मोटर वाले रूल आफ़ दी रोड तक नहीं जानते। खूब ज़ोर-शोर से अन्धा-धुन्ध शोर मचाते हुये चलते हैं। और बस वह उन्हीं के चपेट में आ गई, सभ्यता मर गई, आदमी मर गया, संस्कृत विधवा हो गई क्योंकि आदमी ने आत्म-हत्या कर लिया, उसकी लाश अब भी पिरामिड के मसालों के बीच सुरक्षित है। अगर आदमी की असली शकल देखना चाहते हो तो उसकी छाती पर पड़े हुये पत्थर को हटाओ, हटाओ, हटाओ......"

जब मास्टर दादा यह कह रहे थे तो नीचे जन समूह खड़ा हुआ शोर व गुल मचा रहा था। कोई कह रहा था, पागल है पागल...

दूसरा बोला..."सनकी है..."

एक ने कहा..."पहले स्कूल का मास्टर था...अब सनक गया है..."

किसी और ने कहा..."हाँ, हाँ बड़ा अच्छा मास्टर था इसने हमें पढ़ाया था...

उस भीड़ में एक वर्ग और उन हो-हो कर हँसने वालों का था जो चीख-चीख कर, गालियाँ बक-बक कर आस्मान, उठाये ले रहा था। उनमें से कुछ कह रहे थे—

"उतर पड़ो बेटा नही तो गिरोगे तो सारी नेतागीरी भूल जायगी..."

"नेता," मास्टर दादा ने दोहराया, "मैं कहता हूँ अपने होश की दवा करो। अब भी वक्त है। समय है, बेटा भाषा सीख लो, जान लो, नेता धोखा देता है। मैं खुद नयी डिक्शनरी बना रहा हूँ, उसमें मैंने लिख दिया है, नेता के माने धोखाबाज़, आराम-तलब। कैसे बताऊँ तुम्हें...शब्दों के माने बदलते रहते है। आज नेता के भी माने बदल गये हैं। कैसे कहूँ तुम्हारे हाथ गन्दे हो चुके हैं। तुम्हारी ज़बान गन्दी हो चुकी है..."

कुछ बदमाश लड़कों ने मास्टर दादा पर ढेला चलाना शुरू किया। कुछ लोगों ने मना किया लेकिन लड़के माने नही। एक ढेला मास्टर दादा के माथे पर जा लगा। वह लड़खड़ा कर गिरने लगा लेकिन उनका रंगबिरंग चेस्टर छतरी के ऊपर एक लोहे की छड़ में अटक गया। और वह औंधे मुँह होकर टँग गये। उस उल्टी टँगी हालत में भी वह कह रहा था...

"आई से लिबरटी इज़ दी फर्स्ट काजुएलिटी इन दिस एज़..."

"वह जो ढेला चलाते है, खून बहाते हैं...तोड़-फोड़ करते हैं...अपने को सही मानते हैं। वह नहीं जानते कि मेरे सिर पर ढेला मार कर उन्होने अपने सिर पर पत्थर मार लिया है। पत्थर..."

कुछ लोगों ने उसे उल्टे टँगी हालत से उतार कर मास्टर दादा को ज़मीन पर ला खड़ा किया। उनका सारा कपड़ा, रेशे-रेशे होकर बिखर गया था। पोस्टर का एक-एक अक्षर ठंढी लाश सा तारकोल की सड़क पर पड़ा था। मास्टर दादा ने जब आँख खोली तो देखा सामने ही सड़क के किनारे कैंची सिग्रेट का एक बड़ा लाल पोस्टर टँगा हुआ है। पोस्टर को देखते हुये उन्होंने कहा...

"यह कैंची है...देखो इसमें भी भाषा का दोष है। जलने वाली चीज़ का नाम कहीं कैंची हो सकता है। हरगिज़ नहीं...लेकिन हर जगह अराजकता मची हुई है। जिसके जो मन में आता है बक रहा है। मैं कहता हूँ सुलगने में...कटने में अन्तर है। बहुत बड़ा अन्तर है।"

इस समय तक धूप काफ़ी तेज़ हो चुकी थी। लोग उन्हें पागल, सनकी, जाने क्या-क्या कहने से भी संतोष नहीं पा रहे थे। जब बार-बार लोग उन्हें पागल

ओर सबको कह रहे थे तब महिम भी अपने मन को टटोल रहा था। उसने कई तरह से सोचा था। मास्टर दादा उसे कहीं से भी पागल नहीं मालूम होते थे। उसके मन में रह-रह कर केवल एक ही प्रश्न उठता था। "जो पागल नहीं है...वह पागल बन कैसे जाता है...क्यों बन जाता है। उसे पागलपन इतना पसन्द क्यों आता है।"

अभी महिम यह सोच ही रहा था कि उसने देखा मास्टर दादा ने सड़क पर पड़े हुये तमाम पोस्टर, फटे-चिटे झंडे, पताके उठाकर किसी ओर चल पड़े और रास्ते के प्रत्येक आदमी को रोक-रोक कर उससे ओट माँगने लगे। अपने मैनिफेस्टों को---जो एक रद्दी अख़बार के सिवा कुछ नहीं था—देने लगे। किसी ने कहा..."हाँ, हाँ पागल मास्टर हम तुम्हीं को ओट देंगे..."

दूसरे ने कहा..."आइने में शकल देख आओ..."

तीसरे ने कहा..."यह तो पब्लिक न्यूसेंस है...इसे पागलखाने भेज देना चाहिये। यह सरकार भी कितनी निकम्मी हो गई है? ऐसे आदमियों को खुला छोड़ने से फायदा?"

सबकी बात सुनने के बाद महिम उस छोटे से बच्चे को गोद में लिये घर की ओर वापस होने लगा। थोड़ी ही दूर पर एक सिनेमा घर था जहाँ दो भैंसे लड़ रहे थे। काफी भीड़ लग गई थी। महिम भी वहीं खड़ा हो गया। नज़दीक़ पहुँचने पर पता चला दो भैंसों के लड़ने से स्कूल जाती हुई एक लड़कियों की गाड़ी उलट गई है। दूर कई घायल लड़कियाँ चीख़ चिल्ला रही थीं। तमाशबीनों में कुछ ऐसे भी थे जो लड़कियों की परीशानी का मज़ा ले रहे थे। सौन्दर्य पर नम्बर दे रहे थे। अपने-अपने सौन्दर्य बोध को मापने की चेष्टा कर रहे थे। लेकिन भैंसे अब भी लड़ रहे थे। कुछ लोग उनको भड़काने लगे थे। कुछ लोग इस युद्ध पर संस्कृत का श्लोक पढ़ते हुये और उक्तियाँ कहते हुये बेलौस ढंग से चले जा रहे थे। तमाशबीनों में से किसी नये विचार वाले ने कहा—

"यह पुलिस वाले भी तमाशा देखते हैं, अगर ये काबू में नहीं आते तो गोली क्यों नहीं मार देते।"

इतना कहना था कि तमाशबीनों में खलबली मचने लगी। लोग आपस में वाद-विवाद करने लगे। किसी ने कहा...

"बस हो चुका...धर्म की बात तो समाज से उठ ही गई...बड़े आये जीव हत्या कर के रास्ता साफ़ करने वाले...यमराज के वाहन पर कोई कैसे हाथ उठायेगा। देख लेंगे हम भी।"

दूसरे ने कहा..."यदि हत्या की बात से डर लगता है तो ठीक है जानवर को मत मारो...आदमी को मर जाने दो..."

लेकिन बात यही तक सीमित नहीं रही। धर्म तक पहुँची। भीड़ में से कइयों ने हत्या के पाप और भय के प्रताप पर भी व्याख्यान दे डाला...उसी भीड़ में से एक ने कहा...

"हाय राम यह भारतवर्ष है। यहाँ के लोग ऐसी बात सोचते है। जिस देश में जीव मात्र की पूजा होती थी वहीं अब ऐसे विधर्मी भी जन्म लेने लगे हैं।"

"अरे भाई इस पर बहस क्यों करते हो...आजकल जब आदमी का दिमाग़ नही ठीक है तो जानवरो की क्या बात..." किसी अन्य ने कहा और अपना सिगरेट जला कर पीने लगे। उसमें से कोई शिक्षा शास्त्री (Educationist) भी थे। लड़कियो को परीशानी की हालत में देख कर बोले...

"आजकल इस बीसवीं सदी में लड़कियो को बैलगाड़ी में ठूँस कर स्कूल कालेज भेजना ही ग़लत है।"

इसी बीच एक पहलवान ने गले में फूलों की माला पहने हुये कहा...

"तुम लोगो को तो बस बहस करना आता है। जानवरों से ज़रा प्रेम से चुमकार कर बोलो...सब ठीक हो जाता है।"

और यह कहते हुये उसने भैंसो को चुमकारना शुरू किया। धीरे-धीरे चुमकारता रहा। घन्टे-आध घन्टे बीत गये...लेकिन इस मल्ल युद्ध में कोई अन्तर नहीं आया। दो-तीन आदमी घायल हो गये। धर्म की दुहाई, कर्म की दुहाई सब कुछ दी गई लेकिन एक ने भी काम न किया। हट्टा-कट्टा पहलवान जो भैंसे को चुमकारने के लिये आगे बढ़ा था घायल हो गया और तब पुलिस वालों ने दोनों भैंसों को मारना शुरू किया। भैंसों में से एक की सींग टूट गई और दोनों एक ही तरफ़ दौड़े-दौड़े भागने लगे। धीरे-धीरे करके दर्शक भी वहाँ से हटने लगे। महिम भी चुपचाप घर लौटने लगा।

शाम को मास्टर दादा अजीब हालत में सारे शहर और गलियों में घूमते हुये पाये गये। उन्होंने अपने सारे शरीर को अख़बार के एक बड़े चोंगे में लपेट लिया था और क्लाक टावर के पास एक लेटर बक्स के ऊपर बैठे हुये थे। उनके चारों ओर बड़े-बड़े पोस्टर लगे थे जिनमें लिखा था..."मैं मर चुका हूँ...मुझसे मत बोलो... मुझे इस लेटर बक्स में भर दो और किसी दूसरी दुनियाँ में भेज दो क्योंकि मुझे लगता है इस युग के मसीहा की हत्या की गई है। मेरी हत्या की गई है—

"दी मसीहा ऑफ दी एज, इज़ क्रूसीफाइड, हिज़ बाडी इज़ ब्लड स्टेन्ड एन्ड काफ़ीनलेस..."

और उनके पास छोटे-छोटे बच्चों की एक भीड़ लगी थी। एक अनावश्यक

गुल-गपाड़ा मचा हुआ था। मास्टर दादा हाथ में पाइप लिये सबको मुँह चिढ़ा रहे थे। कभी-कभी बिल्कुल मौन भी हो जाते थे। लगता उनकी मौनता में एक मौत की घुटन थी, विक्षिप्तता थी लेकिन सामने सड़क पर अपनी टूटी हुई सींग लिये भैंसा इतमीनान से टहल रहा था।

जैसा कि महिम समझता था वह ग़लत-सही कुछ भी हो लेकिन न जाने क्यों मास्टर दादा की बेतुकी बातों में तुक जोड़ने की उसकी आदत पड़ गई थी। यों भी अब वह हफ्ते-दो हफ्ते में एक बार मास्टर दादा से मिल पाता है लेकिन वह बार-बार कहता है—"आज के हर आदमी में मास्टर दादा का व्यक्तित्व किसी न किसी रूप में घुला-मिला है। हो सकता है मास्टर दादा में कुछ अधिक कृत्रिमता हो, लेकिन यह सत्य है कि किसी न किसी रूप में हमारे अन्दर मास्टर दादा की वह सब प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें जब हम वस्तु-परक रूप में देखते हैं, तो लगता है यह सब पागलपन है, सनक हैं, पलायन और निष्क्रियता है।"

यों महिम के पास अब अधिक सोचने का समय भी नहीं रह गया है। अनाथ आश्रम से वह उस बच्चे को घर लाया है जिसकी माता अंजलि है, और पिता प्रकाश है। दिन भर वह उसी की देखभाल में बिता देता है। कहता है अब वह चन्दनपुर छोड़कर बाहर चला जायगा। धीरे-धीरे करके उसने अपनी सारी व्यवस्था तराई में कर लिया है लेकिन कभी-कभी उसे चन्दनपुर आना पड़ता है क्यों कि उसका यह विश्वास है कि डाक्टर सन्तोषी एक न एक दिन चन्दनपुर अवश्य आयेंगे और एक बार फिर उन समस्त विषयों पर जी खोलकर बात करेगा जिन पर वह एक मत होकर कभी भी नहीं रह सकता था। इसलिये जब कभी भी वह चन्दनपुर आता है तो डाक्टर सन्तोषी के सुनसान घर में टहलता है। यद्यपि उस सुनसान कमरे में अब कुछ रह नहीं गया है लेकिन फिर भी वह उस बड़े ख़ाली हाल में जाकर बैठता है, मिट्टी की मूर्तियों को देखता है। टाल्सटाय, गाँधी, की मूर्तियों के सामने अपना मस्तक झुकाता है। डाक्टर सन्तोषी की मस्तकहीन मूर्ति को अपने सामने रख कर ग़ौर से देखता है। ज्वाला की मूर्ति को भी सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। पिछली बार जब वह आया था तो अपने पुराने घर में भी गया था। मास्टर दादा के चरित्र को चित्रित करते समय अपने भावावेश में उसने जितने भी घूँसे, थप्पड़ मुझे लगाये थे उसके प्रति उसे क्षोभ है लेकिन मेरी टूटी हुई ख़स्ता हालत देखकर ही उसने मुझे रंग-चुनकर नीलाम भी कर देने का निश्चय किया था। मुझे नीलाम करने के पहले उसे डाक्टर सन्तोषी के कमरे में ज्वाला की मूर्ति को देख कर बड़ा दुःख हुआ था क्योंकि मेरे साथ ही उसने जब ज्वाला की मूर्ति उठाई थी तो देखा था कि सारी मूर्ति

में दीमक लग गये थे। यह मूर्ति पेरिस प्लास्टर की न होकर कच्ची मिट्टी की थी इसीलिये उसे खराब हालत में देख कर उसने कूड़े में फिकवा दिया था। बाकी मूर्तियों को झाड़-पोंछ कर यथा स्थान रख दिया था। उसे बेच कर जनार्दन गार्ड के हवाले करते समय उस ने कहा था, "इसकी शक्ल-सूरत पर मत जाइयेगा। इसकी ज़ात देखियेगा।" अच्छी ज़ात के साथ इसकी हड्डी भी बड़ी अच्छी है। इसका ध्यान रखियेगा।

लेकिन वही जनार्दन गार्ड था जिसने एक हल्की सी दुर्घटना के क्कारण मेरी हड्डी और मेरी सूरत-शकल को कौड़ियों के मोल बिकवा दिया था...

टूटी हुई ख़स्ता हालत में भी नीलाम की आवाज़ पर एक बार फिर बिक जाने के बाद न जाने क्यो मैं बराबर यह सोचती रही थी कि विस्थापित लोहे के खिलौने और लौह पुरुष फिर भी मुझसे अच्छे होगे क्योंकि उनको नया जीवन मिला होगा। नये-नये संस्कारो में ढलकर उनका जीवन बिल्कुल नये अनुभवों और अनुभूतियों से अनुप्राणित हुआ होगा और यही एक मात्र कारण था कि मैं बार-बार प्रत्येक लेखक की क़लम को अक्सर बड़े ग़ौर से देखती थी, उनकी निबों से एक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करती थी। महिम के हाथ की सख़्त चोटों और घूँसों को सहन करने के बाद भी मैं इस आशा में थी कि एक न एक दिन यह सब लोहे के खिलौने और लौह-पुरुप, नवीन रूप में प्रस्तुत होकर मुझे नये जीवन का सन्देश देंगे लेकिन आज बिक जाने के बाद भी मैं उनसे नहीं मिल पाई हूँ। हो सकता है कि वह अपने नवीन रूप में मेरे सामने आये भी हों और मुझे भूल गये हों या मैं ही उन्हें न पहचान पाई हूँ। लेकिन इतना सब होने पर भी मेरा यह विश्वास है कि एक न एक दिन इन सबों से मेरी भेंट होगी और एक बार फिर मैं अपने जीवन को, उनके जीवन को, एक दम से निकट से देख सकूँगी। शायद बिल्कुल निकट से।

यह बात नहीं है कि महिम को अंजलि के घर का या उसके रहने-सहने का कुछ भी पता न हो। वास्तविकता यह है कि अब भी महिम के लिये अंजलि उतनी ही

निकटतम व्यक्ति है जितना कि थी लेकिन महिम उसके बारे में न तो सोचना चाहता है और न उससे सम्पर्क ही स्थापित करना चाहता है। उसको यह भी मालूम है कि प्रकाश ने अंजलि को छोड़ दिया है। उसने अब दूसरी शादी कर ली है और अंजलि को मजबूर होकर पोस्ट आफ़िस में नौकरी करनी पड़ रही है लेकिन फिर भी वह उस दिन से आज तक अंजलि से नहीं मिल पाया है। कभी-कभी जब अंजलि का पत्र आता है तो वह कुछ चिन्तित हो जाता है। अभी पिछली बार जब अंजलि का पत्र आया था और उसने महिम से उसकी जीविका के बारे में पूछा था, तो उसने अपनी डायरी में लिखा था—

"इस दुनियाँ में पेट के आपरेशन का मतलब है दिमाग़ की ऐसी नस को मोटा कर देना जिससे पेट की भूख मर जाय...भूख जो कभी-कभी इतनी तेज़ हो जाती है कि वह आदमी को कीड़ा बना देती है। फ़र्क इतना होता है कि कीड़ों के पास दिमाग़ तो होता है लेकिन बुद्धि नहीं होती और आदमी के पास दिमाग और बुद्धि दोनों होते हुये भी किसी के प्रति इमानदारी नहीं होती।"

यही जवाब उसने प्रतिभा को भी लिखा था। जिसके उत्तर में उसने कहा था..."भूख अगर किसी चीज़ से डरती है तो वह दिमाग है लेकिन जब दिमाग़ भी काम न दे तो उस वक्त अपने न्यूट्रेल फोर्स को प्रयोग में लाना चाहिये...अन्यथा भूख एक बहुत बड़ी समस्या है, शायद इतनी बड़ी कि आदमी उसके सामने कीड़े सा लगने लगता है बिल्कुल कीड़े सा।"

और मास्टर दादा की बातों में महिम को भटकी हुई ज़िन्दगी की गुमराह अनुभूतियों का साक्षात्कार होता...लगता संघर्षों में चूर, दबी-पिसी परिस्थितियों में आदमी ने जब कभी सहज-विद्रोह किया होगा तो वह इसी रूप में टूट कर चकनाचूर हो गया होगा। लँगड़े, लूले, अन्धे, बहरे तो फिर भी बैसाखियों से लेकर प्लास्टिक के हाथों तक का निर्माण करके जी सकते हैं, रह सकते हैं; लेकिन उसका क्या होगा जो समूचा टूट कर भी नष्ट नहीं हुआ होगा? शायद जब आदमी चकना-

चूर होता है तो उसकी शकल ठीक ऐसी ही होती है जैसे मास्टर दादा की...देखने मे साबित लेकिन भीतर से गाँठ-गाँठ, पोर-पोर से चटखा हुआ !

जिस दिन महिम ने मेरा नीलाम किया था। उसके एक दिन पहले मास्टर दादा महिम के घर उससे मिलने आये थे। उनके सिर का घाव, ढेलों की चोट और भूँकते कुत्तों के शोर मे फटे पाजामे की हालत, वस्त्रो की दशा ख़राब हो चुकी थी। घाव पक आया था। माथे में ज़ोर का दर्द था और कुछ हल्कासा बोख़ार भी। महिम ने उनके माथे के घाव की मरहम-पट्टी की थी। एक गिलास गर्म दूध पीने के लिये दिया था, बदलने के लिये कपड़े भी दिये थे। बोख़ार के हालत में विक्षिप्त होते हुये भी उन्होंने महिम से कहा था—

"मुझे लगता है चन्दनपुर नगर के बाहर की पुलिया बहुत जल्द टूटने वाली है। मैं रेलवे आफ़िस को चार ख़त लिख चुका हूँ लेकिन उनको उस पर ध्यान देने का समय ही नही है।"

महिम ने सोचा मास्टर दादा जैसे और बातें करते हैं इसी तरह यह बात भी होगी। उसने ध्यान भी नहीं दिया। मास्टर दादा ने फिर कहा—"किसी भी पुलिया का चटख जाना बहुत बडी दुर्घटना का सूचक है...लेकिन हम कर क्या सकते हैं... आदमी को तो दुर्घटनाओं से भी मोह होता जा रहा है...एक दिन अन्धकार में यह दुर्घटना होकर रहेगी...होकर रहेगी—और बस।" इतना कहते-कहते फिर वह बहक गये थे। अपनी पुरानी भाषा में बोलने लगे—"डोन्ट यू सी दि ट्रेजेडी आफ लाइफ़... मुझे तो सारी दुनिया एक तेज गाड़ी में बैठे हुए इन्सानो की ऐसी दशा लगती है जो अभी-अभी इस चटखे हुये पुल पर से गुजरने वाली है...एक्सीडेण्ट...एक्सीडेण्ट फेटल एक्सीडेण्ट...कौन बचा सकता है इनको...कोई नहीं... शायद वह लौह पुरुष भी नहीं जो लोहे की चलती हुई गाड़ी से लेकर लोहे के पुल तक में एक पेंच और कील की तरह बँधा है..."

यह कहते-कहते मास्टर दादा कमरे से उठ कर चले गये थे। महिम काफ़ी देर तक गलियों से आती हुई कुत्तों की आवाज़ और मास्टर दादा की बचाओ-बचाओ के बोझ से लदी चीख़ पुकार सुनता रहा...वैसे ही गंभीर, मौन, निरीह...बेजान सा... जैसे जो कुछ हो रहा है वह भी ठीक है, जो नहीं हो रहा है वह भी ठीक है।

वह लोहे का खिलौना
जो जेबी भगवान बनगया

"......जनार्दन गार्ड की ज़िन्दगी हरी और लाल झण्डियो में बन्ध कर रह गई थी। जेब में, रिश्वत लेने वाली यदि लाल रग की छोटी बन्दर की मूर्ति हनुमान जी का काम करती थी तो हरी और लाल झंडी उस पताके के समान थी जो उनके समय-समय पर निर्णय करने का आधार प्रस्तुत करती थी। भगवान की पूजा मे, दोस्तों से मिलने-जुलने में, रिश्वत लेने में और हर नया काम शुरू करने में वह इन्ही झंडियाँ का सहारा लेता था। मित्र, शत्रु बनाने से लेकर बड़े से बड़े अहम मसलो पर विचार करने के पूर्व जेब में भगवान की मूर्ति रखकर इन झडियो को दीवाल से लगाकर टाँग देता और फिर दूर से आँख बन्द कर के दौड़ता हुआ आता। बिना देखे अगर लाल झडी पकड़ लेता तो फ़ौरन ही अपनी राय बदल देता, और अगर हरी झंडी पकड़ लेता तो वह बड़े से बड़े ख़तरनाक काम को भी करने में नहीं हिचकिचाता......"

चन्दनपुर की रेलवे बस्ती शहर के दूसरे छोर पर बसी थी। शहर के केन्द्र में बाज़ार की हलचल शोर वो गुल के बीच महिम रहता था। महिम के मकान के पास ही कबाड़ियों की दूकानें थीं जिसमें किताबों से लेकर लड़ाई की वर्दी, हैट, लोहे की टोपियाँ तक बिकती थीं। इसी जगह एक कबाड़ी रहता था जो लकड़ियों का माल बेचता था। कुर्सी, मेज़, चौकी, शृंगारदान से लेकर जलाने वाली लकड़ी तक उस दुकान पर बिकती थी। इसके पहले वह लोहे का व्यापारी था। लोहे की टोपियों से लेकर जानवरों के बाँधने की जंज़ीरें, टूटे हुये हवाई जहाज़ों के पेंच और स्क्रू तक इसके यहाँ इफ़रात से मिलते थे। महिम की कुर्सी का नीलाम इसी कबाड़ी ने किया था।

जनार्दन गार्ड जो कि शहर के दूसरे छोर पर रेलवे कालोनी मे रहता था वह उस दिन कबाड़ियों के यहाँ से जलाने की लकड़ी ख़रीदने आया था, महिम के दरवाजे पर मुझे नीलाम होते देखकर वहीं खड़ा हो गया। नीलाम की बोलियाँ बोलते-बोलते उसने मुझ को ख़रीद लिया और कुली के सिर पर लाद कर मुझे अपने घर की ओर ले चला।

अभी तक शहर का यह भाग मैंने नहीं देखा था क्योंकि मैं शहर के दूसरे सिरे पर रहती थी जहाँ डा० सन्तोषी, डा० वनडोले, दिव्या देवी, शराबी शायर और अगम पण्डित वगैरह रहते थे। इसी तरफ़ फ़ौज़ी अड्डा भी था, जहाँ हवल्दार, मेजर हैवलाक वगैरह बसते थे। आज सहसा उसके दूसरे सिरे पर जाते समय, आदमियों की भीड़ में घुसते समय शोर व गुल में से अनजान आवाज़ों को पहचानने में मुझे परेशानी हो रही थी। पता नहीं लोग इस शोर वो गुल में कैसे रहते हैं? शायद उनका दिमाग़ आवाज़ की चोटें सुनते-सुनते इतना घिस जाता है कि फिर उस पर कोई

दूसरा असर होता ही नहीं। मैं भी कुछ ऊबी डूबी-सी इसी परिस्थिति में चली जा रही थी।

शायद महिम के घर से एक फ़र्लांग ही चले होंगे कि उस लकड़ी बेचने वाले की दूकान दिखलाई दी। अपने ज़ात-बिरादरी के लोगों के इस भविष्य को देख कर थोड़ा दुःख हुआ। उनमें से प्रत्येक को मैं ग़ौर से देखने लगी। असहाय, निश्चेष्ट से उस ढेर में जैसे चेतना ही समाप्त हो चुकी थी। आस्मान को छूती हुई उस अम्बार में से प्रत्येक लकड़ी के भाग्य में जलना ही लिखा है यह देख कर मुझे कुछ दुःख हुआ। कोई भी रंगीन सपना इतना बड़ा नहीं है जो भाग्य के इस जलने वाले सत्य को इतना छोटा और हल्का बना दे कि यह महत्वहीन बन कर रह जाय। अभी-अभी मैंने दुकान पार ही किया था कि मेरी नज़र उस के इस आख़िरी सिरे पर पड़ी। एक बहुत बड़ा तराज़ू रखा था। दो-चार मज़दूर बैठे चिलम पी रहे थे। मैं भी यहीं उतारी गई क्योंकि जनार्दन गार्ड को जलाने वाली लकड़ी लेनी थी और वह भी इस हिसाब से कि एक ही मज़दूरी में, मैं और जलाने वाली लकड़ी दोनों ही उसके घर तक पहुँच जायँ। मजबूर थी। कुली के सिर से उतरना ही पड़ा।

जब तक मैं ख़ामोश इन लकड़ियों के ढेर में डूबी थी तब तक मेरी नज़र और कहीं नहीं पड़ी लेकिन ज्योंही मैं ने तराज़ू को ग़ौर से देखा तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। तराज़ू के एक सिरे पर वही लौह पुरुष पसंघा बना टँगा था जिसे लोहे की ज़बान अर्थात् कलम की निब में बदलने के लिये डा० सन्तोषी ने अपनी आख़िरी वसीयत भट्ठी में भेजे जाने का प्रस्ताव किया था। मुझे देखते ही उस ने आँखें बचानी शुरू की। मैंने भी अनावश्यक रूप से उसे छेड़ना नहीं चाहा लेकिन गर्दन में रस्सी लगाकर लटके हुये हालत में उस निरीह व्यक्ति की हालत मुझ से देखी नहीं गई। मैंने पूछा...

"लौह पुरुष...और साथी कहाँ है ?"

"और तब उसने बड़ी दयनीय मुद्रा में मेरी ओर देखा। उसका गला बँध गया। आँखें नम हो गई। बँधी हुई हालत में आवाज़ की जैसे शक्ति ही समाप्त हो चुकी थी। उसकी उस दयनीय दशा को देख कर मेरा भी कलेजा हिल गया। लगा जैसे कोई कह रहा है..."मज़बूरियाँ जिन्दगी को अक्सर इतना दर्दनाक बना देती हैं कि आदमी की कोई भी शक्ति उसे उबार नहीं पाती..." फिर मैंने सोचा इस दुर्दशा से कहीं अच्छा था कि आदमी आत्महत्या कर ले। लेकिन जब मेरे दिमाग़ में यह बात इतनी तेज़ गति से उठ रही थी तभी मैंने देखा एक छोटी तराज़ू के ऊपर बन्दर महाशय मौर मुकुट

की तरह शोभित थे। हुआ यह कि इस लकड़ी की टाल पर उनका आपरेशन हुआ। एक गर्म सलाख़ बीचो-बीच पेट में डाल दी गई होगी और तब उसके बीच से एक धागा निकाल कर उन्हें डन्डी के ऊपर फुलरे की जगह बाँध दिया गया। मुझे देख कर उसने अपने मुर्दार हाथों को कई बार उठाया। सलाम, बन्दगी की। मैंने भी कुछ पूछना चाहा लेकिन तभी उसने इशारा किया। नीचे नज़र पड़ी। देखा एक पलरे में पौआ और अधपई बने वे लोहे और गीदड़ के खिलौने पड़े थे जो कभी मिसेज़ हैवलाक के ड्राईंग रूम मे गुलदस्ते के बग़ल में सजा कर रख दिये गये थे। उनको उन लकड़ी के बुरादों के साथ देख कर मैं खामोश हो गई। लोहे की टोपी में सुलगती हुई आग के पास बैठे कुलियों को देखने लगी और उस मज़दूर को देखने लगी जो लकड़ी तौलते वक्त लौह पुरुष को इतना कस कर दबा देता था कि वह पसंघा पूरा करने के बजाय अपने वज़न के अनुपात में और लकड़ी निकलवाते थे...उस बन्दर को देखा जो आदमियों की मुट्ठी में बन्द हो कर इशारे पर इधर-उधर जाता था और बुरादों की बचत कराता था। ये गीदड़ और रीछ इसलिए छोटी तराजू पर पड़े थे क्योंकि देखने और आकार में ये वज़नी मालूम पड़ते थे लेकिन थे इतने हल्के कि उनका उठना मुश्किल था, उभरना असम्भव था।

अब तक लकड़ियाँ तुल चुकी थी। बुरादा भी तौल कर बोरे में भरा जा चुका था और कुली ने भी मुझे अपने सिर पर उठा लिया था। बोरा उसके पीठ पर था। जलाने वाली लकड़ियों का बन्डल मेरे हाथ पर था। आगे-आगे गंजी खोपड़ी और अटपटे क़दमों से जनार्दन गार्ड चला जा रहा था। पीछे-पीछे वह कुली और मैं चले आ रहे थे। बाज़ार का शोर वो गुल छन-छन कर अपने से दूर हुआ जा रहा था। गाड़ियों की सीटियाँ, पैटमैनों का हा-हा-हो, लाइन क्लियर की घन्टियाँ, पान-बीड़ी वालों की आवाजें, चाट वालों के ललकारते हुये नारे यह कुछ आवाजें थीं जो सुनाई पड़ती थीं। लेकिन जनार्दन गार्ड का मकान इस से भी आगे था। यह आवाजें भी छूट गई और मैं चुपचाप मकान के बाहरी बरामदे में उतार दी गई। लकड़ियाँ आँगन में गिराई गई, बुरादा चौके में पटका गया और इस प्रकार एक सर्वथा दूसरे प्रकार की जिन्दगी शुरू हुई।

जब मैं बाहर के बरामदे से उठा कर भीतर के बरामदे में रक्खी गई तो मुझे पहली बार घर का पूरा-पूरा नक़्शा दिखलाई पड़ा। बरामदे के दूसरे कोने में एक चौकी थी, चौकी पर एक पुराना कालीन बिछा था। कालीन पर एक आसनी थी आसमी के ऊपर एक रेहेल थी, रेहल पर एक मोटी रामायण गेरुआ कपड़े में बँधी रखी थी। चौकी के चारों ओर दीवाल पर अनेक देवताओं की तस्वीरें टँगी थीं। जगन्नाथ

जी की तस्वीर उन सब में से उभरी आ रही थी। उसी के बीचोबीच नर्क के अभिशापों को चित्रित करने वाली तस्वीर थी जिसमें आदमी को पकड़ कर कड़ाह में तला जा रहा था, चक्की में डालकर पीसा जा रहा था, एक जगह उसकी आँतों को गीध, कौये खा रहे थे, दूसरी ओर उसके शरीर से लिपटे हुये सैकड़ों, हजारों बिच्छू और साँप काट रहे थे, डंक मार रहे थे, एक जगह उसकी जबान खीची जा रही थी, कान और आँख में गर्म सुलाखें डाली जा रही थीं और बीचोबीच धर्मराज का चित्र था जो भैंसे पर बैठे ऊँघ रहे थे...जो हर हालत मे आदमी की दुर्गति बनाने के लिये ही धर्मराज कहलाते थे। और तस्वीरों में कहीं शिवजी बैल पर सवार थे और गणेश जी चूहे पर, कहीं लक्ष्मी जी उल्लू पर सवार थी तो विष्णु भगवान गरुण पक्षी पर।

उसी चौको से लगा एक कमरा था जिसकी खिड़की आँगन में खुलती थी। बरामदे से कमरा साफ-साफ दिखलाई देता था। गार्ड की नवयुवती विवाहिता पत्नी आलमारी पर शीशा रख कर अपना बाल गूँथ रही थी। उसकी हल्की सी झलक मुझे भी मिल रही थी। ऐसा लगता था जैसे वह काफी सुन्दर होगी लेकिन जब उसने शीशे से अपना मुँह हटाया तो देखने से लगा जैसे लगातार हँसते रहने से उसका चेहरा जरूरत से ज़्यादा खिंच गया था। गार्ड साहब रसोई में चूल्हा फूँक रहे थे और वह अपने कमरे से बार-बार उनको चूल्हा फूंकते देखती थी और जी खोल कर हँसती थी। जब यह हँसी छन कर चौके में पहुँचती तो गार्ड साहब बड़े खिन्न होकर आँगन की ओर देखते और फिर अपनी लाल आँखें लिये चूल्हा फूँकने लग जाते। थोड़ी देर तक यह क्रम चलता रहा और फिर उसके बाद वह बाहर आई चौके में आकर बड़े व्यंग भरे स्वर में बोली..."चलिए...हर काम मर्द नहीं कर सकते... यह आग है आग...इसे औरतें ही सुलगा सकती हैं...लाख मुँह फूँकिए, आँख निकालिये क्या होता है इस से..."

और गार्ड जनार्दन ने उसे ऊपर से नीचे तक ग़ौर से देखा थोड़ी देर तक हतप्रभ से खड़े रहे। जनेऊ जो कि उनकी ढीली-ढाली धोती में फँस गया था उसे सुलझाने की कोशिश करते रहे, फिर उसी चौके में रखी हुई फर्शी लेकर बाहर निकले। उसे पानी डाल कर ताजा किया। चिलम में तम्बाकू भरा, आग चढ़ाई और फर्शी पर रख कर दूसरे बरामदे में आये। आराम कुर्सी पर बैठ कर पीने लगे। दो-चार कश पी चुकने के बाद जोर की खाँसी आई। उनका सारा जिस्म आराम कुर्सी पर यानी मुझ पर उछलने लगा। उन्होंने इसी सिलसिले में कई बार उठने-बैठने की भी कोशिश की और इसी बीच आराम कुर्सी की...यानी मेरी...वह चौथी टांग जिसे महिम ने सरेस-

से जोड़ा था टूट गई। जब जनार्दन गार्ड गिरने लगे तो उन्होंने सँभालने की कोशिश की। मेरे हाथ को पकड़ कर जमीन पर गिरने से बचने की चेष्टा की और इसी बीच मेरा बांया हाथ भी उखड़ गया। पैर फर्शी से जा टकराया। चिलम उनकी गंजी खोपड़ी पर औंधी होकर जा गिरी। वह ज़ोर से चिल्लाये। उनकी श्रीमती जी जो चौके में आग सुलगा रही थीं सहसा उठ कर आँगन में आ खड़ी हुई। गार्ड महोदय को इस स्थिति में देख कर वह अपने दाँत निकाल कर खूब ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी। यह हँसी ज़नार्दन गार्ड के सीने में तीर सी चुभने लगी। पहले तो थोड़ी देर तक वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ से खड़े रहे। उसके बाद आवेश आया तो तीन-चार लात में मेरी हड्डी-पसली को कचूमर बनाकर, थक कर वह चूर-चूर हो गये। पास में पड़ी हुई चारपाई पर बैठ लर हाँफने लगे जब गुस्सा शान्त हुआ तो बोले...

"मैं...मैं इसे कल ही बेच डालूंगा...लेखक बनता है कम्बख़्त जिधर देखो उधर ही बेईमानी है...ईमान्दारी तो जैसे दुनियाँ से उठ गई है...दवा बेचने वाला दवा में पानी मिला कर बेचना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझता है...बच्चे बाप का मजाक उड़ाते हैं, बीबी पति का मजाक उड़ाती है...यह क्या हो गया है दुनियाँ को...किधर जा रही है..."

जनार्दन गार्ड को गुस्से की हालत में देख कर श्रीमती जी ने बाँस का पंखा उठाया। नजदीक आकर झलने लगी। लेकिन फिर भी गुस्सा शान्त न हुआ। एक झटके में पंखा भी उखड़-पुख़ड़ कर रह गया। बाँस की पट्टियाँ हाथ में धँस गई। श्रीमती के हाथ में भी चोट आ गई। खून बहने लगा और तब जनार्दन गार्ड का गुस्सा भी शान्त हो गया। थोड़ी देर बाद वह नहा-धो कर रामायण की चौकी के पास दैठ कर रामायण पढ़नें लगा। पहले तो उसने रामायण खोला। बीचो-बीच रामायण में रखे हुये नोट की गड्डियों को उठाया, गिना, सहेजा। और तब चुपचाप रामायण की चौपाइयाँ गुनगुनाने में व्यस्त हो गया। मुँह से तो वह रामायण पढ़ रहा था लेकिन उसके मन में बराबर एक चिन्ता थी और कहता जाता था, "भगवान इस छोटी सी कमाई में तूने कई बार मुझे लाल झंडी दिखा कर रोकना चाहा...तीन-तीन औरतें मरीं, घर-बार तहस-नहस हुआ लेकिन फिर भी तू मुझे सँभाले रहा...है प्रभो यह तेरे ही बदौलत है कि कमाई से अलग तू ने अपना हाथ बढ़ा के मुझे इतना रुपया दिया है...वरना आज मैं दरबदर का भिखारी होता...तो क्या होता ? हे प्रभू उन बिना टिकट चलने वालों ही के कारण आज मैं तेरी सेवा में इस महीने दो सौ रुपये भेंट रख सका हूँ...केवल इसीलिये...मुझे क्या ? मैं तो अधम, नीच, कपटी, खल, कामी हूँ लेकिन...लेकिन तेरे शरणागत हूँ प्रभो...तेरे।',

जनार्दन गार्ड जब यह प्रार्थना कर रहा था तो बावजूद इसके कि उस समय मेरी उखड़ी हुई हड्डियों में बड़े जोर का दर्द हो रहा था मैं इस प्रार्थना का पूर्ण रस ले रही थी। जीवन का यह भी एक व्यंग्य था...भगवान की यह भी एक दूकान थी, प्रतिष्ठान का यह भी एक तकाजा था...जिन्दगी का यह भी एक पहलू था जिससे मैं अनभिज्ञ और अपरिचित थी...मैं भी इसी व्यंग्य में डूबी थी कि जनार्दन गार्ड ने रामायण के पन्नों में से चार रुपये निकाले और अपनी श्रीमती जी को बुला कर कहा।

"देखो...यह रूपये हैं, इन्हें रखो...शाम को जब मैं बाज़ार जाने लगूं तब देना। आज रामायण जी का प्रसाद चढ़ाना ज़रूरी है।"

"लेकिन यह रुपये आये कहाँ से!"

"यह रामायण जी का रुपया है रामायण जी का—"

श्रीमती जी चुप हो गई और जनार्दन गार्ड ने बही उठा कर राम नाम बैंक की कापी में राम नाम शुरू किया। बही में एक हजार नाम लिखने के बाद उन्होने बही उलट दी और उसके दूसरी ओर अपना रोज का हिसाब लिखना शुरू किया। लकड़ी, चावल, दाल, आटा, नामक का हिसाब लिखने के बाद उन्होंने मेरी भी कीमत लिखी। प्रसाद के रुपये का हिसाब लिखा। बही बन्द की। चरणामृत पी कर वहाँ से उठे। चौके में आकर जल्दी-जल्दी खाना खाया। अपनी वर्दी पहनी और स्टेशन चले गये। डियूटी रूम में जाकर उन्होने हरी झंडी, लाल झंडी उठाई। मुह में सीटी दबाई और स्टेशन के प्लेटफ़ार्म की ओर चल पड़े। रास्ते भर वह राम, सीता राम ही भजते रहे।

वस्तुतः जनार्दन गार्ड की जिन्दगी उन्हीं लाल और हरी झंडियों में ही बँध कर रह गई थी। भगवान की पूजा में, दोस्तों से मिलने-जुलने में, हर नया काम शुरू करने में वह इन्हीं झंडियों का सहारा लेता था। मित्र-शत्रु बनाने से लेकर बड़े से बड़े अहम मसलों पर विचार करने के पूर्व वह इन झंडियों को दीवाल से लगा कर टाँग देता और फिर दूर से आँख बन्द करके दौड़ता हुआ आता और बिना देखे अगर लाल झंडी पकड़ लेता तो वह फौरन ही अपनी राय बदल देता और अगर हरी झण्डी पकड़ लेता तो वह बड़े से बड़े खतरनाक कामों को भी करने में हिचकिचाता नहीं था। आज काम शुरू करने के पहले उसने लाल और हरी झण्डियों का फैसला नहीं लिया था लेकिन इस समय वह कुछ ज्यादा परीशान था। घर में उसकी बीबी उसे इतना अधिक मूर्ख समझती कि उसे हर बात पर अपनी बीबी से भय मालूम पड़ता। कहीं हृदय के कोने में उसे यह भावना भी परीशान करती कि लगातार तीन चार शादियाँ करना मेरे लिये उचित नही था लेकिन फिर सोचता बिना शादी किये काम भी कैसे चलता।

आगे खानदान भी तो ठप था, सन्तानहीन मरना पाप है और इस पाप का प्रभाव उन पर भी पड़ता जो मर चुके है लेकिन इतना सब समझाने पर भी उसे इत्मीनान नहीं होता। जी बराबर धक-धक करता रहता और लगता जैसे पैर के नीचे की सारी जमीन धसकती जा रही है और वह केवल एक ऐसा देखने वाला व्यक्ति है जो केवल देख सकता है और कुछ नहीं कर सकता।

श्रीमती जी जिनका नाम सरस्वती था एक मामूली दवा फ़रोश की लड़की थी। सन्तान प्राप्ति की लालच से अपने जाति वैद्य के यहाँ जब जनार्दन गार्ड गये और तरह-तरह की बातें पूछने पर जब उन्होंने अपना सारा कच्चा चिट्ठा हाल कह सुनाया था तो उस दवा-फरोश ने जनार्दन को एक दवा दी थी जिसे उन्होने और उनकी तीसरी पत्नी ने साथ-साथ खाया था। लेकिन दवा में जाने कैसा ज़हर था कि रात भर वह बिचारी तड़पती रह गई थी और सुबह होते-होते मर भी गई। इसका सदमा जनार्दन गार्ड को बराबर रहा और उस दवा-फरोश के प्रति उनको इतनी घृणा हो गई कि फिर वह उससे कभी भी नहीं मिलने गये लेकिन एक रोज जब सहसा वे दोनों भगवान के मन्दिर में मिले तो दवा-फरोश ने जनार्दन गार्ड को बहुत कुछ समझाया और अपनी सयानी लड़की की शादी की बात भी की। जनार्दन गार्ड तो पहले झिझका लेकिन जब घर आकर उसने फिर लाल और हरी झण्डी के माध्यम से निर्णय लेने की तैयारी की तभी हरी झण्डी उसके मुट्ठी में आ गई और उसने अपनी चौथी शादी के निर्णय की बात निश्चित रूप से स्थापित कर लिया और उस दवा-फरोश की सयानी लड़की के साथ उसने अपनी शादी कर ली।

अभी शादी हुये कुल दो साल हुये हैं मगर गार्ड साहब है कि अभी से सन्तान के बारे में निराश हो गये हैं। इस बीच गनपत शास्त्री को वह अपनी जन्मपत्री दस-बीस बार दिखला चुके है। लग्न, मुहूर्त, वर्षफल भी निकलवा चुके हैं। गौरी भी इसी सिलसिले में कई बार जनार्दन गार्ड के घर आ चुकी है और उसने लघु मृत्युन्जय से लेकर महा मृत्युंजय जाप के लिये गनपत शास्त्री को सैकड़ों रुपये भी दिलवा चुकी है। श्रीमती जी की जब कभी तबियत ऊबती तो वह गौरी के यहाँ चली जातीं थोड़ी देर बैठतीं। बात चीत होती और फिर चली आती। जनार्दन गार्ड के आफिस जाने के बाद आज फिर श्रीमती जी गौरी से मिलने चली गईं थीं और उसे साथ लेकर शाम तक वापस आई थीं। गौरी के साथ बैठ कर घन्टों बातचीत हुई थी। आज की घटना का विवरण भी दिया गया था और गौरी ने कहा था... 'बहन न जाने कैसे थे तुम्हारे बाप...आखिर क्या था इस जनार्दन गार्ड में दूध ऐसी तुम, और दूब ऐसा तुम्हारा रूप...न जाने क्या देखा था—सरस्वती चुप रही लेकिन गौरी कहती जा रही थी...

"लेकिन हम औरतें कर भी क्या सकती हैं। भाग्य के आगे सबको झुकना पड़ता है। तुम्हीं क्या कर सकती हो। जो कुछ भी पूर्वजन्म का किया धरा था वही तो मिलेगा।"

गौरी के मुँह से यह सारी बातें सुनकर सरस्वती को सिवा हँसने के और कुछ भी नही सूझ पड़ता। बोली..."क्या कहती हो गौरी...मर्द...सब मर्द एक ही तरह के होते है। चाहे वह आगम पंडित हो या गनपत शास्त्री, चाहे वह गार्ड बाबू हों या और कोई।"

गौरी यह बात सुनकर चुप हो गयी। वह अब आगे कोई बात बढ़ाना नहीं चाहती थी लेकिन सरस्वती नहीं मानी उसने कुरेद कर पूछना शुरू किया—

"कब तक आयेंगे पंडित गौरी महराजिन...तुम तो कहती थीं वह किसी रजवाड़े के यहाँ गये हैं लेकिन ऐसा भी क्या जाना कि बाल बच्चों से बनवास ले ले कोई...अखिर यह तुम्हारा रूप यह सौन्दर्य...कैसे कटता होगा।"

गौरी की घबड़ाहट बढ़ने लगी। उसने सोचा जल्दी से जल्दी वहाँ से उठ कर चली जाय। फौरन उसने बात बदल कर महामृत्युंजय जाप की हवन सामग्री का विषय उठा दिया लेकिन सरस्वती और भी तेज़ हो गई बोली—"क्या सब दोष मर्दों ही मे थोड़े ही होता है गौरी महराजिन—"

खराबी औरतो में भी होती है और खराबी का कारण उनकी ज़िद होती है ज़िद...मैं तो हर अच्छे बुरे को हँस कर झेल डालती हूँ। रोने से क्या फायदा।

"हाँ—हाँ तो उस जाप के सामग्री के लिये गनपत पंडित से क्या कह दूँ।"

"यह गनपत पंडित तुम्हारे कौन होते हैं महाराजिन ?"—

"अरे हमारा कौन है। पंडित का विद्यार्थी था, इसलिये जब यहाँ से जाने लगे तो घर का सारा कारो बार उन्होंने गनपत शास्त्री को ही सौप दिया था।"

"आदमी अच्छे हैं ! क्यों गौरी महराजिन ?"—

"अच्छा ही है बहू जी...जो काम आवे वही अच्छा होता है।"

गौरी ने जिस बात को छेड़ा था उसका उद्देश्य यह कतई नहीं था कि खुद उसी को अपनी हालत पर तरस आने लगे लेकिन जब बात का सिलसिला बार-बार इसी ओर झुकने लगा तो गौरी महराजिन ने अपनी चादर उठाई। उसे ओढ़ कर बोली।

"अच्छा तो बहन हम चलते हैं। गार्ड बाबू आवें तो उनसे इतना कह देना कि जाप को ख़त्म होने में दो दिन रह गये हैं। पैसे का इन्तजाम किये रक्खे...जिससे उस दिन शाम तक हवन भी हो जाय।"

"बहुत अच्छा गौरी महाराजिन—गनपत पण्डित से कह देना एक बार गार्ड बाबू से मिल लें।"

गौरी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप चली गई। उसके जाने के बाद गौरी का दिमाग़ तरह-तरह की बातों में उलझ गया। सोचती—ठीक ही तो कहती हैं महराजिन। आखिर इसमें ग़लत ही क्या है। आख़िर क्या धरा है इनमें...न तो किसी चीज़ का शौक है, न फैशन, न खाने का शौक न पहनने का, बस केवल पैसा जोड़ना आता है। यह रामायण जी का रुपया है, यह भगवान का रुपया है, यह अमानत है यह...और इसी तरह सब रुपया किसी न किसी का हो जाता है। मेरा कुछ भी नहीं। खुद उनका कुछ भी नहीं है। और यह कहते-कहते वह आवेश में आ गई। ज्योंही कमरे से निकली कि बरामदे में मुझे देखकर झल्ला गई। दो-चार लात जमाकर बोली —

"खरीदते-खरीदते खरीदा भी तो यह टूटी हुई कुर्सी जो ज़रा-सी बैठने में टूट गई। आज अगर मैं इसे आग में न जला दूँ तो मेरा नाम सरस्वती नहीं। आखिर क्या समझा है गार्ड बाबू ने—"

इसी तरह काफी देर तक वह मन ही मन बड़बड़ाती रही। कई बार उसने सोचा है कि रामायण जी में से वह सारा रुपया निकाल कर अपने लिये साड़ी, ब्लाउज़, चूड़ी और चोटी मँगवा ले। न जाने कितनी बार उसने रामायण की जिल्द खोली है। उसमें का सारा रुपया गिना है, फिर लपेट कर रख दिया है। न जाने कितनी बार उसने पोस्ट आफ़िस सेविंग्ज़ बैंक्स की कापी उठाई है, उसमे की जमा की हुई रक़म को पढ़ा है, जोड़ा, घटाया है और अन्त में उसे रख दिया है। कई बार जब उसने किसी चीज़ की फर्माइश की है तो जनार्दन गार्ड ने बराबर यही कहा है —

"रुपया सम्भाल कर रखना चाहिये। पता नहीं किस वक़्त कैसी मुसीबत आ पड़े...आदमी भले साथ छोड़ दे लेकिन ऐसे आड़े वक़्तों पर रुपया आदमी की जान बचा लेता है। उसकी इज़्ज़त पर आँच नहीं आने देता।"

लेकिन आज सरस्वती यह बात मानने के लिये क़तई तैयार नहीं थी। धीरे-धीरे करके उसने साहस किया। रामायण को खोल-खोल कर उसमें से पुस्तक निकाली। एक-एक करके सारी तस्वीरें देख गई फिर चुपचाप उसके भीतर से उसने सारे नोट निकाल लिये। अपने आँचल में बाँधते समय वह बिना किसी भय और संकोच के धर्मराज की नगरी की सारी तस्वीरें देख रही थी। बिच्छू और साँपो से भरे हुये आदमी की तस्वीर, चक्की में दाँत निकाले पिसते हुए आदमी की भयंकर आँखों, कड़ाह में तले जाने वाले आदमी की चीख़ और इन सबके बीचोबीच यमदूतों की भयंकर आकृति...और तब अपने आँचल में कसकर एक खूँट लगाते हुए वह आँगन में आई।

उन चित्रों के प्रति घृणा प्रदर्शित करते हुए उसने नाली में थूक दिया, और फिर खामोश होकर अपने कमरे में चारपाई पर जा पड़ी। बड़ी देर तक अपना मुख शीशे में देखती रही। फिर नेल पालिश खरौंच कर छुड़ाने लगी लेकिन न जाने क्यों वह प्रत्येक आहट से चौंक जाती थी। शायद उसे अपने से भी भय लगने लगा था, और इसी दशा में वह न जाने कब सो गई। नींद उस समय खुली जब जनार्दन गार्ड ने आकर अपनी वर्दी उतारी। जेब से दिन भर की कमाई निकाल कर श्रीमती जी के हाथ पर रखते हुए बोला —

"सब भगवान देता है। कितना दयालु है सरस्वती...मुझ जैसे आदमी को इतना सब कुछ देने वाला वही परम पिता परमेश्वर है। आज मैंने और टी-टी ने पचास मुसाफिर पकड़े...कुल मिलाकर २०० रुपये मिले थे...७५ रुपये मेरे हिस्से के हैं।"

"और बाकी..." सरस्वती ने पूछा।

"अरे कोई मैं ही अकेला थोड़े ही था...दो टी-टी भी तो थे..."

"तो इसे मुझे क्यो देते हो...रख न आओ भगवान की चौकी पर रामायण जी के पन्नों में।"

"हाँ, हाँ सो तो रखूँगा ही। शाम को पूजा करते समय ले लूँगा तुम तब तक अपने पास रखो।"

अपनी वही चारखाने वाली लुंगी पहनकर वह सरस्वती जी की चारपाई पर बैठ गया। उसका बैठना था कि सरस्वती तिनककर उठ खड़ी हुई। जनार्दन ने कहा— "क्यों क्या हुआ।"

"कुछ तो नहीं..."

"तो बैठती क्यों नहीं।"

"बस तुमको तो चुहल ही सूझती है...और कुछ भी आता है तुम्हें...देखते नहीं सामने धर्मराज जी खड़े हैं।"

जनार्दन गार्ड सरस्वती की बात सुन कर खूब हँसा। फिर चुपचाप उठा। अपनी फ़र्शी ताजा कर चिलम चढ़ाई। चारपाई पर बैठ के पीने लगा। सरस्वती भी पास ही में मचिया पर बैठ गई। जब जनार्दन गार्ड ने दो-चार कश खींचा तो सरस्वती बोली—"आज गौरी आई थी।"

"तो क्या हुआ ?"

"कह रही थी कि गार्ड बाबू से कह देना महामृत्युंजय जाप दो रोज़ में समाप्त हो जायगा। फिर हवन के लिए रुपया भेजना होगा..."

"ठीक तो है ! आज का यह रुपया उसे ही दे आता हूँ।"

सरस्वती ने कुछ भी नही कहा। उसने दिया हुआ रुपया अपने आँचल से खोल डाला और चुपचाप जनार्दन के हाथ मे रख दिया। आज जनार्दन को भी न जाने क्या झक सवार हो गई। उसने उठते ही कपड़ा पहना और सीधे गनपत शास्त्री के यहाँ चला गया। रास्ते भर गद्‌गद् कण्ठ से वह भगवान की प्रार्थना करता जा रहा था। बार-बार आवेश में हाथ जोड़ लेता। करबद्ध प्रार्थना करता...खामोश हो जाता और फिर चलने लगता। ऐसा ही करते-करते वह बीच शहर में पहुँच गया। रास्ते में जहाँ भी मन्दिर देखता दूर ही से हाथ जोड़कर नमस्कार करने लग जाता। मन्दिर के द्वार पर शाष्टांग दण्डवत् करने लगता और फिर आगे बढ़ जाता।

इधर सरस्वती के दिमाग़ में एक दूसरा उथल-पुथल चल रहा था। वह सोच रही थी कि अगर कहीं गार्ड ने वापस आकर रामायण की पोथी खोली और उसमें उसे रुपये न मिले तो वह पागल हो जायगा। उसके जी में आया कि वह रुपये अपने आँचल से खोलकर रामायण की पुस्तक में रख दे लेकिन फिर सोचती...क्यों रख दूँ? क्या करेंगे जनार्दन गार्ड? क्या मैं कोई गैर हूँ? मुझे भी तो पैसों को रखने का अधिकार है। गौरी ठीक ही तो कहती थी कि मर्द सब एक तरह के होते हैं। इनमें कोई फ़र्क नहीं होता। आखिर रुपया रख कर क्या होगा? आदमी की ज़िन्दगी है तो जहान है। अगर आज ज़िन्दगी ही नहीं है तो यह रुपया-पैसा क्या होगा। कौन इनका इस्तेमाल करेगा?

इसी द्विविधा में और संघर्ष में वह एक बार फिर उठ कर धर्मराज के चित्र के सामने आई और आकर उसने रामायण की ख़ोल ख़ोली। मोटी किताब के पन्नों को उलट कर वह विशेष स्थान ढूँढ़ने लगी जहाँ जनार्दन गार्ड ने रुपया रखने का स्थान बनाया था। फिर उसने अपना आँचल खोला। एक बार फिर वह एक-एक करके वह सारे रुपयों को गिन गई, और सँभाल कर पन्नों के बीच में रखने लगी। अभी रखा ही था कि दरवाजे पर किसी के थपथपाने की आवाज सुनाई पड़ी। उसने चाहा कि वह रामायण को बन्द करके ख़ोल चढ़ा दे लेकिन कई सख्त आवाज़ें एक साथ चिल्ला उठीं..."दरवाजा खोलो," "दरवाजा खोलो"। सरस्वती हतप्रभ-सी हो गई। उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। कम से कम इस बीच उसके हाथ से रामायण की पोथी तीन बार छूट कर ज़मीन पर गिरी और तीनों बार उसमें का धरा हुआ नोट बिखर गया। सरस्वती ने हर बार यह कोशिश की कि वह उसे उठा कर सँभाल कर रख दे। जब चौथी बार भी पोथी नहीं सँभली तो उसने नोटों को उठा कर अपने आँचल में बाँध लिया। घबड़ाई हालत में पसीना-पसीना होकर वह दरवाजे पर खड़ी हो गई। भीतर की खिड़की से झाँककर देखा तो पुलिस की लारी

खड़ी थी। लाल पगड़ी बाँधे, हाथ में लठ लिये सिपाहियों की क़तार घर को घेरे हुये थी और दरवाजे पर लगातार चोट लगाई जा रही थी। बीच-बीच में थानेदार आवाज़ भी लगाता जाता था। कई बार जनार्दन, जनार्दन जी, जनार्दन बाबू कहने पर भी जब दरवाज़ा नहीं खुला तो फिर गालियों की बौछार शुरू हुई। "कम्बख़्त," "कमीने" से लेकर फूहड़ गाली तक दी गई। जब बात एक हद तक पहुँच गई तब सरस्वती ने भीतर ही से कहा...

"वह नहीं है...कहीं गये हैं..."

"कहाँ चला गया कमीना कहीं का...

सरस्वती चुप हो गई। इतने में हाथ में प्रसाद लिये जनार्दन गार्ड भी आ पहुँचा। उसको देखते ही थानेदार ने डॉट कर पूछा...

"कहाँ चला गया था।"

"यहीं बाज़ार गया था प्रसाद लेने"...थोड़ा रुक कर बोला, "क्या बात है आप लोग मेरा घर क्यों घेरे हैं।"

"आपने आज रिश्वत लिया है।"

यह सुनते ही जनार्दन के हाथ से प्रसाद वाली मिठाई का पत्तल गिर गया। उसका होश उड़ गया। घबरा कर बोला...

'नहीं तो...मैं क्या जानूँ रिश्वत क्या होता है ?"

"अच्छा ? अभी बताता हूँ। दरवाज़ा खोलो...मैं घर की तलाशी लूँगा..."

"तलाशी...?"

"हाँ, हाँ तलाशी..."

तलाशी का नाम लेते ही जनार्दन काँप गया। फौरन उसकी आँखों के सामने वह लाल बही नाच गई जिस पर एक ओर तो राम नाम बैंक का रामनाम लिखा था और दूसरी ओर रोज की रिश्वत की आमदनी का हिसाब। हाथ जोड़ कर जनार्दन ने कहा—

"क्यों बेइज़्ज़त करते हैं। मेरे घर में कुछ नहीं है।"

"क्या बकते हो...दरवाज़ा खुलवाओ नहीं तो तोड़वा दूँगा।"

कम्पित आवाज़ में जनार्दन गार्ड ने सरस्वती से दरवाज़ा खोलने के लिये कहा। सिसकती हुई सरस्वती ने दरवाज़ा खोला। सारे पुलिस वाले एक साथ घर में पिल पड़े। क्षण भर में घर का सारा सामान उधेड़ कर फेंक दिया गया। भगवान की तस्वीरें फ्रेम से निकाल-निकाल कर देखी गईं। यमराज की तस्वीर भी फ्रेम से अलग की गई। थानेदार ने सोचा शायद इन तस्वीरों के पीछे कोई जगह हो। जब कहीं

कुछ नहीं मिला तो भगवान का गद्दा भी उल्टा गया। रामायण का पन्ना झाँक-झाँक कर देखा गया, फिर उसके बाद वह लाल बही भी उठाई गई। उठाते ही जनार्दन के रोंगटे खड़े हो गये। हाथ जोड़ कर आँख बन्द करके उसने भगवान का नाम लेना शुरू किया। लेकिन घबड़ाहट कुछ ऐसी थी कि भगवान का नाम भी शुद्ध तरीके से नहीं उच्चारण हो पा रहा था। जनार्दन गार्ड की यह स्थिति थी कि वह बेहोश भर नहीं हुआ था नहीं तो उसकी मानसिक अस्वस्थता में कोई भी सन्देह नहीं रह पाया थी। बही की कापी थानेदार ने बार-बार उठाई। उसके पन्ने गिने, देखे, लेकिन हर बार उसने बही का वह सिरा नहीं उधेड़ा जिसमें रोज़ की नाजायज़ आमदनी और ख़र्च लिखे जाते थे। अन्त में परीशान होकर उसने डाँट कर पूछा—

"क्या लिख रखा है इस बही में..."

"हि...हिसाब ही तो है हुजूर..."

"कैसा हिसाब...राम नाम का हिसाब भी होता है क्या ?"

"जी हाँ...ब...ब...बैंक का...राम नाम बैंक का हुजूर..."

"बता वह रुपये कहाँ है जो आज रिश्वत में लिये हैं..."

"मैंने नहीं लिये...सरकार..."

"तब किसने लिये..."

"मैं नहीं जानता...बिल्कुल नहीं जानता..."

परीशान आकर थानेदार अपनी पुलिस फोर्स के साथ वापस चला गया। घन्टों जनार्दन गार्ड को होश नहीं आया। सरस्वती भी कमर में बेहोश पड़ी थी। आँगन में, बरामदे में चौके में हर जगह सामान लावारिसों की तरह पड़ा था। उन बिखरे हुये बर्तनों में भगवान की तस्वीरों में रामायण के पन्नों में जैसे एक विक्षिप्तता थी जो तड़प रही थी। हर ओर, हर दिशा से जैसे कोई प्रश्न है जो बार-बार जनार्दन के कानों में गूँज रहा है और वह प्रश्न है—

"थानेदार ने बही को दूसरी ओर से क्यों नहीं उल्टा ?"

और जब घण्टा भर का समय बीत गया तो उसे लगा कि यह सब केवल इसलिये हुआ क्योंकि उसने अपनी सारी कमाई अच्छी या बुरी, भगवान को ही अर्पित कर दी थी। नहीं तो भगवान की बही की कापी में क्या नहीं था ? नोट के नम्बर तक तो उसमें लिखे रहते हैं। और तब एक बार वह फिर उठा। धर्मराज के फटे चित्र के सामने उसने अपना शीश नवाया। उलूकवाहिनी लक्ष्मी के चरण रज लेकर अपने माथे पर लगाया, और मजीरा लेकर ज़ोर-ज़ोर से तुलसीदास की चौपाई गाने लगा...

दीन दयाल विरद संभारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।

लेकिन लगातार यह ध्वनि गूँजने पर भी सरस्वती की मूर्छा नहीं टूटी। जब कीर्तन करते-करते जनार्दन गार्ड थक गया तो उसने उस कमरे की ओर देखा जहाँ धराशायी होकर सरस्वती पड़ी थी। कीर्तन समाप्त करके जनार्दन उसके पास गया। उसके मुँह पर छींटें दिये। उसे होश में लाया। बड़ी देर के बाद जब उसे होश आया तो उसने भयभीत नज़रो से जनार्दन की ओर देखा। फिर उसने अपने आँचल की छोर पर हाथ डाला। नोटो की गड्डियों को सुरक्षित देखकर उसे फिर मूर्छा आ गई। जनार्दन ने सोचा यह यों नहीं ठीक होगा। वह नौसादर और चूने का प्रबन्ध करने बाज़ार गया। अभी वह लौटा नही था कि इसके पहले ही सरस्वती पूजा की चौकी के पास गई। वहाँ उसने धीरे-धीरे करके रामायण की पोथी खोली और जहाँ सें उसने नोट निकाले थे वहीं सहेज कर रख दिये। वस्तुतः सरस्वती को यह विश्वास था कि यह सारी दुर्घटना केवल इस कारण हुई है क्योंकि उसने भगवान के साथ विश्वासघात करने की कोशिश की थी। उसने हाथ जोड़ कर रामायण जी से क्षमा माँगी और एक सत्य-नारायण की कथा का भी वचन दिया। उसके बाद वह उठ कर अपने कमरे में गई। चारपाई पर लेटते ही उसे फिर बेहोशी आ गई लेकिन अब तक जनार्दन आ चुका था। उसने पहुँचते ही नौसादर और चूने की शीशी सरस्वती की नाक के पास लगा दी। थोड़ी ही देर में उसका तीखापन सरस्वती के गले को जलाता हुआ उतर गया। चौंककर वह उठ बैठी। सामने जनार्दन की गंजी खोपड़ी और परीशान चेहरा देखकर वह कुछ परीशान हो गई, लेकिन फिर उसने अपने आपको सँभाला और होश में आ गई।

इधर जनार्दन का विश्वास भगवान में अधिक बढ़ गया। उसके दिल में यह बात जम गई थी कि यदि भगवत कृपा न होती तो न तो वह ड्यूटी से आते ही रुपया लेकर गौरी के घर जाता और न बही का केवल वह पृष्ठ ही खुला रह जाता जिस पर केवल राम नाम लिखा है। साथ ही साथ उसके मन में यह भी बात जम गई कि अच्छा हो या बुरा, जो कुछ भी करो यदि तुम उसे भगवान के चरणों में अर्पित करके करोगे तो भगवान ठीक वैसी ही रक्षा करता रहेगा जैसा कि उसने आज किया है। दूसरे ही दिन जब वह दफ्तर गया और वहाँ उसे यह पता चला कि वे नोट जो कल उसे रिश्वत में मिले थे उस पर भ्रष्टाचार मजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर थे, तो उसके पैर के नीचे से ज़मीन ही खिसक गई और तब अपने हाथों में एक हरी और दूसरी लाल झण्डी लेकर उसने भगवान को प्रणाम किया और बड़ी गहरी भक्ति भावना उसके हृदय में उथल-पुथल मचाने लगी। "त्राहिमामि

त्राहिमामि" की इस मुद्रा मे आँख बन्द किये वह काफ़ी देर तक समाधिस्थ अवस्था में निमग्न रहा। और उसकी मुद्रा उस समय भंग हुई जब सहसा, प्लेटफार्म पर लाइन क्लियर की घन्टी बजी।

इस घटना के कई विचित्र प्रभाव जनार्दन गार्ड पर पड़े। पहला परिणाम तो यह हुआ कि उसने रिश्वत का लेना और भी बढ़ा दिया और वह रक़में जो बही में दर्ज करना वह भूल जाता था उसे भी दर्ज करने लगा। दूसरा प्रभाव जनार्दन गार्ड पर यह भी पड़ा कि अब वह एक हनुमान जी की लोहे की मूर्ति अपने जेब में रख कर और रुपयों को हनुमान चालीसा में लपेट कर ड्यूटी करने लगा। छोटी सी हनुमान जी की मूर्ति पहले उसने बहुत तलाश की, जब नही मिला तो उसने अपने कबाड़ी से कहा और उस कबाड़ी ने ठीक उसी बन्दर को गेरू पोत कर जनार्दन को दे दिया जिसे तराजू की डण्डी का फूल मान कर अब तक लकड़ी के बुरादा तौलने वाली तराजू में पिरो रखा रखा था। अब इस हथियार को जेब में रख कर जनार्दन गार्ड ने बिना टिकट के चलने वाले यात्रियों से पैसा बसूल करना शुरू किया। सेविंग्ज़ बैंक की कापियाँ भी धीरे-धीरे भरने लगीं। जितने दिनों मैं वहाँ थी उतने दिनों तक जनार्दन गार्ड की सेविंग्ज बैंक की एक कापी भर चुकी थी। रामायणय जी में रुपया वैसा ही रखा जाता था। लेकिन सरस्वती अब भूखो रह जाती थी लेकिन रुपये को छूने का नाम नही लेती थी।

थोड़े दिनों बाद सरस्वती ने समय और अवसर विचार कर सत्य-नारायण की कथा सुनने का निश्चय किया। बड़ा धूमधाम मचाया गया। काफी लोग आये। गनपत शास्त्री को विशेष रूप से पीताम्बर पहना कर बैठाया गया। चौक पूरा गया। कलश गोंठा गया। पल्लवों से सारे घर को ऐसा सजाया गया कि सारे लोग देखकर दंग रह गये। एक कीर्तन मन्डली भी बुलाई गई। माइक्रोफोन लगा कर "राम धुनि लागी, गोपाल धुनि लागी" का नारा बुलन्द किया गया। निश्चित समय पर स्टेशन मास्टर, डाक्टर वनडले, सारथी ज्वाला प्रसाद और दिव्या देवी भी आ पहुँची। श्रीमती वनडोले ने पंजीरी बनाने से लेकर चरणामृत बनाने तक का सारा काम ओढ़ लिया। सरस्वती भी बनारसी साड़ी और गहने पहन कर मेहावर लगवाने बैठ गई। जनार्दन गार्ड भी पीली धोती और पीला अँगोछा कन्धे पर रख कर भीतर बाहर आने-जाने लगे। मोहल्ले की गरीब औरतें ढोलक लेकर सोहर गाने लगीं। गनपत शास्त्री भी सब साज वो सामान ठीक करने के बाद कलावती की कहानी सुनाने लगे। जनार्दन गार्ड के बग़ल में बैठी हुई सरस्वती भी आँख बन्द कर कथा सुनाने लगी।

कथा समाप्त होते ही दही शक्कर की हाँडी में शालिग्राम को जब डुबोया जा

रहा था तभी सरस्वती कपूर लेने भीतर चली गई। कपूर लेकर आई तो शुद्ध रूप से हवन शुरू हुआ। सकल्प पढ़ा गया। दक्षिणा दिया गया। कपूर को थाली मे जला कर आरती की गई। जनार्दन गार्ड और सरस्वती ने पाँच-पाँच रुपये डाल कर आरती ली। जनार्दन फिर थाल लेकर बाहर निकला। सब लोगो के सामने ले गया। दिव्या देवी ने कागज़ का सपेद फूल आरती मे चढ़ाया। सारथी ज्वाला प्रसाद ने अपनी नकली हीरे की अँगूठी दी। डा० वनडोले ने सारा जेब टटोलने के बाद एक छेद वाला पैसा डाला। सभी लोग इस पुण्य अवसर पर जनार्दन गार्ड को बधाई देने लगे। सब को सहर्ष धन्यवाद देता हुआ जनार्दन अमीर ग़रीब सब के सामने थाल ले गया। किसी ने पैसे दो पैसे डाले, कुछ ने केवल हाथ जोड़ लिया और इस प्रकार वह आरती की थाली सब के पास घूम कर फिर वेदी पर आ गई। गनपत शास्त्री ने जितना चढ़ा था उसे अपने पीताम्बर में बाँध लिया और फिर कपूर की एक छोटी सी डली निकाल कर थाल की बुझती हुई आरती को प्रज्वलित किया। सरस्वती के हाथ में देता हुआ बोला..."यह भगवान की आरती है...इसे देवियों के समक्ष भी ले जाओ..." और सरस्वती ने उस थाल को हाथ में लेकर बारी-बारी से बैठी हुई तमाम स्त्रियो को प्रणाम किया। यथा शक्ति सबों ने उसमें पैसा डाला और जब थाल घूम चुका तो उसे लेकर वह वेदी की ओर आने लगी। मैं...आराम कुर्सी उसी बरामदे में जहाँ टूटी थी वही पड़ी थी। थाल लेकर चलते समय सरस्वती की साड़ी मुझ से उलझ गई और वह थाल ले दे कर गिर पड़ी। मैं भी थोड़ी चौकन्नी हो गई। पहले तो मैंने सोचा कि कोई बात नहीं भीड़-भाड़ में, काम-काज में ऐसा अक्सर होता है लेकिन जब मैंने देखा कि यह मामूली ठोकर भयानक आग में बदल गई तो मेरे तो प्राण ही जैसे निकल गये। हुआ यह कि आरती की लौ सरस्वती की बनारसी साड़ी में लग गई और साड़ी धू-धू कर के एक दम जलने लगी। उस भयानक आग को देख-कर वह एक दम उठ कर खड़ी हो गई और कमरे की तरफ़ भगने लगी। हवा लगने से आग और तेज़ हो गई कमरे में पहुँचते-पहुँचते वह गिर पड़ी। तमाम आमन्त्रित व्यक्तियों में कुहराम मच गया। डा० वनडोले दौड़े-दौड़े आये उन्होंने किसी तरह आग बुझाई और फिर अपनी रिक्शा गाड़ी लेकर जल्दी-जल्दी जानवरों को दवा मे से एक बड़ा इन्जेक्शन का ट्यूब ले आये। इस बीच जली और झुलसी हुई हालत मे सरस्वती बेहोश पड़ी रही। जनार्दन गार्ड पंखा हाँक रहे थे और साथ ही इस बात की कोशिश भीकर रहे थे कि किसी प्रकार सरस्वती को होश आ जाय, लेकिन वह ऐसा करने में असमर्थ थे। वैद्य जी की यानी अपने ससुर की बताई हुई दवा नौसादर और चूने की शीशी भी उन्होंने कई बार सुंघाया लेकिन फिर भी सरस्वती को होश नहीं आया।

अभी यह सब हो ही रहा था कि डा० वनडोले अपना इमर्जेन्सी बाक्स लेकर धड़धड़ाते हुए कमरे में पहुँचे। इन्जेक्शन सिरम उन्होने ट्यूब में भरा और तड़-ताबड़ उन्होने तीन चार सूइयाँ लगा दी। जनार्दन गार्ड यह सब देख कर घबड़ा गया। डा० वनडोले का पैर पकड़ कर वह बैठ गया और रोता हुआ बोला—

"क्या डाक्टर...सरस्वती बच जायगी न..."

"मैं देख रहा हूँ जनार्दन गार्ड...मैं घड़ी देख रहा हूँ अगर उसे एक घन्टे में होश आ जाता है तो ठीक है, नहीं तो फिर दूसरी दवा देनी पड़ेगी..."

"दूसरी दवा ? और यह कैसी दवा थी डाक्टर..."

"यह दवा जानवरों के जल जाने पर दी जाती है...घबड़ाने की कोई बात नहीं...आदमी और जानवर की दवा में थोड़े ही फ़र्क होता है...लो देखो तुम भी देखो यह घड़ी है...अगर एक घन्टे में होश आ जायगा तो ठीक है, नही तो फिर दूसरी दवा तो है ही है।"

.जनार्दन गार्ड डा० वनडोले के हाथ में लगी हुई घड़ी को बड़ी ग़ौर से देखने लगा। सब अतिथि चारपाई घेर कर खड़े थे। दिव्या देवी पंखा झल रही थीं। श्रीमती वनडोले माथे पर हाथ फेर रही थी। सारथी ज्वाला प्रसाद खड़ा-खड़ा उस झुलसे हुये चेहरे की नग्नता को देख रहा था। और जनार्दन गार्ड की गंजी खोपड़ी और भद्दी आकृति से तुलना कर रहा था। गनपत शास्त्री चिराग़ लेकर आरती का पैसा गिन रहा था, नवो-ग्रहो पर चढ़ाया हुआ पैसा एक-एक कर उठा रहा था। कलश के नीचे, कलश के भीतर पड़े हुये रुपयों को सहेज रहा था। प्रसाद का काफ़ी हिस्सा अपने पीताम्बर में भर रहा था। वेदीं पर अकेला बैठा हुआ बार-बार नाइन को बुला रहा था। हवन की अधजली लकड़ियों को उलट-पुलट कर जलाने में व्यस्त था। आँच कम होने के कारण बार-बार समिधा में घी भर-भर कर उन्डेल रहा था। तिल, अक्षत, जौ, और गुड़ में सनी हुई हवन की सामग्री में ज़िन्दा चीटियाँ भी थीं। एक-एक कर के उस समूचे, सामग्री से चीटियों को निकालने का कार्य गनपत पंडित बड़ी सावधानी से कर रहे थे और साथ ही साथ यह भी सोच रहा था कि इन चीटियों को हवन की आग से कोई भी बचायेगा भी "पीस लवर" माना जायगा।

जब यह सब बातें हो रही थीं तभी डा० वनडोले की घड़ी को सहसा बन्द होते देख कर जनार्दन गार्ड चिल्ला पड़ा और फिर बोला..."अरे आप की तो घड़ी ही बन्द है।"

"घड़ी और बन्द है...मेरी घड़ी कभी बन्द हुई है।"

"आप खुद ही देखिये न।"

और जनार्दन खुद उठ कर बाहर चला गया। उसने अपनी टाइम पीस उठाई और उसे लाकर सरस्वती के सिरहाने रख दिया। डा० वनडोले का दिमाग़ घड़ी के बन्द हो जाने से काफी परीशान हो गया। वह फौरन अपनी रिस्ट वाच खोल कर उसका लिवर, स्प्रिंग और डायल देखने लगे। काफी हिलाया-डुलाया, लेकिन घड़ी किसी प्रककार न चली। डा० वनडोले के चेहरे पर परेशानी के साथ-साथ पसीना आ रहा था। उनकी बेचैनी बढ़ रही थी। लगता था जैसे किसी हाई ब्लडप्रेशर वाले को दिल के धड़के की बीमारी हो गई है। बार उठता फिर बैठ जाता, फिर उठते और बैठता...कभी सरस्वती की नब्ज पकड़ता और ठहरी हुई घड़ी की सूइयों को घूरता। कभी नब्ज पर एटिस्थिस्कोप लगा कर सूनी ख़ामोश घड़ी की डायल पर अपनी नज़र गड़ाये घूरता रहता। यही होता रहा। ना तो डा० वनडोले का होश ठिकाने था और न सरस्वती को होश आ रहा था। बार-बार इस उठा बैठी को देख कर जनार्दन से न रहा गया। बोला—

"क्या बात है डाक्टर साहब...आप इतने परेआन क्यो हैं?"

"परेशान...परेशान तो नहीं हूँ...मेरी घड़ी बन्द हो गई है न...घड़ी..."

"तो क्या हुआ...सामने तो घड़ी रक्खी हुई है..."

"इस घड़ी मे क्या होगा? मेरी घड़ी का और इसका क्या मोकाबला?"

"आख़िर यह भी तो समय देती है।"

"हूँ देती है...लेकिन इसका क्या ठिकाना? जाने कब बन्द हो जाय"?

"सो तो किसी का ठिकाना नहीं डाक्टर साहब...देखिये आप की घड़ी भी बन्द हो गई है।"

"ऊँ"...चौंकते हुये डा० वनडोले ने कहा...

इतने में ही वह भीड़ जो सरस्वती को घेरे खड़ी थी बिखरने लगी। दिव्या देवी पंखा झलते-झलते बोलीं..."डाक्टर...एक घन्टे हो गये...अभी तक तो होश नहीं आया?"

"क्या पता एक घन्टे हो गये? इस टाइमपीस का कोई भरोसा नही रहा मेरी घड़ी तो बन्द है..."

डा० वनडोले का यह तर्क दिव्या देवी के समझ मे नही आया। थोड़ा सोच समझ कर बोलीं..."क्या कहते हो डाक्टर? समय की गीत पर इस घड़ी उस घड़ी का कैद नही है...वह मुक्त है...चाहे तुम्हारी घडी बन्द हो या चले, वह अपनी गति से चलता जाता है।"

डा० वनडोले कुछ भी नही बोला। थोड़ी देर बाद वह अपनी घडी की ठंडी

सूइयों को ही देखते हुये बोला..."मैं कुछ नहीं बता सकता...मेरा दिमाग़ परेशान है। मुझे लगता घड़ी बन्द होने से मेरा दिमाग़ भी बन्द हो गया है।"

जितने लोग वहाँ खड़े थे सब हँस पड़े। जनार्दन गार्ड डा० वनडोले का पैर पकड़ कर प्रार्थना करने लगा। उसने बहुत कहा। अपने भाग्य और दुर्भाग्य की सारी गाथा गा गया। अपने जीवन साधना का सारा रहस्य सुना गया और फिर बोला...

"डाक्टर...तुम नहीं जानते कि अगर सरस्वती इस दुर्घटना से नहीं बची तो मेरी क्या हालत होगी...मैं पागल हो जाऊँगा...मेरी आस्था भगवान से हट जायगी डाक्टर...तुम्हें सरस्वती को अच्छा करना ही पड़ेगा।"

और डा० वनडोले एक निष्प्राण मूर्ति के समान जनार्दन गार्ड की सारी बातें सुनता रहा। वह न कुछ बोलता था और न हिलता-डुलता था...आँखें फाड-फाड कर सब को देख रहा था। श्रीमती वासन्ती वनडोले जो सरस्वती का सर सुहला रही थीं उनका क्रोध भी बढ़ता जाता था, लेकिन इस समय इस परिस्थिति मे वह कुछ कह नहीं पा रही थी।

उधर गनपत शास्त्री थाल में प्रसाद लिये बाहर बैठे हुए अतिथियो को प्रसाद बाँट रहा था। सब से कह रहा था, कि उसने सालिगराम की मूर्ति अभी तक दही-चीनी के मटके में डुबो रक्खी है। उसने उन से कह दिया है कि "देखो सालिगराम जो हुआ सो हुआ लेकिन मैं तुम्हें इस अथाह सागर से उस समय तक नहीं निकालूँगा जब तक सरस्वती को होश नही आ जायगा..." कुछ लोग अनुष्ठान की बात कर रहे थे। कोई कह रहा था कि यह सारा सब कुछ इसलिए हुआ क्योंकि कथा सुनने वालो के संकल्प में कमी थी। जनार्दन हताश और निराश होकर सोच रहा था, "यह सब इसलिये हुआ क्यों कि वह कदम-क़दम पर सरस्वती को डाँट देता था ..खर्चा कम करना चाहता था। सरस्वती यह अनुष्ठान खूब धूमधाम से मनाना चाहती थी। मैं पैसा कम खर्च करना चाहता था। यहाँ तक कि प्रसाद माँगने के समय भी एक झड़प हो गई थी..." और यह सब सोच कर वह हाथ जोड़े आँखें बन्द किये फिर अपने भगवान से करबद्ध प्रार्थना कर रहा था। कहता था, "हे भगवान ! सरस्वती उठ खड़ी हो फिर वह दूसरो कथा सुनेगा। सत्यनारायण की कथा के साथ वह श्रीमद्भागवत भी सुन डालेगा। रामायण का नवाह पाठ करेगा। ग़रीबों को दो मन अनाज बाँटेगा। बँदरिया बाग़ के बन्दरों को चना खिलायेगा। गंगा जी को एक मन दूध चढ़ायेगा...देवी को पूड़ी हलवा खिलायेगा और...और..."

लेकिन डेढ़ घन्टे बीतने पर भी सरस्वती को होश नहीं आया था। डा० वनडोले वैसे ही मूर्ति के समान बैठे थे जैसे उनकी आधी जान ही समाप्त हो गई। सब

की प्रार्थना कर चुकने के बाद वह एक बार फिर डा० वनडोले के पास गया। उस से बड़ी प्रार्थना की लेकिन वह खामोश सुनता रहा। जब बहुत कहने पर भी उसने कोई उत्तर नहीं दिया, तो जनार्दन गार्ड ने उसका कोट का कालर पकड़ कर ऊपर उठा लिया और फिर डाट कर बोला..."तो यहाँ क्यों बैठे हो? निकलो यहाँ से उठो! भागो! चलो!"

लेकिन डा० वनडोले अब भी नहीं हिले-डुले और तब जनार्दन ने उनका कालर पकड़ कर दरवाज़े के बाहर ढकेल दिया। दरवाज़े से ही लगी हुई टूटी और चकनाचूर हालत में मैं पड़ी हुई थी। डा० वनडोले मुझ से उलझ कर ज़मीन पर गिर पड़े। सब लोग हाँ-हाँ करते ही रहे लेकिन जो होना था हो चुका था। डा० वनडोले ज़मीन पर गिर चुके थे। सारथी ज्वाला प्रसाद की बाँछे खिल चुकी थीं। दिव्या देवी की भोन्डी हँसी ओठों से बिखर चुकी थी। वासन्ती वनडोले को क्रोध आ चुका था। गनपत शास्त्री थाल का प्रसाद बाँट चुके थे। आये हुये अतिथि अपनी-अपनी टिप्पणियाँ समाप्त कर चुके थे। औरतों का ढोलक गान समाप्त हो चुका था। कीर्तन करने वाले प्रसाद लेकर घर जा चुके थे। लेकिन सालिगराम की मूर्ति अब भी दही-चीनी में डूबी थी। डा० वनडोले अब भी विक्षिप्त से कुर्सी के पास औंधे पड़े थे।

धीरे-धीरे साहस करके डा० वनडोले उठने की कोशिश करने लगे। किसी तरह उठ कर खड़े हुये और अपने बिखरे बालों को सँभालने लगे। जब हाथ कान के पास पहुँचा तो उन्हें अपनी घड़ी की टिक-टिक सुनाई दी। यह आवाज़ सुनते ही डा० वनडोले के शरीर में बिजली सी दौड़ गई। उन्होंने उत्सुकता के साथ अपनी घड़ी देखी। सुइयों में गति आ गई थी। वह धीरे-धीरे खिसक रही थी। यह देख कर डा० वनडोले की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। सारी भीड़ को चीरते हुये वह कमरे में घुस गये। कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने सरस्वती की नब्ज़ देखी। काफ़ी देर तक घडी बाक्स की सूइयों और नब्ज की गति का अध्ययन करते रहे। फिर उन्होंने अपना इमर्जेन्सी खोला। एक दूसरी सुई निकाली। सिरेंज को सूई में भर कर एक दूसरी सूई लगाई और तब डा० वनडोले ने जनार्दन गार्ड से कहा...

"तुम्हारे एक झटके से मेरी बिगड़ी हुई घडी ठीक हो गई...और अगर न ठीक होती तो सरस्वती के भी बचने की कोई आशा नहीं थी।"

"क्या बकता है डाक्टर...सरस्वती मर नहीं सकती...तेरी घड़ी से और सरस्वती की बेहोशी से क्या सम्बन्ध है?"

"खैर तुम न मानो लेकिन इन दोनों का सम्बन्ध ज़िन्दगी से है। समय सब कुछ करता है जनार्दन...यह अगर रुक जाय तो ज़िन्दगी भी खतम हो जाती है।"

"ऐसे-ऐसे समय को तो मैं चुटकियों में ठीक करता हूँ, " सारथी ज्वालाप्रसाद ने कहा।

अब श्रीमती वासन्ती वनडोले से भी नहीं रहा गया। डाक्टर वनडोले की दुर्दशा देख कर उन्हे जो क्रोध आया था। वह सहसा विस्फोट कर बैठा। अपने भद्दे, कुरूप शरीर को हिलाते हुये क्रोधावेश और घृणा की भावना से श्रीमती वासन्ती वनडोले ने कहा...

"चल हट...बड़ा आया चुटकियों में ठीक करने वाला...अभी तक बेहोश पड़ी है, क्यों नहीं ठीक करता...गंजे को भगवान नाखून नहीं देते नही तो अपना ही माथा नोच डाले..."

जनार्दन गार्ड को इस गंजे शब्द पर और भी क्रोध आ गया। सोचने लगा यह औरत होकर मुझको इतना कह गई। क्या समझती है अपने को...ऐसी-ऐसी औरतें मैंने बहुत देखी हैं...न सूरत न शकल चली है मेरा गंजापन देखने...अपनी शकल तो देखी नही आइने में...लगता है भगवान ने मोहर्रम की छुट्टी में बनाया था...तभी तो...

और जनार्दन गार्ड काफी सोच समझ कर, उत्तेजित मानसिक अवस्था में कुछ कहने ही वाले थे कि डाक्टर वनडोले ने बीच ही में बात काटते हुये कहा...

"जाने भी दो जनार्दन गार्ड...क्या धरा है इस बकवास में मैं तो तुम्हारे इस झटके का एहसानमन्द हूँ जिसने मेरी बन्द गाड़ी को चला दिया वरना मेरी आफत हो जाती आफत..."

डाक्टर वनडोले की बात सुनकर श्रीमती वासन्ती वनडोले भी शान्त हो गई। जनार्दन भी चुपचाप अपनी जनेऊ को उँगलियो में लपेटने लगा। सारथी ज्वाला अब भी नग्न सौन्दर्य और दिव्या देवी के सौन्दर्य का निरीक्षण कर रहा था। दिव्या देवी ने मौक़ा देखकर कहा...

"अजी जाने भी दो...यह बातें तो होती ही रहती है। पहले यह बतलाओ सरस्वती की क्या हालत है। किती देर में होश आयेगा...उसके छालों के ऊपर कौन सी दवा रखी जायगी...

"होश तो अभी आता ही है देवी जी...अब कोई ख़तरा नहीं है। मैं एक बार यमराज से भी लड़ सकता हूँ।"

"धन्य हो...धन्य हो घोड़ा डाक्टर"...गनपत शास्त्री ने पीछे से ही धन्यवाद दिया। फिर बोला, "जल्दी करो डाक्टर...ज़रा और जल्दी करो...मैंने सालिगराम

को दही-चीनी के मटके में डुबो रखा है। और कह दिया है। जब तक भक्त का क्लेश दूर नहीं होगा तुम्हें मैं निकालूँगा नहीं...आखिर क्या समझ रखा है सालिगराम ने हम अपना तन-मन-धन तक जब अर्पित कर देते है तो फिर वह इतना भी नही करेंगे।"

डाक्टर वनडोले ने गनपत शास्त्री की ओर एक बार ग़ौर से देखा उसकी घुटी चाँद पर गौऊ के खुर के बराबर चोटी, माथे पर रेलवे लाइन सी दौड़ी हुई चन्दन की रेखायें, पीले गन्दे दाँत, मोटा बेडौल शरीर यह सब देखकर अपनी नाक-भौं सिकोड़ते हुये उसने सरस्वती के हाथ पर फिर ऐस्टिथिस्कोप रखा। उसने फिर घड़ी की सुइयों को चाल गिनी और फिर जनार्दन की ओर मुँह करके बैठ गया।

जनार्दन गार्ड का आवेश अब शान्त हो चुका था। क्रोध शान्त होने पर उनका हृदय अधिक करुणा से द्रवित हो गया। वह एक बार फिर डाक्टर वनडोले के पास आया। उसके पैर के पास ज़मीन पर बैठ गया और पैर पकड़ कर फूट-फूटकर रोने लगा। डाक्टर वनडोले ने उसे दोनों हाथ से ऊपर उठाया और कुर्सी पर बैठा दिया। खुद जिस चारपाई पर सरस्वती बेहोश पड़ी थी उसी की पाटी पर बैठ गया।

सारा वातावरण शान्त था। डाक्टर वनडोले बार-बार नब्ज गिन रहे थे। दिव्या देवी अब भी पंखा झल रही थीं। ज्वाला उसी प्रकार घूर-घूर कर देख रहा था। श्रीमती वनडोले सरस्वती का माथा सहला रही थीं। गनपत शास्त्री हाथ में प्रसाद लिये खड़ा था। जनार्दन गार्ड गम्भीर मुद्रा में अपना जनेऊ उँगलियों में लपेट-लपेट कर छुड़ा रहा था...और मैं—खाली कुर्सी—अपनी टूटी हुई हालत में दरवाजे के बाहर पड़ी-पड़ी साँसें गिन रही थीं...

सहसा सरस्वती के शरीर में थोड़ा कम्पन हुआ। बन्द पलकें धीरे-धीरे करके हिलने लगीं। साँस की गति कुछ तीव्र हो गई। हाथ कँपने लगे। उँगलियाँ हिलने लगीं और सरस्वती उस बेहोशी की हालत में ही धीरे-धीरे बड़बड़ाने लगी। स्वर स्पष्ट नहीं थे लेकिन फिर भी खड़े हुये लोगों के चेहरों पर एक नई स्फूर्ति और चेतना की लहर सी दौड़ गई। जनार्दन गार्ड यह सब देख कर कुछ बोलने के लिये आतुर हो उठा लेकिन डाक्टर वनडोले ने अपने मुँह पर उँगली रखते हुये सब को चुप करा दिया। सब एकटक देखते रहे। थोड़ी देर बाद सरस्वती न आँखें खोलीं। अपने पास इस भीड़ को देखकर वह जैसे कुछ घबड़ा गई। अधिक न बोल सकने के कारण उसने फिर आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद डाक्टर वनडोले ने सारे लोगों से हट जाने के लिये,कहा और उस कमरे में केवल वासन्ती वनडोले और डाक्टर

बनडोले ही रह गये। जनार्दन धर्मराज की फटी तस्वीर के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। उधर गनपत शास्त्री दही और चीनी के मटके में डूबे हुये सालिग-राम को निकाल कर अँगौछे से पोंछने लगा। मन ही मन कहता जाता था, "मैं कहता था न भगवान तुम्हें दया करनी होगी...बिना दया के तुम रह नहीं सकते..."

दूसरे दिन जनार्दन बड़ी उदास मुद्रा में बैठा-बैठा अपनी परिस्थितियो और चिन्ताओं में डूबा था। सरस्वती जले हुए ज़ख्मो के कारण तड़प रही थी। सारे शरीर पर छाले पड़े हुए थे। और आँखें बन्द थीं। उसके शरीर से सड़े मांस की दुर्गन्ध आ रही थी। घर में गहरा सन्नाटा था और जनार्दन गार्ड के चेहरे पर एक अजीब क़िस्म की मुर्दनी छाई हुई थी। अपनी चिन्ताओं से ऊब कर जब वह भगवान की चौकी पर जाता तो वहाँ भी उसका जी न लगता। लौट कर सरस्वती के पास बैठता तो भी उसकी असह्य पीड़ा और वेदना से उसकी तबियत घबड़ा जाती। जी में सोचता आखिर जो अच्छा बुरा किया है तो मैंने किया है। फिर इस बात का दण्ड भगवान सरस्वती को क्यों दे रहा है। सरस्वती को जब होश आता तो उसे रामायण जी से रुपया चुराने की बात याद हो आती और वह फूट-फूटकर रोने लगती। जनार्दन समझता कि जले हुए ज़ख्मों और छालों के कारण यह रो रही है, लेकिन सरस्वती अपनी उस धृष्ठता पर अपने को धिक्कारती, कोसती और घण्टों सिसकियाँ भर-भरकर रोती रहती।

इसी बीच जनार्दन के दिमाग़ में सहसा यह बात उठी कि यह सारा सब कुछ केवल इसलिए हुआ है क्योंकि यह कुर्सी...यानी मैं...जब से उसके घर आई हूँ, तब से सारा वातावरण ही दूषित हो गया है। आखिर सरस्वती अगर इस टूटी हुई कुर्सी से न उलझती तो न आरती का थाल ही उसके हाथ से गिरता और न वह जलती। वह अपने मन में रह-रहकर पछताता भी था। सोचता अगर मुझे दूसरे ही दिन वह नीलाम पर चढ़ा जाता या घर से निकालकर बाहर फेंक देता तो शायद यह सारे अपवाद न होते। न तो वह पुलिस वाली दुर्घटना होती, और न ही यह जलने

वाली दुर्घटना होती। यही सोचते-सोचते जनार्दन गार्ड दौड़ा हुआ स्टेशन गया। वहाँ पहुँच कर नोटिस बोर्ड पर खड़िया मिट्टी से उसने लिखा—

"एक अदद कुर्सी जिसका बायाँ हाथ और चौथी टाँग टूट गये हैं कल नीलाम होगी। जिन साहब को लेना हो, नीलाम की बोली बोल कर ले जायँ..."

—जनार्दन गार्ड

यह लिखकर जब वह घर वापस आया तो सरस्वती की हालत ज्यादा खराब थी। डाक्टर वनडोले कैंची लेकर छाले काट रहे थे और वह चीख़ रही थी। जनार्दन गार्ड से न रहा गया। वह कुछ कहने चला, लेकिन फिर ख़ामोश रह गया। जब डाक्टर वनडोले उन छालों पर मरहम लगा चुका, पट्टी बाँध चुका, तब जनार्दन ने कहा—

"डाक्टर तुम्हें सरस्वती को किसी न किसी तरह बचाना होगा। जितना रुपया लगेगा मैं खर्च करूँगा डाक्टर। अगर मर्ज तुम्हारे बस के बाहर हो तो वैसा बतलाओ। मैं बाहर से डाक्टर बुलवा सकता हूँ।"

डाक्टर वनडोले इस बात को सुन कर केवल मौन रह गये। लेकिन जब इसी एक वाक्य को जनार्दन गार्ड ने कई बार दोहराया तो अन्त में तंग आकर डाक्टर वनडोले ने कहा—"क्या बकते हो जनार्दन...आखिर क्या हुआ है सरस्वती को... जलने के घाव हैं...इतनी जल्दी तो अच्छे नहीं होंगे...कुछ वक्त तो लगेगा ही।"

और वह अपनी दवा और इंजेक्शन की सुइयाँ इमर्जेन्सी बक्स में रखकर वापस चला गया। जनार्दन गार्ड और सरस्वती ही घर में बाकी बचे। आज दो दिन हो गये थे, जनार्दन गार्ड ने कुछ खाया नहीं। आज भी दिन में वह यों ही कुछ खाकर रह गया। शाम हुई तो चूल्हा जला कर खाना बनाने चला गया। वही कबाड़ी के यहाँ की सूखी लकड़ियाँ थीं जिनको फू-फू करते रहने पर भी वह जलाने में असमर्थ था। अन्तर केवल इतना था कि उस दिन सरस्वती जनार्दन के इस प्रयोग पर हँस रही थी और आज घर में सन्नाटा था। न कहीं कोई हँस रहा था और न जनार्दन को क्रोध ही आ रहा था। हाँ, इस क्रोध और व्यंग्य के स्थान पर करुणा और दया अपने प्रचण्ड रूप में थी। घर के आँगन से लेकर कण-कण तक में यही करुणा भरी थी। कहीं से भी हँसी का स्वर तक भी नहीं आता था। गीली लकड़ियाँ थीं, गीली आँखें थीं, आँसुओं के वेग में धुँआँ की कड़ुआहट भी जैसे घुल मिल गई थी। लेकिन यह घुलना मिलना भी अजीब था। वही पीड़ा, वही वेदना, वही आतंक लगता अभी-अभी कुछ होने वाला है जी धक से होकर रह जाता।

रात काफी हो चुकी थी। जनार्दन गार्ड बैठा-बैठा सो गया था। सरस्वती को भी हल्की नींद आ गई थी। चारों ओर सन्नाटा था। रात इतनी भयानक लग रही थी कि रह-रह कर शरीर काँप जाता था। दूर से कुत्तों के रोने की आवाज़ रह-रह कर वातावरण में आतंक पैदा कर देती थी। कोई चिड़िया थी, जो तमाम रात चीख़-चीख़ कर रो रही थी और इस आतंक, भय और उत्सुकता से भरी हुई रात में केवल मैं जग रही थी। सामने पूजा की चौकी पर धर्मराज की फटी हुई तस्वीर थी। तस्वीर के नीचे रामायण की पोथी के बीचोबीच आज भी सैकड़ों रुपये बन्द थे। पास में लाल बही पड़ी थी जिसमें अब भी एक ओर राम नाम बैंक का खाता था। और दूसरी ओर घूस का रुपया और उसका हिसाब और उसके साथ यह विश्वास कि चाहे जो हो भगवान बड़ा दयालु है, वह हमेशा किसी न किसी प्रकार अपने भक्तों को बचा लेगा। बही के ऊपर हनुमान चालीसा में लिपटी हुई बन्दर की वह मूर्ति जिसे किसी कबाड़ी ने केवल लाल रंग पोत कर हनुमान जी की प्रतिमा बनाकर जनार्दन गार्ड को दे डाला था।

मेरी तबीयत रह-रह कर घबड़ा रही थी क्योंकि कल मुझे फिर नीलाम पर चढ़ना था। कल फिर मुझे किसी अज्ञात के हाथ में पड़कर अपने जीवन की साँसें गिननी थीं। बार-बार जी में आता कि काश कोई होता जिससे मैं खुलकर अपने हृदय की बातें कह पाती। अपने जी की कलख निकाल पाती। अभी मैं यह सोच ही रही थी कि सहसा धीमे-धीमे कोई आवाज़ सुनाई दी। गौर से सुना तो लगा बही के पन्ने फड़फड़ा रहे थे और हनुमान चालीसा में लिपटी हुई बन्दर की मूर्ति कुछ कह रही थी। मूर्ति ने कहा—"आखिर मैंने क्या कुसूर किया था जो मेरे शरीर पर लाल रंग पोत कर इन पन्नों के कफ़न में लपेट दिया गया है। मैं आदमी की इस अनधिकार चेष्टा के प्रति विद्रोह करती हूँ।"

"चुपचाप सुनते रहो बेटा—बोलना भर नहीं? जानते हो सामने धर्मराज खड़े हैं। ज़रा भी ची चपड़ की तो कड़ाही में तल दिये जाओगे। गड्ढे में डाल दिये जाओगे। सैकड़ों बिच्छुओं को लगा दिया जायगा। सारा लोहा चलनी कर डालेंगे।"

बन्दर की मूर्ति बड़ी देर तक मौन रही। किसी विशेष उलझन में डूबी रही। लेकिन फिर उसकी चेतना ने विद्रोह किया और वह मुट्ठियाँ तान कर बोली? "लेकिन मैं भगवान नहीं बनना चाहती। भगवान बन कर भी किसी की जेब में नहीं रहना चाहती। उफ़ आदमी की यह शकल कितनी भयानक होती है। हर चीज के सामने यह गंजी खोपड़ी वाला गार्ड मुझे लाकर खड़ा कर देता है, और कहता है इस चीख़ से जितना रस मिल सके निचोड़ कर मेरी जेब में भर दो।"

'हश...श...श'—फिर बग़ावत की बात करते हो देवता ? अरे तुम्हारे तो बड़े भाग्य हैं जो आदमी जैसा जीव तुम्हारे सामने अपना मस्तक झुकाता है। क्या बुरा है अगर तुम केवल रस निचोड़ कर दे देते हो। मुझे देखो, मेरी छाती पर कितनी टाँकिया लगी हैं। एक ओर राम नाम की टाँकी है, दूसरी ओर उस कमाई की। लेकिन फिर भी मैं ज़िन्दा हूँ। क्योंकि मैंने सोचना छोड़ दिया है।

इस बीच बन्दर की आँखे जगन्नाथ जी के चित्र से लेकर धर्मराज के भैंसे वाले चित्र तक दौड़ गई। वह अपने मन मे सोचने लगा आदमी भी क्या नाटक कर जाता है। एक ओर पवित्रता, शुद्धता के नाम पर धर्मराज को भैंसे जैसे भोंडे और भद्दे जानवर पर बैठा देता है, दूसरी ओर पूजा करता है, केवल धर्मराज की...भैंसे को भूल जाता है। एक ओर तो जनार्दन गार्ड मेरी पूजा करता है, दूसरी ओर जेब में रख कर मेरी छाती पर वह तमाम नज़ायज़ रक़म भी डाल देता है जिसमें हिंसा है, आँसू है, भय है, आतंक है, अवसाद है। क्या नहीं है इस सबमें ? अपनी आदत के अनुसार बन्दर तिनक कर बोला—'मैं विद्रोह करूँगा ! इन सबके खिलाफ़ विद्रोह करूँगा।'—

"बस-बस देवता—विद्रोह का नाम मत लेना नहीं तो सारी कलई खुल जायगी। कहीं के भी न रहोगे। मैं कहता हूँ कभी किसी देवता ने भी विद्रोह किया है जो तुम विद्रोह करने चले हो ?"

"तुम मुझे देवता क्यों कहते हो जी... मैं तो सेम्पसन कम्पनी का बना हुआ लोहे का खिलौना हूँ। बस—"

"फिर वही ग़लती कर रहे हो देवराज—अगर देवता नहीं बनना है तो अपनी असलियत पर आ जाओगे, फिर उसी कबाड़ी के यहाँ जाना पड़ेगा...समझे।"

बन्दर चुप हो गया। काफी देर तक अपनी विक्षिप्त अवस्था में शराबोर अपनी स्थिति के प्रति बड़ी करुणात्मक भावना से सोचता रहा। फिर उसे याद आया वह लौह पुरुष जो लकड़ी तौलने वाले बड़े तराजू की डाँड पर पसंगा बना लटका हुआ है, वह गीदड़ और रीछ जो लोहे के होते हुये भी बटखरे बने पड़े हैं। साथ ही उसे अपनी दुर्दशा भी याद हो आई। पेट के बीचोबीच का छेद उसे याद हो आया और उस ज़ख़्म में भरा हुआ लाल रंग जैसे चिलकने लगा। क्षण, प्रतिक्षण उसका साँस लेना मुश्किल हो गया और अपने आप ही से कहने लगा —

"तो क्या करूँ मैं...जिस भी हालत में हूँ उसे स्वीकार कर लूँ ? आदमी की जेब में भगवान बन कर बैठा रहूँ ? उसके इशारे पर नाचूँ ? आखिर यह क्यो न करूँ कि आदमी की जेब फाड़ कर मैं बाहर गिर जाऊँ। उस धूल भरे पथ पर जहाँ जिन्दगी की प्रत्येक साँस संघर्ष करती हुई बिना भाग्य और भगवान के चलती है।"

"कहाँ जाओगे निकल के बानरराज...आदमी की जेब बहुत बड़ी है। उसमें

से निकलना बड़ा मुश्किल है। और अगर निकल भी गये तो उस धूल भरे रास्ते में सिवा ठोकर के और कुछ नही मिलेगा। यह जो पिछले चार-छः दिनों में तुम्हारे शरीर पर थोड़ी चर्बी चढ़ी है न, गल कर पानी हो जायगी। मुझे देखो मियाँ बन्दर...अपनी छाती पर स्वस्तिक भी अंकित किये हूँ और शुभ-लाभ भी...आराम से गद्दे पर लेटे-लेटे धूप-दीप आरती के बीच राम नाम सुनती हूँ और जीवन का सरस आनन्द लेती हूँ।" कहते-कहते वह रुक गई। थोड़ी देर बाद कुछ विशेष रूप से सोच-समझ कर बोली :—

"जिन्दगी को भगवान बनकर बिताना भी तो तुम्हारे भाग्य में लिखा है। फिर इसे कौन मिटा सकता है। जाओ खाओ, पियो और मौज उड़ाओ। यह तो दुनियाँ है। सोचोगे तो पागल हो जाओगे, पागल।"

और तब वह मूर्ति फिर ख़ामोश हो गई। चुपचाप हनुमान चालीसा के पृष्ठों में लिपट गई, और तब बही के पन्ने जो अभी तक फड़फड़ा रहे थे शान्त हो गये। आवाजें जो रह-रह कर उठ खड़ी हो रही थीं उस अन्धकार में विलीन हो गई। वहाँ न रोशनी थी और न कोई प्रतिध्वनित करने वाली कोई कठोर शक्ति। मैं जो कि केवल लकड़ी और बेंत के छिलके से गढ़ी और बनाई गई थी मुझ में यह शक्ति नहीं थी कि देवताओं के सामने अपने विद्रोह का सर उठाती। मैंने भी सोचा—आज न सही लेकिन एक न एक दिन ऐसा जरूर आयेगा जब आदमी की जेब फटेगी और उसमें बैठे हुये ये निर्जीव देवता अपने आप ज़मीन पर गिर पड़ेंगे। इसी ठोस और कठोर जमीन पर।

आज आधी रात ही से मैं कल की हर नीलाम की आवाज़ पर बिकने के लिये तैयार हूँ। कोई आवाज़ सही, दर्द की आवाज़, आत्मा की आवाज़, चेतन की आवाज़, भक्ति की आवाज़, शक्ति की आवाज़, व्यंग्य की आवाज़, कोई भी आवाज़ मुझे खरीद सकती है लेकिन मैं केवल एक आवाज़ से डरती हूँ, घृणा करती हूँ और वह है नारों की आवाज़! वह नारे की आवाज़ जिसमें मुर्दा लफ़्जों के सिवा कुछ नहीं होता, जिसमें दर्द को कुरेदने की ताक़त कभी थी लेकिन आज जिसमें दर्द पर नमक छिड़कने के सिवा और कोई भी ताक़त बाकी नहीं बची। दर्द की तड़प सही तो जा सकती है लेकिन दर्द को छेड़ कर केवल नारे पर ज़िन्दगी का मज़ाक नहीं देखा जाता। यदि

मैं किसी नारेबाज़ के हाथ बिकी तो मैं सब कुछ कर सकती हूँ लेकिन उसका साथ नही दे सकती। यह मेरा निश्चय है।

और मुझे आज यह लगता है कि यह कहानियाँ? यह सारी कहानियाँ जो मैं इस वेटिंग रूम में बैठी-बैठी इस आतंकित वातावरण मे दुहरा गई हूँ। यह सब मुझसे पृथक नही है। इस कहानी का सबसे बड़ा हास्यास्पद रूप यह है, कि इन कहानियों की एक सजीव सचेष्ट पात्र होते हुये भी मैं इन्हें उन स्थलो से बचा नहीं सकी जहाँ आदमी केवल मज़ाक बन कर रह गया है। मैंने बहुत चाहा कि निरपेक्ष भाव से मैं इन कहानियो और इन घटनाओं के बीच रह कर भी अपना दामन बचा लूँ, लेकिन आज की यह भयंकर रात, यह आतंकित वातावरण मुझे इस बात के लिये मजबूर कर रहे हैं कि मैं भी अपने को सक्रिय रूप से इस परिधि में डाल लूँ। असलियत तो यह है कि हर कहानी जिसमें दम होता है, जिसमें दर्द होती है उसमें भाग लेना ही पड़ता है। यह अधिकार नहीं जीवन का दायित्व है। आज आदमी की इतनी शकलें, इतनी बेतरतीब तस्वीरें देखने के बाद मेरे सामने केवल एकही निष्कर्ष है और वह यह कि जिस आग से बचने के लिये, जिस कुरूपता को अपने बीच से फेंकने के लिये आदमी सारी ज़िन्दगी दौड़ता रहता है, अन्त में जीवन का व्यंग्य उसे उसी स्थान पर ला पटकता है जहाँ कुरूपता ही कुरूपता है। लेकिन इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि इन कुरूपताओ के बीच सौन्दर्य नष्ट होकर सड़-गल कर केवल विकृत होकर रह जायगा। सौन्दर्य में अपने आप उभरने की ताक़त है। वह उभरता है और उभरता है इस शक्ति के साथ कि कुरूपतायें स्वयं नष्ट हो जाती हैं। लेकिन यह सब कैसे हो जाता है? क्या नारों से? क्या धर्म के नाम से? क्या भगवान की माया से? क्या अनुसन्धान से? क्या रहस्यमयी कविता कला से? यही एक प्रश्न है।

रह-रह कर मेरे मन में एक प्रश्न उठता है। आदमी क्या है? क्या हो रहा है? और क्या होगा? क्या वह इन्हीं उलझनों में रह जायगा या इससे ऊपर भी उठेगा? क्या वह केवल बाहर ही आँखें फाड़-फाड़ कर देखता रहेगा या कभी अपने अन्दर की छिपी हुई आवाज़ जिसको सदियों के इतिहास ने दबा दिया है, उसे भी सुनेगा? उसकी कीमत आँकेगा? अगर आदमी केवल इतिहास ही पढ़ता रहा। चौखटे बनाकर छोटे-छोटे बच्चों की तरह लड़ता ही रहा, अगर वह काठ की बन्दूकें और लोहे के मूल्य की छीछालेदर ही करता रहा तो वह निश्चय ही किसी कबाड़ी की टाल पर लौह पुरुष सा केवल पसंवा बनकर टँगा रहेगा। और वही गीली लकड़ियाँ जिनमें आग की एक भी चिनगारी की भी संभावना नहीं है उन्हीं के बीच ठंढा और मुर्दा हो जायगा।

ग्रेट इण्डिया सर्कस
और
महा मानवों की टोली

"......मैं नहीं जानता था कि महामानवो की टोली मे शामिल होने के पहले, खपाचियाँ की टॉग और खपाचियो के हाथ लगाने के पहले, तुम आदमी की रीढ़ ही तोड़ डालोगे...रीढ जिसके सहारे हम जीते हैं, खड़े होते है...। महामानवों का रेंगना...बड़ा पीड़ाजनक होता है... बहुत असह्य...यह ग्रेट इंडिया सर्कस कम्पनी जिसमें आदमी से लेकर जानवर तक एक ही चाबुक से हाँके जाते हैं...जहाँ 'महाशेर' और 'महामानव', दोनों की रीढ़ की हड्डियाँ तोड़ दी जाती है—बन्द होना चाहिये...यह बड़ा भयंकर नाटक है...बहुत भयंकर...आदमी चाहे जितनी खपाचियाँ लगाये उसे कहीं न कहीं अपनी रीढ़ की हड्डियों की सुरक्षा करनी पड़ेगी... बिल्कुल...ठीक...ठीक !"

आज चन्दनपुर में एक नये प्रकार का शोर मचा हुआ है। रेल की दुर्घटना से आक्रांत रेलवे स्टेशन पर आज नये प्रकार का कुहराम मचा है। उत्तर दिशा में तो पुल टूट जाने से न तो कोई गाड़ी उधर से आ रही है और न जा रही है। दक्षिण दिशा से आने वाली गाड़ियाँ आती ज़रूर हैं किन्तु उन पर सवारियों की संख्या नहीं के बराबर रहती हैं। पिछले चौबीस घण्टों में जितनी गाड़ियाँ दक्षिण से आई हैं शायद ही उसमें कोई भी भरी-पुरी आई हो। लेकिन अभी-अभी एक स्पेशल गाड़ी आई है जिसमें एक सर्कस कम्पनी अपने साज-बाज के साथ उतरी है। सारा चन्दनपुर जैसे इस सर्कस कम्पनी को देखने के लिए उमड़ पड़ा है। यों तो यह कम्पनी पुल के पार सुदूर नागपुर को जाने के प्रयास में चली थी लेकिन पुल टूट जाने से उसे मजबूरन चन्दनपुर में रुक जाना पड़ा है। अपार जन-समूह तेज़ी से स्टेशन की ओर आ रहा है, और उसकी बढ़ती संख्या ने एक बार फिर इस प्लेटफ़ार्म को जनरव से भर दिया है।

मास्टर दादा भी अपना लबादा पहने और पोस्टर लिए यहाँ आ गये हैं। डा० वनडोले को भी विशेष रूप से यहाँ आना पड़ा है क्योंकि सर्कस के शेरों में कोई शेर विद्रोह की मुद्रा में आ गया है और उसने कई दिनों से भूखा रहने के कारण अपने चारा देने वाले पर ही आक्रमण कर दिया है। एक ओर तो वह घायल पड़ा है और दूसरी ओर वह शेर गरज-गरज कर अपने आवेश में पिंजड़े के छड़ों को टेढ़ा कर रहा है। घायल आदमी स्टेशन के वेटिंग रूम में दाख़िल कर दिया गया है। वह रेल दुर्घटना में घायल मनुष्यों के साथ उपचार के लिये पड़ा है। सर्कस के मैनेजर ने बिजली के चाबुकों से मार-मार कर शेर को बेहोश कर दिया है। डा० वनडोले एक

लम्बा आला लिये बेहोश शेर की हृदय गति नाप रहे हैं, और मास्टर दादा शेर के कटघरे के पास खड़े-खड़े कैदी शेर के कपाल से लेकर पंजो तक का निरीक्षण कर रहे है।

शेर की हृदय गति और उसका टेम्परेचर नापने के बाद डा० वनडोले नुस्खा लिखने मे व्यस्त है। चन्दनपुर के लड़के हाथी, गीदड़, बकरा और अन्य जानवरों के कटघरे के पास खड़े होकर उनकी मुद्रायें देख रहे हैं। कुछ लड़के मास्टर दादा के पास खड़े-खड़े उन्हें चिढ़ाने में लगे है। मास्टर दादा उनके समस्त व्यग्यो और तीखे बौछारों को मौन रूप से सुनते जा रहे है। सहसा डा० वनडोले ने कहा—

"मरीज़ का नाम क्या है ?"

"जी...आपका मतलब शेर का क्या नाम है ...?"

"हाँ...हाँ वही मेरा मतलब..."

"मिट्टी का शेर......"

"मिट्टी का शेर......?"

"जी........."

डा० वनडोले को पहले तो हँसी आ गई, फिर बोले—

"खैर ! मैंने नुस्खा लिख दिया है......दवाखाने से दवा लाकर खिलाना आप का काम है..."

"लेकिन इसे बीमारी क्या है ?"

"भूख......"

"आपका मतलब......"

"मेरा मतलब आप जानना चाहते है......? शेर को उसकी खूराक नही मिल रही है...उसे अधपेटा रखकर आप काम लेना चाहते हैं। भूख की चरम सीमा ने इसकी समस्त कायरता को समाप्त कर दिया है...यह पुनः हिंसक प्रकृत्ति का हो गया है। ऐसा होता है। भूख में आदिम संस्कारों का जाग जाना असंभव बात नहीं है..."

सरकस का मैंनेजर डा० वनडोले की समस्त बातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा। वह सोचता रहा शेर को पिछले दस वर्ष से पाल रखा है। हर नगर में वह सर्कस मैने-जर की उँगलियों पर नाचता रहा है। दस वर्ष बाद उसके यह संस्कार कैसे वापस आ गये हैं ? वह तनिक विस्मित होकर बोला—

"क्या कहते हैं आप ? यह दस साल से मेरे पास है...दस साल में मैंने इसे इतना सिखाया-पढ़ाया है कि इसका कोई भी संस्कार अपना नही रह गया है...इसका दिमाग़ इतनी जल्दी बिगड़ नही सकता।"

"भूख में दिमाग़ ही बिगड़ता है मैनेजर...आदमी और जानवर में यही अन्तर है। भूख में आदमी का दिमाग़ हज़ारों वर्ष में एक बार विद्रोह करता है, लेकिन जानवर का दिमाग़ भूख मे सतत विद्रोहशील होता है। इसका विद्रोह आदमी के खून से ही शान्त होगा..."

सर्कस मैनेजर यह सारी बाते सुनता रहा। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था क्योंकि वह जानता था कि इस सर्कस के रोज़गार में वह आदमी से लेकर जानवर तक को भूखा रखकर उनका खेल-तमाशा करवाता है। आदमी जितना ही "लाइट" रखता है उतना ही अच्छा रस्सी पर नाच-तमाशा दिखलाता है, शरीर की लोच का अभिनय करता है, स्नायु, मांसपेशियों का प्रदर्शन करता है। डाक्टर वनडोले जो कुछ कह रहे थे वह उसके अनुभव के विपरीत पड़ रहा था, इसीलिये वह खामोश, चुपचाप, उसकी बातों को सुनने के अतिरिक्त कोई भी जवाब नहीं दे पा रहा था। उसने डा० वनडोले की बात मान कर दवाखाने से दवा लाने के लिये आदमी तो भेज दिया था लेकिन साथ ही साथ यह निश्चय भी कर रहा था कि वह इस अनाड़ी और अनजान डाक्टर की दवा शेर को नहीं देगा। भूखा रखने का उसका अनुभव अपना है। अपने अनुभव पर उसे विश्वास करना ही चाहिये। इसीलिए वह चुप भी था। चलते समय जब डा० वनडोले ने कहा कि अगर शेर को दवा न देकर उसे भूखा रखा गया तो अजब नहीं कि होश आने पर वह पिजरे का सींखचा तोड़ कर बाहर निकल पड़े और सैकड़ों की जान भी ले ले। सर्कस वाले ने उसका विरोध करते हुये कहा—"क्या बकते हो डाक्टर? मेरा खानदानी पेशा ही शेरों को पकड़ कर खेल दिखाना रहा है। हमारे पिता भूखे शेरों से लड़ा करते थे। मजाल है शेर उन्हें पटक दे? एक हाथ से उसका कल्ला पकड़ लेते थे तो बैठ जाता था, बैठ।"

डा० वनडोले ने कोई विरोध नहीं किया। विरोध करने से कोई लाभ भी नहीं था। उन्होंने नुस्खा लिखने के साथ-साथ अपनी फीस ली, लाल रिक्शा गाड़ी पर बैठे और चले गये। सर्कस मैनेजर प्रोफेसर रामकुमार चुपचाप खड़े-खड़े उस बेहोश शेर को देखता रहा। बे जान और घायल सा आठ फुट का बबर शेर देख कर दूसरे लोगों की जान काफ़ूर हो जाती थी, लेकिन मास्टर दादा जो शुरू से अन्त तक वहीं खड़े थे उनके दिमाग़ में तरह-तरह की बातें आती थी। 'मिट्टी का शेर' नाम ही उन्हें बहुत पसन्द आया था। एक ओर वह सर्कस मैनेजर को देखते थे तो दूसरी ओर उस भयंकर भूखे मिट्टी के शेर को। सहसा किसी की आवाज सुनकर कुछ चौंक गये। पास ही खड़े मैनेजर से कोई पूछ रहा था—

"तुम इसे मिट्टी का शेर कह कर क्यों पुकारते हो

मैनेजर ने कोई जवाब नहीं दिया लेकिन मास्टर दादा ने कहा—"यह मिट्टी का शेर इसलिए है क्योंकि यह अक्सर बग़ावत करता है। बग़ावत करने वाला मिट्टी ही का होता है न ?"

"मिट्टी का ? मिट्टी का होता ही कौन है ? सब तो राख के बने होते हैं... राख के...हैं तो इतने शेर लेकिन सब आदमी देख कर दुम दबा लेते हैं। अकेला यही है जो अपनी ऐंठ बनाये रखता है ......"

ऐंठ बनाने वाला ही टूटता है मियाँ। ऐंठ के माने ही टूटने के होते हैं। लच जाने वाली चीज़ क्या टूटेगी...टूटने के लिये सख्ती चाहिये सख्ती......"

और जब मास्टर दादा ने बात करने वाले आदमी को गौर से देखा तो वह चन्दनपुर का वही शायरे आजम था जो मोहल्ले के बच्चों के साथ कच्ची गोलियाँ खेला करता थी। मास्टर दादा ने शायरेआजम को देख कर कहा—"आप अब भी शायरी करते हैं ? दुनियाँ की भाषा ही खराब हो गई है शायरेआज़म......देखने का मतलब सुनना और सुनने का मतलब देखना होता जा रहा है, फिर मिट्टी भी अगर राख नजर आये तो बुरा क्या है ? शेर शेर ही है मियाँ ! चाहे मिट्टी का हो या हाड मांस का..

और अब तक मास्टर दादा का दिमाग़ फिर अपनी पुरानी हालत पर आ गया था। वही भाषा, मसीहा, और जाने कौन-कौन से शब्द का प्रयोग वह करने लग गये थे शायरेआजम के दिमाग़ मे अब भी कुछ बाते अपने ढंग से काम कर रही थीं। ठीक जुगराफिया की कल्पित रेखाओ की भाँति वह इन्सान और जानवर दोनो को बँटे हुये खानों में देखने के लिये तैयार नही था। उसने विरोध में कहा—

"क्या कहते हो मास्टर दादा...दुनियाँ को तो जुगराफिया वालो ने पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण और इसी प्रकार के अनेक खानों में बाँट ही दिया है। क्या इन्सान को भी इन्हीं खाँनो मे बाँटना चाहते हो ? यह मिट्टी का शेर, यह राख का शेर, यह मिट्टी का आदमी, यह पारस का आदमी....

मास्टर दादा अब तक अपना दिमाग खो चुके थे। वह फिर तैश मे आकर बोले—"शायरेआजम ज़बान की सलाहियत सीखो, सलाहियत...लैंग्वेज ऐसे नहीं आती...नेसफील्ड का ग्रामर, अनेलेसिस, सिन्थेसिस यह सब सीखना पड़ेगा थोड़ी देर तक कुछ सोच कर बोले—"आज के आदमी की जबान बड़ी पेचीदा हो गई है। जब वह मिट्टी का नाम लेता है तो लोहे का मतलब लेकर बात करता है, जब वह सोने की कीमत आँकना चाहता है तो पीतल का भाव पूछता है...जिसे वह प्रेम करता है, उसके व्यक्तित्व को नाराज करना चाहता है, जब वह शान्ति की बात करता

है तो युद्ध की तैयारियों के लिए एटम बम की परीक्षायें करता है...मैं कहता हूँ जबान सीखो, ज़बान, लैंग्वेज इतनी आसान नहीं होती।"

मास्टर दादा की बात सुनकर शायरेआज़म अपनी चारखाने वाली शेरवानी की ओर देखने लगे। जुगराफ़िया की लकीरों की भाँति उनके शरीर पर उगी हुई रेखायें उन्हीं को अजीब लगने लगीं। कुछ देर तो चश्मे के भीतर से आँखें फाड़-फाड़ कर मास्टर दादा की ओर देखते रहे लेकिन फिर कुछ व्यंग्य भरी हँसी हँसते हुये बोले—"जबान यानी लैंग्वेज की बात करते हैं आप...लैंग्वेज से ज्यादा जरूरी भावों को शुद्ध करना है मास्टर..."

एक ओर बेहोश पड़ा हुआ सर्कस का शेर, दूसरी ओर यह वार्तालाप। दोनों का जैसे कोई सिलसिला ही नहीं था। सभी दोनों को पागल समझ रहे थे। कोई कहता यह मास्टर दादा जिसने जन्म भर मास्टरी किया है चौरस्ते-चौरस्ते घूम-घूम कर ग्रामर पढ़ाता है। इसके भी भाग्य आज जगे हैं। सर्कस मैनेजर से लेकर शायरे-आजम तक के बीच इसकी भाषा भी बन रही है। किसी ने कहा—

"इन दोनों को भी सर्कस मैनेजर अपने यहाँ क्यों नहीं रख लेता? यह भी ऐसी-ऐसी जोकरी करेंगे कि देखने वाले दंग रह जायँगे..."

दूसरे ने कहा—"आदमी क्या? जानवरों की भी भाषा शुद्ध कर देंगे...शेर, चीते, भालू सब ग्रामर रटेंगे और तोते, बुलबुल, यह सब के सब शायर हो जायँगे..."

तीसरे ने कहा—"तमगे मिलेंगे...वह-वह सुनहले झब्बे कि देख कर होश फाखता हो जायँ...सर्कस मैनेजर भी मामूली आदमी नहीं है—"

इन बातों को सुन कर मास्टर दादा को ऊब सी लगने लगी। उन्होंने अपने भागने की कोशिश की। अभी कुछ ही कदम चले होंगे कि सहसा सर्कस मैनेजर ने पकड़ कर बुलवा लिया। बोला—"तुम्हारा ही नाम मास्टर दादा है?"

"जी! है तो।"

"मेरा मतलब आपका व्यक्तित्व तो बड़ा रंगीन है।"

"रंगीन है?"

"जी हाँ हम इसे रंगीन ही कहते हैं...

"वैसे आपका मतलब?"

"आप हमारे यहाँ प्रचार विभाग में काम करेंगे?"

"प्रचार विभाग? कैसा प्रचार विभाग?"

"यही...मुझे लगता है चन्दनपुर में आप ही को लोग सब से ज्यादा जानते,

पहचानते होंगे। मैं चाहता हूँ जब हमारी महामानवों की प्रचार टोली विज्ञापन के लिये चन्दनपुर नगर में जाय तो आप उस टोली के आगे-आगे चलें, बस...मेरा काम हो जायगा...आप हमारे प्रचार विभाग के महामानवों की टोली में शामिल तो हो जाइये...खूराक, कपड़ा के अलावा कुछ पुष्पम् पत्रम् भी..."

पहले तो मास्टर दादा इसका सही मतलब नहीं समझ सके लेकिन जब थोड़ी देर बाद उनको सारी बातें सर्कस मैनेजर ने बतला दी तब वह उसके वास्तविक रूप और वास्तविक तथ्य को ग्रहण कर सके। बात समझते ही उनको सारा सर्कस एक बहुत ही रंगीन और रोचक मण्डली लगने लगा। उन्होंने वह लम्बी खपाचियों देखीं जिनको लगाकर प्रचार विभाग के महामानवों की टोली के कार्यकर्ता चौदह फुट ऊँचे हो जाते थे। उन्होंने उन खपाचियों के हाथों भी देखा जिनको हाथ में लगा कर प्रचार करने वाले अपने हाथ बढ़ा कर लेते थे। वह चेहरे देखे जिनको लगाकर सब प्रचार करने वाले एक शकल के हो जाते थे। वह भोपू देखा जिसे हाथ में लेकर उसके भीतर मुँह से बोलने पर आवाज बहुत दूर फैलती थी। थोड़ी ही देर में मास्टर दादा उन सब खपाचियों और चेहरों को लगा कर, वर्दी-पेटी पहन कर तैयार हो गये और शहर में जाने वाली टोली के साथ शामिल हो गये। यद्यपि उन लम्बी खपाचियों और चेहरों को लगाने का यह पहला ही अनुभव था फिर भी उनको स्वीकार करने का मोह वह संवरण नहीं कर सके। सारा ठाट-बाट बना कर बोले—

"प्रचार का मतलब है...स्वाभाविकता और साधारण से दूर कुछ करना, कुछ जीना। संसार का सब से बड़ा आदमी अर्थात् महामानव बनने में भी मेरा बड़ा सौभाग्य है..."

और दूसरे रोज़ लोगों ने देखा कि मास्टर दादा उन लम्बी-लम्बी खपाचियों वाली टागों पर, सर्कस की वर्दी-पेटी पहने, हाथ में झण्डा लिये महामानवों के जुलूस के आगे-आगे थे। उनके पीछे, कुछ नंगी पीठ वाले हाथी, ऊँट, घोड़े, खच्चर, बकरी और पिंजरे में बन्द तोते, हिरन, शेर और अन्य जानवर भी थे। सब से मोटा-ताज़ा वह पहलवान भी था जो अपनी छाती पर मनों के वज़न वाला पत्थर रखकर हथौड़े से तोड़वाता था।

शहर में जब यह महामानवों का जुलूस जा रहा था तो मास्टर दादा को इस अद्भुत दशा में देखकर लड़के और कुत्तों को बड़ा अचंभा हो रहा था। दोनों ही उनके आगे-पीछे शोर मचाने और भूँकने में व्यस्त थे लेकिन ग्रेट इण्डिया सर्कस के भाग्य विधाता के समान हाथ में झण्डा लिए महामानव के गर्वोन्नत भाग्य की समकक्षता में वह अकड़-अकड़ कर अपने डग मारते चले जा रहे थे। पीछे-पीछे बैण्ड वालों का

सरगम और उनके ऊपर से सर्कस के सब से तेज जोकर को लिए पुते रंग वाले मुँह की आकृति, उसका नाटकीय अभिनय से पूर्ण राह चलते लोगों को छेड़ने-छाड़ने की प्रवृत्ति—सब का सब बड़ा रोचक लग रहा था। लगता था महामानवों की इस पंक्ति में आगे-आगे चलने वाले ये पाँच-छः महापुरुष ही है जो ग्रेट इण्डिया सर्कस के भाग्य विधाता और निर्माता हैं।

जुलूस जब शहर के बीच से होकर जा रहा था तो सारथी ज्वाला प्रसाद ताँगे पर बैठे हुये दिव्या देवी के साथ कहीं जा रहे थे। सहसा महामानवों की पंक्ति देख कर उन के घोड़े का चौंक जाना भी स्वाभाविक ही था। कुछ ही कदम चले होंगे कि उनका ताँगा दिव्या देवी को साथ लेकर बग़ल वाले नाले में जा गिरा। सारथी ज्वाला प्रसाद को काफ़ी चोट आई लेकिन दिव्या देवी तो फिर भी किसी तरह बच गईं। लोगों ने जब उन्हें उठाया तो वह गुस्से में भरे हुये, हाथ में चाबुक लिये बिल्कुल जुलूस के महामानवों की पंक्ति के पास जाकर मास्टर दादा से बोले—"तुम को अपने इस कृत्रिम कार्य पर कुछ भी लाज-सरम नहीं आती...मैं तो मैं, दिव्या देवी भी नाले में गिर गई...यह सब क्या ढोंग मचा रखा है?"

चौदह फिट की ऊँचाई से अपने चेहरे के भीतर आँखों को नचाते हुये मास्टर दादा ने कहा—"तुमको खुद सँभल कर चलना चाहिये...यह महामानवों की टोली है...इसकी तीव्र गति के सामने तुम्हारे जैसे कितने सारथी पिस कर रह गए हैं... हमारी दृष्टि और हमारी गति से तुम्हें बचना चाहिये...हम अपना रास्ता नहीं छोड़ सकते..."

जिस दृढ़ता और शक्ति के साथ मास्टर दादा ने यह बात गर्जते हुए लहजे मे कही थी उससे लगता था कि वह सचमुच ही महामानवों की टोली है, जो सारे चन्दनपुर पर ही नहीं ग्रेट इंडिया पर भी छा जानी चाहती है। थोड़ी देर तक सारथी ज्वाला प्रसाद मौन रहा, फिर उसने कहा—"दर-बदर के भिखारी...तुझको लज्जा नहीं आती...मुझसे हेंकड़ियाता है...महामानव बन कर उसका नाटक रचता है।"

"हाँ, महामानव पहले भिखारी ही बनता है...भीख माँगने के ही भरोसे वह सहसा अनुभव करता है कि वह उन सबसे बड़ा है जो उसे भीख देते हैं...रास्ता छोड़ो...हमें जाने दो..."

मास्टर दादा जब यह गरजकर कह रहे थे तो उसी बीच उस जुलूस का छोटा जोकर अपनी गोद में एक सफेद मोटी बिल्ली के साथ प्रेम का अभिनय कर रहा था। उसके शरीर को सहलाता हुआ कह रहा था—"उफ़...चच तुम एक दम नाली में गिर गई...उठो...उठो..."

उसका यह अभिनय देखकर जनता तो हँस रही थी लेकिन सारथी ज्वाला प्रसाद का क्रोध बढ़ता जा रहा था। जुलूस चूँकि चल पड़ा था और वह छोटा जोकर यह सारा अभिनय ऊँट के पीठ पर बैठा-बैठा कर रहा था, इसलिए सारथी ज्वाला प्रसाद का क्रोध केवल दाँत पीस कर व्यक्त हो रहा था। बैण्ड की ध्वनि में, सारी जनता की हँसी गूँज रही थी। मास्टर दादा इतमीनान से आगे बढ़ रहे थे। उनको देखकर ऐसा लगता था जैसे कुछ हुआ ही न हो। किन्तु जब यह ग्रेट इण्डिया सर्कस का जुलूस उस चौराहे पर पहुँचा जहाँ एक दिन चौराहे की पुलिस स्टैण्ड की छतरी पर खड़े होकर एक ऐतिहासिक व्याख्यान देते हुए मास्टर दादा शहीद हो गये थे, तो उन्हें कुछ अजीब-सा लगा। उन्हें याद था कि पुलिस स्टैण्ड की छतरी पर चढ़ने में उन्हें उस दिन बहुत परिश्रम करना पड़ा था। आज इन खपाचियों की टाँगों पर खड़ा होने से असाधारण ऊँचाई भी जैसे उन्हें ग्राह्य हो गई थी और जब वह उस छतरी के पास पहुँचे तो उससे टेक लगा कर ऐसे खड़े हो गये जैसे वह उनका आधार बन गया हो। एक बार चारो ओर मुड़कर देखा, फिर श्रेष्ठ मनःस्थिति में बोले—"आज मेरी ऊँचाई तुम सबसे बड़ी है। यह सब इस ग्रेट इण्डियन सर्कस के बदौलत हो सका है... सर्कस जो ज़िन्दगी के हर क्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त है...सर्कस ज़िन्दगी की देन है...ज़िन्दगी ही सर्कस की देन है...आप सब लोग ग्रेट इण्डिया सर्कस देखें... शेरों के गाने, बन्दरों के फैसले, हाथियो के संगीत, दरियाई घोड़ों की खूबसूरती... भैंसो की नज़ाकत...बैलों की बुद्धि...आइये...आइये...आइये..."

दोपहर को जब यह जुलूस फिर स्टेशन पहुँचा तो तब तक शेर की हालत में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वह होश में तो था लेकिन बार-बार अपने पंजे से सीखचों को मार रहा था। रह-रह कर गुस्से मे गर्जता था और आसपास की खड़ी भीड़ सहम जाती थी। स्टेशन पर पहुँच कर प्रायः जुलूस के सभी आदमियों ने अपनी पोशाक बदल दी लेकिन मास्टर दादा अपनी पूरी पोशाक में शेर के पिंजड़े के पास आकर खड़े हो गए। शेर को गर्जता देखकर उन्होने अपनी झण्डी हिलाते हुए कहा— "सर्कस मैनेजर तुझे नहीं ठीक कर सकता। तुझे आज मैं ठीक करूँगा...बड़ी आत्माओं के रोग को केवल बड़ी आत्माएँ ही समझती हैं..."

अभी उन्होंने यह कहा ही था कि शेर दुबारा गरज उठा। गरज इतनी तेज़ थी कि मास्टर दादा का सहसा चौंक जाना स्वाभाविक था। चौंकते ही खपाचियों वाले पैर का संतुलन बिगड़ गया और वह सपाट हालत में गिर पड़े। शेर को छोड़ कर लोग उन पर हँसने लगे। सारी जनता की हँसी जैसे आपे में नहीं थी। बरबस फूटी पड़ रही थी। मास्टर दादा जितनी बार उठने की कोशिश करते...हाथ-पैर हिलाते उतना ही और हास्यास्पद गति बनती जा रही थी। सर्कस मैनेजर जो अब तक शेर के कटघरे के पास खड़ा था, दौड़ा-दौड़ा आया और पास आकर उनके पैरों की खपाचियाँ खोलने लगा। और जब वह खपाचियाँ खुल गईं तब मास्टर दादा हाँफते हुये फिर खड़े हो गये। लेकिन खड़े होने के साथ ही वह फिर बैठ गये और इस बार सर्कस मैनेजर ने डाँटते हुए कहा—"यू ईडियट...तुमसे किसने कहा था, कि तुम शेर के पास आकर इस प्रकार लड़-भिड़ जाओ... चल हट यहाँ से...भाग जा...भाग..." ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर की बात सुनने के बाद भी मास्टर दादा कुछ नहीं बोल पा रहे थे। वह बिल्कुल शून्य से बैठे थे। सर्कस का मैनेजर उन्हें बार-बार उठा कर खड़ा करता लेकिन वह फिर गिर जाते। फिर उठाता और वह फिर गिर जाते। ऐसा गिरते जैसे उनके शरीर मे कोई दम ही नहीं है। जैसे सारे शरीर से किसी ने सारी शक्ति ही निचोड़ ली है। पथराई आखो से वह सबको देखते, किन्तु आखो की पुतलियाँ आस्मान की ओर टँगी दिखलाई पड़ती। कई प्रकार के इस क्रम-उपक्रम के बाद मैनेजर कुछ घबरा गया। दर्शकों में से कुछ चिंतित होने लगे। कुछ अभी भी हँसते जा रहे थे। सहसा मैनेजर ने परेशान होकर उन्हें छोड़ दिया। मास्टर दादा काफ़ी देर तक हतप्रभ से एक टक आसमान की ओर निहारते हुए चिन्तित मौन जहाँ के तहाँ रह गये। शेर अब भी रह-रह कर गरज रहा था। सीखचो पर पंजे मार रहा था। अपना विशाल एवम् विराट मुंह खोल कर सीखचो को दबा रहा था...किन्तु सब निष्प्रयोजन, सब बेकार, जैसे उसका सारा प्रयास निरर्थक था। वह चाहने पर भी अलग होने में असमर्थ था। उसकी गरज मात्र आकर्षण की वस्तु थी, उसमें जैसे पुंसत्व समाप्त हो चुका था।

काफ़ी परेशान होने के बाद ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर ने सोचा यदि इस शेर की गरज को भी किसी तरह नई संभावनाओं के साथ संकेतों पर उतार-चढ़ाव के साथ लय, छन्द में बदल दिया जाय तो इस विक्षिप्त अभिनय की भी सार्थकता हो सकती है और अनेक नई योजनाओं में उसका सहयोग प्राप्त हो सकता है। यह बात उसके दिमाग़ में बिल्कुल बिजली की तरह कौंध गई और उसने तुरन्त उसकी तरकीब सोच निकाली। उसने फौरन दो झण्डिया मँगवाईं और शेर के

सामने हरी झण्डी को फहराने लगा। कभी-कभी वह उस झण्डी को शेर के सीखचों पर ठीक उसी प्रकार मारता जैसे बिजली के हण्टर को मारता था। हरी झण्डी की गति के साथ शेर की गरज में भी आरोह और अवरोह पैदा हो जाता लेकिन जब वह लाल झण्डी ज़ोर-ज़ोर से चलाने लगता तो शेर की आवाज़ और उसकी गरज और भी तीव्र हो जाती और वह बड़ी तेज़ी के साथ गरजने लगता। ऐसा वह घण्टों देखता रहा। अपने इस प्रयोग मे सफल होने की संभावना से वह प्रसन्न हो गया। तत्काल उसने अपनी प्रचार टोली को बुलाकर बताया कि वह इस बात की घोषणा कर दे कि ग्रेट इण्डिया सर्कस का नया शाहकार "शेर का संगीत गान" पहली बार चन्दनपुर मे उद्घाटित होगा। फ़ौरन एक लाउडस्पीकर के साथ इसकी घोषणा शुरू हो गई। अंग्रेजी में भी यह घोषित किया गया कि ग्रेट इण्डिया सर्कस में एक सिंगिंग लायन आया है और जैसे-जैसे यह ख़बर फैलती गई चन्दनपुर की जनता सीधे स्टेशन की ओर दौड़ती आई। शेर यद्यपि किसी मानसिक विक्षिप्तता के कारण कराह रहा था, लेकिन फिर भी ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर ने उसकी दर्द भरी वेदना को भी करुण संगीत का मार्मिक रूप दे डाला और इस प्रकार वह एक बिगड़ी हुई बात को भी बना कर प्रस्तुत करने में सफल हो गया।

मास्टर दादा इस बीच वैसे ही विक्षिप्त से पड़े रहे। यहाँ तक कि मास्टर दादा की बीमारी की सूचना उस वेटिंग रूम में भी पहुँच चुकी थी जहाँ शेर को भोजन देने वाला घायल पड़ा हुआ था। मेजर नवाब को भी इसकी सूचना मिली। वह पेट के बल घसिटते हुये पीठ पर अपना एमर्जेन्सी बाक्स लिये स्टेशन के उस भाग की ओर पहुँच गये जहाँ मास्टर दादा बेजान से पत्थर की सी आँख लिये पड़े थे।

मेजर नवाब को इस प्रकार रेंगते देखकर जनता की दृष्टि न तो शेर पर दृढ़ रही और न मास्टर दादा पर। वह सबके सब बड़ी उत्सुकता से मेजर नवाब की ओर देखने लगे। इस रेंगते हुये मानव को महामानवों की टोली के अग्रगण्य नेता ओर जाने में प्रायः सब लोगों ने समान सुविधा प्रदान की और जब वह मास्टर दादा के पास पहुँच गये तो सारी जनता एक क्षण बाद की घटना की कल्पना में लीन सी हो गई। मेजर नवाब ने मास्टर दादा के पास पहुँचते ही ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर को बुलवाया और पूछा—"इस आदमी की क्या मूल प्रवृति है? यह इस दशा को कैसे पहुँचा? और इस दशा के पहुँचने के पूर्व इसका व्यावहारिक आचरण कैसा था।..."

सर्कस मैनेजर ने सारी घटना आद्योपान्त बता दी। पहले तो मेजर नवाब

सारी बातें बड़ी ध्यान से सुनता रहा, फिर कुछ उत्सुक होकर उसने पूछा—"इस शेर का क्या नाम है ?"

"मिट्टी का शेर", ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर ने बताया।

"इसके पहले इस शेर का क्या नाम था ?"—मेजर नवाब ने प्रश्न किया।

"महा शेर..."

"और यह महा शेर का नाम क्यों बदला गया ?"

"क्योंकि महा शेर के लक्षण इसमें समाप्त होने लगे थे।"

"महा शेर का लक्षण क्या है ?"

"यही चाबुक के इशारे पर काम करना, छः इंच के स्टूल पर चारों पैर एक साथ रख कर खड़ा होना, बकरी को भी उतना ही प्रेम करना जितना कि गीदड़, बैल और गधा को..."

"तो यह सब गुण इस शेर में मौजूद थे ?"

"यही नहीं, इससे भी अधिक गुण इस शेर में मौजूद थे। इसमें यह भी क्षमता थी कि यह मेरे मन की बात भी जान-समझ लेता था...मैं क्या चाहता हूँ ? मेरी मर्जी क्या है ? इसमें भी यह बड़ी बुद्धि का परिचय देता रहा।"

महा शेर का यह सारा लक्षण सुन चुकने के. बाद उन्होंने मास्टर दादा की नब्ज़ हाथ में ली। नब्ज़ देखते-देखते कुछ चिन्तित मुद्रा में बोले—"क्या आप बता सकते हैं कि महामानव की टोली में शामिल होने के पहले मास्टर दादा का क्या पेशा था ?"

"मुझे नहीं मालूम", सर्कस मैनेजर ने खीझ कर पूछा।

सर्कस मैनेजर की बात सुनते ही भीड़ से किसी आदमी ने कँपती हुई आवाज़ में कहा—"कुछ नहीं...महा मानव बनने के पहले यह आदमी हमेशा ऊटपटाँग बातें करता हुआ चन्दनपुर में घूमा करता था..."

ऊटपटाँग बातों का हवाला सुनकर मेजर नवाब को कुछ हँसी आ गई। वह कुछ गम्भीर मुद्रा बनाकर बोला—"महज़ इतने से काम नहीं चलेगा...क्योंकि हर ऊट-पटाँग बात सही भी हो सकती है गलत भी...कुछ और बतलाइये..."

मास्टर दादा यह सब बातें पड़े-पड़े सुन रहे थे। फैली हुई आँखें और भिंची हुई मुट्ठियाँ लिए वह कुछ कहना चाहते थे किन्तु कह नहीं पा रहे थे। उनका हाथ बार-बार हिलता था लेकिन फिर बेजान-सा गिर पड़ता था। मेजर नवाब यह सारी हालत देखकर कुछ और गम्भीर हो गए थे। इधर यह बातें चल ही रही थीं कि दूर

के छोर से जुगराफिया की धारियों वाली शेरवानी पहने लम्बे डग भरते हुए शायरे आजम बरबाद दरियाबादी भी आ पहुँचे। दूर ही से वह चिल्ला रहे थे...

"है न नामाकूल ? मैं पहले ही से कह रहा था ? यह महामानवों का नाटक तेरे बस का नहीं मास्टर, लेकिन तब वह मुझे बेवकूफ समझता था...मैंने इसी कच्ची गोलियाँ खेलने के लिए दी तब भी इसने मुझे बेवकूफ की उपाधि देकर टाल दिया और आज इस घड़ी यहाँ इस मैदान में ऐसा पड़ा है जैसे रावन की लाश हो..."

और भीड़ को चीरते हुए समीप आने पर मास्टर दादा की दशा देखकर व्यंग भरे लहजे में बोले—"कहिये अशरफुलमखलूकात ? आ गये अपनी अवकात पर..." फिर भीड़ की तरफ देखकर बोले—"क्या देखते हो कम्बख्त को मिट्टी खिलाओ और गोबर पिलाओ। देखो अभी-अभी आ जाता है होश में..."

मास्टर दादा की सारी बातें सुनकर दर्शकों को अकस्मात हँसी आ गई। सारथी ज्वाला प्रसाद जो अभी तक सरकस में आई हुई स्त्रियों के कैम्प मे बैठा उन्हें नाद मन्दिर में ले जाने का प्रोग्राम बना रहा था सहसा जनाब बरबाद दरियाबादी को भीड़ की तरफ बढ़ते आते देखकर अपना सतरंगी बुना शर्ट झाड़े आ पहुँचा। कुछ गम्भीर होकर बोला—

"बिस्व चेतना के मार्मिक विषय में आपने जो मिट्टी खाने और गोबर का आसव पीने की बात कही है वह तो इतनी सुन्दर और शुभ है कि हमारे देश में उपनिषदों और वेदों तक में लिखा है..."आदरणीय सन्तोषी जी भी चूहों का प्रयोग करते हुये यही कह गये हैं .."

चन्दनपुर के रहने वाले, सारथी ज्वाला प्रसाद से भली-भाँति परिचित थे। उनकी 'बिस्व चेतना' और 'उपनिषदों' की व्याख्या भी उन्हें मालूम थी। डाक्टर नवाब ने बात अनसुनी करते हुये एक बार उनको देखकर बक्स खोला, उसमें से नयी शीशी निकालकर ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर से बोला..."यह दवा मेरी नयी बनाई हुई है...इसका नाम ही अर्थवर्मोनियम है। दो हजार का डाईल्यूशन है। कभी-कभी आदमी महा मानव का अभिनय करता-करता अपनी रीढ़ की शक्ति खो बैठता है। इस दवा से रीढ़ की हड्डियाँ मजबूत होती है...इसे दो...दो खूराक में यह मरीज उठकर नाचने लगेगा..."

दूसरी शीशी को बढ़ाते हुए बोला—"यह एक दूसरी दवा है, जिसे मैंने बनाया है। आदमी के खून में जब चूहों के रक्त-कीटाणु अधिक हो जाते हैं तब वह चोर हो जाता है...कायर हो जाता है। यह मरीज कहीं उसका भी शिकार हो जाता है। इसे मिट्टी के साथ इस आदमी को खिलाओ...यह महा मानव के रोग से मुक्ति पा सकेगा।"

ग्रेट इण्डिया सरकस का मैनेजर इनमें से एक भी काम करने के लिए तत्पर नहीं था क्योंकि उसकी टोली में जितने भी महामानव थे यदि कहीं उन सबों ने यह दवाइयाँ खा लीं तो उसकी वह सर्कस कम्पनी ही टूट जायगी। इसी भय से उसने कहा—"मैं ऐसी कोई भी बात नहीं कर सकता जिससे महामानवों की शक्ति में किसी भी प्रकार की कमजोरी आवे...ये महा मानव ही हमारे भाग्य के विधाता हैं... आप अपनी दवा ले जाइये..."

मास्टर दादा यह सब कुछ सुन रहे थे, लेकिन बोलने में असमर्थ होने के नाते वह न तो मेजर नवाब से दवा ले सकते थे और न खा सकते थे। सहसा शायरेआज़म अपनी जुगराफिया की धारियों वाली शेरवानी पहने आगे बढ़ कर आये। समीप आकर उसने शीशी खोली और दोनों दवायें एक-एक करके उसे खिला दी। थोड़ी देर तक सारे दर्शक मौन रूप से देखते रहे। मास्टर दादा की चढ़ी हुई आँखों की पुतलियाँ उतरने लगीं। शरीर में स्फुरण-सा होने लगा और आवेश में उनके हाथ-पैर फैलने और सिकुड़ने लगे। अभी लोग दवा का प्रभाव देखने के लिये उत्सुक से खड़े थे कि सहसा मास्टर दादा उठ खड़े हुये। एक झटके के साथ उन्होंने अपने सारे बन्धन तोड़ डाले और भीड़ को चीरते हुये भाग निकले। ग्रेट इण्डिया सर्कस का मैनेजर मास्टर दादा को भागते देखकर उनके पीछे दौड़ा। आगे-आगे मास्टर दादा भागे जा रहे थे और पीछे-पीछे ग्रेट इण्डिया सर्कस का मैनेजर यह कहता हुआ जा रहा था—"मेरे महा मानवों की जर्सी तुम्हारे पास है...भागता कहाँ है, देता जा..." लेकिन कौन सुनता है। मास्टर दादा स्टेशन के बाहर निकल गये। सारा जन-समूह केवल उन्हें देखता ही रहा। दर्शक भी उसी ओर दौड़ गये जिधर मास्टर दादा और सर्कस मैनेजर दौड़े जा रहे थे ' उस मैदान मे केवल मेजर नवाब अपने दवाओं का बक्स लिए अकेले रह गये थे। अभी चलने ही वाले थे कि डाक्टर वनडोले का रिक्शा घोड़ा-गाड़ी आकर टिकी। एक हाथ में लौह पुरुष और अन्य तीन लोहे के खिलौने भी उनके पास थे। मेजर नवाब के पास आकर बोले—"डाक्टर तुम यहाँ, इस मैदान में अकेले कैसे..."

"मास्टर दादा को महामनव रोग हो गया था...मैं तो पैसे का डाक्टर नहीं हूँ न...बिना फ़ीस के भी दवा करता हूँ। सुना। दौड़ा चला आया। एक रोज में ठीक हो गये..." फिर मुड़ कर लोहे के खिलौनों की ओर देखते हुये बोले—

"यह लौह पुरुष और खिलौने कहाँ मिल गये...ये तो परिचित से लग रहे हैं।"

"इन्हे कबाड़ी के यहाँ से लाया हूँ...सर्कस के एक शेर में लोहे का अभाव

होने के कारण पिनपिनाने की आदत पड़ गई है...। इन लोहे के खिलौनों पर नमक लगा कर उसके कटघरे में रखवा दूँगा। इन्हे चाट-चाट कर वह अच्छा हो जायगा..."

मेजर नवाब डाक्टर वनडोले की बातें मौज से सुन कर मौन रह गये। मिट्टी के शेर में अक्सर लोहे का अभाव रहता ही है। डा० वनडोले का यह प्रयोग डा० मेजर नवाब को बहुत पसन्द आया। मुग्ध होकर बोले—

"मानता हूँ मवेशी डाक्टर...आदमी में जब लोहे का अभाव होता है तो वह महामानव बनने को भी बढ़ता है। महाशेरों में जब लोहे का अभाव होता है तो वह मिट्टी के शेर बन जाते है...हमारी तुम्हारी समान राय है...तुम जानवरो को जानवर रहने दो तो आदमी खुद ही ठीक हो जायगा।"

डा० वनडोले की समझ में कुछ नही आया। वे केवल लौह पुरुष को डाल आये। मेजर नवाब को सहारा देकर अपनी लाल-रिक्शा-घोड़ा-गाड़ी में बैठाने लगे। सहसा हाँफते हुए मास्टर दादा और उनकी जर्सी पकड़े हुये ग्रेट इण्डिया सर्कस का मैनेजर स्टेशन के मैदान मे आ खड़े हुए। मैनेजर ने नवाब को डाटते हुये कहा—"यह क्या बद्तमीर्जा है? तुम हमारी प्लानिग चौपट करना चाहते हो, जानते हो कितनी मेहनत से मैं एक महामानव बनाता हूँ..."

ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर की बात डा० मेजर नवाब ने सुना अनसुना कर दिया। उसने उपेक्षा की दृष्टि से एक बार उनकी कृत्रिम जिज्ञासा की ओर देखा और मौन हो गया। लेकिन वह मौन रह नहीं पाया। कुछ खीझ कर बोला, "तुम्हारी प्लानिंग भी पेट के लिए है, मैनेजर...ऐसी बात ही क्यों करते हो...लावारिसों, लाखेरों को अपनी जिन्दगी जीने दो...उनके साथ इतना बड़ा मजाक क्यो करते हो कि वे टूट जायँ...बिखर जायँ...तुम जिसे महामानव बनाकर परेड कराते हो वह आदमी नहीं रह जाता..."

लेकिन ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर के पास बुद्धि नहीं थी। वह यह बातें समझ नहीं पा रहा था। उसने चुपचाप कुछ खीझ कर मास्टर दादा से जर्सी छीन ली और डाटते हुए कहा—"भाग जाओ यहाँ से...तुम लोग कुछ नहीं कर सकते...केवल रंगीन लगते हो...किसी भी लायक नही हो, भाग जाओ..."

और मास्टर दादा कह रहे थे—"मैं नही जानता था कि महामानव बनाने की टोली में शामिल होने के पहले, खपाचियों की टाँग और हाथ लगने के पहले तुम आदमी की रीढ़ ही तोड़ डालोगे...रीढ़ जिसके सहारे हम जीते हैं, खड़े होते हैं...महामानव का रेंगना उफ बड़ा पीड़ाजनक होता है...बहुत...असह्य..

डा० वनडोले जो अब तक अपने हाथ में लम्बी चाबुक लेकर लाल-रिक्शा-

घोड़ा-गाड़ी पर बैठ चुके थे...गाड़ी हाँकने की चेष्टा कर रहे थे। मास्टर दादा कहते जा रहे थे...

"यह ग्रेट इण्डिया सर्कस कम्पनी जिस में आदमी से लेकर जानवर तक एक ही चाबुक से हाँके जाते हैं...जहाँ महाशेर और महामानव दोनों की रीढ़ की हड्डियाँ तोड़ दी जाती है—बन्द होना चाहिए...यह बड़ा भयंकर नाटक है...बहुत भयंकर... आदमी चाहे जितनी खपाचियाँ लगाये उसे कहीं अपनी रीढ़ की हड्डियों की सुरक्षा करनी ही पड़ेगी...बिल्कुल...ठीक-ठीक..."

और यह कहता हुआ जब वह उस सर्कस की भूमि से जा रहा था कुछ लावारिस कुत्ते जो शेर के बचे हुए छीछड़ों की गन्ध पाकर इधर-उधर भटक रहे थे वह भूँकने लगे। कुछ महामानव की टोली के सदस्य जो खपाचियाँ लगाये स्टेशन के बाहर खड़े-खड़े सिग्रेट पी रहे थे मास्टर दादा को देख कर हँस रहे थे। मास्टर दादा अपने चेस्टर और लबादों के साथ दौड़ रहे थे, कुत्ते उनके पीछे-पीछे थे...और वह खुद कहते जाते...

"ए डाग्स...तुम सिर्फ़ भूँकना जानते हो...काटना सीखो...काटना...जहर निकालो जहर...चलो...बढ़ो...बढ़ो..."

उधर से एक बड़ा पोस्टर लिए सर्कस के प्रचार विभाग का महामानव आ रहा था जो बिगुल बजा कर पोस्ट पर लिखे हुये वाक्यों को दुहरा रहा था—

"सुनिये...सुनिये...सुनिये...
शेर का मधुर सरगम भरा संगीत
उसकी मीठी वाणी में जादू से भरी प्रीत...
आइये ! आइये !! आइये...सभी सभीत..."
ग्रेट इंडिया सर्कस के सहज मन भीत...

और कटघरे का बन्द शेर नमक में शराबोर लौह पुरुष को चाटने में इतना व्यस्त हो गया था कि उसकी सारी गरज...उसका सारा भयंकर नाद खामोश हो गया था...और लौह पुरुष इस महाशेर के पंजों तले पड़ा ऐसा चीख रहा था जैसे वह मूक भाषा मे संगीत की सुन्दर कड़ियों का राम-राम से साक्षात्कार कर रहा हो।

सर्कस का शो शुरू होने वाला था। सर्कस मैनेजर अपनी वर्दी-पेटी पहनने के लिए कैम्प में चला गया। महामानवों में से एक इमली के एक पेड़ की

फुनगी से इमली तोड़ कर ऐसा खा रहा था जैसे वह इमली का पेड़ न होकर मटर की फली का पौदा हो। नेपथ्य में धीरे-धीरे सर्कस के बैण्ड की ध्वनियाँ मुखर हो रही थीं।

किन्तु इन सब से दूर और अलग...शायरेआजम बरबाद दरियाबादी बहुत दूर बैठे हुये अपनी कच्ची गोलियों को जेब में बजाते हुये कोई शेर गुनगुना रहे थे। अँधेरा धीरे-धीरे बढ़ रहा था। चन्दनपुर की बस्ती के छोटे-बड़े सभी सर्कस की ओर बढ़े चले आ रहे थे। लगता था स्टेशन पर न कोई घटना हुई है और न दुर्घटना। जैसे पुल टूटा ही नहीं, आदमी मरे ही नहीं...जिन्दगी को झटके लगे ही नहीं..

रात को सर्कस का खेल समाप्त होने के बाद जब विक्षिप्त शेर को फिर कटघरे में बन्द किया गया तो वह इस नये संगीत के आरोह-अवरोह के नाटक से बड़ा थक गया था। यद्यपि लौह पुरुष, गीदड़, रीछ उस कटघरे में ज्यों-त्यों पड़े थे किन्तु शेर कहीं इतना अधिक विक्षिप्त था और थक गया था कि उन तीनों में से किसी के भी प्रति उसकी रुचि शेष नहीं थी। सभी ठण्डे थे। लौह पुरुष के रोम-रोम में महाशेर के लगातार चाटने से घाव से हो गये थे लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ था। रात की ठण्डी हवा शरीर में छन्न सी लगती अवश्य थी लेकिन चकनाचूर होकर वापस चली जाती थी। उसकी दुर्दशा देखकर सैम्पसन फ़ैक्टरी के बने हुये सभी खिलौने अजीब करुणा की मुद्रा मे थे। उनमे से रीछ ने कहा—"लौह पुरुष, एक ही सैम्पसन फ़ैक्टरी में हम सभी बने हैं पर न जाने क्या बात है जितना वितण्डा तुम्हें सहना पड़ा है उतना शायद हम लोगों मे से किसी को भी नही सहना पड़ा..."

"महामानवों को भी तो वितण्डा का सामना करना पड़ता है...इतना सब नाटक हो गया, खपाचियाँ लगाकर महामानवो की नृत्य मुद्रायें तुमने देख भी लीं लेकिन फिर भी बात तुम्हारे समझ में नहीं आई ऋक्षराज..."—गीदड़ ने उत्तर दिया...

"बात तो समझ में आ जाती है लेकिन मुझे एक शंका मारे डाल रही है.. रीछ ने कहा।

"वह कौन सी ?"

"यही कि सैम्पसन फैक्टरी के बनाने वाले मि० सैम्पसन ने लौह पुरुष की तो कल्पना कर ली थी...लेकिन इस महामानव नाम के जन्तु की वह कल्पना नहीं कर पाया था...वरना इनको भी ढाल देता एक साँचे में, बिचारे मिट्टी के बने इन्सानों को खपाचियाँ लगाने से तो फ़ुर्सत मिल जाती..."

"तुम भी कभी-कभी कमाल की बातें करते हो गीदड़ राज ! मिस्टर सैम्पसन का जमाना और था...लौह पुरुष की कल्पना के साथ ठोस और भारीपन की कल्पना

सलग्न है...तुम यह क्यो भूलते हो कि यह ज़माना ही रुपाचियों का है...लोहे का ज़माना रह कहाँ गया है ?" शेर के टाँगों के बीच में पडे-पड़े गीदड़ ने उत्तर दिया।

लौह पुरुष इन दोनों की बातें मौन रूप से सुनता जा रहा था। उत्तर भी वह क्या देता लेकिन फिर भी काफ़ी अर्से तक चूरन की थाली में रह चुका था, गली-गली की ठोकरें खाई थीं, इसलिए तजर्बे में तो ज्ञानी हो ही गया था। आवेश को रोक पाना उसके लिए कठिन था, इसलिए बोला—"जाने भी दो मित्र ! मेरी सब से बड़ी कमजोरी यह है कि मैं टूटना नही जानता...काश की टूट कर, चकनाचूर होकर भी जीने की क्षमता मुझ में होती...तो सच मानो कभी की मुक्ति पा गया होता..."

"तुम ने भी खूब कहा...टूटना भी जैसे कोई गुण है...टूटते तो वे है जिनके पास टिकने का आधार नहीं होता...मुझे तो सेम्पसन फैक्टरी मे ऐसा ढाला गया है कि चाहे जिसका राज्य हो मैं सब के लिए अनिवार्य हूँ..."

रीछ की यह बात और उस से सम्बद्ध दृष्टिकोण पर लौह पुरुष ने कभी भी विचार नही किया था। रीछ के इस वक्तव्य से उसे लगा जैसे उसे एक नयी दृष्टि मिल गई है। उसे अपने निर्माणकाल के सारे प्रसंग याद हो आये...भट्टी में तपने से लेकर साँचे में ढलने तक के समस्त उपक्रम जैसे एक बार फिर उसकी आँखों के सामने नाच गये। क्षण भर के लिए उसे लगा जैसे इन महामानवों की टोली में से प्रत्येक महामानव से उसमें स्वयम् सहन शक्ति कहीं अधिक है, निष्ठावान और सहनशील भी है। यद्यपि जिस ज़माने में वह बनाया गया था उस समय अंग्रेज़ों के राज्य मे सूरज कभी नहीं डूबता था, प्रत्येक अंग्रेज़ सौ-सौ देसी आदमियों के समान माना जाता था। इसलिए उन्होंने जो आदमी बनाये थे वह भी उतने ही मज़बूत, भारी-भरकम और ठोस लोहे और फ़ौलाद के होते थे। आज उनका राज्य नही रहा तो क्या हुआ, आज सैम्पसन कम्पनी को चूरन बेचने वाले देसी सौदागर ने ख़रीद लिया तो क्या हुआ...चाहे वह चूरन वाला जोकर भी आदमी बनाये, चाहे वह महामानव बनाए या कोई और चीज़ बनाये, जब तक मिस्टर सैम्पसन का बनाया हुआ एक भी लौह पुरुष रहेगा वह चूरन बेचने वाले के दाँत खट्टे करता रहेगा। लौह पुरुष को क्षण भर के लिए अपनी सारी पीड़ा और वेदना भूल सी गई। वह भूल गया कि वह इस समय उस मिट्टी के शेर के जबड़ो के नीचे है जो कभी महाशेर कहलाता था। वह यह भी भूल गया कि वह ग्रेट इण्डिया सर्कस के मैनेजर की कृपा से वहाँ उस शेर के कटघरे में पड़ा है नही तो उस कबाड़ी के यहाँ सिवा लकड़ी के बुरादे तौलने वाली तराज़ू के एक पल्ले पर पसंघे के रूप में पड़े रहने से अधिक उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वह फिर तड़पकर बोला—

"मैं चाहे जो हूँ, बन्धु किन्तु यह सत्य है कि अपवाद रूप में भी मैं जी लेता हूँ...आज के जमाने में किसी भी परिस्थिति में जी लेना क्या कम है ? जीने के लिए भी तो कोई न कोई गुण चाहिए...टाँगो के नीचे पड़े रहने से शेर के जबड़े के नीचे पड़ा रहना सदा ही अच्छा होता है।"

"गीदड़ से लौह पुरुष की यह हैकड़ी नहीं बदास्त हुई। वह भी जरा आवेश में आ गया। अपने अस्तित्व की व्याख्या करते हुए बोला—

"जानते हो मैं यहाँ क्यों हूँ ? जब से इस मिट्टी के शेर में आकर्षण का अभाव आ गया है तभी से इसकी यह दुर्दशा हुई है। डाक्टर वनडोले ने मुझे यहाँ इसकी टाँगो के पास इसलिए रक्खा है ताकि मेरी आकर्षण शक्ति का अधिकांश इस शेर को मिल जाय और इस में फिर वह ताकत आ जाय जिस से वह महाशेर के अभिनय को सफलतापूर्वक कर सके। जितना वह तुम्हें चाट-चाट कर शक्ति ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक शक्ति मैं मात्र उसकी टाँगों के बीच पड़ा रह कर देता हूँ...मेरी अहमियत तुम क्या समझोगे ? समझना हो तो डा० वनडोले से समझो... डा० वनडोले से !"

लौह पुरुष गीदड़ के उत्तर का जवाब कभी भी नहीं दे पाता था। आज भी उसकी हालत वही थी। वह कुछ सोचने के चक्कर मे पड़ गया लेकिन इसी बीच शेर की नींद टूट गई और वह गरज कर खड़ा हो गया इस गरज में और खड़े होने में लौह पुरुष तो औंधे गिर पड़े और शेर के पजों के नीचे गीदड़ और रीछ भी जा गिरे। आवेग और आवेश दोनों ठण्डे हो गये। बात वहीं समाप्त हो गई। शेर की गरज और भी भयंकर रूप से शुरू हो गई। तमाम रात शेर ने न तो लौह पुरुष को मुँह लगाया और न गीदड़ और रीछ के चुम्बक आकर्षण की ही परवाह की। वह गरजता ही रहा।

सुबह होते ही ग्रेट इण्डिया सर्कस का नक्शा बदला हुआ था। अब इस समय दूसरे शेर भी गरजने लगे थे। डा० वनडोले भी चिंतित मुद्रा मे पास खड़े थे। और डा० वनडोले काफी सोच-समझ कर बोले—

"देखिए...आपके मिट्टी के शेर को मामूली रोग नहीं है...यह इस समय अपनी आवाज बुलन्द करना चाहता है.. अगर कहीं इसकी आवाज़ का जवाब दूसरे शेरों ने दिया, या आपके महामानवों की टोली ने इसका अर्थ समझ लिया तो आपकी कम्पनी तो टूटेगी ही, साथ ही आप की हत्या भी हो जायगी...इसीलिए इस आवाज को बन्द करिये..."

डा० वनडोले की आवाज सुनकर सर्कस मैनेजर बड़े संकट में पड़ गया। वह इसी उधेड़बुन में पड़ा रहा कि ऐसी अवस्था में वह क्या करे क्या न करे। फिर उसने कहा...

"और आप के उपचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।"

"यह मेरे उपचार ही का फल है जो आवाज साफ होकर निकल रही है। शेर के बनावटों से लेकर उसकी सीमाओं तक का रहस्य खुल गया है......मर्ज़ काबू में नहीं आ सकता...कतई नहीं आ सकता..."

"लेकिन डा० तुम्हे इसे ठीक रास्ते पर लाना ही होगा। मेरी कम्पनी अभी तक अपनी सीमाओं के बावजूद भी अपना एक गुडविल बनाये है...आप ही बताइये मैं क्या करूँ..."

"मैं कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि तुम्हारे मिट्टी के शेर का दिमाग़ तो अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता..."

डा० वनडोले की बातों को तो पहले सर्कस मैनेजर नहीं समझ पाया। हाँ जब डा० वनडोले अपनी बात समाप्त कर चुके तो सर्कस मैनेजर के दिमाग में उसकी यह बात चुभने लगी। उसने कुछ सोच-समझ कर कहा...

"यदि इस मिट्टी के शेर में विद्रोह की भावना जन्म ले रही है और यह शुद्ध इन्फेक्शन अथवा संक्रामक रूप धारण कर रहा है तब तो इसे शीघ्र ही समाप्त करना होगा..."

"मिट्टी की तो सहज प्रकृति ही विद्रोह की होती है," डा० वनडोले ने उत्तर दिया। और फिर बोले—"सर्कस मैनेजर...तुम्हारा तो यही कमाल है कि मिट्टी के शेरों के विद्रोह को ऐसा दबाते हो कि फिर वह अपनी आजादी, स्वतंत्रता, अहम् और विद्रोह भावना तक को भूल जाते है...कभी-कभी इस कमाल में भी धोखा होता है... आज वही धोखा हुआ है...चारों ओर इन्फेक्शन फैल रहा है...बात जब एक से दो तक फैल जाय तो यह समझ लो खतरे की गुंजाइश बढ़ जाती है..."

"लेकिन अब इसका चारा क्या है ?"

"मौत...केवल मौत"—डा० वनडोले ने बड़े धीर मन से उत्तर दिया—और तब सर्कस मैनेजर दौड़ा हुआ अपने कैम्प में गया। दो नली वाली बन्दूक लेकर बाहर आ खड़ा हुआ और निशाना लगाकर दोनों विद्रोही शेरों को उसने एक साथ ठण्डा कर दिया। शेर...गोली लगते ही औंधे होकर गिर पड़े ! गिरते समय उन्होंने सारे कैम्प को हिला दिया और स्टेशन के आसपास की तमाम बस्ती उनकी अंतिम चीख से चौंक उठी। थोड़ी देर तक दोनों कराहते रहे...और फिर शान्त हो गये...

जब यह सब हो रहा था तो सर्कस कम्पनी की महामानवों की टोली में अकस्मात ही आतंक छा गया था क्योंकि मास्टर दादा के विद्रोह को देखकर सर्कस मैनेजर ने समस्त महामानवों को बुला कर कह दिया था कि यदि मास्टर दादा के जैसा आचरण

कोई दूसरा करेगा तो बरसों की पड़ी हुई ठण्डी बन्दूक का इस्तेमाल करना उसके लिए अनिवार्य हो जायगा। महाशेर के विद्रोह की यह परिणीत इसीलिये उनमें सहज ही आतंक बन कर छा गई थी। वे आपस में कह रहे थे...

"अगर बन्दूक की इस चोट से बचना है तो कल से पैरों और हाथों में और लम्बी खपाचियाँ लगाओ...तरह-तरह के चेहरे बनाओ और बाजार से खरीद कर लाओ नहीं तो...नहीं तो जिन्दा रहना मुश्किल हो जायगा..."

और दूसरे रोज़ से खपाचियाँ और लम्बी हो गई थीं। चन्दनपुर के बाज़ार में सहसा बाँस का दाम बढ़ गया था। कबाड़ी प्रसन्न होकर यह मनाने लगे थे कि भगवान करे यह पुल हमेशा-हमेशा ऐसा ही टूटता रहे। स्टेशन का वेटिंग रूम इसी प्रकार अस्पताल में बदलता रहे और मजबूर हो कर नयी-नयी सर्कस कैम्पनियाँ आती रहें ताकि चन्दनपुर में बाँसों का दाम लगातार इसी प्रकार बढ़ता रहे। कबाड़ियों ने बाँसों को मनमाने भाव पर बेचना भी शुरू कर दिया। सुविधा के लिए डा० वनडोले के सब से छोटे लड़के ने नया बिज़नेस ही शुरू कर दिया। उसने खपाचियो वाले हाथ-पैर बनाने की पूरी फैक्टरी ही चालू कर दी।

लेकिन जैसा वे चाहते थे वैसा नहीं हुआ। खपाचियाँ केवल एक हद तक बढ़ी हुई क़ीमत पर बिक सकी। उस हद के बाद कीमत घटती गई...घटती गई।

मरे हुये शेर को फेंक देने के बाद सर्कस वालों ने दो काम किये। पहला तो यह कि मरे हुए शेरों की चमड़ी उन्होने सरे बाज़ार बेच दिया। दूसरा काम यह किया कि लौह पुरुष को अपना प्रतीक बना कर महामानवो के कन्धों पर लाद दिया। अब से जब चंदनपुर में ग्रेट इंडिया सर्कस की योजना का प्रचार होता तो आगे-आगे चलने वाले महामानव के कन्धों पर लौह पुरुष बैठा होता और फट-फट करके अपने हाथ से अपने मुँह में तमाचा मारता हुआ नगर में घूमता रहता। इसी प्रकार गीदड़ और रीछ में चूँकि चुम्बक शक्ति ज्यादा थी इसीलिये उन दोनों को अपनी सर्कस कम्पनी के टिकटघर में रख दिया था। ख़ासकर नये रुपये के खोटे और खरेपन को परखने में यह मूर्तियाँ विशेष सहायक होतीं। इनका लोहा ऐसा हो गया था कि जब कभी भी जरूरत पड़ती तो नये रुपये को उसके ऊपर डाल देते। यदि रुपया चिपक जाता तो समझते कि वह अच्छा है और अगर न चिपकता तो खोटा समझ कर रुपये को वापस कर देते।

यद्यपि लोहे के खिलौने ग्रेट इण्डिया सर्कस कम्पनी में ही थे किन्तु उन में एक स्थायी अलगाव स्थापित हो गया। लौह पुरुष महामानवों के कन्धों पर उतना ही सुखी था जितना कि लोहे के खिलौने जाली वाले बुकिंग आफिस में।

यह ग्रेट इण्डिया सर्कस !

ये महामानवों का जुलूस। यह खपाचियाँ...यह अभिनय...यह लोहा...इन सब के सम्वेत रूप और आकार में ग्रेट इण्डिया सर्कस का मैनेजर अपने को ईश्वर, भगवान, निर्माता और विधाता समझता है। उसका जीवन छोटी बातों पर नहीं, बड़ी बातों पर है। वह अपनी कम्पनी को संसार की सबसे बड़ी कम्पनी बनाना चाहता है। वह अपने सीने पर इतने तमगे लगाना चाहता है कि गले से नीचे कमर तक केवल तमगा ही तमगा दीख पड़े। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लिए वह शरीर में आग लगाकर कुएँ में कूदने का भी खेल कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सर्कस प्रतियोगितों का वह नियामक सब कुछ कर सकता है...

आदमी...

आग...

ज़िन्दगी...

मूल्य...

इनमें से हर एक का अर्थ वह बदल देना चाहता है।

और तब ?

इन्फेक्शन क्या बन्दूक से मारा जा सकता है ?

रीढ़ की हड्डियाँ क्या तोड़ी जा सकती है ?

सपने देखने क्या बन्द किये जा सकते हैं ?

वेटिंग रूम के लोग
और टूटी जिन्दगियाँ

"...और यह कि जिन घायलो का ख़ून बह रहा था वह उन घायलों का ही नही मेरा भी खून था। प्रतिमा का भी ख़ून था। उसको रोकने की जरूरत थी क्योंकि वह ख़ून इतना जहरीला है कि अगर धरती पर गिरेगा तो सारी धरती विष की आग से भस्मित हो जायगी। अगर उसे जानवर चाट लेंगे तो आदमी की तरह उनको भी अपना शरीर आप काटने का मर्ज लग जायगा और वह चूहों की तरह प्लेग फैला कर मरेंगे। आज का आदमी प्लेग फैलाता है, प्लेग..."

दिन बदल गया है। आज दिन में कल से कम आदमी मरे हैं। घायलों में से कुछ की हालत आज अच्छी भी है। डाक्टरों, नर्सों और रेलवे कर्मचारियों का काम आज कल से ज्यादा साफ़-सुथरा, अच्छा और नियमपूर्वक चल रहा है। डाक्टर वनडोले को आज एक दिन और दो रात बाद इस समय इस अन्धेरी शाम को बैठने का अवकाश मिला है। मोटी काली नर्स भी आज अधिक प्रसन्न है। पत्रकार कैलाश की सरगर्मी भी आज कुछ कम है। साहित्यकार नवयुवक भी प्लेटफ़ार्म की एक बेंच पर बैठा हुआ सा ऊँघ रहा है। प्लेटफ़ार्म की दूसरी तरफ रेलवे आफिसर्स और अन्य कर्मचारियों की एक ख़ास मीटिंग हो रही है। बहस-मुबाहिसे छिड़े हैं। प्रश्न कई हैं। मसलन गाड़ी की दुर्घटना किसके कारण हुई ? पुल टूटने के कारण हुई या लाइन हट जाने के कारण हुई ? सिगनल गिर जाने से हुई या सिगनल उठ जाने से हुई। जिस समय यह दुर्घटना हुई उस समय स्टेशन मास्टर कहाँ था ? क्या कर रहा था ? बुकिंग क्लार्क कहाँ था ? आस्मान में बादल तो नहीं थे ? आँधी तो नहीं चल रही थी...इत्यादि-इत्यादि प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ा जा रहा है।

दूसरी ओर प्लेटफ़ार्म के एक सिरे पर बैठा हुआ मेजर नवाब उस बालक के साथ आस्मान मे उगते हुए बादलों के पेड़ देख रहा है। रंगीन लाल आस्मान की शिकनें गिन रहा है, उसे इस जाँच-पड़ताल में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह केवल आस्मान में फैले हुये सारे लाल बादलों के बीच उस सफेद बादल को देख रहा है जो घिरा हुआ होते हुये भी अपना रंग साबित बनाये है। जिस पर न आस्मान की सुर्खी का कोई प्रभाव है और न धरती के इस शोर वो गुल का। ठीक उसी बादल के सामने वह भी ख़ामोश बैठा हुआ अपने मन की अनेक शंकाओं से जूझ रहा है।

रात धीरे-धीरे गाढ़ी अन्धेरी पर्तों में बदल रही है। चारो ओर से घना कुहासा

सिमिट-सिमिट कर एक दूसरे के नज़दीक आ रहा है। रेलवे कुलियों की झोपड़ियों में चिराग़ जल चुके हैं। स्टेशन के पास रहने वाले भिखारी दिन भर भीख माँग कर इस समय अपने-अपने चूल्हे सुलगा रहे हैं। देखने से लगता है जैसे कोई एक प्रकाश पिन्ड है जो किसी भयानक काली मुट्ठी में बन्द है और उँगलियों की सन्धि से जिसकी किरणें असंख्य रूप में फूटी पड़ रही है लेकिन वह रोशनी चकनाचूर होकर घुटी-घुटी सी है। उसमें न जाने क्यों एक ऐसी उदासी है जो मन को बेचैन कर देती है। तबियत को परीशान कर देती है।

अँधेरा बढ़ने के साथ-साथ आफ़िसर्स की मीटिंग भी समाप्त हो चुकी है। वह सब के सब डाक बँगले में टहरने चले गये हैं और प्लेटफार्म पर बिल्कुल सन्नाटा पड़ गया है। नवाब धीरे-धीरे घुटनो के बल घसिटता हुआ वेटिंग रूम की तरफ आ रहा है। उसके आगे वह लड़का है जो धीरे-धीरे नवाब के साथ-साथ चला आ रहा है। इस दृश्य को साहित्यकार भी देख रहा है और पत्रकार भी। साहित्यकार इसको जीवन का एक भारी व्यंग्य समझ कर उससे चौंक जाता है लेकिन पत्रकार उसको देख कर पिछली रात का राइट अप सोच रहा है जिसमें उसने लिखा था—

एक अपाहिज "जो मसीहा बनने में चोर बनाया गया।"

साहित्यकार सोचता है यह बालक और यह अपाहज ऐसे लगते हैं जैसे भावी सन्तति अपने पीछे पंगु, अपाहज संस्कारों को छोड़ कर आगे बढ़ने का प्रयास कर रही हो। ऐसा लगता है जैसे किसी पंगु निश्चल अतीत के कर्कश हाथों में जीवन का कोमल भविष्य अमानत की तौर पर पड़ा हो। लेकिन उसने फिर सोचा और उसे लगा यह सब व्यर्थ है, इसमें न तो कभी भावना को तीव्र बनाने की क्षमता है और न शक्ति है। यह केवल एक दुर्घटना है जो किसी दूसरी दुर्घटना को जन्म देकर समाप्त हो जाती है।

अभी मैं इसी स्थिति के अध्ययन में लगी थी कि सहसा फिर वही थानेदार, वही पुलिस और उन्हीं हथियारबन्द सिपाहियों ने स्टेशन को घेर लिया है। हर प्लेटफार्म और कमरे में झांक-झाँक कर जैसे किसी तलाश में घूम रहे हैं। साथ में स्टेशन मास्टर भी है। टार्च जला कर स्टेशन का कोना-कोना देखा जा रहा है। पुलिस की भीड़ देखकर प्लेटफार्म पर जितने भी बचे-खुचे लोग हैं सभी कुछ घबरा-से गये हैं। डा० वनडोले कुर्सी पर से उठकर खड़े हो गये हैं। साहित्यकार भी बैठा-बैठा उन्ही लाल पगड़ियों को घूर-घूर कर देख रहा है। पत्रकार कैलाश हाथ में कैमरा लिये तैयार है। डा० और नर्स मरीज़ों को छोड़ कर बाहर चले आये हैं। कार्सनेगी का प्रतिनिधि नवयुवक किताबों से सूक्तियाँ ढूँढ़ रहा है...मोटी नर्स आतंकित दृष्टि से पुलिस

वालों को देख रही है क्योंकि कल रात जब वह उस युवक के साथ चन्दनपुर शहर में शराब पी कर घूम रही थी तो उन दोनों को पुलिस वालों ने टोका था। रोकने पर नवयुवक पुलिस वालों को चकमा देकर स्टेशन चला आया था।

स्टेशन की बत्तियाँ अब भी बुझी हैं क्योंकि कल रात से रेलवे का ख़ास पावर-हाउस कुछ ख़राब हो गया है जिस से सारी रोशनी ही बेकार हो गई है। मरीज़ों के कमरे में मोमबत्तियाँ जला दी गई हैं लेकिन बाक़ी प्लेटफार्म पर अँधेरा ही है। चारों तरफ ढूँढने के बाद पुलिस आफ़िसर कान्सटेबलों को फिर से सारे स्टेशन पर ढूँढ़ने का आदेश दे रहा है। लोगों के बार-बार पूछने पर भी वह अपना मन्तव्य नहीं बता रहा है। हर बार कान्स्टेबलों को तलाश करने का आदेश देने के सिवा जैसे उसे कुछ आता ही नहीं। तीन-चार बार तलाशी लेने के बाद भी जब कोई नतीजा नहीं निकला तो वह उस अँधेरे में मेरे ऊपर आ बैठा है। मेरे तन-मन में इतना दम कहाँ था जो मैं उस पुलिस आफ़िसर के बोझ को सँभाल पाती। चरमरा कर बैठ गई। हड्डियों का ढाँचा चूर-चूर हो गया। पुलिस आफ़िसर भी औंधा होकर गिर पड़ा। उसके सिर की पगड़ी उससे गज़ों दूर जा गिरी और सहसा सारे प्लेटफार्म के लोग खिस से हँस पड़े। लेकिन इस हँसी में जैसे कोई जान नहीं थी। जैसे एक उदासी थी, एक भय था, एक आतंक था, जिसके कारण कोई भी आवाज़ साफ़-साफ़ नहीं निकल पा रही थी, जैसे हृदय की स्वतन्त्र, मुक्त हँसी के निकलते-निकलते ही किसी ने उसे मुट्ठियों में मसल डाला हो।

लेकिन जब पुलिस आफिसर उठा तो उसके उठने के साथ ही एक बच्चा चीख पड़ा। किसी प्रौढ़ आवाज़ ने कराहा और तब उसने कुर्सी पर टार्च की रोशनी फेंकते हुए कहा—"कौन है बे...यहाँ क्या कर रहा है।"

यह सख्त आवाज सुनकर वह बच्चा और ज़ोर-ज़ोर से चीखने लगा। प्रौढ़ स्वर ने कहा—"मैं हूँ...नवाब..."

"इसके नीचे क्या कर रहा था?"

"सोने की कोशिश कर रहा था..." नवाब ने कहा।

"इतनी सारी जगह छोड़ कर इस कुर्सी के नीचे..."

"क्या करता? आने-जाने वाले यह नहीं देखते कौन सोया हुआ है। वह तो सिर्फ कुचल कर निकल जाते हैं..."

और यह कहता हुआ नवाब कुर्सी के नीचे से निकलकर बाहर आ गया। मैं चरमराकर चूर-चूर हालत में वहीं पड़ी रही। पुलिस आफ़िसर ने टार्च जलाई। रोशनी में उस बालक और अपाहिज नवाब को उसने ग़ौर से देखा और तब आवेश में बोला—

"ओह तो आप हैं...आप ही की तो तलाश थी मुझे ?"

"मेरी तलाश ? क्यों तलाश थी ? किस सिल्सिले मे आप मुझे ढूँढ़ रहे थे ?"

"जैसे तुम्हें मालूम ही नहीं ? बड़े भोले बने हो ?"

"मैं भोला नहीं हूँ लेकिन मैं जानता हूँ कि अक्सर आप लोग असली मुजरिम को कभी भी नहीं पकड़ पाते..."

"चुप बे...देखता नहीं मैं कौन हूँ...मेरे चंगुल से छूट कर जाना किसी मुजरिम का मजाल नहीं है।"

"हूँ, हो सकता है लेकिन मैं तो जानता हूँ क्या आप, क्या आज का आदमी, हर तरह से उचित मुजरिम को उचित दण्ड देने मे समर्थ नहीं है, असली मुजरिम हमेशा छुटकारा पा जाता है..."

इस बात पर पुलिस आफ़िसर के क्रोध की सीमा नहीं रही। क्रोध से उसका चेहरा तमतमा गया। आवेश में अपनी बेंत हिलाते हुए बोला—

"अभी पता चल जाता है। जब हवालात मे डाल दूँगा तब मालूम होगा कि मुजरिम को सज़ा मिलती है या उसे छुटकारा मिलता है..."

नवाब अब तक ख़ामोश हो गया। बच्चे को अपनी गोद में बैठा कर नवाब उस व्यवहार को सहन करने के लिए तैयार है जो पुलिस और कान्स्टेबिल के हाथों सम्भव हो सकता है। पुलिस आफ़िसर कड़क कर बोला—

"तुम...तुम मियाँ अपने लँगड़ेपन का फ़ायदा उठाकर चोरों, बदमाशों और गुण्डों को आश्रय देते हो...आज जब रेलवे दुर्घटना में फँसे तमाम आदमी चीख, चिल्ला रहे हैं, परेशान हैं, तब भी तुम चोरी की बातें सोच सकते हो ? बातें ही नहीं चोरी भी कर सकते हो।"

थानेदार जिस लहजे में बात कर रहा है उससे यह स्पष्ट है कि जसवन्त और प्रतिभा ने किसी न किसी शकल में पुलिस मे उसके ख़िलाफ़ लिखवा दिया है। उसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि ख़ान के क़तल और उससे सम्बन्धित नीरू का भी ज्ञान इस पुलिस आफ़िसर को हो गया है। अपनी डायरी लेकर अब वह नवाब का बयान लिख रहा है और उस सिलसिले में उससे कई प्रकार के प्रश्न भी पूछ रहा है। नवाब का हर जवाब बेढंगा है। उसमें उसकी मानसिक विचित्रता की भी थोड़ी झलक है। लगता है जैसे इस व्यक्ति की आस्था, इसका विश्वास आज के इस जीवन में नहीं है। कहीं पर यह मेरी ही तरह एक भयानक दर्द का सागर लिए बैठा है...कहीं इसने इतना कड़वा ज़हर पी लिया है और उसको हज़म करने की चेष्टा में अपने को तोड़

चुका है कि उसकी हर बात-विषय और सन्दर्भ से असंगत-सी लगती है। वह बार-बार कहता है—

"हो सकता है आज मैं जिस स्थिति में हूँ उससे आपको यह लगे कि मैं इन्सान नहीं हूँ, आदमी नहीं हूँ लेकिन विश्वास मानिए मैंने आप की तरह ही जिन्दगी बिताई है। मैंने आपकी तड़क-भड़क वाली जिन्दगी को जिया है लेकिन न जाने क्यों उसमें मुझे कोई हरकत न मालूम पड़ी।"

"क्या बक रहा है...अपने नाम के पहले तूने मेजर क्यों लगा रखा है...अगर लगा रखा है तो किस फ़ौज में काम किया है तूने..."

नवाब यह बात सुन कर बोला—

"किसी भी फ़ौज में नहीं...मैंने अपने नाम के पहले मेजर केवल इसलिए लगाया है क्योंकि मैं समझता हूँ मैं बालिग़ हूँ...और तुम सब जो छोटे-छोटे बच्चों की तरह घरौंदे बना कर खेल रहे हो नाबालिग़ हो। जकड़ा हुआ तुम्हारा दिमाग तंग है। उसका पूरा-पूरा विकास नहीं हो पाया है। उसके सेल्स इतने तंग और छोटे हैं कि वह हर चीज़ को तंग सन्दर्भ में ही ग्रहण करते हैं।"

पुलिस आफ़िसर ने फिर ज़ोर से डाँटा और अपनी बेंत हिलाते हुए, क्रोध से काँपते हुए लहजे में बोला—

"मैं अपने सवाल का सीधा जवाब चाहता हूँ। यह घुमाव-फिराव, यह उलझाव ठीक नहीं है...मेरे सवालों का सीधा जवाब दो। क्या तुमने कभी किसी फ़ौज में काम किया है?"

"जी नहीं, फौजी मेजर मैं नहीं हूँ...मैं जानता हूँ के जो अपने को मेजर कहते हैं वे दिमाग़ी बीमार हैं। उन्होंने आदमी की जिन्दगी को बन्दूक की गोलियों में बाँध रखा है...शायद वह यह नहीं जानते कि ज़िन्दगी इन गोलियों से भी बड़ी है। आदमी इन सीमाओं से भी बड़ा है..."

"क्या तुम कभी डाके की पार्टी में रहे हो..."

"जी हाँ..."

"किस पार्टी में..."

"जिसके आप जैसे सरदार हैं। जो हमेशा सत्य पर डाका डालते हैं। आदमी की आजादी लूट लेते हैं। उसकी साँसों में लगातार नश्तर चुभोते रहते हैं, महज इसलिए कि आदमी के दिल व दिमाग़ को बाँध कर रखना चाहते हैं..."

अब नवाब की बातों को सुनकर पुलिस आफ़िसर का क्रोध ज्यादा बढ़ रहा

है। उसकी बातें उसको व्यक्तिगत अपमान-सी मालूम हो रही हैं। वह जो भी सवाल पूछता है उसका उल्टा-पुल्टा जवाब पाकर उसकी मानसिक स्थिति भी ख़राब होती जा रही है और यही कारण है कि वह डपट कर फिर पूछ रहा है...

"क्या यह सही है कि तुमने जसवन्त और प्रतिभा नाम के दो व्यक्तियों के ट्रंक से कपड़े चुराए हैं..."

"जी हाँ..."

"लेकिन क्यों..."

"क्योंकि वे कपड़े मेरे हैं, और ये जितने घायल यहाँ तड़प रहे हैं या जो इस समय तक मर चुके हैं वह मेरे रिश्तेदार हैं। ख़ून के नाते रिश्तेदार हैं क्योंकि मैंने देख लिया है कि आदमी का ख़ून हर हालत में एक है। मेरा और प्रतिभा का ख़ून एक है और प्रतिभा का और इन घायलों का ख़ून भी एक ही है...और...

"और क्या..."

"और यह कि जिन घायलो का ख़ून बह रहा था वह उन घायलो का ही नहीं मेरा भी ख़ून था। प्रतिभा का भी ख़ून था। उसको रोकने की ज़रूरत थी क्योकि वह ख़ून इतना ज़हरीला है कि अगर धरती पर गिरेगा तो सारी धरती विष की आग से भस्मित हो जायगी। अगर उसे जानवर चाट लेंगे तो आदमी की तरह उनको भी अपना शरीर आप काटने का मरज लग जायगा और वह चूहों की तरह प्लेग फैला कर मरेंगे। आज का आदमी प्लेग फैलाता है, प्लेग।"

पुलिस आफिसर की समझ में यह सारी बातें इतनी फिजूल और निरर्थक थीं कि उसकी डायरी का प्रत्येक पृष्ठ सादा था। उसने अब तक उस पर कुछ भी नहीं लिखा था। यह आदमी, यह ख़ून, यह चोर-डाकुओं की परिभाषा, यह जहर, यह बुलेट, यह मेजर की परिभाषा...यह सब बातें उस डायरी के पृष्ठ में नहीं आ सकती थीं क्योंकि वह क़ागज सिर्फ अभियोग लिखने के लिए था, हद से हद अभियोगी का केवल उतना ही बयान लिखने के लिये बना था जिससे उसका अभियोग सिद्ध किया जा सके। बयान का वह हिस्सा जिसमें महज़ लफजी जंजाल हो, जिसमें आदमी और उसके ख़ून की बात हो वह उस डायरी के पृष्ठ पर नहीं लिखा जा सकता था क्योकि वह 'ख़ून' यानी आदमी का ख़ून...उस ख़ून से बहुत भिन्न है जो किसी भी पुलिस आफिसर की डायरी के पन्नों में लिखा जाता है। आदमी का वह रूप जो नवाब बता रहा था वह भी असंगत था क्योंकि उसमें पुलिस आफ़िसर एक ऐसे कीड़े के समान चित्रित किया जा रहा था जो केवल एक परिधि में ही घूम कर विश्व-पर्यटन का अनुभव ग्रहण करना चाहता था, जो अपने दायरे को ही संसार मानता था। और इस परिधि के अन्दर ही पुलिस आफ़िसर ने फिर धमकाते हुए पूछा—

"तुम्हारी यह टाँग, तुम्हारा यह हाथ क्यों और कैसे कटा, लगता है तुम एक भयंकर खूनी हो और यह भी किसी हत्या से ही सम्बन्धित है...अन्यथा..."

"हाँ आप ठीक कहते हैं, इसका सम्बन्ध भी हत्या से है, आत्महत्या से है। लगता है एक ज़माना हुआ जब मैं आप जिसे ज़िन्दगी कहते हैं वह ज़िन्दगी अपना कर अपने को ज़िन्दा समझता था। मैं अपने को सभ्य मानता था। इतना बड़ा सभ्य कि...ख़ैर जाने दीजिये। हाँ तो जब मैंने अपनी, अपनी वह ज़िन्दगी ख़त्म करनी चाही तो फिर वह इतनी सख्त थी कि ख़त्म ही नहीं होती थी। और तब ऐसी ही किसी भयानक रात में मैं अपने घर से निकला और आत्महत्या के प्रयास में एक दुर्घटना मैंने अपने ऊपर ओढ़ लिया। सच मानिये—हर दुर्घटना, एक नई ज़िन्दगी दे देती है और वह बुनियादी तौर पर इसी रेल की दुर्घटना के समान होती है। आप यों समझिये मैं एक रेल के नीचे लेट गया। गाड़ी आई और दौड़ती हुई चली गई। मैंने समझा मैं मर गया हूँ लेकिन जब आँख खुली तो लगा मैंने केवल एक दुर्घटना ओढ़ लिया है। ज़िन्दगी इतनी सख्त होती है कि दुर्घटनायें आती हैं, निकल जाती हैं। हद से हद आदमी टूट जाता है। ज़िन्दगी दो टूक होकर रह जाती है लेकिन ज़िन्दगी मिटती नहीं, कभी नहीं...और मैं ज़िन्दा हूँ।"

अब तक पुलिस वाले का इत्मीनान ख़त्म हो चुका है। इतनी देर तक बातचीत करने पर भी वह नवाब को अभियोगी नहीं सिद्ध कर पा रहा है और तब हार कर उसने सीधे जुर्म के सवालों को पूछना शुरू किया है। पूछ रहा है—

"क्या यह सच है कि वह ख़ान...पठान तुम्हारे साथ रहता है जिसका खून अभी आज ही रात इसी स्टेशन पर हुआ।"

"जी हाँ मैं सब जानता हूँ ? लेकिन इस ख़ून का कारण आप मत पूछिएगा ? वह बड़ा दर्दनाक है। बहुत ज़्यादा ख़ौफ़नाक।"

"लेकिन मैं उसे जानना चाहता हूँ ? अगर आप ने उस आदमी का खून नहीं किया तो फिर वह कैसे क़तल किया गया।"

"वह क़तल नहीं किया गया ? वह क़तल हो गया। क्योंकि वह मुझे क़तल करना चाहता था। क़तल करना नीरू भी चाहती थी लेकिन वह नहीं कर सकी और यह कटुता बढ़ती गई। और जब नीरू मेरा क़तल नहीं कर सकी तो उसको किसी का क़तल करना था। चाहे मेरा या उस ख़ान का।" उसने आगे कहा—

" मैं अपाहिज था। और इन्होंने मेरी रक्षा की थी और आदमी की यह भी एक प्रवृत्ति है कि वह जिसकी रक्षा करता है उसे मार भी डालता है। आत्महत्या करने के प्रयास में जब मैं अधमरा सा बेहोश था तब मुझे नीरू उठा कर घर ले गई और

उस भयानक रात को मेरी नींद खुली तो मैं नीरू के घर था। उसने मेरी बड़ी सेवा की, इसलिये कि वह समझती थी कि मैं कोई बाबू हूँ। मेरे पास बड़ा पैसा रुपया है। मैंने उसकी यह मनोवृत्ति देख ली थी। इसीलिए जब वह मुझे आतंकित करती तब मैं उसे पैसा देता था। यह आतंक इस हद तक कि वह मुझे प्रेम करने लगी। क्योंकि एक नान मेजर आदमी व्यक्ति से नहीं प्रेम करता, नाम से प्रेम करता है। पैसे से प्रेम करता है। ख्याति से प्रेम करता है। केवल प्रेम नहीं कर पाता।"

यह सब बातें सुन कर पुलिस आफ़िसर थोड़ी देर तक ख़ामोश रहा। उसने समझा कि नवाब अइयाश है। इस क़तल की असली वजह इस अपाहज डाक्टर की अइयाशी है। ज़र, ज़मीन और ज़न के लिये क्या नहीं होता ? ज़र, ज़ान का हवाला तो यह आदमी दे चुका। बाक़ी बचा था ज़मीन का मसला...वह न भी हो...जुर्म इतने ही से साबित हो जायगा। बिनाय मुख़ासिबत मिल गया है। ईश्क़ और अइयाशी के कारण ही उस पठान का क़तल हुआ है और बस उसकी क़लम डायरी के पृष्ठों पर चलने लगी। उसने लिखा—

"मुजरिम नवाब जो अपना असली नाम नहीं बताता एक अइय्याश है। बयान के सिलसिले मे उसने कहा है कि मुसम्मात नीरू मे उसका ताउल्लुक़ था। इस फ़ाहिशा औरत से वह पठान भी ताल्लुक़ रखता था। दुश्मनी के इस ख़ास वजह से नवाब के कहने पर नीरू ने मौक़ा देखकर पठान की जान ले ली है। इसलिये नवाब को भी हिरासत में लिया जाता है।"

और यह कह कर उस आफ़िसर ने नवाब के लुंज हाथ और पैर में हथकडी-बेड़ी डाल दी। सवारी के अभाव में एक कुली ने उसे उठा लिया और अपने सिर पर बैठा कर थाने की ओर ले चला। जिस समय यह सब हो रहा था, वह बच्चा जो अब तक नवाब की गोद से चिपका था चीख़ने लगा। वह लगातार रोता रहा लेकिन पुलिस ने उस बच्चे की चीख़ और पुकार को नहीं सुना। नवाब के आँखो मे आँसू थे। बार-बार यही कह रहा था—

"लेकिन इस मासूम बच्चे का क्या होगा ? मैं मानता हूँ कि तुम माइनर आदमी हो ? तुम इस बच्चे को महज़ बच्चे के रूप में देखते हो, लेकिन मैं मेजर हूँ। मैं इसे जवानी की हालत में भी देख रहा हूँ। तुम मुझे क़ैद कर सकते हो लेकिन इस बच्चे को भी तुम्हें उस साये से बचाना है जिसमे पड़कर मैं अपनी ज़िन्दगी की तलख़ियों को महज पीता रहा हूँ। उन्हें हज़म नहीं कर सका।"

लेकिन पुलिस आफ़िसर ने नवाब की इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। एक झटके के साथ उसने बच्चे को नवाब के दामन से नीचे गिरा दिया। वह उस

तारकोल की फ़र्श पर गिर पड़ा। उसका माथा फूट गया। ख़ून से उसके कपड़े तर हो गये और पुलिस वाले नवाब को क़ैद करके चले गये। वह बच्चा चीख़ता रहा! रोता रहा! खून से तर बतर पुलिस वालों के पीछे दौड़ता रहा और पुलिस वाले एक झटका देकर उसे अपने से दूर फेंकते रहे। नवाब ने कई बार कहा कि इस बच्चे को भी हिरासत में ले लो और तब उस पुलिस अफ़िसर ने दुबारा कहा—

"तुम्हारे ऊपर यह भी एक जुर्म है कि तुम एक नाबालिग़ लावारिस बच्चे को बहका रहे थे। उसे फुसला कर अपने साथ ले जाना चाहते थे।"

"लेकिन लावारिसो के लिये आपका क़ानून क्या कहता है।"

"लावारिस होना कोई जुर्म नहीं है। मैं सिर्फ़ जुर्म देखता हूँ और कुछ नहीं जानता।"

नवाब एक व्यंग्य की हँसी हँसकर रह गया। थोड़ी देर बाद कुली के सिर पर बैठा-बैठा बोला—

"लेकिन मुजरिम कौन है? मैं या तुम...क्योंकि तुम सिर्फ़ जुर्म देखते हो और मै जुर्म का कारण और उसका भविष्य भी देखता हूँ। तुम इस समय मुझे नहीं इन्सानियत को कैद करके ले चल रहे हो।"

पुलिस आफ़िसर ने खीझ कर एक बेत नवाब के माथे पर मारा। नवाब ख़ामोश हो गया। और तब पुलिस आफ़िसर ने फिर कहा—

"मुजरिम ज़बान नही लड़ाते? समझे।"

नवाब ख़ामोश हो गया लेकिन उस बच्चे की चीख़ और रोने की आवाज़ उसके कानों में उस हद तक पड़ती रही जब तक वह ७ दुर्घटना स्थल से हट कर उसकी परिधि के बाहर नहीं चला गया। पुलिस के मस्तक पर एक उगे हुये प्रश्न चिह्न सा नवाब बराबर आगे बढ़ता जाता था क्योंकि वह मुजरिम था। पुलिस की डायरी में उसका नाम अभियोगी बन कर आ सकता था।

थाने मे उनके ऊपर और भी जुर्म लगे। जुर्म थे पुल तोड़ने का, जिन्दा आदमियों को नदी में ढकेलने का; मुसाफ़िर ख़ाने में वेटिंग रूम में चोरी करने का।

आज मैं भी अकेली हूँ। लेकिन मैं इस बच्चे की चीख़ भरी आवाज़ के साथ हूँ। काश कि मेरे पास भी ज़बान होती और मैं भी कुछ कह पाती, अपनी भावनाओं को आदमी के शब्दों और संकेतों में व्यक्त कर पाती। लेकिन आदमी के शब्द भी तो आज मुर्दा हो चुके हैं। बेजान और शक्तिहीन हो चुके हैं। उनकी ध्वनि में, आशय और संस्कार में, एक विकृति आ गई है। लेकिन आदमी की यह भी एक असलियत

है कि वह हर मुर्दा चीज़ से बेहद चिपकना जानता है। नहीं तो वह इस बच्चे की चीख़ का मतलब समझाता। इसको नया सन्दर्भ देता।

उफ़ मैं भी क्या हूँ ? क्यों आदमी के बारे में इतना सोचती हूँ ? क्या है आदमी में जो यह सब होते हुए भी उससे मेरी आस्था नहीं टूटती ?

अभी मुझे ज़िन्दा रहना है। मुझे आशा है कि कभी न कभी आदमी अपने इन निरर्थक शब्दों को अपनी ज़बान से नोच कर फेंक देगा। वह मिट्टी के खिलौनों से ज़बान सीखेगा। मिट्टी इसलिये कि मिट्टी हर उस लोहे से अच्छी है जो ज़ंग खा कर मिट्टी भी नहीं बन पाता, महज़ खाद ही बन सकता है। ऐसी खाद जो मिट्टी को भी सड़ा देती है, पोली बना देती है।

लेकिन बच्चा अब भी चीख़ रहा है। उसकी आवाज़ अब भी शून्य वातावरण में गूँज रही है। शायद गूँजती रहेगी। और आदमी इस बेबसी और मजबूरी की आवाज़ को उस समय तक नहीं समझ पायेगा जब तक वह नवाब की तरह पंगु और अपाहज नहीं हो जायगा। ऐसा अपाहज जो महज़ घसिटता चले...केवल घसिटता।

आज कई दिन हो चुके हैं। वेटिंग रूम के बाहर प्रतिभा और जसवन्त अख़बार पढ़ रहे हैं। उसी के पास एक बच्चा पड़ा है जो सिसकियाँ ले रहा है। और वे दोनों आपस में बात कर रहे हैं।

"तुमने देखा जसवन्त...वह अपाहज डाक्टर सन्तोषी की शकल से कितना मिलता है।"

"तुम्हारे दिमाग़ का वहम है। आज के ज़माने में तस्वीर का भी कोई भरोसा नहीं। जानती हो वह ज़माना है कि एक सी शकल के एक आदमी नहीं कई आदमी होने लगे हैं। फेंक दो इस अख़बार को...इससे तुम्हारे दिमाग़ में महज वहम पैदा होते हैं। और कुछ नहीं।"

और उसने अख़बार लेकर चूर-चूर कर डाला। उसके टुकड़ों को उस पर फेंक दिया। पास में सिसकते और रोते हुए बच्चे के ऊपर वे टुकड़े बिखर गये, लेकिन अब वह चीख़ नहीं रहा था। केवल सिसकियाँ भर रहा था। महज़ सिसकियाँ, क्योंकि उसकी आवाज़ खत्म हो चुकी थी।

अंतिम बिन्दु

"अपाहिज...मुर्दा ढकेलता है, दूसरे की हत्या करता है।
दृष्टिवाला—पुल को चटखा हुआ नहीं देखता, पुल तोड़ता है।
सहज बन्दीगृह में जीवन बिताता है।
दवा देने वाला यमराज कहलाता है।
बिना रीढ की भी जिन्दगी होती है...ऐसा जिन्दा जीव वह महामानव कहलाता है।
जिसकी रीढ ठीक होती है वही छोटा होता है।
लेकिन इन तीनों को मुक्ति नहीं मिलेगी। इनसे थानेदार बराबर इसी प्रकार का सवाल पूछता रहेगा। अपवाद बढ़ता रहेगा। ये जीते रहेंगे।
लेकिन मैं?"

मैं आज जल चुकी हूँ—जल चुकी हूँ उन घायलों, पीड़ितों और अनजान प्रवासियों के लिए जो क्षत-विक्षत, चूर-चूर उधर उस वेटिंग रूम में पड़े हैं। मैं वह धुआँ भी नहीं हूँ जो आग की लपटों के साथ विच्छिन्न होकर आकाश में भटक रहा है...मैं वह चटखती चिनगारी नही हूँ जो स्फुलिंगाकार होकर वायु में बुझ जाने के लिए उभरती और नाश होती है। मैं यहाँ हूँ...इस राख मे मैं हूँ जो ठोस पृथ्वी से लगी अविराम कोलाहल के साथ अस्थिशेष रूप में पड़ी हूँ। मैं विसर्जन नहीं हूँ...मैं भोग की उपलब्धि हूँ...यहाँ...इस ठौर...इस प्लेटफ़ार्म की ईंटों के बीच, तुम्हारे, उनके, इनके पैरों तले की राख, वह मेरा ही खण्ड है जो घायलों के हाथों में मवेशी डाक्टर के द्वारा स्प्लिन्टर्स की जगह बँधा है... मैंने जीवन को उबलते हुए देखा है। बहुत देखा है...मैंने जीवन भोगा है...मुझे...

मैं भुक्त-भोगी हूँ...इसीलिए मैं अपनी वेदना को तुम सब की वेदना मानती हूँ...

मैं तुम सब को अपनी वेदना का अन्त मानती हूँ। इसीलिए मैं कहती हूँ मेरी वेदना ही मेरा परमेश्वर है...तुम सब मेरे परमेश्वर हो...

मैं किसे ढूढ़ूँ? कहाँ ढूढ़ूँ...

मैं जो कल इस राख से फिर उपजूँगी...केवल तुम्हारी अनुभूतियों का नया स्वरूप दूँगी...

मेरा नया स्वरूप मेरे भोग का सहयोगी है...

पल-पल.. दिन-दिन मैं जीती हूँ...इसीलिए मैं आकाश का धुँआ नहीं पृथ्वी की राख हूँ...

और तब सच मानो मैंने जो कुछ सहा है जब तक सहा है, अपना बनाकर सहा है। जब मैं सह चुकी हूँ तब वह सब का है...तुम्हारा है...उनका है जो सहन करने के पहले ही पलायन कर गये थे...उनका है जो सहन करने में टूट गये थे...उनका है जो सहन करने की प्रक्रिया में बिखर गये थे...लो! मेरी अस्थि राख लो, लो मेरी वेदना, मेरी पीड़ा, मेरी सहन शक्ति के आधार पर मेरे व्यक्तित्व का अधिकार लो...वह तुम्हारा है...तुम सबका है...उस रोते शिशु का है जो अब भी इस

प्लेटफार्म पर चीख रहा है...शायद मेरी राख, मेरा ध्वसावशेष उस भोले शिशु के मुख पर, कपोल पर बिखरे आँसुओं को सहज वात्सल्य से चूम सके ? क्योंकि तुमने मुझे जो निर्जीव संज्ञा दी थी वह आज पिघल गई है...जानते हो.

चट्टान के गलने का अर्थ...?
निर्जीव की सजीवता का भाव...?
असुन्दर की सौंदर्य गरिमा...?
उपेक्षित के भव्य संस्कार...?
भोग चुकने के बाद की पूर्णता ?

लेकिन मुझे लगता है मेरी कथा कोई नहीं चाहोगे...मेरी भाषा कोई नहीं समझेगा, मेरी संवेदना को सहानुभूति नहीं मिलेगी...सहानभूति है भी वहाँ...? मेरी इस राख को स्पर्श दो...ओ करुणा की आखिरी झीनी किरण मेरी ममता को मिट्टी की सोंधी महक दो, क्योंकि मैं देखती हूँ यह वेटिंग रूम अस्पताल बन चुका है लेकिन सारे स्टेशन पर अब भी सरकस का शोर है...शेरों पर गोलियाँ चल चुकी हैं लेकिन फिर भी लौह पुरुष जीवित है...ओ तुम ! काठ को लोहे की संज्ञा मत देना, राख को भस्म का निदान मत देना...मैं जो लघु अस्तित्व हूँ.. उसे रबर का फैलाव मत दो...इस धधकती ज्वाला की साक्ष्य में मैंने जो कुछ सहा है वह तुम्हें कैसे दूँ...

तुम कहोगे मैं मर चुकी हूँ...
तुम कहोगे मैं विलुप्त हूँ ..
तुम कहोगे मैं निरपेक्ष हूँ...
तुम कहोगे मैं कल्पना हूँ...

किन्तु मरना
और...

जीना,
और

सहना और सहना...सहना...सहना...

सच मानो...मेरे अन्दर जो अब भी नहीं गला वह उस घाव का सहोदर है जो मसीहा के वक्ष पर आज भी अंकित है। वह त्याज्य नहीं है वह मेरी पूंजी है... उसे त्याज्य नहीं यथार्थ समझो...ओ मेरी आत्मा—

तुम भटको...क्योंकि प्रत्येक भटकने की इच्छा जिज्ञासा भी हो सकती है।
और भटको क्योंकि प्रत्येक अनुभूति की सहायता सदाशयता हो सकती है।
और भटको...क्योंकि प्रत्येक दर्द स्वयम् ही एक उपलब्धि हो सकती है।

मैं आज भी जिन्दा हूँ क्योंकि मेरी पीड़ा जिन्दा है...क्योंकि मेरी वेदना जिन्दा है। मैंने जीवन और उसके व्यंग्यों को जिया है। घर के चूल्हे से लेकर सैम्सन फैक्टरी में ढलते हुए लौह पुरुषों की प्रकृति, तपती हुई भट्ठी और गलते हुये लोहे का साक्षात्कार किया है। आदमी की तस्वीरों और उसकी भाग्य-रेखाओं के बीच की उठती दुविधाओं, और आस्थाओं को भी परखा है। मैं उन सब क्षणों में जिन्दा रही हूँ जहाँ मनुष्य ने नये मोड लिये हैं जहाँ मनुष्य ने अपनी किसी भी कुण्ठा को अविवेक पूर्ण ढंग से जीने की चेष्ठा की है। मैं तुम्हें कैसे बताऊँ, मेरे सहधर्मी...यह ससार, यह सारी मानवता, यह सारा नाटक, यह सारा क्रम, उपक्रम यह वाद-विवाद, यह भाव और विषाद जैसे किसी उबलते, खौलते शीरे के बुलबुले थे, जो हवा के हर गिरह के साथ बनते और दूसरी गिरह के साथ टूटते थे...जैसे उस सब में उनका कोई वश ही नहीं है, जैसे वे कहीं इतना अधिक बन्धे हैं कि मुक्त नहीं हो सकते...जैसे वे केवल सहने के लिये बने हैं, केवल मिटने के लिये जन्मे हैं।...

और यह स्टेशन...प्रत्येक गति का विवेक सा दो पुलों के बीच स्थिति की मर्यादा है। लाल रोशनी, हरी रोशनी, गति, भाव, यह सबके सब तो इन्हीं के माध्यम से चलते हैं। लेकिन लगता है मर्यादायें भी दृष्टि चाहती है...दुर्घटनायें, दृष्टिहीन मर्यादा के होने से ही उपजती हैं। यह दुर्घटना...यह पुल का टूटना, यह अनन्त मानवा का अर्न्तगर्त में समा जाना, किसी प्रवाह में लाश सा बह जाना...कहीं न कहीं उस मुर्चे के समान है जो ठहराव से जन्मता है...रूढ़ि में पनपता...मनुष्य के बिके हुए, अल्पज्ञ, अन्धकार में खपता है। मैं कैसे कहूँ? लगता है हम सब एक ही दावाग्नि में बिलबिलाते हुये, भागते?हाँफते हुये, थके-माँदे हुये अनन्त दिशाओं में केवल दौड़ रहे है। लेकिन कहाँ है वह स्थल जहाँ आग की लपटें नहीं हैं? मैं कैसे कहूँ यह दावाग्नि मेरी है। सुनो तो यह दावाग्नि तुम्हारी है? सारी सृष्टि ही आग है...आग—

और मैं अकेली हूँ...मास्टर दादा कहते हैं मुझे भाषा नहीं आती...वह कहते हैं नई भाषा बनाओ...कुत्तों से सीखो उनकी भाषा...आदमी आज गूँगा हो रहा है। उसकी जबान काट ली गई है। यह कटी जबानें, गूँगे संकेत, खोटी धारणायें घिसी भाषायें हम कैसे ढोयें? कैसे वहन करें? नई भाषा कहीं एक चीख बन कर न रह जाय...कहीं वह आत्म-व्यंग्य बन कर न मिट न जाये...कहीं वह केवल प्रतीक बन कर मर न जाय! मास्टर दादा कहते हैं अर्थ के सभी अव्यय टूट चुके हैं! शान्ति का अर्थ युद्ध हो रहा है; प्रेम का अर्थ घृणा हो रहा है, स्नेह का अर्थ धोखा हो रहा है। भाषा मास्टर दादा की है...लेकिन कौन समझेगा!

मेरा भाग्य मेरी सीमा भी तो नहीं है...वह प्रतिक्षण अतिक्रम करता है। मेरी हाथ की रेखायें मुझे बाँध भी तो नहीं पातीं। भागीरथी सी वे मेरी अन्तस की गलती हड्डियों की ज्वार सरोखी ही तो हैं! मैं तुमसे कैसे कहूँ यह फिशप्लेट निकली हुई रेल की पटरी सी है जो पुल को तो तोड़ती ही है कहीं संभावनाओं को भी गर्त में डाल देती है...मैं कैसे कहूँ! मास्टर दादा तो कहते है...सहो...सहो...सहो..

मेरी गोद...मेरी गोद मे भी तो वह अपाहज डाक्टर है जो सिमटम और आदमी को एक समझता है, जो आदमी का परीक्षण करने के पहले मर्ज़ देखता है, जो चूहों पर प्रयोग तो करता है किन्तु वह केवल आदमी और चूहे के रक्त को समान समझता है...आदमी के रक्त का ज़हर देखता है...वही जाँचता है... उसी पर निर्णय लेता है।

लेकिन मैं क्या करूँ?
प्रत्येक भटकन सत्य भी तो है?
प्रत्येक पीड़ा का परीक्षण नित्य भी तो है?
प्रत्येक चीख़ भाषा न होते हुये संवेदना तो देती है...
चीख़...
उसे निराधार...निरालम्ब शिशु की क्रन्दन गाथा...

जो स्टेशन पर बैठा हुआ सब कुछ देखता है, लेकिन जिसके पास केवल अनुभूति है, अभिव्यक्ति नहीं...मैं कैसे कहूँ यह चीख़ कविता है, रामायण है, गीता है यह भाषा है, इस दावाग्नि में, नये जन्मते बोध की...

किन्तु यह भी एक व्यंग्य है। आज जेल में, पुलिस की हवालात में मै नहीं हूँ वरन् पुल टूटने के अपराध में तीन व्यक्ति हैं—हवल्दार, डाक्टर, नवाब और मास्टर दादा। पुलिस पूछती है—

"पुल किसने तोड़ा है?"

"पुल टूटने के साथ किसने जीवित घायलों को नदी में ढकेल दिया है!"

"पुल के टूटने का दृश्य किसने देखा है?"

मास्टर दादा पर जुर्म लगाया गया है पुल तोड़ने का।

हवल्दार पर जुर्म लगाया गया है पुल टूटने के बाद बन्धन से मुक्त होने का।

डाक्टर नवाब पर 'ग्रेट इण्डिया सर्कस' से लोहे के खिलौने तक में दवा देने के आरोप का...महामानवों के केंचुआ और चूहा कहकर पुकारने का दोष...दुर्घटना में घायल जनों को नदी में फेकने की कृत्रिमता...लूला, लँगड़ा होकर भी हत्या करने का अपराध।

सब जेल में हैं...भयंकर जेल में। पुलिस थानेदार सब से पूछता है—

"पुल किसने तोड़ा

"अविवेक ने...?"—मास्टर दादा कहते है, "पुल एक दिन में नहीं टूटा, वर्षों से टूटता रहा है...मुझ से क्या पूछते हो...ग्रामर सीखो...भाषा पर अधिकार करो... मै अब भी कहता हूँ पुल आज नहीं टूटा है...यह तो टूटा हुआ बना ही था...टूटी हुई रचना ही थी...इसका दोषी कोई नहीं है केवल अविवेक है...अविवेक..."

"यह अविवेक नाम का व्यक्ति कौन है...कहाँ रहता है...क्या नाम है इसके पिता का ! क्या पता है इसके गाँव का..." थानेदार पूछता है

और मास्टर दादा फिर कहते हैं..."भाषा सीखो...भाषा।" मास्टर दादा की भाषा कोई नही सीखता !

मास्टर दादा सिखलाना भी नहीं चाहते।

थानेदार पूछता है—"डाक्टर नवाब तुम कौन हो ?"

""मै मृग हूँ...दावाग्नि के पूर्व से ही जलता आया हूँ...जलता जा रहा हूँ

अपाहज डाक्टर को ऊपर से नीचे तक देख कर थानेदार फिर पूछता है—

"तुम्हारे ऊपर घायल यात्रियों को नदी में फेकने का जुर्म लगाया गया है। ताक़तवर पठान की हत्या का आरोप लगाया गया है बोलो तुम्हें इसके विषय में कुछ कहना है...तुम्हारा कोई विरोध है ?"

"नहीं ! नहीं ! नहीं !"

थानेदार कहता है—"तुम ने महामानव को बिना रीढ़ का बताया है ? सर्कस के मैनेजर को अपमानित किया है..."

डा० नवाब कोई जवाब नहीं देता। मास्टर दादा कहते हैं..."भाषा गलत है...भाषा ठीक नही है..."

अपाहज—मुर्दा ढकेलता है। दूसरे की हत्या करता है।

दृष्टिवाला—पुल को चटखा हुआ नही देखता, पुल तोड़ता है

सहज बन्दीगृह में जीवन बिताता है।

दवा देने वाला यमराज कहलाता है।

बिना रीढ़ की भी जिन्दगी होती है, ऐसा जिन्दा जीव वह महामानव कहलाता है।

जिस की रीढ़ ठीक होती है वही छोटा होता है...

लेकिन इन तीनों को मुक्ति नहीं मिलेगी...इनसे थानेदार बराबर इसी प्रकार का सवाल पूछता रहेगा। अपवाद बढ़ता रहेगा। ये जीते रहेंगे।

लेकिन मैं ?

मेरी ऊबड़-खाबड़ भाषा कौन समझेगा।

मैं कहती हूँ यह आग...यह चारों ओर की आग आग नहीं मानी जायगी यह रोशनी कही जायगी। सारा वातावरण ही भीषण आग मे है आग मे...इस आग को कोई नही देख रहा है। केवल यही तीन व्यक्ति देख रहे है। अपाहज डाक्टर नवाब, सहज मानव हवल्दार और भाषा ग्रामर वाले मास्टर दादा

दुनिया जैसे बात नहीं समझती—नही समझना चाहती।

मास्टर दादा मृत्यु मे भी बढ़कर भयकर वस्तु इस दृष्टिहीनता और अर्थ-हीनता को मानते है जिसमे जेल के भीतर भाषा गाली का रूप ले लेती है और हर थानेदार साधारण बात की भी जिरह करता है...व्यंग्य करता है...प्रश्न पूछता है।

प्रश्न एक......?

प्रश्न दो......?

प्रश्न तीन......?

स्टेशन पर अब भीड़ कम है। सब लोगो की दिलचस्पियाँ भी कम हो गई हैं...नर्सें ऊँघ रही हैं...डाक्टर टाफ़ी चूस रहे है...घायल खामोश है, लेकिन बच्चा चीख रहा है...चीख रहा है...चीख रहा है।

सर्कस वालो की टोली मे महामानवो की सख्या बढ़ गई है। बिना रीढ़ वालों को तमगा और इनाम मिला है। ये तमगे, ये इनाम आदमी के घायल ज़ख्मो पर चिपका देने वाली टिकिया भी तो नही है। यह किसी भी जख्म से चिपकती नही, उसे तोड़ देती है।

स्टेशन के बाहर बूढ़ा पेटमैन बैठा अँगीठी ताप रहा है। मेरे शरीर का वह भाग, जो टूटी-फूटी चूनी के रूप में वहाँ पड़ा है उसे वह बटोर लाया है और अँगीठी मे डाल कर ठण्डे हाथों की जमी हुई रेखाओं को गमा रहा है। मेरा अस्तित्व ही समाप्त जैसा लगता है, लेकिन मैं अब भी ज़िन्दा हूँ और जिन्दा रहूँगी ..हा भाग्य की रेखा भ्रान्त, सिकुड़ी हुई अर्गनी नहीं होती व्यक्तित्व उस पर कपड़े की भाँति टाँग नही सकते वस्तुतः वह कुछ नहीं होता...वह केवल एक अभिव्यक्ति होती है...मेरी अभिव्यक्ति मुझी तक नहीं —मै जो खाली कुर्सी की आत्मा हूँ ..आत्मा खाली कुर्सी की आत्मा...

और

बच्चा चीख रहा है...चीख़...जिसका अर्थ अभी बन नहीं पाया है।